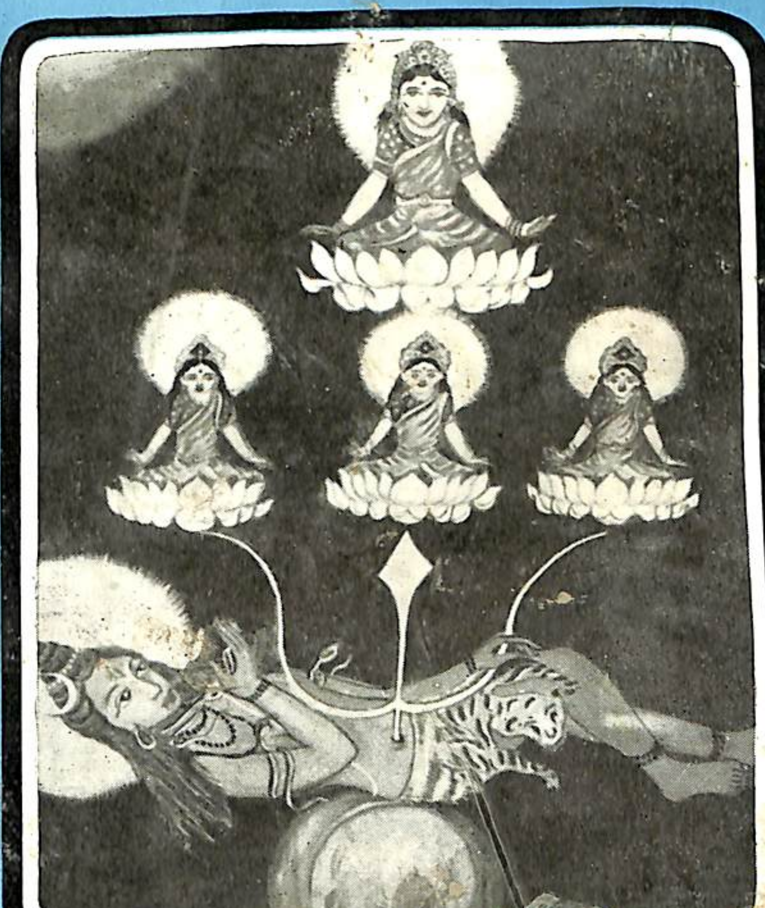
SRI SRI PRANTRISHIKA

श्री श्री परात्रिंशिका

महामाहेश्वर आचार्य अभिनवगुप्त की विवृति
समेत

प्रो॰ नीलकंठ गुरुटू

भट्टारिका परा



मुख्य कार्यालय : बंगलो रोड, जवाहर नगर, दिल्ली ११० ००७

शाखाएँ : चौक, वाराणसी २२१ ००१

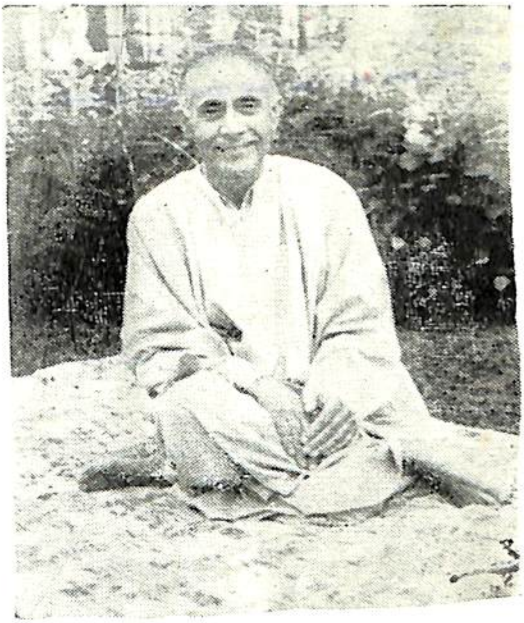
अशोक राजपथ, पटना ८०० ००४

६, अपर स्वामी कोइल स्ट्रीट, मैलापुर मद्रास ६०० ००४

प्रथम संस्करण : १९८५

मूल्य : रु० १०० (सजिल्द)
रु० ७० (अजिल्द)

नरेन्द्र प्रकाश जैन, मोतीलाल ब[illegible] दिल्ली ७
द्वारा प्रकाशित तथा वर्द्धमान मुद्रण[illegible]
जवाहरनगर, वाराणसी द्वारा मुद्रित [illegible]



आधुनिक युग के शैव आचार्य
श्री सद्‌गुरु (श्री ईश्वरस्वरूप) महाराज जी
ईश्वर आश्रम, निशात, श्रीनगर।

से भरा पड़ा है कि इसका अध्ययन करनेवाले धुरन्धर पाठकों को भी ग्रन्थ के वर्ण्य-विषय का ओर-छोर पकड़ने में कठिनाई आती है। प्रस्तुत लेखक के लिए भी यह बात लगभग १५ वर्ष तक कोई अपवाद नहीं रही। अन्ततोगत्वा शायद अनुत्तरभट्टारक की इच्छा से ही इसी ग्रन्थ के अंग्रेजी अनुवादक ठा० जयदेवसिंह श्री सद्-गुरु महाराज जी से इसका अध्ययन करने की कामना से सन् १९८० के मई मास में वाराणसी से यहाँ महाराज जी की चरणसेवामें उपस्थित हो गये। उनकी प्रार्थना से महाराज जी का करुणापूर्ण हृदय पिघल गया और उन्होंने कई इने गिने शिष्योंको नियमित रूपसे यह ग्रन्थ पढ़ाने का कार्यभार संभाल लिया। यह कार्य क्रम सन् १९८० और १९८१ के ग्रीष्मऋतुओं में सम्पन्न हो गया। ठा० साहब को भी अपनी वृद्धावस्थाके बावजूद दो बार यहाँ आकर छः छः महीनों के लिए रहना पड़ा। यह कार्यक्रम आरम्भ होते ही प्रस्तुत लेखक को पहले यहाँ की ईश्वर-आश्रम निवासिनी भगिनी प्रभादेवी और अनन्तर स्वयं श्री महाराज जी ने इस ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद तैयार करने की प्रेरणा दी। उसी प्रेरणा का साकार रूप आज पाठकों के सामने प्रस्तुत है। अपने को तो अनुवाद का काम आरम्भ करने से पहले इस ग्रन्थ की प्राचीन हस्तलिखित शारदा मूल-पुस्तियों का तुलनात्मक अध्ययन करके इसके संस्कृत मूलपाठ का ही नये सिरे से पुनरुद्धार करना युक्तियुक्त प्रतीत हुआ। इस प्रयोजन को पूरा करने के लिये पहले कहीं से कोई स्वाधीन मूलपुस्ती ढूँढ़ लेने और अनन्तर यहाँ के वर्तमान स्थानीय शोध-संस्थान 'Centre of Central Asian Studies' हजरतबल के पुस्तकलय में वर्तमान दूसरी मूल-पुस्तियों का उपयोग करने के लिए वहाँ के अधिकारी महोदय की पूर्व अनुज्ञा प्राप्त करने में बाधायें तो आ गईं परन्तु किसी अलक्षित दैवविधान से प्रत्येक दिशा में सफलता ही मिल गई। मूल पाठ का यथा-सम्भव संशोधन करने के उपरान्त उसी पाठ का हिन्दी अनुवाद किया गया। आशा है कि इस प्रयास से श्री परात्रिंशिका का अध्ययन करने वाले पाठकों का काम कुछ मात्रा तक सुगम होगा। मूलपाठ का संशोधन करने के लिये उपयोग में लाई गई मूलपुस्तियों का ब्यौरा नीचे दिया जा रहा है :

(अ)—यह पुस्ती बन्धुवर श्री दुर्गानाथ तिकू, अवकाश प्राप्त 'मोनिटर', आकाश-वाणी केन्द्र, कश्मीर, वास्तव्य शालकदल (हब्बाकदल) श्रीनगर की सम्पत्ति है। ये [illegible] अतीव सौजन्यपूर्ण और श्रद्धालु सज्जन हैं। आपने इसी सौजन्य से प्रस्तुत [illegible] को [illegible] मूल [illegible] का स्वतन्त्रतापूर्वक उपयोग करने की अनुमति प्रदान की अतः [illegible]थ के प्र[illegible]करण का आधार बनाया गया है।

[illegible] य[illegible] एक बृहत्का[illegible] मूल-पुस्ती है जिसका अन्तिम भाग श्री परात्रिंशिका है। पूर्वभाग [illegible] चार्य अभिन[illegible] द्वारा रचित 'श्रीतन्त्रसार' नामक तन्त्रग्रन्थ है। श्री परात्रिंशिका [illegible] इसके [illegible] १०[illegible] से आरम्भ करके अन्त तक लिखी गई है।

पुस्ती का आकार : आयाम—१६ से० मी०×१९ से० मी०, लिपि—सुन्दर शारदा, कागज—कश्मीरी, प्रतिपन्ने औसत पंक्तियाँ—१६, प्रतिपंक्ति औसत अक्षर—२२, कुल पत्रसंख्या—२१६ ।

लिखावट की सुन्दरता और शुद्धता के कारण लेखक पक्के हाथ का लगता है। उसका नाम कहीं पर लिखा नहीं है। केवल अन्तिम पृष्ठ पर लेखनकाल संवत् ५, शाके १७५० लिखा है । गणना से १५० वर्ष पुरानी बैठती है ।

(आ)—यह मूलपुस्ती उल्लिखित 'Centre of Asiatic Research' नामक शोधसंस्थान की सम्पत्ति है ।

पुस्ती का आकार : आयाम—२४ से० मी०×१२ से० मी०, लिपि—पुरानी शारदा, कागज—पुराना कश्मीरी, प्रतिपन्ने औसत पंक्तियाँ—१२, प्रतिपंक्ति औसत अक्षर—५२, कुल पत्रसंख्या—५१ :

यह पुस्ती अविकल एवं सम्पूर्ण होने के साथ साथ प्रायः शुद्ध है। लाल जिल्द में अच्छी प्रकार सुरक्षित दशा में रखी गई है । लेखक का नाम या लेखनकाल कहीं पर भी लिखा नहीं है। शारदा अक्षरों की संरचना और उपयोग में लाये गये कश्मीरी कागज़ की दशा जाँचने पर लगभग २०० से २५० वर्ष पुरानी प्रतीत होती है ।

(इ)—यह पुस्ती भी उल्लिखित शोध-संस्थान की ही सम्पत्ति है ।

पुस्ती का आकार : आयाम—२५ से० मी०×१८ से० मी०, लिपि—सुन्दर शारदा, कागज—पुराना मोटा और चिकना कश्मीरी, प्रतिपन्ने औसत पंक्तियाँ १०, प्रतिपंक्ति औसत अक्षर—१५, कुल पत्रसंख्या—१६८ ।

पुस्ती की लिखावट कलात्मक शारदा है। लाल और तरबूजी रंगसे अशुद्धियाँ अङ्कित की गई हैं। पन्नों के हाशियों पर उपयोगी नोट लिखे हुए हैं। प्रायः अशुद्ध। लेखक का नाम रामचन्द्र। लेखनकाल कहीं भी अंकित नहीं है। पुस्ती लाल रंग के जिल्द में अतीव सुरक्षित दशा में रखी गई है। अविकल एवं सुन्दर होनेके साथ-साथ लगभग १५० से २०० वर्ष पुरानी लगती है।

इन उल्लिखित मुख्य मूल-पुस्तियों के अतिरिक्त इसी संस्थान की दूसरी अंशतः खण्डित परन्तु अतिप्राचीन मूल पुस्तियों का भी उपयोग किया गया। यहाँ पर स्थानाभाव के कारण उन सबों का अलग-अलग ब्यौरा प्रस्तुत करना सम्भव नहीं है। इतना कुछ करने पर भी ग्रन्थ के मालिनीन्यास के अन्तर्गत अपरासंवित्तिक्रम के प्रकरण (K. S. S १९१८ संस्करण पृष्ठाङ्क १५३-१५४) का कोई भी संतोषजनक उद्धार नहीं होने पाया। इस निराशा की अवस्था में प्रातःस्मरणीय श्री सद्गुरु महा[illegible] ही आड़े आये। उन्होंने स्वाभाविक दयालुता से इस प्रकरण के, अपने [illegible]य में चले आते हुए पाठ को देकर इसीको छपवाने और अनुवाद करने का [illegible]द दिया। साथ ही अंग्रेजी अनुवादक ठा० जयदेव सिंह को भी ऐसा करने की [illegible] दे दी।

सत्थू शीतलनाथ (श्रीनगर) **नीलकंठ गुरुटू**

१-२-१९८४

शुद्धि-पत्र

कृपया ग्रन्थ का अध्ययन आरम्भ करने से पहले निम्नलिखित शुद्ध पाठों को अङ्कित करें :

पृष्ठ संख्या	पंक्ति	अशुद्ध पाठ	शुद्ध पाठ
१५	१५	चिन्ता से अतिरिक्त	चित्ता से अतिरिक्त
२३	६	एकाकारता के	एकाकारता की
२७	१८	भेदभाव को	भेदभाव के
३१	२३	यहाँ पर 'अनुत्तर वह पद है' इत्यादि से पहले 'अनुत्तरम्-न विद्यत उत्तरम्-अधिकं यतः' इस पंक्ति को पढ़ लेवें	
३८	१८	न विद्यन्ते उत्तराः शक्तिभेदाः- अनुत्तरम्	न विद्यते 'उत्तरम्' ऊनाधिकत्वं यत्र
५२	२३	अपि तु भाव	अपि तु पशुभाव
५३	१२	विश्वाभास	विश्रान्त
६३	१९	परिपूर्ण में	परिपूर्ण रूप में
७४	३	सुरतप्रसवभूः	सुखप्रसवभूः
११९	८	नाभ्याधिकम्	नाप्यधिकम्
१२९	६	यतो बुद्धः	यतोऽबुद्धः/यतोबुद्धः
१३०	५	कुलालात्मा	कुलात्मा
१३९	१९	रहस्य भरा हुआ है	रहस्य है
१५९	२	कारिभिद्	कारिभिर्
१६१	१२	मूलभूमि पर	मूलभूमिका
१६२	३१	प्रत्क	प्रत्येक
१६४	३	त्रुटिपाते	तुटिपाते
१६४	११	एक त्रुटि	एक तुटि
१६७	६	तत्तदनन्त	तदनन्त
१७१	३	दोषाः	दृष्टान्तादि दोषाः
१७४	७	तदेवं	तदेवं स्थिते
१७८	७	आच्छादनीयोपपत्तौ	अनाच्छादनीयोपपत्तौ
१८०	२	ईश्वरम्	धारयन्तमीश्वरम्

भूमिका

अनुत्तरे परे मार्गे स्फुरत्ताशक्तिचन्द्रिकाम् ।
सौम्यां श्री सद्गुरोर्मूर्तिं वन्दे हृत्पीठसंस्थिताम् ॥
चिदानन्दाब्जहंसीयं परमन्त्रमहोज्ज्वला ।
अज्ञाता जननी भूयादनुग्रहपरायणा ॥
भिन्नयोनित्वस्वाच्छन्द्ये सङ्कुरां तत्त्वसंस्थितिम् ।
तन्वानापि भवं भिन्द्यात्परानुत्तरमालिनी ॥
सौम्यैर्घोरैर्घोरतरैर्निजरूपैर्जगन्मुहु—
रीरयन्तं शुभं वन्दे शक्तिचक्रं शिवाश्रये ॥
सादाशिवा ज्ञानशक्तिः समन्ताद्विष्टरायते ।
यस्याः सा जृम्भते कापि पराभट्टारिका शिवा ॥
भैरवस्य च भैरव्याः सामरस्यमनुत्तरम् ।
रुद्रयामलसम्भूतं हृदये स्फुरतान्मम ॥
परमन्त्रमहावीर्यप्रोल्लसत्तेजपूरितम् ।
अनुत्तरामृतं बीजं हृदयाख्यं नतोऽस्म्यहम् ॥

"सौम्यमूर्ति और साक्षात् ईश्वरस्वरूप श्रीसद्गुरुओं की विमर्शमयी वाणी मचल मचल कर ही झनझना उठती है। यह मचलना क्यों ?—इस शङ्का का समाधान तो उनके अन्तर्हृदय में ही होगा। उनकी सर्वस्वतन्त्र इच्छा पर कोई अंकुश नहीं। उसके सामने किसी का कोई बस नहीं चलने का। ऐसी परिस्थिति में हम जैसे नगण्य दासानुदास उन पवित्र चरण-कमलों में केवल अगणित प्रणामों की अञ्जलियाँ ही अर्पण कर रहे हैं, क्योंकि अज्ञात पथ के निस्सम्बल राही और क्या दे सकते हैं ? अनुत्तर-स्वरूप सद्गुरु महाराज की सेवा में करोड़ों प्रणाम।"

अनुत्तरीय इच्छात्मक स्पन्दन के तौर तरीके ही निराले हैं। उसका प्रसार लोकोत्तर और स्वतन्त्र है। पशुभाव की निम्नतम सीढ़ी पर खड़े होकर उसकी गतिविधियों को भाँपने के लिए अक्ल के घोड़े दौड़ाना या अटकलपच्चू बनना एकदम बेकार है। आसमान पर चढ़ने की बात तो और है परन्तु वास्तविक स्थिति कुछ और ही है। भगवान् उत्पल को भी शायद इसी स्थिति से दो चार होनेके फलस्वरूप एक बार कहना पड़ा था—

'ईहितं न बत पारमेश्वरं शक्यते गणयितुं......।'

अपन को तो सन् १९८० के मई मास तक शैवशास्त्र के परात्रिंशिका जैसे गम्भीर एवं महान् अनुभूतिपरक ग्रन्थ के साथ खिलवाड़ करने का कभी साहस ही नहीं हुआ

था। इसका अनुवाद इत्यादि करने की तो बात ही नहीं। हालांकि युवावस्था के प्रारम्भिक दिनों में ही अपने परम पूजनीय गुरु डा० बलजिन्नाथ से इस शास्त्र को पहली बार पढ़ने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। इसके उपरान्त प्रातः स्मरणीय सद्‌गुरु महाराज जी से भी दूसरी बार इसकी आवृत्ति करने का सुअवसर मिला था। दोनों ही अवसरों पर इसका अध्ययन तो किया पर एक अनुवादक की नज़र से नहीं। जन्म भर शैव दर्शन के प्रत्यभिज्ञा और स्पन्द पक्षों के साथ ही गहरा मानसिक लगाव रहने के कारण इस शास्त्र का अनुवाद इत्यादि करने का प्रश्न ही नहीं उठ रहा था।

सन् १९८० के मई मास की बात है। अनुत्तरीय इच्छा कहिए या और कुछ। ईश्वर-आश्रम (इशिबर) की एक रविवासरीय बैठक के अवसर पर आश्रमवासिनी प्रभादेवी ने अकस्मात सुनाया कि वाराणसी के ठा० जयदेव सिंह सद्‌गुरु महाराज से परात्रिंशिका का अध्ययन करने के लिए श्रीनगर पधारे हैं : वे इसका अंग्रेजी अनुवाद करना चाहते हैं। सद्‌गुरु महाराज ने उनकी प्रार्थना स्वीकार की है। इतना सुनाकर श्री प्रभा ने मुझे भी निश्चित कार्यक्रम के अनुसार ऐसे प्रवचनों का रसपान करने का आग्रह किया। सुनते ही निराशा भरा दिल मचल उठा। अध्ययन के लिए निश्चित दिवस पर सूर्योदय से पहले ही आश्रम जा पहुँचा। सद्‌गुरु महाराज साक्षात् भगवान् आशुतोष जैसे विराजमान थे। प्रवचन आरम्भ हुआ। शंकर के मुखारविन्द से शब्द-मकरन्द का स्रोत उमड़ पड़ा—गम्भीर एवं कलकलमय गान करता हुआ। उपोद्घातीय पद्यों का अध्ययन करते ही ऐसा प्रतीत होने लगा कि—"चतुर्दिक् अवकाश महामहिम-मयी भट्टारिका-परा, उस सौन्दर्य की अनुपम खान का, मूर्तिमान रूपविस्तार है। यह प्रसार अविराम गति से आगे बढ़ रहा है—अनुत्तरीय संहारात्मक बिन्दु की ओर, और उस संहारबिन्दु में ही प्रसार के स्पन्दन का तार झनझना रहा है।" अस्तु, कार्यक्रम नियमित रूप से आगे बढ़ने लगा और सारे शास्त्र का सम्प्रदायक्रमिक अध्ययन सन् १९८० और ८१ के दो ग्रीष्म ऋतुओं में समाप्त हुआ। श्री जयदेव सिंह को भी लगातार दोनों ग्रीष्म ऋतुओं में श्रीनगर आना पड़ा।

शास्त्र का अध्ययन आरम्भ होने से कुछ ही दिन उपरान्त फिर एक दिन प्रभाजी ने महाराज जी के सामने ही यह अनुरोध किया कि इसका हिन्दी अनुवाद किया जाए क्योंकि अंग्रेजी अनुवाद बन जाने पर भी भारत के सर्वसाधारण हिन्दीभाषी नर-नारी वर्ग तक इसका सन्देश पहुँच ही नहीं पाएगा। फलतः भारतीय थाती होने पर भी भारतीय समाजका एक बड़ा सा भाग इसका अध्ययन करने से वञ्चित रह जाएगा। सद्‌गुरु महाराज ने भी निजी नैसर्गिक मन्द मुस्कान के द्वारा इस बात का अनुमोदन करके स्वीकारात्मक संकेत दे दिया।

ग्रन्थ का किसी भी भाषा में अनुवाद करने की दिशा में सबसे बड़ी अड़चन

इसके किसी प्रामाणिक मूल-पाठ का अभाव था। K. S. S. द्वारा छपाई गई परात्रिंशिका का मूलपाठ पग-पग पर अशुद्ध एवं भ्रान्तिपूर्ण होने के कारण इस परिप्रेक्ष्य में कोई सन्तोषजनक समाधान प्रस्तुत करने के लिए कतई सक्षम नहीं था। अतः अनुवाद का काम शुरू करने से पहले इसी समस्या का निबटारा करने के लिए जो कुछ करना पड़ा उसका सविस्तर ब्यौरा आमुख में पहले ही प्रस्तुत किया जा चुका है। ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद करने के बाद भी ऐसा लगा कि जब तक इसकी अतिकूट और सूत्रात्मक भाषा में कही गई बातों का पग-पग पर विश्लेषण (वह भी गुरु सम्प्रदाय के आधार पर) न किया जाए तब तक पाठक लाभान्वित नहीं हो सकेंगे। अतः सम्बन्धित तन्त्र ग्रन्थों के अध्ययन और शैवगुरुओं के मुखों से समय-समय पर सुने हुए आध्यात्मिक प्रवचनों के आधार पर, अपनी ओर से विस्तृत विश्लेषणात्मक टिप्पणियाँ भी लिखनी पड़ी।

शैव दर्शन में अधिकारिताप्राप्त विद्वानों के लिए इतना सारा परिश्रम कोई माने नहीं रखता। उनके सामने तो सारे रहस्य हस्तामलक की नाईं स्पष्ट ही हैं। अतः प्रस्तुत प्रयत्न ऐसे व्यक्तियों को लाभान्वित करने के अभिप्राय से किया गया है जो कि संस्कृत भाषा नहीं जानते हैं परन्तु सच्चे भारतीय होने के नाते अपने पूर्वजों से थाती के रूप में मिले हुए ज्ञानभण्डार को हृदयङ्गम करने के इच्छुक हैं।

लगभग पिछली एक शताब्दी से यहां के शैवक्षेत्रों में परात्रिंशिका के पठन-पाठन का सिलसिला ठप्प हो गया था। कारण यह कि त्रिकीय साधना सम्प्रदाय के विशेषज्ञ पण्डित या साधक नहीं रहे थे। दूसरी ओर संस्कृत भाषा के ज्ञान का धीरे-धीरे ह्रास होने के कारण लोगों को इसकी कूट एवं सूत्रात्मक भाषा समझने में कठिनाई आ रही थी। तीसरा कारण शायद यह रहा हो कि इसमें भगवान् अभिनव ने यौन का जो आध्यात्मिक विश्लेषण प्रस्तुत कर रखा है उसको यथावत् रूप में न समझ सकने वाले युवाजन पथभ्रष्ट भी हो सकते थे अतः गुरुजन आम लोगों को. उसका अध्यापन कराने में हिचकिचाते रहे होंगे। ऐसी परिस्थिति में शायद अनुत्तर भगवान् की यही इच्छा थी कि इस शास्त्र का पूरा लोप न होने पाए।

भगवान् अभिनव :

> पूर्णव्याकरणावगाहनशुचिः सत्तर्कमूलोन्मिष-
> त्प्रज्ञाकल्पलताविवेककुसुमैरभ्यर्च्य हृद्देवताम्।
> पीयूषासवसारसुन्दरमहासाहित्यसौहित्यभाग्-
> विश्राम्याम्यहमीश्वराद्वयकथाकान्तासखः साम्प्रतम्॥

श्री ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी के इस उपरोक्त एक ही पद्य में भगवान् अभिनव ने अपने अनुत्तरीय प्रतिभा से सम्पन्न व्यक्तित्व का जीता जागता चित्र प्रस्तुत कर रखा है। मध्ययुगीन कश्मीर के शैव-दार्शनिकों में आपका स्थान महत्वपूर्ण और सर्वोपरि

रहा है। वैसे तो अब वह परिस्थिति नहीं कि हमारे देश में इस उत्कृष्ट कोटि के दार्शनिक को कोई जानता न हो। पिछले कुछ समय से आपके निराले व्यक्तित्व एवं कृतित्व ने केवल भारत के ही नहीं, प्रत्युत देश के बाहर के भी विद्वानों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट कर रखा है। फलतः बहुतेरे महानुभावों ने आपके सम्बन्ध में बहुत कुछ लिखा भी है। ऐसे विद्वानों में सबसे पहला श्रेय ख्याति प्राप्त श्री के. सी. पाण्डेय को प्राप्त है। इतना कुछ होने पर भी यहाँ पर आपके सन्दर्भ में थोड़ी सी चर्चा करना आवश्यक है क्योंकि परात्रिंशिका शास्त्र की प्रस्तुत टीका आपकी ही प्रौढ़ कृतियों में से अन्यतम है।

भगवान् अभिनव ने खुद अपने जीवन के बारे में कहीं पर भी अलग और विस्तार पूर्वक कुछ नहीं लिखा है अतः इस विषय में हमारे पास उतनी जानकारी भी नहीं जितनी अपेक्षित थी। केवल तन्त्रालोक और परात्रिंशिका की पुष्पिकाओं में जितना कुछ आपने अपने बारे में संकेतरूप में ही लिखा है उससे हम निम्नलिखित निर्णय पर पहुँच सकते हैं।

ईसा की दसवीं शताब्दी का उत्तरार्ध अथवा अधिक से अधिक ग्यारहवीं शताब्दी का पूर्वार्ध आपका जीवनकाल रहा है। आपके पिताश्री का नाम नरसिंह गुप्त (उपनाम चुखुलक) और माता का नाम विमलकला था। आपके पिता को तत्कालीन जनसमाज ने ही 'चुखुलक' की उपाधि दे रखी थी। इस बात का अङ्गीकार उन्होंने तंत्रालोक में स्वयं ही किया है—

'तस्यात्मजश्चुखुलकेति जने प्रसिद्ध—
श्चन्द्रावदातधिषणो नरसिंहगुप्तः।'

आप हमेशा इस अपने जन्मदाता मिथुन को शिव-शक्तियामल ही समझते रहे। आपके कथनानुसार आपकी जननी साक्षात् योगिनी थी। ऐसे मिथुन से जन्म पाने के कारण आप स्वयं 'योगिनीभूः' ही थे और यही कारण था कि आप स्वभाव से ही सर्वतोमुखी प्रतिभा के धनी और अनन्य साधना एवं भक्ति के पिण्ड ही थे। सिद्ध पिता और योगिनी माता से उत्पन्न होने वाली सन्तान के स्वरूप निर्धारण के सम्बन्ध में तन्त्रालोक के ही टीकाकार श्री जयरथ ने निम्नलिखित शास्त्रवाक्य उद्धृत किया है।

'तादृङ्मेलककलिकाकलिततनुर्यो भवेद्गर्भे।
उक्तः स योगिनीभूः स्वयमेव ज्ञानभाजनं भक्तः॥'

आपकी जननी छोटी अवस्था में ही आपको छोड़कर शिवधाम चली गई थी— 'माता व्ययूयुजदमुं किल बाल्य एव', अतः पिता ने ही अच्छी प्रकार आपका पालन-पोषण किया। उन्होंने स्वयं आपको व्याकरण एवं साहित्य का पूरा अध्ययन करा कर एक प्रकाण्ड पण्डित बना दिया। इसी के फलस्वरूप आपने आगे चलकर अपना जीवन एक सच्चे साहित्यपारखी, रसिक एवं आलोचक के ही रूप में आरम्भ किया था। आपके

द्वारा लिखी गई 'भरतनाट्यम्' और 'ध्वन्यालोक' जैसे ग्रन्थों की टीकाएँ आज भी आपके साहित्यपारखी होने का परिचय दे रही हैं।

भगवान् भूतनाथ की ही असाधारण भक्ति के फलस्वरूप आपके हृदय में स्वयं ही शैवशास्त्रों के प्रति रुचि उत्पन्न हो गई। इनका अध्ययन करने के लिए आपको बहुतेरे गुरुओं के घरों में दासवृत्ति भी अपनानी पड़ी—

'तदीयसंभोगविवृद्धये पुरा करोति दास्यं गुरुवेश्मसु स्वयम् ।'

(तन्त्रालोक)

इन गुरुओं के कृपाकटाक्ष और शिक्षा-दीक्षा ने ही आपको शास्त्रों के रहस्यवेत्ता की पदवी, और साधना के सन्दर्भ में साक्षात् शाक्त-भूमिका पर पहुँचा दिया था। आपके ये गुरु प्रधानतया त्र्यम्बक सम्प्रदाय के साथ सम्बन्धित थे। आपने अपनी कृतियों में अपने विद्यागुरुओं और दीक्षागुरुओं के प्रति स्थान-स्थान पर आदरभाव प्रकट किया है, परन्तु भट्ट इन्दुराज, भट्ट तोत, भूतिराज, श्री शम्भुनाथ और लक्ष्मणगुप्त इनके प्रति आपने विशेष कृतज्ञता और प्रह्वता का भाव प्रकट किया है। आपके लेखन से ऐसा प्रतीत होता है कि इन सारे गुरुओं में से श्री शम्भूनाथ ने ही आपको शैव सम्प्रदाय के सर्वोच्च आचार त्रिकाचार का रहस्य समझा कर विशेषरूप से सन्तुष्ट किया था। यही कारण है कि इस गुरु के प्रति आपका जितना मानसिक लगाव रहा है उतना और किसी के प्रति शायद ही रहा हो।

आप आजन्म अविवाहित ही रहे और अपने समूचे जीवन को शैव दर्शन के सर्वाङ्गीण प्रचार एवं प्रसार के कार्य में ही लगा लिया। आपकी लिखित सामग्री का विशाल भण्डार इसकी पूरी साक्षी दे रहा है।

आपने टीकाकार और मौलिक लेखक दोनों ही रूपों में एक से एक बढ़कर कृतियों की रचना की है। इनमें से कई इस समय प्राप्य हैं, परन्तु कई केवल नाममात्र से ही विदित हैं। अभी तक ऐसी अप्राप्य कृतियों का कोई उपलब्धि सूत्र नहीं मिल पाया है। आज तक उपलब्ध कृतियों की संख्या लगभग चौबीस पचीस है। इन्हीं में प्रस्तुत परात्रिंशिकाटीका भी एक महत्त्वपूर्ण कृति है।

त्रिक-सम्प्रदाय उपनाम त्रिकाचार :

कश्मीर शैवमत के दो पक्ष हैं—(१) दार्शनिक पक्ष और (२) साधना पक्ष। दार्शनिक पक्ष का विश्लेषण श्री सोमानन्द, भट्टकल्लट, उत्पल, अभिनव जैसे महान् आचार्यों ने प्रत्यभिज्ञा एवं स्पन्द के साथ सम्बन्धित शिवदृष्टि, ईश्वरप्रत्यभिज्ञा, स्पन्दकारिका इत्यादि दार्शनिक ग्रन्थों में किया है। साधना पक्ष के पेचीदा आध्यात्मिक रहस्यों को भगवान् अभिनव के तन्त्रालोक और श्रीपरात्रिंशिका, श्री स्वच्छन्दतन्त्र

इत्यादि बहुतेरे आगम ग्रन्थों में समझाया गया है। दार्शनिक पक्ष में जिन मूल सिद्धान्तों की स्थापना अनेक प्रकार की तार्किक युक्तियों के द्वारा की गई है वह सर्वमान्य और निश्चित रही है। उन सिद्धान्तों में आज तक भी किसी स्तर पर कोई परिष्कार या अन्यथाकरण नहीं हुआ है। इसके प्रतिकूल साधना पक्ष के, प्राचीन काल से ही, बहुतेरे रूप रहे हैं। दार्शनिक पक्ष में समझाए गए आध्यात्मिक तथ्यों को अनुभव में लाने के लिए भिन्न-भिन्न गुरुओं ने भिन्न-भिन्न प्रकार के साधना मार्गों को अपनाया और तदनुसार ही शिष्यों को भी दीक्षित किया। इन भिन्न-भिन्न प्रकार के साधना मार्गों को आचारों का नाम दिया गया। त्रिकाचार भी इन्हीं आचारों या सम्प्रदायों में से एक प्रधान आचार है और कश्मीर की शैव परम्परा में त्रिकाचार कहलाता है। प्रस्तुत लेखक के आदरणीय गुरुवर्य डॉ० बलजिन्नाथ ने अपनी रचना कश्मीर शैव दर्शन में इस परिप्रेक्ष्य में पर्याप्त चर्चा की है।

इन आचारों की संख्या भी प्राचीन काल में पर्याप्त रही है। तत्कालीन मुख्य साधना-सम्प्रदायों या आचारों की गणना और एक दूसरे से क्रमिक उत्कृष्टता का उल्लेख निम्नलिखित पद्य में मिलता है :

'वेदाच्छैवं ततो वामं ततो दक्षं ततः कुलम्।
ततो मतं ततश्चापि त्रिकं सर्वोत्तमं परम्॥ (प० त्रि० पृ० १४४)

कश्मीर में प्राचीन काल से ही वेदाचार, शैवाचार (द्वैतशैव), वामाचार, दक्षिणाचार, कुलाचार, मताचार और त्रिकाचार इन प्रधान एवं मान्यताप्राप्त आचारों का बोलबाला रहा है। खास बात यह देखने में आती कि तत्कालीन शैव जनसमाज ने खुद शैवमतावलम्बी होने और वेदाचार के शैवेतर होने पर भी, इसका (वेदाचार का) पूर्ण बहिष्कार करने के बजाय इसको भी एक अवरकोटि का साधना मार्ग स्वीकारा है। इन आचारों में कई द्वैतप्रधान और कई अद्वैतप्रधान रहे हैं। कुलाचार और त्रिकाचार पूर्ण अद्वैतप्रधान सम्प्रदाय रहे हैं। इन दोनों में पारस्परिक अन्तर भी थोड़ा ही है। कुल पद्धति पर चलने वाले लोगों ने जहाँ ज्ञान, चर्या, मेलाप, क्रिया और योग इन पाँचों क्रमों को समान महत्त्व दिया था वहाँ त्रिकपद्धति के अनुयायियों ने चर्या और मेलाप दोनों को बाह्याचार का नाम देकर इनका पूर्ण बहिष्कार किया था। साथ ही ज्ञानक्रम की अपेक्षा योगक्रम को मन्द अधिकारियों का ही विषय मान लिया था। [illegible]ायद यही कारण था कि उस युग में त्रिकाचार को ही सर्वोपरि मान्यता प्रदान की गइ [illegible]। इन मुख्य आचारों के अलावा उस जमाने में और भी बहुतेरे अवान्तर आ[illegible]चलित रहे।

कई लोग [illegible] कश्मीर शैव साहित्य को त्रिकदर्शन का नाम देने की भ्रान्ति में हैं। उनका विचार [illegible] कि कश्मीर शैवसाहित्य प्रत्यभिज्ञा, स्पन्द और आगम इन तीन भागों में विभक्त है [illegible]अतः इसको त्रिक कहते हैं। खेद के साथ कहना पड़ रहा है कि

उनकी ऐसी धारणा कतई भ्रान्तिपूर्ण है। वास्तव में त्रिक कश्मीर शैव साहित्य का एक स्वतन्त्र अङ्ग है। इसको त्रिक कहे जाने का आधार इस पद्धति पर चलने वाले साधकों और आचार्यों की एक विशेष मान्यता थी। उस मान्यता के अनुसार जो कुछ भी विश्वोत्तीर्ण या विश्वमय रूप में भासमान है वह तो शिवात्मक, शक्त्यात्मक या नरात्मक होने के कारण त्रिकरूपी ही है :

'नर-शक्ति-शिवात्मकं त्रिकम्·····' (प० त्रि० पृ० ३)

अथवा:

'नर-शक्ति-शिवात्मकं हि इदं सर्वं त्रिकरूपमेव' (प० त्रि० पृ० ११७)

अथवा:

'नर-शक्ति-शिवावेशि विश्वमेतत्सदा स्थितम्।
व्यवहारे क्रिमीणाञ्च सर्वज्ञानाञ्च सर्वशः॥' (प० त्रि० पृ० १२८)

त्रिकपरम्परा के अनुसार, वास्तव में, एक ही अनुत्तरीय आत्मसत्ता प्रत्येक स्तर पर इन्हीं उपरोक्त तीन रूपों में विलसमान है। तुच्छातितुच्छ घास के तिनके में भी देख सकने वालों को त्रिक का स्पष्ट आभास प्राप्त हो जाता है। प्रसिद्ध स्तोत्रग्रन्थ श्रीपञ्चस्तवी के लघुस्तव के सोलहवें पद्य में भी इसी आशय को ध्वनित किया गया है :

'देवानां त्रितयं त्रयी हुतभुजां शक्तित्रयं त्रिस्वरा—
स्त्रैलोक्यं त्रिपदी त्रिपुष्करमथो त्रिब्रह्म वर्णास्त्रयः।
यत्किञ्चिज्जगति त्रिधा नियमितं वस्तु त्रिवर्गात्मकं
तत्सर्वं त्रिपुरीति नाम भगवत्यन्वेति ते तत्त्वतः॥'

त्रिकसम्प्रदाय के सिद्धों को शब्दब्रह्म में भी त्रिक के दर्शन उपलब्ध हुए। उदाहरणार्थ उत्तमपुरुष, मध्यम पुरुष और प्रथम पुरुष क्रमशः शिव, शक्ति और नर; इसी प्रकार एकवचन, द्विवचन, बहुवचन क्रमशः शिव, शक्ति और नर; और इसी प्रकार ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत क्रमशः शिवः शक्ति और नर के प्रतीक हैं।

अनुत्तर भट्टारक निजी अभिन्न विमर्शशक्ति के माध्यम से, अनुत्तरीय विमर्श के ही रूप में पहले शक्तिभाव पर फिर नरभाव पर अवरोह करने, और नरभावसे, पहले शक्ति भाव पर फिर अनुत्तर भाव पर आरोह करने की लोकोत्तर क्रियात्मकता में सतत निरत हैं क्योंकि वे स्वतन्त्र चैतन्य होने के नाते शाश्वतिक सरण करते रहने के ही स्वभाव से ओतप्रोत हैं। इस सन्दर्भ में भगवान् सोमानन्द का कथन है कि शिव की शक्तियां स्वभाव से ही प्रसरणशीला हैं। वे सरण करती ही रहती हैं। अतः यह कहना अधिक तर्कसङ्गत है कि शाश्वतिक सरण ही शिव की प्रकृति है। शक्तियाँ तो शिव की प्रकृति ही हैं :

'..............................

यतोऽस्ति शिवशक्तीनां ताश्च नित्यमवस्थिताः
सरन्त्येव स्वभावेन तत्सरत्प्रकृतिः शिवः॥' (शि० द० ३, ९३)

अनुत्तरभट्टारक की अवरोहमयी क्रियाशीलता ही बहिरङ्ग विश्वमय प्रसार, और आरोहमयी क्रियाशीलता ही अन्तरङ्ग विश्वोत्तीर्णमय संहार हैं। इस लोकोत्तर प्रसार-संहार में कोई लोकप्रसिद्ध क्रम नहीं, प्रत्युत यह प्रक्रिया अक्रमरूप में और नीर क्षीर की तरह आपस में घुले-मिले रूप में युगपत् ही चलती रहती है। अतः यह प्रसार में ही संहार और संहार में ही प्रसार है।

इसी त्रिकमान्यता को साधना के द्वारा आत्मरूप में अनुभव करवाने के लिए उपयोगी जिस ज्ञानमार्ग या योगमार्ग की प्रस्तुत परात्रिंशिका शास्त्र में मीमांसा की गई है उसी का शास्त्रीय नाम त्रिक-सम्प्रदाय या त्रिकाचार है।

कश्मीर में इन भिन्न भिन्न प्रकार के सम्प्रदायों का प्रचलन अतिप्राचीन काल से ही रहा है। आजकल भी यहाँ के हिन्दू समाज के द्वारा महाशिवरात्रि के दिन काम में लाई जानेवाली भिन्न भिन्न क्रिया पद्धतियों और अलग अलग कुलाचारों में इन सम्प्रदायों के तत्त्वों के संकेत मिलते हैं। पुराने त्रिकाचार के अनुयायियों के वंशज आज भी यहाँ हैं और 'तिकू' कहलाते हैं।

श्री परात्रिंशिका उपनाम अनुत्तरसूत्र :

श्री परात्रिंशिका शास्त्र कश्मीर के अद्वैत त्रिकसम्प्रदाय का एक महत्त्वपूर्ण और प्राचीनकाल से ही मान्यताप्राप्त आगम ग्रन्थ है। यह शास्त्र त्रिकाचार के किसी प्राचीन जाने-माने सिद्ध पुरुष या आचार्य के द्वारा लिखी गई कोई स्वतन्त्र रचना नहीं, बल्कि रुद्रयामल नामी अतिप्राचीन तन्त्र ग्रन्थ से चुने हुए तीस से कुछ ही अधिक अनुत्तर सूत्रों का संग्रहमात्र है। ग्रन्थ के अन्तिम सूत्र के दूसरे चरण—

'इत्येतद् रुद्रयामलम्' (प० त्रि० पृ० ४४०)

में स्पष्ट शब्दों में रुद्रयामल तन्त्र को इस शास्त्र का उद्गम स्वीकारा गया है। प्राचीन काल में इस तन्त्र ग्रन्थ का स्वतन्त्र रूप और कलेवर कैसा रहा होगा?—इस परिप्रेक्ष्य में निश्चित रूप से कुछ कह सकना कठिन है। एक बात निश्चित है कि उस तान्त्रिक युग में किसी भी तान्त्रिक विषय को लेकर करोड़ों पद्योंवाले वृहत्काय तन्त्र ग्रन्थों की रचनायें कर डालने की प्रवृत्ति का बोल-बाला था, अतः सहज ही में इस निर्णय पर पहुँचा जा सकता है कि उस जमाने में इस तन्त्रग्रन्थ का रूप और आयाम भी कुछ ऐसा ही रहा होगा। इस समय यह तन्त्रग्रन्थ तीन अलग-अलग पुस्तकों के रूप में उपलब्ध है। पहली का नाम श्रीपरात्रिंशिका, दूसरी का नाम श्री विज्ञान भैरव और तीसरी का श्री भवानीसहस्रनाम है। इनके अतिरिक्त एक और 'देवीरहस्य' नामी तान्त्रिक रचना की पुष्पिकाओं में, उसके भी रुद्रयामल तन्त्र से ही उद्भूत रचना होने का दावा किया गया है, परन्तु प्रस्तुत लेखक के विचारानुसार वह एक भ्रान्ति है। यह तन्त्रग्रन्थ K.S.S. द्वारा छपाया गया हैं। इसकी भूमिका में K.S.S. के तत्कालीन अध्यक्ष श्रीमधुसूदन कौल ने भी ऐसा ही

विचार प्रकट किया है। इसके अतिरिक्त इस तन्त्रग्रन्थ के प्रारम्भिक पद्यों में ही इसके रुद्रयामल तन्त्र से उद्भूत न होने की बात स्पष्ट हो जाती है। अस्तु, श्री विज्ञानभैरव भी रुद्रयामल तन्त्र से लिए गए १६३ सूत्रोंका संग्रह है जिनमें इस समूचे तन्त्र में वर्णित क्रियापद्धतियों का सार प्रस्तुत किया गया है—

'....रुद्रयामलतन्त्रस्य सारमद्यावधारितम्' (वि० भै० १६२)

श्रीपरात्रिंशिका और श्री विज्ञानभैरव में निश्चित रूप से श्री परात्रिंशिका ही पहला संग्रह हो सकता है क्योंकि श्रीविज्ञानभैरव के प्रारम्भ में ही श्री देवी श्री भैरव से यह कहती हैं कि हे देव, मैंने रुद्रयामल तन्त्र के त्रिकविज्ञान का सार व्यवस्थित रूप में सुन लिया परन्तु मेरा संशय अभी निवृत्त नहीं हुआ।

श्रुतं देव मया सर्वं रुद्रयामलसंभवम्।
त्रिकभेदमशेषेण सारात्सारविभागशः ॥
अद्यापि न निवृत्तो मे संशयः परमेश्वर। (वि० भै० १, २)

श्री भवानीसहस्रनाम के भी इसी तन्त्र से उद्भूत होने की बात उसकी पुष्पिका और यहां की जनपरम्परा से सिद्ध हो जाती है। श्री परात्रिंशिका और श्रीविज्ञानभैरव की पुष्पिकाओं का अनुसन्धान करने से यह समझने में देर नहीं लगती कि मूल में रुद्रयामल तन्त्र का रूप और आयाम इतना बड़ा रहा होगा कि लोग उसका पठन-पाठन करने में असमर्थ रहे होंगे। फलतः उस युग के त्रिकाचार्यों को उस बृहत्काय तन्त्र के सारभूत सूत्रों का चयन करके ये उपरोक्त तीन संग्रह ग्रन्थ बनाने पड़े होंगे। ऐसा किये जाने का अभिप्राय तात्कालीन पाठकवर्ग का काम सरल बनाना ही रहा होगा।

श्री परात्रिंशिका का नामकरण :

श्री परात्रिंशिका का असली प्राचीन नाम श्री परात्रीशिका है। कारण यह कि 'त्रीशिका' अर्थात् इच्छाशक्ति, ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति इन तीनों को सुव्यवस्थित ढंग से संचालित करनेवाली पराभट्टारिका ही इस शास्त्र का वर्ण्यविषय है। इन तीन अलग-अलग शक्तियों की मौलिक विभागहीन अवस्था ही भगवती संवित्-शक्ति या परा भट्टारिका है। स्वयं भगवान् अभिनव को इस शास्त्र का यही नाम मान्य है :

'त्रीशिका इति। तिसृणां इच्छा-ज्ञान-क्रियाणां....ईशिका-ईश्वरी,...शक्ति-भेदत्रयोत्तीर्णा तच्छक्त्यविभागमयी संविद्भगवती—'भट्टारिका परा' अभिधेयं, तद्योगादेव च इदमभिधानं त्रीशिकाख्यम्' (प० त्रि० पृ० २८)

इसके अतिरिक्त आपने इस सन्दर्भ में प्राचीन गुरुओं की परम्परा का भी उल्लेख किया है। उसके अनुसार प्राचीन गुरु इस शास्त्र को 'परात्रिशका' भी कहते रहे हैं और इस 'त्रिशका' शब्द से—'तिस्रः शक्तीः कायति' इस विग्रह के अनुसार तीन शक्तियों को शब्दायमान अर्थात् स्पन्दायमान बनानेवाली पराभगवती का अर्थ लेते रहे हैं। तीस के लगभग अनुत्तरसूत्रों का संग्रह होने के कारण इस शास्त्र को 'परात्रिंशिका'

यह नाम दिये जाने की भ्रान्त धारणा स्वयं अभिनव के समय में भी मौजूद थी और आपने उसका खण्डन जोरदार युक्तियों के द्वारा किया है।

इसके अतिरिक्त प्राचीन काल में इस शास्त्र का नाम 'अनुत्तरसूत्र' भी रहा होगा। इस तथ्य का संकेत भगवान् अभिनव ने स्वयं ही 'आद्यन्तरहितं' इत्यादि सूत्राङ्क ३५ की टीका में दिया है—

'त्रिंशिका च अनुत्तरसूत्रम्—इति गुरवः' (प० त्रिं० पृ०४३८)

प्रस्तुत लेखक के विचारानुसार अब जो भी परिस्थिति है, 'परात्रिंशिका' इस रूढ़ नाम को सहसा बदलने में कोई तुक नहीं, क्योंकि एक तो शताब्दियों से चली आती हुई रूढ़ि मूलतः गलत होने पर भी एक यथार्थ ही बनी होती है, और दूसरा यह कि भगवान् अभिनव के द्वारा इस नाम को गलत ठहराये जाने पर भी किसी ने उसकी ओर न तो पहले कभी ध्यान दिया और न आज ही दे रहे हैं।

श्री परात्रिंशिका की टीकाएँ : (अनुपलब्ध)

ऊपर कहा जा चुका है कि श्री परात्रिंशिका प्राचीनकाल से ही त्रिकसम्प्रदाय का प्रमुख आगम ग्रन्थ रहा है। इसलिए इस शास्त्र पर बहुत से प्राचीन या अर्वाचीन त्रिकपण्डितों ने अपने-अपने दृष्टिकोण और आत्मअनुभूति के अनुसार टीकाएँ लिखी हैं। इन टीकाकारों का उल्लेख भगवान् अभिनव ने अपने तन्त्रालोक और परात्रिंशिका टीका दोनों में किया है। तन्त्रालोक में आपने निम्नलिखित पद्य में श्री सोमानन्द, कल्याण और भवभूति इन तीन टीकाकारों का नामोल्लेख किया है :

'श्री सोमानन्द-कल्याण-भवभूतिपुरोगमाः।
तथाहि त्रीशिकाशास्त्रविवृतौ तेऽभ्यधुर्बुधाः॥'

(तं० १३ आ०, १४९)

परात्रिंशिका टीका में भट्ट कल्लट, भट्ट धनेश्वर, श्रीशम्भुनाथ इत्यादि व्याख्याकारों का नाम लिया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि इनमें से श्री सोमानन्द की टीका को छोड़कर शेष सारी टीकाएँ स्वयं अभिनव के समय में भी उपलब्ध नहीं थीं। श्री सोमानन्द की टीका भी इतनी दुरूह और विस्तृत थी कि भगवान् अभिनव को उसमें पग-पग पर पाई जाने वाली गांठों को खोलने के लिए ही प्रस्तुत टीका लिखनी पड़ी। साथ ही उसमें कहीं-कहीं पर ऐसे अर्थ भी लगाये गए थे कि स्वयं अभिनवगुप्त जी जैसे प्रकाण्ड पण्डित को भी उनके समझने में कठिनाई आ गई :

'वयं तु तच्छासनपवित्रितास्तद्ग्रन्थग्रन्थिनिर्दलनाभिलषितस्वात्मपवित्रभावास्तैर्निर्णीतेष्वेवमादिष्वर्थेषु उदासीना एव।' (प० त्रि० पृ० १५६)

खेद की बात यह है कि आज कल यह सोमानन्द की टीका भी उपलब्ध नहीं है।

कश्मीर में समय-समय पर बदलती हुई राजनैतिक परिस्थितियों ने कितने ही समृद्ध साहित्य भण्डारों को पूरी तरह से कवलित कर डाला।

उपलब्ध टीकाएँ :

१—**श्री परात्रीशिका लघुवृत्ति :** यह महामाहेश्वर अभिनव के द्वारा रची गई एक छोटी सी टीका है। इसका नाम अनुत्तर विमर्शिनी है। यह K.S.S द्वारा सन् १९४७ A.D में क्रमाङ्क ६८ के अन्तर्गत छपाई गई है। यह एक अतिसंक्षिप्त वृत्ति है जिसमें संकेतरूप में ही सूत्रों के अभिप्राय को समझाने का प्रयत्न किया गया है।

२—**श्री परात्रिंशिका विवृत्ति :** यही भगवान् अभिनव के द्वारा रचित प्रस्तुत बृहती टीका है। ऐसा प्रतीत होता है कि आचार्य जी को दो बातों ने यह टीका लिखने के लिए बाध्य किया होगा। एक यह कि श्री सोमानन्द पाद की टीका में कहीं-कहीं ऐसे कूट अर्थ पाये जाते थे कि तात्कालीन जनसमाज को उनके समझने में कठिनाई आ रही थी। दूसरा यह कि आचार्य जी को कई प्रतिष्ठित आत्मीय जनों और जिज्ञासु शिष्यों ने अनुत्तर सूत्रों में निहित रहस्यों का स्पष्टीकरण करने का जोरदार अनुरोध किया था। इस बात का उल्लेख प्रस्तुत टीका की पुष्पिका में किया गया है। अब तो, खैर, भगवान् अनुत्तर की इच्छा से ही इसका हिन्दी अनुवाद भी बन गया।

३—**श्री परात्रीशिका लघुविवृत्ति :** यह कश्मीर के ही राजानक लक्ष्मीराम उपनाम लसकाक के द्वारा लिखी गई एक छोटी सी टीका है। यह भी K.S.S द्वारा सन् १९४७ A.D. में क्रमांक ६९ के अन्तर्गत छपाई गई है। राजानक लसकाक का स्थितिकाल उनके अपने ही कथनानुसार शाके १७३२ है। आपने श्री गीता, श्री ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा इत्यादि ग्रन्थों पर भी सरल टीकाएँ लिखी हैं। आपकी टीकाओं को यहाँ की परिभाषा में 'लासकी' कहते हैं। ईश्वर प्रत्यभिज्ञा पर लिखी गई लासकी की शारदा हस्तलिखित पाण्डुलिपि यहाँ के स्थानीय सेंटर ऑफ सेण्टल एशियन स्टडीज संग्रहालय में सुरक्षित है परन्तु उसको आज तक भी सूर्य का प्रकाश देखने का सौभाग्य प्राप्त नहीं हो सका है। पं० लसकाक ने परात्रीशिका शास्त्र की टीका लिखने का कारण अभिनव के द्वारा रचित बृहती टीका में पाई जानेवाली (उनके विचारानुसार) दुर्घटना को बताया है। उनको कौन सी दुर्घटना परिलक्षित हुई ?—इसका स्पष्टीकरण उन्होंने नहीं किया है :

> 'दृष्ट्वा दुर्घटनां शास्त्रे गुप्तपादैर्विनिर्मिते।
> राजानलसकेनैषा त्रीशिकाविवृतिः कृता ॥'

(परात्रीशिकालघुविवृतिः पुष्पिका पृ० २०)

इस पुष्पिकापद्य से पहले के पद्य में छिपे व्यंग्यार्थ का गहरा अनुसन्धान करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि भगवान् अभिनव ने अपनी टीका में आध्यात्मिक सन्दर्भ में

जो यौन की व्याख्या प्रस्तुत का है शायद उसीको पं० लसकाक ने दुर्घटना के रूप में लिया है।

अभिनव की टीका को उपयोगिता :

श्री परात्रिंशिका की प्रस्तुत बृहती टीका केवल अध्यात्म सम्बन्धी रहस्यों को समझ लेने के इच्छुकों को हो नहीं, प्रत्युत भाषाशास्त्रियों, मानव मनोविज्ञान के पण्डितों, समाजशास्त्र के पाठकों और ऐसे कई सम्बन्धित विषयों के विशेषज्ञों को भी किसी मात्रा तक लाभान्वित कर सकती है।

टीका के प्राकृत अवतरण :

भगवान् अभिनव ने बहुत सी जगहों पर उपदेश की बातें प्राकृत भाषा में समझाई हैं। इन प्राकृत अवतरणों का रूप अब तक इतना विकृत हो चुका है कि किसी प्राकृत भाषाओं के विशेषज्ञ के प्रयत्न के बिना इनका संस्कृत रूपान्तरण सम्भव नहीं हो सकता। यहाँ के शैवगुरुओं की भी प्राय: ऐसे स्थलों को विश्लेषण किये बिना छोड़ देने की ही परम्परा रही है। इसी कारण से ऐसे अवतरणो का भाषानुवाद संभव नहीं हो सका है। आशा है कि अब कोई प्राकृतपण्डित सज्जन इस दिशा में सक्रिय भाग लेकर प्रस्तुत ग्रन्थ की इस परम्परागत कमी को पूरी करने का प्रयत्न अवश्य करेगा क्योंकि महाकवि भवभूति ने एक बार कहा था—**'कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी।'**

अनुत्तर-भट्टारक :

अनुत्तर वही, जो कि उत्तर से अतिगत है। तात्पर्य यह कि अनुत्तर एक ही सर्वव्यापी, शाश्वतिक और स्वयंसिद्ध आत्मिक चेतना है, जो कि, समान रूप से, स्वयं ही उत्तर, अनुत्तर, एक साथ ही दोनों और दोनों से निरपेक्ष भी है। लोकोत्तर बोध और क्रियात्मक स्वातन्त्र्य का समरसीभाव ही मात्र इसका रूप है। युगपत् ही सब कुछ होने के कारण उस स्वरूप में किसी भी स्तर पर कोई रूपविपर्यय नहीं, हाँ रूपविस्तार तो अवश्य है। स्वरूपत: वह न कम और न ज्यादा ही है और उसके अतिरिक्त और कोई भी सत्ता या महासत्ता न तो उससे अलग और न अधिक ही है। यह समूचा, ऐन्द्रियबोध से ग्राह्य; व्यक्त नामरूपात्मक या अव्यक्त कल्पनात्मक, विश्वमय रूपविस्तार, स्थूलरूप में उत्तर दिखाई देता हुआ भी मूलत: सूक्ष्मातिसूक्ष्म अनुत्तर ही है। इसलिए वह (अनुत्तर) हर वक्त वर्तमान और हर चीज़ में व्यापक और सबों को प्रत्यक्ष ही दिखाई दे रहा है। उसको एकान्त हिमगिरि के उत्तुङ्ग शिखर पर बैठकर अनन्त अवकाश की दूरियों या अपार पारावार की गहराइयों में ढूँढ़ने की कोई आवश्यकता नहीं और न उससे कोई लाभ ही है। वह तो ढूँढ़ने वाले के अन्तरतम में छिपी हुई निजी हार्दिक स्फुरणा ही है।

सृष्टि के उषाकाल से ही मानव अपने को जानने का संघर्ष करता आया है। आज भी इसी उधेड़बुन में विवश है। शायद आगे भी यही दौड़ जीतने की धुन मे झख मारता रहेगा। इस झंझट में वह सिद्ध, साधु, वैरागी, दार्शनिक, वैज्ञानिक इत्यादि सब कुछ बनने का स्वांग भरता रहा, परन्तु समस्या वहीं की वहीं है।

'अद्यापि यन्न विदितं सिद्धानां बोधशालिनाम् ।' (प० त्रि० पृ० ४८) खोई हुई चीज ढूंढ़ने पर मिल सकती है, परन्तु जो चीज अपने अंदर या बाहर हर जगह पर मौजूद हो उसको खोई समझ कर ढूंढ़ते रहने में तुक ही क्या ? वह कहाँ और कैसे मिल सकती है ?

अनुत्तर चतुर्दिक् आत्मप्रकाश है, परन्तु जड़प्रकाश नहीं। वह तो सर्वव्यापी जीवन, स्वभाव से ही चेतन, नित्य आनन्दमय, सब कुछ चाहने वाला और सब कुछ जानने वाला तत्त्व है। चिदानन्द होते हुए वह न तो ऐकान्तिक इच्छा और न ऐकान्तिक ज्ञान ही कहा जा सकता है, प्रत्युत इन दोनों की समन्वितिरूपिणी क्रियाशक्ति अर्थात् कण-कण में स्पन्दायमान रहने वाली गति, अथवा दूसरे शब्दों में, हृद्गति की तरह अविराम रूप में चलती रहने वाली विश्वात्मिका हलचल ही उसका शरीर है :

'आत्मैव सर्वभावेषु स्फुरन्निर्वृतचिद्विभुः।
अनिरुद्धेच्छाप्रसरः प्रसरद्दृक्क्रियः शिवः ॥ (शि० दृ० १, २)

यह पारमेश्वरी क्रियाशक्ति सर्वस्वतन्त्र है फलतः शाश्वतिक क्रियात्मकता ही अनुत्तर का स्वातन्त्र्य है। यह प्रतिसमय देश, काल और आकार की सीमाओं से जनित इयत्ताओं का तार आगे-आगे बढ़ाती रहने पर भी स्वयं इनकी वशवर्तिनी नहीं है :

'एवं स्वातन्त्र्यसार-अकालकलित-क्रियाशक्तिशरीरम्-अनुत्तरम् ।'
(प० त्रि० पृ० ४८)

अनुत्तर का स्पष्ट आभास जंगल की अंधेरी गुफा में नहीं, बल्कि चिलचिलाती धूप या कड़ाके की सर्दी में बाहर सड़क, खेत या मशीन पर एकाग्रभाव से काम करते रहने वाले कुली, खेतिहर या श्रमिक के रूप में हो सकता है, तर-तर माल को चट करने वाले नर भक्षियों के रूप में नहीं। अस्तु, ऐसी विराट् एवं विश्वात्मिका क्रियाशक्ति का हृदय अर्थात् मौलिक स्पन्दन का केन्द्र ही अनुत्तर है :

'अनुत्तरं तद्धृदयम् ।' (प० त्रि० पृ० ४९)

ऊपर कहा गया कि उत्तर से अतिगत तत्त्व ही अनुत्तर है। अब प्रश्न यह है कि उत्तर क्या है ? उत्तर हृदय में क्षण-क्षण पड़ने वाली अनन्त गाँठें हैं :

'हृदये ग्रन्थिरूपता ।' (प० त्रि० पृ० ४९)

ऐसा हृदय जो कि गाँठों से रहित हो, अगरचे असम्भव तो नहीं परन्तु दुस्सम्भव अवश्य है। गाँठों से भरा हुआ हृदय उत्तरपक्ष में और इनसे रहित हृदय अनुत्तर पक्ष में गिने जा सकते हैं।

इस अनुत्तर तत्त्व के दो रूप हैं। वास्तव में ये दो रूप नहीं, अपितु अनुत्तरीय रूप विस्तार के दो पार्श्व हैं। एक विश्वोत्तीर्ण और दूसरा विश्वमय। विश्वोत्तीर्ण परिपूर्ण होने के कारण आकांक्षारहित है। आकांक्षा न होने के कारण उसमें कोई गाँठ ही नहीं है। वह तो मौलिक समरसतामयी आत्म-अवस्था होने के कारण द्वैतहीन, द्वन्द्वरहित एक स्वाभाविक अवस्था है। शास्त्रों में इसको संहारमयी या पूरी स्वरूपविश्रान्ति की अवस्था कहते हैं। साथ ही विशुद्ध अथवा मलों से हीन प्रकाश की अथवा प्रमाता, प्रमाण और प्रमेय इन तीनों की अविभागमयी प्रमिति को अवस्था होने के कारण उसमें उत्तरत्व का कलङ्क तनिक भी नहीं है। इसके प्रतिकूल विश्वमय रूप में पग-पग पर इयत्ताएँ और उससे जनित आकांक्षाएँ छाई हुई हैं। फलतः अनन्त प्रकार की गाँठें भी हैं। यह रूप भी अनुत्तरीय आत्मा की स्वयं ही अङ्गीकृत द्वन्द्वों से व्यापी हुई अवस्था होने के कारण चतुर्दिक् भेदभाव से भरी हुई कृत्रिम अवस्था है। शास्त्रों में इसको प्रसारमयी अथवा आगे-आगे अनेक एवं परस्पर भिन्न रूपों में विभाजित एवं विकसित होने के अविराम संघर्ष की अवस्था कहा है।

बहिरङ्ग रूप में भी समझ में आने वाला प्रत्येक हृदय अथवा प्रत्येक पदार्थ में अन्तर्निहित शक्तिकेन्द्र, मूल में एक ही विराट् अनुत्तरीय हृदय है। अभी ऊपर कहा गया कि हृदय में गांठें होती ही हैं। इसका तात्पर्य यह हुआ कि जहाँ कहीं और जिस किसी भी हृदय में गाँठ हो वह असल में अनुत्तरीय हृदय में ही है। परन्तु एक बात अवश्य ध्यान में रखने लायक है कि अनुत्तरीय हृदय को यदि अपने में सारी आकांक्षाएँ सिमट कर पूरी तरह स्वरूपविश्रान्त होने के रूप में देखा जाए तो उसमें कोई गाँठ नहीं। अगर उसी को अपने से बाहर शतशः आकांक्षाओं का ताना-बाना फैलाकर स्वरूप प्रसार करते रहने के रूप में देखा जाए तभी उसमें सारी गाँठें हैं। भाव यह कि बहिरङ्ग रूप विस्तार की अवस्था में सदाशिव तत्त्व से लेकर पृथिवी तत्त्व तक का तत्त्वजाल, अनन्त भुवन और भाव, अगणित जड़ों और चेतनों का समुदाय, लाखों और करोड़ों सृष्टिसंहारों की कल्पनातीत शृंखलाएं, इत्यादि सारा प्रपञ्च तो गाँठों का ही गोरखधन्धा है। शास्त्रों के अनुसार अनुत्तर का, उत्तर के रूप में प्रसृत होने की ओर उन्मुख हो जाना ही अनुत्तरीय हृदय की पहली गाँठ है।

त्रिकशास्त्रियों ने अध्यात्म के परिप्रेक्ष्य में अनुत्तरीय हृदय की प्रमुख सोलह गाँठों का विश्लेषण किया है। यह सोलह ग्रन्थियाँ अनुत्तर भाव पर पहुँच पाने के मार्ग में दुर्भेद्य प्राचीरें हैं। वीर पुरुष केवल अपने अडिग आत्मविश्वास, अनथक प्रयत्न, निरन्तर मानसिक परिष्कार और सर्वोपरि सद्गुरुओं के कृपाकटाक्ष से ही इनको परास्त करने में सक्षम बन जाते हैं। इन गाँठों का लेखा-जोखा प्रस्तुत परात्रिंशिका शास्त्र में इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है :

१. परभैरवीय संवित् की निरर्गल, सर्वतोमुखी और सर्वस्वन्तत्र ज्ञातृता और कर्तृता को भूलकर और किसी पदार्थ को उससे अतिरिक्त या अधिक समझना।

२. वास्तविक संवित्-भाव को आत्मिक अनुभव का विषय बनाने के बिना केवल सूखे सवालों और जवाबों के चक्कर में पड़े रहना।

३. मुक्ति को आत्मज्ञान से कतई अलग समझ कर, उसको पाने के लिए स्वयं कल्पित साधना की मंज़िलें तै करते रहने के फेर में पड़ना।

४. मुक्ति को पाने के लिए प्राणाभ्यास इत्यादि यौगिक पद्धतियों के द्वारा छः चक्रों का भेदन करने की भूल-भुलैया का शिकार बने रहना।

५. अनुत्तर के विश्वरूप अर्थात् उत्तर को रज्जु सर्प की तरह मिथ्या या किसी प्रकार का बंधन समझते रहना।

६. स्वयं कल्पित बन्धन की अपेक्षा बुद्धि से मुक्ति की कल्पनाएँ करते करते जीवन खो देना।

७. अनिश्चय की दशा में मानसिक ऊहापोह का शिकार बने रहना।

८. आत्म विकास की दिशा में काम में लाए जाने वाले उपायों की ही उच्चता या नीचता परखते रहना।

९. जातिभेद, वर्णभेद और अस्पृश्यता इत्यादि के झंझट से छूट न सकना।

१०. पश्यन्ती इत्यादि वाणियों,—

११. अघोरा इत्यादि शक्तियों, और—

१२. स्थूल, सूक्ष्म, पर इनमें पारस्परिक भेदों और उनके उपभेदों की कल्पनाओं के पचड़े के नीचे दबे रहना।

१३. अपने आत्मिक स्तर को ऊँचा उठाना भूलकर केवल दीक्षाओं के ज़ोर से ही जीवन का बेड़ा पार लगाने की आशाओं में खो जाना।

१४. स्थूल-काया, पुर्यष्टक और इनमें फँसी जीवात्मा को ही पर-तत्त्व का दर्जा देते रहना।

१५. 'अ-कला' अर्थात् अनुत्तर-तत्त्व के आदिसिद्ध प्रसारात्मक स्वभाव को एक यथार्थ न मानने या समझने की ज़िद पर अड़े रहना।

१६. अनुत्तरीय क्रियात्मकता में क्रमिकता या और किसी प्रकार का मीन-मेख निकालते रहना।

इन सोलह गाँठों का ठंडे दिल से अनुसन्धान करने, और सबसे पहले अपने आप पर ही इनका परीक्षण करने के उपरान्त, किसी भी व्यक्ति को यह समझने में देर नहीं लगती कि इनसे अपना पिंड छुड़वाने के लिए स्वयं कल्पित तर्कों के गोले चलाने की अपेक्षा, एक खास आत्मिक अनुशासन के दायरे में रहकर, अपने वैचारिक क्षेत्र को सन्तुलित और परिष्कृत बनाने की ही महती आवश्यकता है। इन आत्मिक विडम्बनाओं और जघन्य कुत्साओं से एक बार आत्मा का पिंड छूट गया तो वही मुक्ति है और आत्मा की स्वाभाविक अनुत्तर अवस्था है।

'आत्मा भातीति संवित्तौ भावा भान्तीति भासते।
भावा भान्तीति संवित्तौ आत्मा भातीति भासते ॥

परा-भट्टारिका :

अभी ऊपर कहा गया कि अनुत्तर, सर्वव्यापी 'आत्मप्रकाश', अर्थात् आत्मा की चिन्मात्रमयी बोध की अवस्था है। यह आत्मिक-बोध सूक्ष्मातिसूक्ष्म, सब दिशाओं में सामान्यरूप से व्यापक, सुचारु ढंग से व्यवस्थित, शाश्वतिक और स्वभावसिद्ध है। स्पष्ट ही शैव मान्यता के अनुसार अनुत्तरीय बोध वास्तव में परिपूर्ण चैतन्य ही है :

'.....यत्पुनः सूक्ष्मं सर्वदिक्कं व्यवस्थितम्।
ज्ञानं बोधमयं तस्य शिवस्य सहजं सदा'॥

(शि० दृ० १।२७)

चैतन्य केवल उसी पदार्थ को माना जा सकता है जिसमें विमर्शशक्ति स्वाभाविक अविनाभाविता से वर्तमान हो। विमर्श ही चेतन की चेतनता अथवा स्पन्दमयी गति है। इसी गति से बहिरंग विश्वरूप में 'विसर्ग' अर्थात् सृष्टि के रूपवाले प्रसार अथवा दूसरे शब्दों में रूपविस्तार का अत्यन्त दुर्घट कार्य सम्पन्न हो जाता है। फलतः चैतन्य पदार्थ का जीवन बना हुआ यह विमर्शमय स्पन्दन ही उसकी अभिन्न शक्ति है। इसी शक्ति को प्रस्तुत परात्रिंशिकाशास्त्र में परा-भट्टारिका की संज्ञा प्रदान की गई है। भगवान् अभिनव इस सृष्टिमयी शक्तिमाता के प्रति अपनी अपार श्रद्धा-भक्ति का भाव दर्शाते हुए इसको 'भट्टारिका-परा' इस नाम से पुकारने में हार्दिक सन्तोष का अनुभव करते हैं। प्रत्यभिज्ञादर्शन में इसको स्वातन्त्र्यशक्ति कहते हैं और तान्त्रिक क्रियापद्धति में इसकी अर्चना महात्रिपुरसुन्दरी के रूप में किये जाने का विधान है।

यह पारमेश्वरी विमर्शशक्ति नितरां सूक्ष्म है। तात्पर्य यह कि यह विमर्शमयी गति अथवा स्फुरणा साधारण प्राकृतिक बुद्धि अथवा ज्ञान से गम्य नहीं, क्योंकि इस विमर्शमय संवित् भाव के क्षेत्र में बुद्धि और ज्ञान इन दोनों के स्थूल भेदभाव का कोई अवकाश ही नहीं है :

'सूक्ष्मं,—बुद्धिज्ञानाद्यविषयं, तत्र बुद्धिज्ञानात्मनो भेदस्य विगलनात्'। (शि० दृ० १।२७ की टिप्पणी)

त्रिकशास्त्रियों की मान्यता के अनुसार यह विमर्शमयी संवित्-शक्ति ही प्राथमिक प्रतिभा है। जिसमें किसी भी प्रकार के सङ्कोच अथवा देशकालादि से जनित इयत्ताओं के लिए कोई स्थान नहीं :

'परामृशत च प्रथमां प्रतिभाभिधानां सङ्कोचकलङ्ककालुष्यलेशशून्यां भगवतीं संविदम्'। (प० त्रि० पृ० १६२)

इस पराभट्टारिका के क्षेत्र में संविन्मयी प्रकाशमानता का जैसा भी रूप है, उसी में प्रत्येक व्यवहार अथवा क्रियाशीलता का विमर्श भी चलायमान है। तात्पर्य यह कि इसमें सारे भाव भेदभाव से रहित संवित् रूप में ही भासमान हैं, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार जल में जल की और लपट में लपट की भासमानता होती है :

'अत्र तु परसंविदि यथैव भासा तथैव व्यवहारमयोऽपि विमर्शः। तेन जल इव जलं ज्वालायामिव ज्वाला, सर्वथा अभेदमया एव भावा भासन्ते'। (प० त्रि० पृ० २०८)

'कुल' एवं 'त्रिक' दोनों प्रक्रियाओं में भगवती पराभट्टारिका को 'कौलिकी' अर्थात् कुलशक्ति के रूप में स्वीकारा गया है, और इसको अनुत्तरीय हृदय में हमेशा स्पन्दायमान रहनेवाली हृद्गति के रूप में प्रस्तुत किया गया है। इस परिप्रेक्ष्य में उन प्रक्रिया-पण्डितों की पहली मान्यता यह है कि वास्तव में अनुत्तर तत्त्व ही बहिर्मुखीन प्रसार की प्रक्रिया में, अनन्त प्रकार के पशुप्रमाता और प्रमेयों के विस्मयावह रूपों में विकसित होने पर 'कुल' अर्थात् समूह कहा जाता है। इस कुल की वर्तमानता और बहिरंग रचना नाना प्रकार की कायाओं, उनमें वर्तमान रहनेवाले प्राण अपान इत्यादि के तारतम्य और परस्परभिन्न नील-सुख आदि प्रमेयवर्ग के विचित्र रूपों में प्रत्यक्ष ही दिखाई देती है। कुल के इन सारे रूपों में स्वभाव से ही कोई अलक्ष्य परन्तु सामान्य स्पन्दनमयी शक्ति निहित रहती है जो कि इनको अपने-अपने अपेक्षित कार्यों को यथावत् रूप में सम्पन्न करने के लिए सक्षम बना लेती है। यही शक्ति कुलशक्ति है और इस समूचे विश्वमय कुल को सुव्यवस्थित ढंग से, सही रूप में आगे-आगे बढ़ने की प्रेरणा प्रदान करने के कारण कुलनायिका भी है। दूसरी मान्यता यह है कि यद्यपि यह स्पन्दमयी शक्ति 'कुल' अर्थात् नाना रूपों में विकास में आए हुए प्रमेयवर्ग में स्वभाव से ही निहित है, तो भी यह स्वयं न तो कभी प्रमेय भूमिका पर उतरती है और न प्रमेयों की उपाधियों से रञ्जित ही हो जाती है। इसलिए यह 'कौलिकी' अर्थात् कुल से भी अतिगत 'अकुलरूपिणी' शक्ति है। तीसरी मान्यता यह है कि 'कुल' अर्थात् प्रमेयवर्ग के उन परस्पर भिन्न नाना-रूपों में स्थिति तभी सम्भव होने पाती है जब कि अकुलमयी चिन्मात्रसत्ता अथवा दूसरे शब्दों में पर भैरवमयी (परशिव या अनुत्तरमयी) सत्ता उनके कण-कण में व्याप्त होकर और उनका आधार एवं विश्रान्ति स्थान बनकर अवस्थित है। यहाँ पर इस अकुलमयी चिन्मात्रसत्ता से, शास्त्रीय शब्दों में, 'अकुलमय कौल' अर्थात् परमशिव या अनुत्तर-भट्टारक का अभिप्राय है। शास्त्रीय मान्यता के अनुसार यह अनुत्तरीय अकुलसत्ता स्वयं भी विमर्शमयी शक्ति के ही गर्भ में तादात्म्यभाव से निहित है। साधारण शब्दों में इस तरह भी कहा जा सकता कि अनुत्तरमय हृदय शाश्वतिक रूप में पराभट्टारिकामयी विमर्शशक्ति से ओतप्रोत है। इस कारण से भी यह विमर्श शक्ति वास्तव में कौलिकी अथवा कुलशक्ति है :

'हृदयस्था तु या शक्तिः कौलिकी कुलनायिका ।' (प० त्रि० पृ० १००)

वास्तव में यह अपरिमित विस्तार वाला और अनन्तरूपों में विलसमान कुल, परभैरवीय प्रकाशपुञ्ज का निजी अभिन्न विमर्शमय शक्तिचक्र है। तात्पर्य यह कि भूतात्मक या भावात्मक विश्व का प्रत्येक पदार्थ, चाहे वह कितना ही महान् या लघु ही क्यों न हो, पारमेश्वरी शक्ति की किरण ही है :

'शक्तिः पदार्थजातस्य दवदेवस्य साखिला ।
शक्ति-शक्तिमतामुक्ता सर्वत्रैव ह्यभेदिता । (शि० दृ० ३, ६४-६५)

अथवा :

'यदिदं परमेश्वरस्य भैरवभानोः रश्मिचक्रात्मकं निजभासास्फारमयं कुलम्-उक्तम्' । (प० त्रि० पृ० ५५)

अनुत्तरीय प्रकाशपुञ्ज इतना चुंधियाने वाला है कि उसका सीधा साक्षात्कार किया जाना बिल्कुल असम्भव है। उसका साक्षात्कार तो पराशक्ति के स्फार का रूप धारण करने वाले 'कुल' में ही सम्भव हो सकता है। सीधे शब्दों में यह कहना उचित होगा कि अपने ही हृदय में विद्यमान शक्ति ही अपनी मौलिक अनुत्तरीय आत्मसत्ता का साक्षात्कार करवा लेती है :

'तद्वत् परभैरवोऽतिसौक्ष्म्यादनुभवगोचरमेति नैव जातु ।
अथ देशाकृतिकालसन्निवेशस्थितिसंस्पन्दितकारकत्वयोगाः ।
जनयन्त्यनुभाविनीं चितिं ते झटिति न्यक्कृतभैरवीयबोधाः ॥'

(प० त्रि० पृ० ३६)

भगवती पराभट्टारिका विमर्शमयी होने के कारण स्वभाव से ही अविराम और अखण्ड रूप में स्पन्दायमान रहने वाली है, अतः यही अनुत्तरीय क्रियाशक्ति है। परमेश्वर की निरर्गल एवं निरङ्कुश क्रियात्मकता होने के कारण यही उसका स्वातन्त्र्य अथवा स्वरूप-स्वातन्त्र्य है। स्वरूपस्वातन्त्र्य से ही न जाने कितने रूपों में, समानरूप से तथाकथित सुन्दर या असुन्दर—पशुदृष्टि से अपेक्षित या अनपेक्षित, रूपों में प्रसार करते रहने का धर्म उससे कभी भी छूट नहीं सकता। चेतना तो प्रसार के बिना चेतना कही ही नहीं जा सकती।

इसके इस स्वभावसिद्ध प्रसारात्मक धर्म को ही त्रिकशब्दों में विसर्ग अथवा विसर्गमयता कहते हैं। अतः भगवती पराभट्टारिका स्वभावतः वैसर्गिकी कला ही है।

इसके प्रसारक्रम का पहला स्पन्द इच्छाशक्ति, दूसरा ज्ञान-शक्ति और तीसरा क्रिया-शक्ति है, परन्तु यह क्रम तो केवल कहने-सुनने और समझने के लिए एक औपचारिक प्रयोग है। वास्तव में यह इच्छा, ज्ञान और क्रियामय त्रिशूल एक ही लोकोत्तर एवं यौगपदिक स्पन्दन के तीन कोण हैं। इस शक्तित्रिशूल के इन्हीं तीन कोणों को क्रमशः

भगवती के परा, परापरा और अपरा रूपों की स्फुरणा समझा जाता है। इनमें से परारूपिणी स्फुरणा परा-वाणी के, परापरारूपिणी पश्यन्ती और मध्यमा वाणियों के और अपरारूपिणी स्फुरणा वैखरी-वाणी के साथ सम्बन्धित हैं। इनमें से परारूपिणी अथवा इच्छा शक्तिमयी स्फुरणा किसी भी प्रकार के भेदभाव से रहित विशुद्ध शक्तिरूपिणी होने के कारण परभैरवीय सत्ता से कभी भी वियुक्त नहीं हो जाती है। फलतः वह सर्वाङ्गीण रूप में परभैरवमयी या अनुत्तरमयी ही है। ज्ञानशक्तिमयी अथवा परापरमयी स्फुरणा सदाशिव-तत्त्व का स्तर है। दूसरे शब्दों में यह पश्यन्ती-वाणी का स्तर है, अतः इस ज्ञानशक्ति को परिपूर्ण अनुत्तरीय बोध की अवस्था समझना गलती है। वास्तव में यह क्रियागर्भित ज्ञान की अवस्था है। भगवान् सोमानन्द ने अपनी शिवदृष्टि में इस स्तर का निर्णय निम्नलिखित सूत्र में किया है :

'अथास्माकं ज्ञानशक्तिर्या सदाशिवरूपता।
वैयाकरणसाधूनां पश्यन्ती सा परा स्थितिः॥' (शि० दृ० २, १)

इसी सूत्र की विवृति में भगवान् उत्पल ने यह स्पष्टीकरण दिया है कि सदाशिवमयी ज्ञानशक्ति, पश्यन्ती-वाणी का स्तर है। यह परमशिवभाव से बहुत दूर की अवस्था और क्रियाशक्ति से गर्भित है :

'परमशिवरूपताया अत्यन्तदूरवर्तिनी,....ज्ञानशक्तेः सदाशिवरूपत्वात् परापरव्यवस्थात्व,....सदाशिवरूपत्वे च क्रियाशक्तिरपि न परित्यक्ता, यदुक्तं—'ज्ञानक्रिये सादाख्यम्' इति'। (शि० दृ० २, १ विवृति)।

क्रियाशक्तिमयी अथवा अपरामयी स्फुरणा ही समूचा बहिरंग विश्व प्रपञ्च है। फलतः विश्वमय क्रिया-स्फार के आसन पर सदाशिवमयी ज्ञानशक्ति प्रतिष्ठित है। सदाशिवमयी ज्ञानशक्ति के पीठ पर भगवती इच्छाशक्ति के परादेवी, परापरादेवी और अपरादेवी ये तीन देवीरूप अथवा शक्तित्रिशूल विराजमान है। इस सारे आसन पर स्वयं सर्वस्वतन्त्र एवं सार्वदेशिक परभैरवमयी शक्ति श्रीपराभट्टारिका स्वयं 'त्रीशिका' के रूप में विराजमान होकर अनन्त सृष्टिसंहारों की क्रीडा का सञ्चालन कर रही है। यही भगवती महात्रिपुरसुन्दरी का भव्य एवं विराट् रूप विस्तार है।

'परा भगवती संवित्प्रसरन्ती स्वरूपतः।
परेच्छाशक्तिरित्युक्ता भैरवस्याविभेदिनी॥
तस्याः प्रसरधर्मित्वं ज्ञानशक्त्यादिरूपता।
परापरापरारूपपश्यन्त्यादिवपुर्भृतिः' ॥ (प०त्रि०पृ० १०५)

रुद्रयामल :

यदि सूक्ष्म एवं निष्पक्ष दृष्टि से देखा जाय तो प्रत्यभिज्ञाक्रम पर चलनेवाले लोग शिव-शक्ति संघट्ट को प्रकाशप्रधानता की दृष्टि से और स्पन्दक्रम के अनुयायी विमर्श-

प्रधानता की दृष्टि से देखते आये हैं। तात्पर्य यह कि दोनों क्रमों पर चलनेवाले लोग क्रमशः इस संघट्ट में शिवभाव की और शक्तिभाव की ऐकान्तिक प्रधानता का अङ्गीकार करने पर विवश हैं। जहाँ तक संघट्टमयता का सम्बन्ध है, वह तो कश्मीर शैवमत के सारे पक्षों के साथ सम्बन्धित दार्शनिकों को समानरूप से मान्य है। जहाँ तक इस संघट्ट-मयता में ही प्रकाशपक्ष या विमर्शपक्ष को प्रमुखता देने का सम्बन्ध है, उससे शिव-शक्ति की नीरक्षीरमयी समरसता कुछ मात्रा तक संदेह में पड़ जाती है। त्रिकशास्त्र के अनु-यायियों को यह बात मान्य नहीं है। उनका मन्तव्य यह है कि अनुत्तर-तत्व समूचे भावात्मक और भूतात्मक विश्व का मात्र 'हृदय' अर्थात् स्फुरण का मूल उद्‌गमस्थान है। उसका स्वरूप प्रकाश एवं विमर्श अथवा दूसरे शब्दों में शिवत्व और शक्तित्व का एक ऐसा साम-रस्य है कि इनमें से किसी एक को अलग मानकर उसकी प्रमुखता और दूसरे की गौणता की कल्पना भी सम्भव नहीं है। दर असल 'प्रकाश और विमर्श' इसप्रकार के द्वित्व का कथन केवल जिज्ञासुओं को चैतन्यतत्व का स्वरूप समझाने के लिए मात्र एक भाषिक औपचारिकता के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। चेतन उसी पदार्थ को कहा जा सकता है जो कि एक साथ ही प्रकाशविमर्शमय हो। फलतः चैतन्य-तत्त्व में किसी एक पक्ष को प्रमुखता देना उत्तरत्व की जंजीरों में जकड़े रहना ही है।

त्रिकपण्डितों का विश्लेषण इस प्रकार है कि अगर परतत्त्व को, विमर्शरूप में अन्तर्लीन होकर क्षोभरहित स्वभाव की अवस्था में अवस्थित होने की दृष्टि से देखा जाये तो वह उसकी स्वरूपविश्रान्त संहारमुद्रा होगी। तात्पर्य यह कि इस मुद्रा में वह तत्त्व अपनी सारी शक्तियों को स्वरूप में ही समेट कर अपनी परिपूर्ण स्वभाव की अवस्था में रममाण है। यही परिपूर्ण अनुत्तरभाव कहा जाता है। इसके प्रतिकूल यदि उस तत्त्व को, विमर्शरूप में बहिर्मुख होकर क्षोभसहित रूपविस्तार की अवस्था में रममाण होने की दृष्टि से देखा जाये तो वह उसकी प्रसारमुद्रा होगी। तात्पर्य यह कि इस मुद्रा में वह अपनी सारी शक्तियों को बहिरङ्ग रूप में प्रसरित करता हुआ स्वयं ही शक्तिभाव को अपनाकर उसमें रममाण है। इस अवस्था को शास्त्रीय शब्दों में स्वरूपचमत्कार अथवा अहंचमत्कार की अवस्था कहते हैं। स्पष्ट ही वह शाश्वतिक चेतनापिण्ड स्वयं ही शिव अथवा प्रकाश और शक्ति अथवा विमर्श है। इनमें से किसी भी पक्ष की पूर्वापरता का कोई प्रश्न ही नहीं, प्रत्युत यह शाश्वतिक समरसीभाव की वर्तमानता है।

त्रिकमन्तव्य के अनुसार अनुत्तर भाव 'अहम्' और 'इदम्' का एक त्रिकालाबाधित 'संघट्ट' अर्थात् शिवभाव और शक्तिभाव का एक ऐसा लोकोत्तर संपृक्त रूप है कि इसमें शिवभाव शक्तिभाव के और शक्तिभाव शिवभाव के कण-कण में ओतप्रोत है। इस संघट्ट को दूसरे शब्दों में 'यामल' भी कहते हैं। इसी कारण से त्रिकसिद्धों ने इसको 'रुद्रयामल' की संज्ञा दे रखी है। इस शब्द का तात्पर्य यह कि अनुत्तरभाव, भगवती रुद्रा (शक्ति), और भगवान् रुद्र (शिव) का ऐसा 'यामल' अर्थात् घुलामिला समरसीभाव है कि इसमें

किसी प्रकार की प्रश्नात्मकता और उत्तरात्मकता के पार्थक्य का कोई अवकाश ही नहीं है। साथ ही यह, विश्वोत्तीर्ण या विश्वमय, दोनों रूपों में अविनाभाविता से, स्वरूप-परामर्शमय होने के साथ मूल अकुलसत्ता में ही अविचलभाव से अवस्थित है :

'रुद्रस्य रुद्राग्राश्च यद् यामलं-संघट्ट:-निर्विभागप्रश्नोत्तररूपस्वरूपामर्शन-प्रसराद् आरभ्य, यावद्बहिरनन्तापरिगणनीयसृष्टिसंहारशतभासनं यत्रान्तः, तदेतद् अकुलोपसंहृतमेव (रुद्रयामलम्)' । (प० त्रि पृ० ४४०)

'अहम्' और 'महअ' :

त्रिकसन्दर्भ में अनुत्तर-तत्त्व के बहिरङ्ग प्रसार का रूप 'अहम्', और अन्तरङ्ग संहार का रूप 'महअ' है। दोनों रूपों में यह वास्तव में अनुत्तरीय 'अहम्'—विमर्श ही है। 'अ-ह्-म्' शब्द के—'अ', 'ह' और 'म' ये तीन वर्ण क्रमशः शिवभाव, शक्तिभाव और नरभाव के प्रतीक हैं। इसी प्रकार 'म-ह-अ' इस शब्द के 'म', 'ह' और 'अ' ये तीन वर्ण भी इन्हीं के प्रतीक हैं, परन्तु विलोम क्रम में। त्रिकपरिभाषा में 'अ-ह्-म्' को क्रमशः 'अ-कला', 'ह्-कला' और 'म-कला' अर्थात् शिवकला, शक्तिकला और नरकला कहते हैं। 'अहम्' और 'महअ' दोनों में 'ह्-कला' हमेशा मझोली कला रहती है। किसी भी अवस्था में इसका स्थान परिवर्तन नहीं होने पाता। फलतः 'अहम्' का तात्पर्य यह निकलता है कि बहिर्मुखीन विश्वरूप में स्वरूप का प्रसार करने की उन्मुखता में, 'अ-कला' अर्थात् भगवान् अनुत्तर, पहले 'ह्-कला' पर प्रसार करते हैं अर्थात् स्वयं ही शक्ति-रूप को स्वीकारते हैं। स्पष्ट ही बहिर्मुखीन प्रसार का पहला चरण अद्वैत पदवी से द्वैता-द्वैत पदवी पर अवरोह करना है। इसके अनन्तर अन्तिम 'म-कला' अर्थात् नरभाव पर प्रसार करते हैं अर्थात् समूचे जड़चेतनमय प्रमेय विश्व के रूप में स्वरूपतः ही विकसित हो जाते हैं। स्पष्ट ही बहिर्मुखीन प्रसार का दूसरा चरण द्वैताद्वैत पदवी से परिपूर्ण द्वैत की पदवी पर अवरोह करना है।

'महअ' शब्द का तात्पर्य ठीक इसका विलोम क्रम है। वह यह कि अन्तर्मुखीन अनुत्तरभाव में ही संहृत हो जाने की उन्मुखता में, वही नरभाव पर पहुँचे हुए भगवान् अनुत्तर पहले शक्तिभाव पर और अनन्तर मौलिक अनुत्तरभाव पर आरोह करके फिर भी मौलिक अनुत्तरस्वरूप में संहृत होकर विश्रान्त हो जाते हैं। दोनों ही रूपों में यह अनुत्तर-तत्त्व की रूपप्रसारमयी क्रीड़ा है। दोनों की मझोली 'ह्-कला' अर्थात् शक्ति द्विमुखी द्वार की भूमिका निभा लेती है। शिव नरभाव को, अथवा, नर शिवभाव को स्वीकारने के प्रति उन्मुख हों तो दोनों के लिए शक्तिभाव ही केवल माध्यम है :

'स्वातन्त्र्यैकरसावेशचमत्कारैकलक्षणा ।
परा भगवती नित्यं भासते भैरवी स्वयम् ॥
तस्याः स्वभावयोगो यः सोऽनिरुद्धः सदोदितः ।
सदाशिवधरातिर्यङ्नीलपीतसुखादिभिः ॥

भासमानैः स्वस्वभावैः स्वयंप्रथनशालिभिः ।
प्रथते संविदाकारः स्वसंवेदनसारकः ॥'
(प० त्रिं० पृ० ३३५)

त्रिकशास्त्रों में 'अहम्' शब्द को सीधे और विलोम क्रम में रखकर, इसका विश्लेषण करने में केवल जिज्ञासुओं को प्रसार के बहुर्मुखीन एवं अन्तर्मुखीन रूपों को अच्छी प्रकार समझाना ही है । यही बात प्रसार और संहार इनके विषय में भी चरितार्थ हो जाती है ।

ये अनुत्तरीय अहंरूपी प्रसार और महअरूपी संहार किसी तथाकथित कालक्रम के वशवर्ती नहीं, और न इन पर कोई पूर्वता और परता जैसा लाञ्छन ही थोपा जा सकता है । वास्तव में, प्रसार में ही संहार और संहार में ही प्रसार की अनुत्तरीय क्रिया, शाश्वतिक एवं स्वाभाविक रूप में, प्रतिक्षण अविराम गति से चलायमान ही है :

'एतौ प्रसरसंहारावकालकलितौ यतः ।
तदेकरूपमेवेदं तत्त्वं प्रश्नोत्तरात्मकम् ॥' (प० त्रिं० पृ० १०६)

पाठक वर्ग प्रस्तुत शास्त्र का अध्ययन करके स्वयं ही इस 'अहम्' के रहस्य से अवगत होंगे । यहाँ पर इस ओर ध्यानाकर्षण के लिए केवल इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि असीम ईश्वरीय संवित् के संस्कार का रूप मात्र 'अहम्' ही है, और यही सदा चमकने वाला शुद्धविद्यामय प्रकाश है :

'स्वाभाविकमहासंवित्सत्संस्कारैकलक्षणम् ।
शुद्धविद्यात्मकं रूपम् 'अहम्' इत्युभयात्मकम् ॥' (प० त्रिं० पृ० ३३७)

खेचरी साम्य :

प्रत्येक प्राणी के हृदयाकाश में हमेशा वर्तमान रहने वाली और उसके बौद्धिक एवं ऐंद्रियक क्षेत्रों का स्वतन्त्रता से संचालन करती रहने वाली शक्ति का नाम 'खेचरी-शक्ति' है—'खे-बोधगगने चरतीति खेचरी ।' दूसरी ओर भगवान् अभिनव ने इसका स्वरूप विश्लेषण निम्नलिखित शब्दों में किया है :

'खे ब्रह्मणि अभेदरूपे स्थित्वा, चरति-विषयम् अवगमयति, तथा हानादानादि चेष्टां विधत्ते, स्वरूपे च आस्ते-इति 'खेचरी', अन्तर्बहिष्करणतदर्थ सुखादि-नीलादिरूपा ।' (प० त्रिं० पृ० ६१)

तात्पर्य यह कि 'खेचरी' परमेश्वर की ही स्वातन्त्र्य शक्ति का अन्यतम नाम है । यह स्वरूपतः हमेशा भेदरहित, सर्वव्यापक और चिन्मय अनुत्तरभाव पर ही प्रतिष्ठित रहती है । उसी रूप में अविचल रहकर प्राणी की अलग-अलग इन्द्रियों को स्पन्दायमान बनाकर उनके द्वारा शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध इन पांच प्रकार के प्रमेय विषयों का बोध और इनके पकड़ने या छोड़ देने की चेष्टाएँ करवाती रहती है । प्राणियों की पाञ्चभौतिक कायाओं में अन्तःकरण, ज्ञानेन्द्रियां, कर्मेन्द्रियां और इनके द्वारा ग्राह्य नील एवं सुखरूपी

विषयों का अवगम ही इसका रूप है। यही शक्ति प्रत्येक प्राणी के अन्दर वाले भावात्मक विश्व का, बाहर के शब्द, स्पर्श आदि रूपों वाले स्थूल प्रमेय विश्व के साथ सम्बन्ध जोड़ देती है। इसकी क्रियाशीलता द्विमुखी है। जहाँ एक ओर आत्मा का सम्बन्ध इन्द्रियों के द्वारों से, बाहरी प्रमेय विश्व के साथ जोड़ देती है, वहाँ दूसरी ओर उस पर (आत्मा पर) विशेष शक्तिपात होने की दशा में उसका सम्बन्ध मौलिक अनुत्तर भाव के साथ भी जोड़ देती है। साधारण जीवभाव की दशा में यह इन्द्रियों के मार्गों से प्रतिक्षण बाहरी प्रमेय विश्व की ओर ही, इन्द्रियवृत्तियों के रूप में प्रवहमान रहती है। सच्चे साधकों और परमेश्वर की विशेष अनुकम्पा के पात्र भक्तजनों के सन्दर्भ में इसकी प्रवहमानता का मार्ग बिल्कुल अलग होता है। उसको 'ऊर्ध्वमार्ग' कहते हैं और उस पर यह इन्द्रियवृत्तियों के रूप में नहीं, प्रत्युत अपने वास्तविक 'खेचरी-शक्ति' के रूप में ही विचरण करती रहती है। खैर, यह एक अलग बात है। इसको समझाने के लिए शास्त्र में पर्याप्त बातें कही गई हैं। आये दिन के जीव-व्यवहार में इसकी बहिर्मुखीन प्रवहमानता—खेचरी, गोचरी, दिक्चरी और भूचरी—इन चार रूपों में परिलक्षित होती है। प्रत्येक प्राणी की काया में इन चारों की क्रियाशीलता किन स्थानों और किन रूपों में चलती रहती है? इसका ब्यौरा पाठकों को प्रस्तुत ग्रन्थ के पृष्ठाङ्क ६२ पर मिलेगा। यहाँ पर केवल इतना कहने की अपेक्षा है कि आम जीवभाव के स्तर पर खेचरीसञ्चार की अवस्था विषम और सम भी होती है। वैषम्य तो प्रायः एक सर्वसाधारण नियम और साम्य एक अपवाद ही है। इस वैषम्य की अवस्था में यह मनुष्य के मानसिक एवं बौद्धिक क्षेत्रों पर जघन्य प्रभाव डालकर कुत्सित मानव प्रकृति को जन्म देती है। शास्त्र का कथन है कि ग्राम्यवृत्ति की राह को अपनाकर काम-क्रोध आदि वृत्तियों का, केवल अपनी पाशविक विषय-पिपासा को शान्त करने के लिए सेवन करते रहना ही 'खेचरी वैषम्य' की अवस्था है :

'सैव खेचरी कामक्रोधादिरूपतया वैषम्येन लक्ष्यते।' (प० त्रि० पृ० ६३)

आत्मपरिचय प्राप्त करने के मार्ग पर अग्रसर होने के लिए इस खेचरी-वैषम्य को 'खेचरी-साम्य' में परिणत करने की महती आवश्यकता है। इस लक्ष्य को पाने के लिए अपने ही मानसिक और बौद्धिक क्षेत्रों का क्षण-क्षण पर खुद ही परिष्कार करते रहना और कर सकना तो अपनी जगह लोहे के चने चबाना ही है। खैर, शास्त्रों के अनुसार यह लक्ष्य इन काम, क्रोध आदि वृत्तियों का एकदम दमन करने से पा सकना यद्यपि असम्भव तो नहीं, लेकिन दुस्सम्भव तो अवश्य है। वह तो विरले ही वीरों का काम होता है। अतः इनके अभ्युत्थानकाल पर ही आत्मसंयम से काम लेकर इनके मूल उद्गम का अनुसन्धान करने का अभ्यास करते रहने से ही काम सरलता से बन सकता है। प्रत्येक सुख, दुःख और मोहात्मिका वृत्ति मूल में अनुत्तरमयी ही होती है :

'....क्रोधमोहादिवृत्तयो हि परिपूर्णभगवद्भैरवभट्टारकसंविदात्मिका एव।'

(प० त्रि० पृ० ६४)

अथवा (भगवान् सोमानन्द के विचारानुसार) :

'सुखे दुःखे च मोहे च स्थितोऽहं परमः शिवः ।
प्रतिपादितमेतावत् सर्वमेव शिवात्मकम् ॥' (शि० दृ० ७, १०५)

त्रिकशास्त्रियों का यह पूरा विश्वास है कि काम-क्रोध आदि कुत्सित वृत्तियों का अस्तित्व और अभ्युत्थान तभी सम्भव हो सकता है जब कि चित्-चमत्कार के साथ ही उनका भी तादात्म्य हो। सारी इन्द्रियवृत्तियाँ उसी चित्-सूर्य की किरणें हैं, और इसी कारण से वे अनगिनत और विचित्र कामों को पूरा कर सकती हैं :

'क्रोधादिवृत्तयो हि चिच्चमत्कारतादात्म्यात्, अन्यथा तत्स्वरूपलाभस्यैव अयोगाच्च। परमैश्वर्यः करणेदवता एव तास्ताः क्रीडा वितन्वन्त्यश्चिदर्कस्य दीधितिरूपाः।' (प० त्रिं० पृ० ६५)

यदि किसी अनुग्रह के पात्र भाग्यवान् व्यक्ति को एक बार भी इन कुत्सित वृत्तियों के मौलिक स्वरूप का परिचय प्राप्त हो जाए, तो इनकी कुत्सा खुद ही विलीन हो जाती है। कुत्सा के गल जाने पर ये ही वृत्तियाँ अन्तर्मुखीन परिष्कृत इन्द्रियशक्तियों का रूप धारण कर लेती हैं और उसी को शास्त्रीय शब्दों में 'खेचरी-साम्य' कहते हैं। खेचरी साम्य ही मानव को जीवन्मुक्त बना देता है :

'ज्ञातस्वरूपाः ता एव उक्तयुक्त्या जीवन्मुक्तताप्रदायिन्यः ॥'
(प० त्रिं० पृ० ६७)

अनुत्तर का वहिर्मुखीन प्रसार उपनाम सृष्टि :

त्रिकमान्यता के अनुसार 'अ' से लेकर 'क्ष' तक का स्वर व्यञ्जन समुदाय अथवा 'मातृका' ही अनुत्तर का बहिर्मुखीन प्रसार अथवा विश्वमयी सर्जना का व्यक्त रूप है। इसको भगवान् चन्द्रमौलि ने मालिनीविजयोत्तर में 'आक्षरी सृष्टि' का नाम दिया है। इस आक्षरी सृष्टि में समूचा स्वरवर्ग बीजरूपी और समूचा व्यञ्जनवर्ग योनिरूपी है। इस बीज-योनि के संघट्ट से ही स्थूल विश्व के प्रत्येक पदार्थ को सत्ता मिल जाती है। अगर स्वरवर्ग का व्यजनवर्ग के साथ वही पूर्वोक्त नीरक्षीरात्मक संघट्ट न हो जाए तो संसार की कौन सी बात सिद्ध हो सकती है? बीज अपने स्थान पर अलग और योनि भी अपने स्थान पर अलग रहें तो सृष्टि शब्द की सार्थकता ही कैसी ?

इस बीजयोनि में शिव, बीज और शक्ति, योनि है। दूसरे शब्दों में स्वरवर्ग शिव और व्यंजनवर्ग शक्ति है :

'बीजमत्र शिवः शक्तिर्योनिरित्यभिधीयते'।

अथवा :

'बीजयोन्यात्मकाद्भेदादद्विधा बीजं स्वरा मताः।
कादिभिश्च स्मृता योनिर् ··· ········· ।'
(मा० वि० उद्धृत प० त्रिं० पृ० २३९)

इस समूची वर्णसृष्टि का मूल और उद्गम एवं विश्रान्ति का स्थान 'अ' अर्थात् अनुत्तरकला है। यह 'क्ष' इस वर्ग पर पहुँच कर विश्रान्त हो जाती है :

'अमूला तत्क्रमाज्ज्ञेया क्षान्ता सृष्टिरुदाहृता ।' (प० त्रि० पृ० १५४)

'अ-कला' अपने में परिपूर्ण, स्वभावसिद्ध, अपरिवर्तनशील, एवं शाश्वतिक अनुत्तर है। इसकी न कभी सृष्टि ही होती है और न कभी संहार ही होता है। यह स्वयं सृष्टि एवं संहार दोनों का समरसीभाव या संघट्ट है।

वर्णसृष्टि के दो स्तर हैं। पहला 'आ' से लेकर 'औ' तक, और दूसरा 'क' से लेकर 'क्ष' तक। पहले स्तर का नाम 'महासृष्टि' अथवा 'बिम्बात्मिका सृष्टि', और दूसरे का नाम 'मितसृष्टि' अथवा 'प्रतिबिम्बात्मिका सृष्टि' है। 'अं' यह वर्ण पहले प्रकार की सृष्टि के संहार को सूचित करता है। अवशिष्ट 'अः' वर्ण विसर्गपद है। तात्पर्य यह कि इस वर्ण से, परमेश्वर की विमर्शमयी बिम्बसृष्टि से ही बाहर की स्थूल और व्यक्त नामरूपवाली प्रतिबिम्बसृष्टि अर्थात् स्थूल इन्द्रियबोध के द्वारा ग्राह्य स्थूल प्रमेय जगत् के 'विसर्ग' अर्थात् प्रसार या विकास का सङ्केत मिलता है। दोनों प्रकार की सृष्टियों का मौलिक विसर्गपद 'अ' है। इस दृष्टि से 'अः' पहले मौलिक शिवविसर्ग का, और 'अः' दूसरे शाक्त-विसर्ग का प्रतीक है।

पहले प्रकार का सृष्टि-विकास, सृष्टि से लेकर संहार तक बाहरी स्थूल नामरूपात्मक रूप में नहीं, प्रत्युत सूक्ष्मातिसूक्ष्म अनुत्तरीय विमर्श के ही रूप में सम्पन्न हो जाता है। तात्पर्य यह कि अनुत्तर 'अ-कला' अथवा चित्कला निजी अनुत्तरीय विमर्श के ही रूप में प्रसार करके 'आ-रूपिणी' आनन्दशक्ति, 'इ ई' रूपिणी इच्छाशक्ति (इच्छा और ईशना-रूपिणी), 'उ ऊ' रूपिणी ज्ञानशक्ति (उन्मेष और ऊनता रूपिणी) और 'ऋ' से लेकर 'औ' तक की क्रियाशक्ति के रूप में विकसित होकर, फिर भी 'अं' वर्ण पर संहृत होकर निजी मौलिक 'अ-भाव' या अनुत्तरभाव में विश्रान्त हो जाती है। क्रियाशक्ति का स्फार ही सारा विश्व है। परन्तु स्मरण रहे कि यहाँ पर सारा विश्व पारमेश्वर विमर्श में ही सत्ता प्राप्त कर लेता है, बाहरी स्थूल रूप में नहीं। फलतः यह विमर्शमयी सृष्टि ही बाहरी स्थूल सृष्टि का बिम्ब है। अगर जरा सा गहराई से सोचा जाए तो यह विमर्श-मयी सर्जना लोकभूमिका पर भी पगपग पर चलती ही रहती है। किसी भी पदार्थ की बाहरी स्थूल सृष्टि होने से पहले मस्तिष्क में उसका पूरा विमर्शमय खाका बना हुआ होता है अथवा कोई भी भाव बाहरी वैखरी रूप में अभिव्यक्त होने से पहले विमर्श की भूमिका पर अवश्य उभरा हुआ ही होता है। अस्तु, यह सृष्टि पारमेश्वर विमर्श से बाहर निकलकर स्थूल भौतिक रूप धारण न करने, और मायीय जगत्भाव से छुई हुई न होने के कारण अनुत्तरमयी ही होती है। यही कारण है कि 'अ' से लेकर 'अः' तक समूचा स्वरवर्ग विशुद्ध शिवभाव ही है।

दूसरे प्रकार के सृष्टि विकास का रूप स्थूल और इन्द्रिय ग्राह्य है। यही बाहरी देश-काल की इयत्ताओं और पारस्परिक अपेक्षाओं से भरा हुआ शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्धात्मक विश्व है। यह नानाप्रकार के चेतन प्रमाताओं और प्रमेयों, नाना प्रकार के स्थूल भूतों, भावों और भुवनों का विश्व है। यह विश्व उल्लिखित बिम्बात्मक विश्व का ठीक अनुरूप प्रतिबिम्ब है। हाँ केवल प्रतिबिम्बात्मक होने के कारण अपने बिम्ब का विलोम अर्थात् तत्त्वक्रम की दृष्टि से दायें का बायाँ और ऊपर का नीचे तो है ही। भगवान् अभिनव ने प्रस्तुत शास्त्र में बिम्ब-प्रतिबिम्बवाद के इस प्रमुख और स्वाभाविक नियम का खुद ही बखूबी विश्लेषण करके रखा है, अतः यहाँ पर उसका उल्लेख करने की आवश्यकता नहीं। अस्तु, यह दूसरे प्रकार की सृष्टि ही अनुत्तर का बहिर्मुखीन प्रसार कहलाती है। त्रिकमान्यता के अनुसार यह सृष्टिप्रसार 'क' वर्ण से आरम्भ होकर 'क्ष' वर्ण पर पूरा हो जाता है। वर्णों और तत्त्वों का क्रम इस प्रकार कहा गया है :

१. 'क' से लेकर 'म' तक के पचीस वर्ण पृथिवी-तत्त्व से लेकर पुरुष-तत्त्व तक के पचीस तत्त्वों के प्रतीक हैं।

२. 'य, र, ल, व' ये चार वर्ण क्रमशः राग, विद्या, कला और माया इन चार तत्त्वों के प्रतीक हैं।

३. 'श, ष, स, ह, क्ष' ये पाँच वर्ण क्रमशः महामाया, शुद्ध विद्या, ईश्वर, सदाशिव और शक्ति इन पाँच तत्त्वों के प्रतीक हैं।

पृथिव्यादीनि तत्त्वानि पुरुषान्तानि पञ्चसु।
क्रमात्कादिषु वर्णेषु मकारान्तेषु सुव्रते॥
वाय्वग्निसलिलेन्द्राणां धारणानां चतुष्टयम्।
तदूर्ध्वं शादि विख्यातं पुरस्ताद्ब्रह्मपञ्चकम्॥'

(प० त्रि० पृ० १५१)

समूची बहिरङ्ग विश्वमयता का रहस्य इन्हीं, पृथिवी से लेकर शक्ति तक के तत्त्वों में भरा हुआ है। यह सारा अनुत्तर का ही प्रसार है और अनुत्तर ही इसका आधार भी है। फलतः जो कुछ भी है वह तो अनुत्तर ही है।

अनुत्तरत्व की उपलब्धि :

त्रिकशास्त्र प्रत्येक मानव को, अपने आप में ही दृढ़ आत्मसंयम, सच्ची लगन और निरन्तर अभ्यास के द्वारा उत्तरत्व के दूषित कलङ्क को मिटाकर, अनुत्तरत्व की उपलब्धि पाने का उपदेश देता है। यह लक्ष्य प्राप्त करने में चाहे सद्गुरुओं की सपर्या, शास्त्रों का गहरा पर्यालोचन, अनथक प्रयत्न अथवा और भी जो कुछ करना पड़े, करने में सङ्कोच नहीं करना चाहिए—'गुरुतः शास्त्रतः स्वतः'। अस्तु, त्रिकशास्त्र की मान्यता के अनुसार

ज्ञानमार्ग, क्रियामार्ग या योगमार्ग का अनुसरण करने से यह लक्ष्य प्राप्त हो सकता है। भगवान् अभिनव ने इन सबों में से ज्ञानमार्ग को ही जगह-जगह पर ज़ोरदार शब्दों में प्रमुखता प्रदान की है, हालाँकि अवशिष्ट दो मार्गों के साथ उनको कभी कोई विरोध भी नहीं रहा है।

'यत्र भावनाद्यनवकाशः। प्रसङ्ख्यानमात्रमेव दृढ़चमत्कारलक्षणहृदङ्गमतात्मकप्रतिपत्तिदार्ढ्यपर्यन्तं यत्र उपायधौरेयधराधराणि धत्ते'। (प० त्रि० पृ० ४२८)

ज्ञानमार्ग पर, शान्तचित्त से, चलने से ऐसा समय अवश्य आ जाता है जबकि अपने अन्दर अकस्मात् ही अनुत्तरत्व का निर्मल प्रकाश उदित हो जाता है। इसमें भी दो मत नहीं कि यह पथ बहुत लम्बा और हर कदम पर कांटों से भरा हुआ भी है। आत्मसंयम, सद्गुरुओं की असाधारण भक्ति, शास्त्रों का गहरा अध्ययन और एकटक आत्मिक अनुसन्धान ये तो ज्ञानप्राप्ति के अनिवार्य साधन हैं। इसमें इन साधनों को काम में लाने के बिना कोई भी ठकुरसुहाती चलने की नहीं। पूरा ज्ञान प्राप्त करने में न जाने कितने ही जन्म भी लग सकते हैं—'अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्'। अतः यह मार्ग न तो निष्कंटक ही है, और न चंचल प्रकृति एवं मन्द प्रतिभावाले व्यक्तियों के द्वारा अपनाया ही जा सकता है।

इन कठिनाइयों को दृष्टि में रखकर त्रिकसिद्धों ने आम जनसमाज के लिए क्रियामार्ग को ही हितकर और प्रशस्त माना है। इस पथ को पाने के लिए केवल सद्गुरुओं के कृपा-कटाक्ष की आवश्यकता है, शास्त्रज्ञान चाहे न भी हो। त्रिकसिद्धों का कथन है कि क्रियामार्ग के द्वारा ही अनुत्तरभाव में सरलतापूर्वक प्रवेश मिल सकता है। इस पर चलने से ज्ञान की आँख स्वयं ही खुल जाती है क्योंकि इच्छा और ज्ञान की पूर्ण परिणति ही क्रियाशक्ति है।

यह एक त्रिकतान्त्रिक क्रियापद्धति है। इसमें परापूजा का प्रमुख स्थान है। इस परापूजा के बाहरी और आन्तरिक दो स्तर हैं। भगवान् शंकर ने प्रस्तुत शास्त्र के उत्तर भाग में इन दोनों स्तरों के साथ सम्बन्धित क्रियात्मक विधि-विधान को विस्तार पूर्वक समझा दिया है। कोई भी आत्म-उपकार करने का इच्छुक व्यक्ति अनन्य भक्ति के द्वारा योग्य सद्गुरुओं को प्रसन्नचित्त बनाकर, उनसे पाये हुए उपदेश के अनुसार, इस परापूजा के बाहरी क्रियात्मक विधिविधान और आन्तरिक विमर्शमय अनुसन्धान को पूरा कर लेने की क्षमता पाने पर अपने हृत्कमल में ही अनुत्तर का स्पष्ट साक्षात्कार पा लेता है।

'क्रमपूजामाहात्म्यादेव तारतम्यातिशयात् स्वयं वा प्रसन्नगुरुभट्टारकवदनकमलाद्वा मन्त्रवीर्यं हृदयात्मकम् आसादयति।' (प० त्रि० पृ० ४२५)।

वह अपने में अनुत्तरत्व का उन्मेष हो जाने के तत्काल ही जीवन्मुक्त हो जाता है। जीवन्मुक्ति को प्राप्त कर लेना ही दूसरी भोगसिद्धियां पा लेने की अपेक्षा उत्कृष्ट माना जाता है।

इसके अतिरिक्त कई साधकों के मन में निःश्रेयससिद्धि की अपेक्षा अवर प्रकार की भोगसिद्धियां पाने की ही रुचि होती है। ऐसे लोगों के लिए प्रस्तुत त्रिकशास्त्र में एक विशेष प्रकार के योगमार्ग को दर्शाया गया है—'सिद्धिप्रेप्सुषु तु योगो वक्तव्य' (पृ० ४२८)। भगवान् अभिनव के मतानुसार इस मार्ग पर चलनेवाले साधक जीवन्मुक्ति से वञ्चित ही रह जाते हैं, भले ही उनको दूसरी सैंकड़ों अवर स्तर की भोगसिद्धियां प्राप्त हो जाएँ। इसलिए यह योगमार्ग, अभिनव के कथनानुसार, अपनी जगह अपूर्ण ही है।

'किन्तु जीवन्मुक्तापेक्षया मन्दशक्तिपातोऽसावुच्येत—अपूर्णप्रायत्वात्'। (प० त्रि० पृ० ४२६)।

इस प्रकार से भगवान् चन्द्रमौलि ने प्रस्तुत शास्त्र में तीन प्रकार के उपायों का वर्णन किया है। कुल सम्प्रदाय के अनुयायी इन तीन उपायों के अतिरिक्त चर्या और मेलापकी पद्धतियों को भी अभीसिप्त लक्ष्य तक पहुँचा सकने वाले उपाय मानते हैं, परन्तु त्रिकसम्प्रदाय में इनके लिए कोई स्थान नहीं। त्रिकशास्त्रियों के विचार में ये केवल बाह्याचारमात्र हैं, अतः अनुत्तर मार्ग में आगे बढ़ने में ये कभी भी सहायक सिद्ध नहीं हो सकते।

इस त्रिकसाधना के मार्ग पर चलने से साधक को अनुत्तर का स्पष्टतम साक्षात्कार, अपने हृत्कमल में ही, अमृत बीज के रूप में हो जाता है। भगवान् शिव ने अमृत बीज के स्वरूप का वर्णन निम्नलिखित अनुत्तर सूत्र में किया है;

'चतुर्दशयुतं भद्रे! तिथीशान्तसमन्वितम्।
तृतीयं ब्रह्म सुश्रोणि! हृदयं भैरवात्मनः॥

(प० त्रि० पृ० ३४३)

इस सूत्र के अनुसार चौदहवें स्वर् 'औ' से युक्त और स्वरों में से अन्तिम 'अः' से अनुगत, तीसरा सकारात्मक ब्रह्म ही इस भैरवीय हृदय अर्थात् अमृत बीज का स्वरूप है। पाठकों को इस बीज का स्पष्ट उल्लेख और जानकारी इसी उद्धृत सूत्र के अनुवाद में मिलेगी।

त्रिकशास्त्रों की मान्यता के अनुसार इस बीज में विश्वोत्तीर्णता और विश्वमयता, दोनों का रहस्य अन्तर्निहित है, अतः यही यथार्थ में दोनों का एकमात्र बीजरूप ही है :

'सार्णेनाण्डत्रयं व्याप्तं त्रिशूलेन चतुर्थकम्।
सर्वातीतं विसर्गेण पराया व्याप्तिरिष्यते॥'

(मा० वि० ४, २५)

तात्पर्य यह कि पृथिवी, प्रकृति और माया ये तीन अण्ड 'स्' मात्रा में, शक्ति अण्ड 'औ' में और (यहाँ तक की विश्वमयता से अतिगत) 'सर्वातीत' अर्थात् विशुद्ध अनुत्तर-

स्वरूप विसर्ग में समाये हुए हैं। ऐसी ही सर्वाङ्गीण व्यापकता को 'परा-व्याप्ति' माना जाता है अर्थात् पराबीज का यही स्वरूप है।

अमृत बीज को अभिव्यक्त करनेवाले दूसरे—'हृदयबीज, हार्दबीज, अनुत्तरबीज, पराबीज' इत्यादि शास्त्रीय नाम भी हैं।

प्रस्तुत शास्त्र के कथनानुसार इस अमृत बीज का स्पष्टतम साक्षात्कार योगिनी जाया और रुद्रशक्तियों से आविष्ट व्यक्ति को स्वाभाविक रूप में ही हो जाता है :

'एतन्-ना योगिनीजातो ना-रुद्रो लभते स्फुटम्।' (प० त्रि० पृ० ३४५)

वास्तव में शास्त्रकथन के अनुसार योगिनीजाया होना और अमृत बीज का स्पष्ट साक्षात्कार, ये दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। तात्पर्य यह कि जो व्यक्ति योगिनी जाया हो उसी को इसका स्पष्टतम साक्षात्कार हो जाता है, और जिसको ऐसा हो वही यथार्थ योगिनीजाया होता है :

'यो लभते स एवंविधो नान्यः, यश्च एवं विधः स स्फुटं लभत एव हृदयम्...' (प० त्रि० पृ० ३८४)

परात्रिंशिकाशास्त्र एक अतिगहन आगम-ग्रन्थ है। भगवान् आशुतोष ने इसमें सूक्ष्मातिसूक्ष्म आध्यात्मिक तत्त्व सूत्ररूप में समझाये हैं। भगवान् अभिनव ने भी अपनी व्याख्या में अपेक्षा से अधिक कूटभाषा का ही प्रयोग किया है। फलतः समूचा शास्त्र ही इतना दुरूह बन गया है कि बार-बार अध्ययन करने पर भी बातों का ओर-छोर पकड़ना प्रायः कठिन ही प्रतीत होता है। ऐसी परिस्थिति में पाठकों से अनुरोध किया जाता है कि ग्रन्थ पर सरसरी नज़र दौड़ाने की अपेक्षा शान्तचित्त से निजी विमर्शमय अनुसन्धान के द्वारा इसको अच्छी प्रकार हृदयङ्गम कर लेना ही श्रेयस्कर है। पाठकों का ध्यान इस बात की ओर आकर्षित कर लेना भी आवश्यक है कि प्रस्तुत भूमिका में परात्रिंशिकाशास्त्र से उद्धृत प्रमाण वाक्यों की पृष्ठसंख्या प्रस्तुत संस्करण के अनुसार ही रखी गई है। ग्रन्थ की टिप्पणियाँ सद्गुरुओं से पाये हुए उपदेशों और निजी शास्त्र अध्ययन पर आधारित हैं, पग-पग पर प्रमाणवाक्यों को लिखकर निजी शास्त्रज्ञान की शेख़ी बघारने का कोई शौक नहीं था, और न उससे व्यर्थ ग्रन्थ का कलेवर बढ़ाने के अतिरिक्त और कोई लाभ ही था। अतः एक बार फिर सद्गुरुवर्यों के चरणकमलों में कोटिशः प्रणामों की अञ्जलियाँ अर्पण करते हुए, इस प्रकरण को यहीं पर समाप्त कर देना उचित लगता है।

धन्यवाद :

निम्ननिर्दिष्ट व्यक्तियों को, उनके सौजन्यपूर्ण सहयोग के लिए धन्यवाद देना लेखक का आवश्यक कर्तव्य है :

ईश्वर आश्रमवासिनी सुश्री प्रभाजी—

आपकी ही सद्भावपूर्ण प्रेरणा से लेखक को पग-पग पर धैर्य रखने और उत्साह से आगे बढ़ने का बल मिलता रहा।

श्रीयुत् दुर्गानाथ तिकू—

आपने अपनी शारदा मूलपुस्ती का स्वतन्त्रतापूर्वक उपयोग करने की अनुमति देकर अपनी उदारता का परिचय दिया।

श्रीयुत बालकृष्ण जाड़ू—

आपने शास्त्र वर्णन के आधार पर मुखचित्र का निर्माण कलात्मक ढंग से किया।

यहाँ के स्थानीय शोधसंस्थान, जिसका उल्लेख आमुख में किया गया है, डॉ० भूषण-कुमार कौल डेम्बी), श्री दीनानाथ यक्ष और श्रीमती रूपादेवी—आप सबों के सहयोग से ही शोधसंस्थान की दूसरी शारदा मूलपुस्तियाँ उपलब्ध हो सकीं।

अनुज श्री राधाकृष्ण और बन्धुवर ओमप्रकाश कौल—

आप दोनों ने लिखित सामग्री की प्रेस कापियाँ और परिशिष्ट इत्यादि बनाने में पूरा हाथ बँटाया।

मेसर्स मोतीलाल बनारसीदास वालों को धन्यवाद देना कभी चूक ही नहीं सकता, क्योंकि उन्होंने अन्य कार्यातिभार होते हुए भी प्रस्तुत ग्रंथ के प्रकाशन को प्राथमिकता देकर अनुत्तरीय इच्छापूर्ति में उल्लेखनीय सहयोग दिया।

अन्त में इस प्रयत्न को अपने दिवङ्गत पिता श्री ताराचन्द और दिवङ्गता जननी वनमाला की पावन स्मृति को समर्पित करने के साथ-साथ, शैवशास्त्रज्ञों से सविनय अनुरोध किया जाता है कि वे इसमें पाई जानेवाली त्रुटियों की ओर ध्यान न देकर अपने अमूल्य सुझाव भेजने से कृतार्थ करें। विश्व का कल्याण हो।

त्रिशूलानुगतो जीवो विसर्गान्तो हृदिस्फुरन्।
उत्तरातिगतं भद्रं तनोतु जनमानसे ॥

सत्थू शीतलनाथ,
श्रीनगर कश्मीर,

नीलकण्ठ गुरुटू

निराभासा सदा भासमाना भट्टारिका परा जयति

श्री श्री परात्रिंशिका

श्रीमदाचार्याभिनवगुप्तपादकृततत्त्वविवेकाख्यव्याख्योपेता ।

संशोधितो मूलग्रन्थः

●

विमलकलाश्रयाभिनवसृष्टिमहाजननी
भरिततनुश्च पञ्चमुखगुप्तरुचिर्जनकः ।
तदुभययामलस्फुरितभावविसर्गमयं
हृदयमनुत्तरामृतकुलं मम संस्फुरतात् ॥ १ ॥

साक्षात् शिवरूपधारी गुरु को प्रणाम ।

टीकाकार का उपोद्घातीय ।

[1]आणव, मायीय और कार्म इन तीन प्रकार के मलों से रहित, अहंविमर्शमयी स्वतन्त्र कर्तृता के स्वरूप वाली और 'आद्यसृष्टि' अर्थात् शुद्धाध्व की सर्जना करने में परिपूर्णता के आकार वाली तेजस्विता की चकाचौंध से शोभायमान स्वातन्त्र्य शक्ति ही सर्वोत्कृष्ट जननी है। चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रिया इन पाँच प्रकार के शक्तिस्रोतों के द्वारा, शाश्वतरूप में, विश्वप्रसार की अभिलाषा को सम्पन्न करने से स्वयं नित्य-तृप्त स्वरूपवाला अनुत्तर-तत्त्व ही

---

१. तन्त्रालोक के टीकाकार श्री जयरथ के मतानुसार इस उपोद्घातीय पद्य से भगवान् अभिनवगुप्त के माता-पिता के नामोल्लेख की ध्वनि भी निकलती है। वह अर्थ इस प्रकार है :—

अभिनवगुप्त जैसे पुत्र को जन्म देने से अत्यन्त हर्ष में पड़ी हुई 'विमलकला' नाम वाली योगिनी मेरी माता है। चारों ओर 'नरसिंहगुप्त' इस नाम से प्रसिद्ध व्यक्ति मेरा पिता है। इन दोनों में क्रमशः शक्तिभाव और शिवभाव का स्वाभाविक समावेश है। अतः दोनों आकांक्षारहित होने के कारण पूर्ण तृप्त हैं। मैं स्वयं 'योगिनीभूः' हूँ, क्योंकि ऐसे शिवशक्तिरूपी युगल से मेरी उत्पत्ति हुई है। मेरी केवल यही कामना है कि मेरा हृदय शिवशक्ति के समरसीभावात्मक समावेश से पूर्णरूप में विकसित हो जाय।

यस्यामन्तर्विश्वमेतत् स्फुरन्त्यां
बाह्याभासं भासमानं विसृष्टौ।
क्षोभे क्षीणेऽनुत्तरायां स्थितौ तां
वन्दे देवीं स्वात्मसंवित्तिमेकाम् ॥ २ ॥

सर्वोत्कृष्ट जनक है। इन दोनों के 'यामल' अर्थात् शिवशक्ति के [1]समरसीभाव से ही प्रसार एवं संहार की स्फूर्ति के स्वभाव को पानेवाला और सर्वोत्कृष्ट होने के कारण अहंविमर्शरूपी चमत्कार की स्वतन्त्रता से परिपूर्ण मेरा हृदय[2], शाश्वत रूप में विकसित हो जाए, अर्थात् उसमें 'जगदानन्द' नामवाली विश्वमयता और विश्वोत्तीर्णता की एकाकारता की दशा का पूर्णतया उदय हो जाए ॥१॥

मैं बहिर्मुखीन क्षोभ[3] के शान्त होने पर वास्तविक अनुत्तरभाव की स्थिति में उस प्रसार एवं संहार की क्रीड़ा करने वाली स्वरूपसंवित्ति (पराशक्ति) को प्रणाम करता हूँ, जिसके स्वरूप[4] में ही यह बहिर्मुखीन आभासमानता के रूप में भासित होने वाला (इदन्तारूपी) विश्व प्रकाशमान है ॥२॥

---

१. शिवता और शक्तिता की समरसता को शैव शब्दों में 'संघट्ट' अथवा 'यामल' कहते हैं। यह समरसता मोर के अण्डरस के न्याय से वर्तमान रहने वाली किसी विभागहीन एवं अनिर्वाच्य अवस्था को द्योतित करती है।

२. शैव मान्यता के अनुसार 'हृदय' से उस केन्द्र का अभिप्राय लिया जाता है, जहाँ से और जिसमें क्रमशः विभिन्न इन्द्रियों के क्षेत्रों में विचरण करने वाली अनन्त शक्तियों का शब्दात्मक, स्पर्शात्मक, रूपात्मक, रसात्मक और गन्धात्मक रूप में प्रसार और संहार होता है। इस केन्द्र को शास्त्रीय शब्दों में 'मध्यधाम' और प्रचलित शब्दों में 'सुषुम्णा-धाम' कहते हैं।

३. विश्व को संवित् से बाहर समझना ही क्षोभ है। यह क्षोभ देह, प्राण इत्यादि को स्वरूप से अलग समझने को युग-युगों से चली आती हुई भूल के कारण उत्पन्न हुआ है। मनुष्य-पशु अपने देहादि को ही इस भूल के कारण वास्तविक आत्मा समझ कर अपने चारों ओर के विश्व को भी स्वरूप से बाहर की वस्तु समझने पर बाध्य हुआ है। वास्तव में देह, प्राण इत्यादि तथा समूचा विश्व ही संवित् का विकास है और संवित् के गर्भ में ही अवस्थित भी है।

४. हमारे चारों ओर दिखाई देने वाला विश्व, जिसमें हम स्वयं भी अन्तर्भूत हैं, वास्तव में संवित्-भट्टारिका का प्रतिबिम्ब है। इसका बिम्ब और उस बिम्ब को ग्रहण करने वाला मुकुर भी स्वयं संवित् ही है। फलतः यह (विश्व) दर्पण में पड़े हुए प्रति-

नर-शक्ति-शिवात्मकं त्रिकं
हृदये या विनिधाय भासयेत् ।
प्रणमामि परामनुत्तरां
निजभासां प्रतिभाचमत्कृतिम् ॥ ३ ॥

जयत्यनर्घमहिमा विपाशितपशुव्रजः ।
श्रीमानाद्यगुरुः शम्भुः श्रीकण्ठः परमेश्वरः ॥ ४ ॥

निजशिष्यविबोधाय प्रबुद्धस्मरणाय च ।
मयाभिनवगुप्तेन श्रमोऽयं क्रियते मनाक् ॥ ५ ॥

जो पराशक्ति नर[1], शक्ति और शिव इस त्रिक को अपने हृदय में (परारूप में ही) धारण करती हुई बहिर्मुखीन विश्वरूप में अवभासित करती है, मैं उसी पराभाव पर अवस्थित रहनेवाली निजी शक्तियों की उन्मेषात्मक आनन्दमयता को प्रणाम करता हूँ, अर्थात् उसी भाव में समाविष्ट हो जाता हूँ ॥३॥

अमूल्य महिमा से युक्त, पशुभाव में पड़े हुए लोगों के समूहों को मायीय-पाशों से छुटकारा दिलाने वाले, परमशोभा से परिपूर्ण, [2]ऐश्वर्यशाली, साक्षात् शिवरूप को धारण करनेवाले तथा शैवसम्प्रदाय के [3]पहले गुरु श्रीकण्ठ की जय हो ॥४॥

बिम्ब की तरह इससे (संवित् से) अतिरिक्त न होने पर भी अतिरिक्त रूप जैसा अवभासमान है। सूक्ष्म मनन करने पर इसी निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि इस विश्व की यथार्थ स्थिति इसके बिम्बरूप में ही है।

१. इस श्लोक में नर, शक्ति और शिव संहार-क्रम में रखे गये हैं। प्रसार-क्रम और संहार-क्रम आगे चलकर स्पष्ट हो जाएँगे।

२. भगवान् की तरह ही स्वच्छन्दता से सृष्टि, संहार इत्यादि करने की शक्ति को ऐश्वर्य कहते हैं।

३. शैव मान्यता के अनुसार साक्षात् शिव के ही रूपान्तर भगवान् श्रीकण्ठ को 'आद्यगुरु' कहा जाता है। इस विषय में एक प्राचीन किंवदन्ती यह है कि कलियुग के कुप्रभाव से एक बार शैव शास्त्रों का पूर्ण उच्छेद हो जाने पर भगवान् शंकर श्रीकण्ठ की मूर्ति धारण करके पृथ्वी पर अवतीर्ण हुए। उन्होंने सर्वप्रथम भगवान् दुर्वासा को स्वयं दीक्षित करके शैव शास्त्रों का पुनरुद्धार करने के लिए प्रेरित किया। अतः वे इस संप्रदाय के आद्यगुरु माने जाते हैं।

श्री देवी उवाच—

अनुत्तरं कथं देव ! सद्यः कौलिकसिद्धिदम् ।
येन विज्ञातमात्रेण खेचरीसमतां व्रजेत् ॥ १ ॥

परमेश्वरः पञ्चकृत्यमयः सततम् अनुग्रहमय्या परारूपया शक्त्या आक्रान्तो वस्तुत अनुग्रहैकात्मैव । नहि शक्तिः शिवाद् भेदम् आमर्शयेत् ।

मैं अभिनवगुप्त अपने शिष्यों के बोध को उजागर[1] करने के लिए और प्रबुद्ध[2] व्यक्तियों को स्मृति दिलाने के लिए यह थोड़ा-सा परिश्रम करने लगा हूँ ॥५॥

श्री देवी[3] कहने लगी—

हे देव ! उस अनुत्तर-तत्त्व का स्वरूप कैसा है, जो कि अनुभव में आने के तत्काल ही कौलिकसिद्धि को प्रदान करता है और जिसका मात्र ज्ञान प्राप्त करने से ही, कोई भी साधक, खेचरी-शक्ति की साम्य-अवस्था को प्राप्त कर लेता है ॥१॥

तत्त्व-विवेक

'देवी उवाच, भैरव उवाच' इस प्रश्न-प्रतिवचन का निरूपण ।

---

१. ताकि उनको मात्र प्रस्तुत शास्त्र का अध्ययन करने से ही सद्-ज्ञान प्राप्त हो सके और इससे इतर शास्त्रों को पढ़ने का प्रयत्न न करना पड़े ।

२. यहाँ पर भगवान् अभिनवगुप्त ने 'प्रबुद्ध' शब्द से ऐसे व्यक्तियों की ओर संकेत किया है, जिनको इतर शास्त्रों का मनन करने से कुछ मात्रा तक सद्-ज्ञान प्राप्त हुआ हो, परन्तु अभी स्वरूप की स्मृति पूर्णरूप में विकसित नहीं हुई हो ।

३. प्रस्तुत सूत्र देवी का प्रश्न है । त्रिकशास्त्र की मान्यता के अनुसार आगमग्रन्थों में वर्णित प्रश्न एवं प्रतिवचन का वास्तविक अभिप्राय ध्यान में रखना आवश्यक है । अनुत्तर-तत्त्व की अभिन्न शक्ति पराभट्टारिका का स्वरूप केवल अनुग्रह है । अनुग्रहमयी होने के कारण वह मात्र संसारी पशुओं का उद्धार करने के लिए एक ओर प्रसार-क्रम में स्वयं पश्यन्ती एवं मध्यमा भूमिकाओं पर उतरकर प्रश्न पूछने वाली देवी के रूप में और दूसरी ओर संहार-क्रम में अनुत्तरभाव पर अवस्थित रहकर उत्तर देने वाले भैरव के रूप में केवल स्वरूप का ही विमर्श करती रहती हैं । प्रसार की भूमिका पर यह समूचा विश्व ही एक प्रश्न और संहार की भूमिका पर समाधान है । फलतः यह सारा प्रश्नरूपी और उत्तररूपी प्रपञ्च स्वतन्त्र पराशक्ति के अनुग्रहात्मक स्वभाव का ही खिलवाड़ है । इस सिद्धान्त की प्रक्रिया का रहस्य आगे प्रस्तुत ग्रन्थ का अध्ययन करने से पाठकों की समझ में स्वयं आयेगा ।

सा च शक्तिः लोकानुग्रहविमर्शमयी, प्रथमतः परामर्शमय्या पश्यन्त्या आसूत्रयिष्यमाणानन्तशक्तिशताविभिन्ना, प्रथमतरं परमहामन्त्रमय्याम् अदेश-कालकलितायां संविदि निरूढा, तावत् पश्यन्त्युद्भविष्यदुक्तिप्रत्युक्त्यविभागेनैव वर्तते ।

यद्यपि परमेश्वर प्रतिक्षण पाँच प्रकार के कृत्यों को करते रहते हैं, तो भी वास्तव में उनका स्वरूप केवल [1]अनुग्रहमय ही है। कारण यह कि वे 'सदा' अर्थात् अवशिष्ट सृष्टि, स्थिति, संहार और पिधान इन चार कृत्यों को सम्पन्न करने के अवसरों पर भी, केवल और केवल अनुग्रह का ही रूप धारण करनेवाली पराशक्ति के द्वारा ही प्रधानतया व्याप्त हैं। यह एक निश्चित तथ्य है कि शक्ति कभी शिव से अलग-अलग रूप में विमर्श का विषय नहीं बन सकती, अथवा निश्चित रूप में शक्ति कभी शिव से भिन्न होने के रूप में विमर्श नहीं करती है।

लोगों पर अनुग्रह करने के विमर्श का ही रूप धारण करने वाली वह परा-शक्ति अपने प्रसार के सबसे पूर्ववर्ती स्तर पर, बाह्यप्रसार के प्राथमिक परामर्श का रूप धारण करनेवाली पश्यन्ती की भूमिका पर [2]आसूत्रित होनेवाली सैकड़ों प्रकार की शक्तियों की भेदकल्पनाओं में पड़ने के बिना, परा-वाणी के रूप में ही अहंपरामर्शमय और देश एवं काल की कल्पनाओं से रहित संवित् भाव पर ही अचल रूप में अवस्थित रहने के कारण, आगे पश्यन्ती-भूमिका पर विकास में आनेवाली प्रश्नरूपता और उत्तररूपता में भी स्वयं उसी विभाग से रहित रूप में व्याप्त[3] होकर रहती है।

---

१. भगवान् चित्, निर्वृति, इच्छा, ज्ञान और क्रिया इन पाँच शक्तिस्रोतों के द्वारा शाश्वतरूप में सृष्टि, स्थिति, संहार, पिधान और अनुग्रह ये पाँच विश्वात्मक कृत्य युगपत् ही करते रहते हैं। त्रिकशास्त्र की मान्यता के अनुसार इन पाँच कृत्यों में से अन्तिम अनुग्रहात्मक कृत्य ही अवशिष्ट चार कृत्यों की आधारशिला है। फलतः शक्ति का स्वरूप केवल अनुग्रह ही है।

२. पश्यन्ती वाणी की भूमिका पर आगे प्रसार में आने वाले अनन्त प्रकार के वाच्यों और वाचकों के भेद का केवल इच्छात्मक आसूत्रणमात्र ही होता है।

३. इसका तात्पर्य यह है कि परावाणी यद्यपि स्वयं ही पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी वाणियों के रूप में संचार करती है, तथापि अपने पराभाव को कदापि नहीं छोड़ती। अतः वह अवशिष्ट पश्यन्ती आदि तीन वाणियों में स्वयं अपने अक्षुण्ण रूप में अनुस्यूत होकर रहती है।

सैव च सकलप्रमातृसंविदद्वयमयी सततम् एव वर्तमानरूपा।

ततस्तु पश्यन्ती, यद् यद् अभीप्सितं तत् तद् एव समुचितकारणनियम-प्रबोधितं बोधसूत्रमात्रेण विमृशति। यथा अनेकभावाभावसंस्कारसंस्कृताया मेचकधियः स्मृतिबीजप्रबोधकौचित्यात् किञ्चिद् एव स्मृतिः विमृशति।

यही वह शक्ति है, जो कि सातों प्रकार के प्रमाताओं में, प्रतिसमय अर्थात् पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी वाणियों के रूपों में संचार करने के अवसरों पर भी, एक ही प्रकार और द्वैत की कल्पना से रहित संवित्[1] के रूप में अनुस्यूत होकर अवस्थित रहती है।

अनन्तर, प्रसार के दूसरे स्तर पर, पश्यन्ती-वाणी की भूमिका पर उतरकर, स्वतन्त्र इच्छा के द्वारा, अपने मनोनीत विषयों को उनके अनुकूल [2]भाव-संस्कारों की कारणता के नियम से उजागर करके, उनका विमर्श केवल उनके सामान्य-बोध की आसूत्रणामात्र के रूप में करती है। उदाहरण के तौर पर जिस प्रकार अनगिनत भावरूपी वा अभावरूपी ज्ञानों के संस्कारों से रंगी जाने के कारण

१. विश्वात्मक एवं विश्वोत्तीर्ण दोनों रूपों में स्वतन्त्रता से शाश्वत रूप में स्पन्दायमान रहने वाली असीम शक्ति को ही शास्त्रीय शब्दों में परा-शक्ति, परा-भट्टारिका या विश्वात्मक संवित् कहते हैं। पूर्ण-ज्ञातृता और पूर्ण-कर्तृता इसका स्वरूप है। स्वरूप को ही दूसरे शब्दों में स्वभाव भी कहते हैं। संवित् चाहे शिवप्रमाता में या तुच्छातितुच्छ कृमि-कीटाणुओं में अवस्थित हो, इसके ज्ञातृता और कर्तृतारूपी स्वभाव में कहीं कोई अन्तर नहीं पड़ता। शिव की विश्वात्मक ज्ञातृता और कर्तृता तथा तुच्छ कीट की अपने अनुकूल विश्व में चलने वाली ज्ञातृता और कर्तृता में कोई स्वभाव-गत अन्तर नहीं है। हाँ प्रमाताओं के स्तर के अनुपात से ज्ञातृता और कर्तृता के क्षेत्र की परिधि के विस्तार में घटाव-बढ़ाव का अन्तर पड़ जाता है। शिव की ज्ञातृता और कर्तृता का क्षेत्र असीम विश्व और छोटे से कृमि की ज्ञातृता और कर्तृता का क्षेत्र उसका छोटा सा दस अंगुल वाला विश्व बन सकता है, परन्तु जहाँ तक संवित् के स्वभाव का प्रश्न है, उसमें कोई अन्तर नहीं है। फलतः सातों प्रकार के प्रमाताओं में संवित् एक ही रूप में अनुस्यूत होकर अवस्थित है।

२. संस्कार दो प्रकार के होते हैं—१. भावरूप और २. अभावरूप। अनुभवकाल में जिन-जिन वस्तुओं को देखने के प्रति प्रमाता को उन्मुखता हो जाती है, उनसे उसके अन्तःकरण पर भावरूप संस्कार लग जाते हैं। ये भाव-संस्कार ही आगे कालान्तर में उन पूर्वानुभूत पदार्थों में से अपने अनुकूल पदार्थों की स्मृति को उजागर कर देते हैं। इसके प्रतिकूल अनुभवकाल में जिन वस्तुओं का आपाततः साक्षात्कार हो, उनसे अन्तःकरण

नहि प्रथमज्ञानकाले भेदोऽत्र आस्फुरद् यत्र वाच्य-वाचकविशेषयोर् अभेदः। मध्यमा पुनः तयोरेव वाच्य-वाचकयोः भेदम् आमृश्य सामानाधिकरण्येन विमर्शव्यापारा।

वैखरी तु तद् उभयभेदस्फुटतामयी एव, इति तावद् व्यवस्थायां स्वसंवित्सिद्धायां या एव परावाग्भूमिः, सा एव अमायीय-शब्दशक्तिपरमार्थ-

---

चितकबरी[1] बनी हुई बुद्धि से कालान्तर में उत्पन्न होने वाली स्मृति, स्मृति के बीजों को उद्बुद्ध करने वाले कारणों के तारतम्य के अनुसार किसी एक ही विशेष पदार्थ का विमर्श (स्मरण) करने लगती है।

यह बात सुनिश्चित है कि प्राथमिक ज्ञान के क्षण पर, अर्थात् पश्यन्ती के रूप में प्रसृत होने के अवसर पर भी इसमें (परा-वाणी में) किसी प्रकार के भेद की स्फुरणा विकास में नहीं आई हुई होती है, क्योंकि इस भूमिका (पश्यन्ती) पर वाच्यों और वाचकों की विशेषता स्पष्ट[2] नहीं होने पाती। मध्यमा वाणी के रूप में प्रसृत होने पर (यह परा-वाणी ही) उन्हीं वाच्यों और वाचकों की पारस्परिक भिन्नता का अंकन तो कर देती है, परन्तु दोनों का विमर्श सामानाधिकरण्य[3] रूप में ही करती रहती है।

पर अभावरूप संस्कार लग जाते हैं। वे कालान्तर में न तो स्वयं ही जग पाते हैं और न अपने अनुकूल स्मृति को ही जगा पाते हैं। ऐसे संस्कार राह में चलते चलते अनुन्मुखता से देखे गये घास के तिनके या सूखे पत्ते जैसे पदार्थों से लगने वाले संस्कारों के समान होते हैं।

१. अनुभवकाल में एक साथ ही अनेक प्रकार के भावों का साक्षात्कार हो जाने से बुद्धि पर एक साथ ही अनेकों संस्कारों का रंग चढ़ जाता है। शास्त्रकारों ने इस बौद्धिक शबलता को मोर के परों पर दिखाई देने वाली चन्द्रिकाओं की शबलता के साथ समानता करके समझाया है।

२. पश्यन्ती-वाणी की भूमिका पर, उत्तरोत्तर विकास में आने वाली वाचक-विश्व और वाच्य-विश्व की भिन्नता का आन्तरिक रूप में सूक्ष्म आसूत्रण होने लगता है, अतः यह अभी केवल इष्यमाण अवस्था ही होती है। इष्यमाण-अवस्था स्थूल इच्छा की सूक्ष्मातिसूक्ष्म प्राथमिक स्फुरणा को कहते हैं। फलतः पश्यन्ती-भूमिका पर वाचक और वाच्य एकाकार ही हुआ करते हैं।

३. मध्यमा-वाणी की भूमिका पर यद्यपि वाचकों और वाच्यों (शब्दों और उनके द्वारा बोध में आनेवाले घट-पट आदि पदार्थों) का अलग-अलग विमर्श चलता रहता है, परन्तु अभी दोनों अन्तःकरण के आधार पर ही टिके रहते हैं। विमर्श की इस अवस्था को समानाधिकरणात्मक विमर्श कहते हैं।

स्वभावा, असाङ्केतिक-अकृतक-पारमार्थिकसंस्कारसारा, वक्ष्यमाणनयेन मन्त्र-वीर्य-भूतांश-चोदिता, तद् उत्तरं पश्यन्त्यादिदशासु अपि वस्तुतो व्यवस्थिता—तया विना पश्यन्त्यादिषु अप्रकाशतापत्त्या जडताप्रसङ्गात् ।

तत्र च, 'इदम्', 'एवम्', 'अत्र', 'इदानीं' इत्यादिभेदकलना न काचित् । तत एव च, पर-महामन्त्रवीर्य-विसृष्टिरूपाया आरभ्य वैखरीप्रसृत-भावभेद-पर्यन्तं यद् इयं स्वचमत्कृतिमयी स्वात्मन्येव प्रकाशनमये विश्रम्य स्फुरति, तद् एव स्फुरितम् अविच्छिन्नतापरमार्थम् 'अहम्' इति । तद् एतद् अग्रे स्फुटीभविष्यति ।

वैखरी-[1]वाणी वह भूमिका है, जहाँ पर इन दोनों की भिन्नता पूर्णरूप से स्पष्ट[2] हो जाती है। ऐसी दशा में यही निष्कर्ष निकलता है कि वास्तव में वह उपर्युक्त परा-वाणी ही, माया के क्षेत्र से अतिगत शब्द-शक्ति के स्वभाव वाली, साधारण सांकेतिकता का विषय न बन सकने वाले स्वाभाविक एवं पारमार्थिक संस्कार का रूप धारण करनेवाली और आगे कही जानेवाली रीति के अनुसार मन्त्रवीर्य अर्थात् विशुद्ध अहंविमर्श के यथार्थ अंश से प्रेरणा पाने वाली होने के कारण, आगे प्रसार में आने वाली पश्यन्ती इत्यादि वाणियों में भी, स्वयं ही, जीवनाधायिनी शक्ति के रूप में अनुस्यूत होकर वर्तमान रहती है। उसकी अनु-स्यूतता के बिना वे पश्यन्ती इत्यादि वाणियाँ प्रकाशित ही नहीं होने पातीं और उन पर जड़ता का लांछन चिमट जाता है।

उस बाह्य प्रसार की प्रथमतर[3] भूमिका पर—'यह[4]', 'इस [5]प्रकार', 'यहाँ[6]', '[7]इस समय'—इस प्रकार के विभागों की कोई कल्पना भी विद्यमान नहीं

१. वैखरी-वाणी की भूमिका पर वाचक शब्दों और उनके द्वारा वाच्य पदार्थों के आधार भी अलग-अलग होते हैं। इस स्तर पर वाचकों का आधार मुख और वाच्यों का आधार शरीर से बाहर कोई स्थान बन जाता है। यदि मुख से 'घड़ा' इस शब्द को बोला जाए तो वह घड़ा मुख में न होकर और किसी स्थान पर होगा। फलतः वैखरी वाणी पर चलने वाले विमर्श को वैयधिकरण्यात्मक विमर्श कहते हैं।

२. अभी ऊपर कहा गया है कि वैखरी-वाणी पर चलने वाले विमर्श का रूप वैयधिकरण्यात्मक होता है, अतः इस स्तर पर वाचक एवं वाच्य का स्पष्ट अलगाव उभर आता है।

३. बहिर्मुखीन प्रसार की प्रथमतर भूमिका से परा वाणी का अभिप्राय है।

४. 'यह' अर्थात् व्यक्तिरूप भेद।

५. 'इस प्रकार' अर्थात् आकार का भेद।

६. 'यहाँ' अर्थात् देश का भेद।

७. 'इस समय' अर्थात् काल का भेद।

तन्मध्य एव तु पश्यन्त्यां यत्र भेदांशस्य आसूत्रणम्, यत्र च मध्यमायां भेद-अवभासः, तत्र उभयत्र ज्ञान-क्रियाशक्तिमये रूपे सदाशिव-ईश्वरसारे सा एव—'अहम्' इति चमत्कृतिः अन्तःकृत-अनन्त-विश्व-इदन्ताचमत्कृतिपूर्णवृत्तिः, तत् पश्यन्ती-मध्यमात्मिका स्वात्मानम् एव वस्तुतः परसंविदात्मकं विमृशति। परा एव च संवित्—'देवी' इति उच्यते।

होती है। यही कारण है कि वह परा-वाणी, परम उत्कृष्ट एवं महान् मन्त्रवीर्य अर्थात् अहं-विमर्श की पहली बहिर्मुखीन सृष्टि का रूप धारण करने वाली पश्यन्ती-वाणी से लेकर, वैखरी-वाणी के स्तर पर विकास में आनेवाले अनन्त भावों को अलग-अलग प्रमेयों के रूपों में प्रकाशित करने तक, अपने चित्-[1]चमत्कार की पूर्णता में ही निमग्न रहती है और प्रत्येक वाणी के स्तर को प्रकाशित करने वाले स्वरूप पर ही अविचल रहकर स्पंदित होती रहती है। उसका वह विच्छेदहीन स्पन्दन ही 'अहं[2] विमर्श' है। यह बातें आगे चल कर स्पष्ट हो जायेंगी।

इस परारूपी स्पन्दन के अन्तर्गत ही जहाँ पश्यन्ती-वाणी के स्तर पर भेद का सूत्रपात मात्र और मध्यमा-वाणी के स्तर पर (अन्तःकरण में ही) भेद का स्पष्ट अवभासन हो जाता है, वहाँ दोनों के क्रमशः 'मैं-[3]यह' इस प्रकार के ज्ञान-शक्ति प्रधान सदाशिव-भाव और 'यह[4] मैं' इस प्रकार के क्रियाशक्ति-प्रधान ईश्वर-भाव के रूप में वह अहंविमर्शात्मक चमत्कार ही, अनन्त विश्व का रूप धारण करने वाले इदन्तारूपी चमत्कार[5] को अपने गर्भ में लेकर आनन्द की पूर्ण

१. 'अहं विमर्श' की आनन्दमयता का अलौकिक आस्वाद।

२. इस 'अहं विमर्श' को शास्त्रीय शब्दों में 'पर-अहंभाव' कहते हैं।

३. 'मैं यह' परामर्श में 'अहं-भाव' की प्रधानता है, अतः यह ज्ञानशक्ति-प्रधान सदाशिव अवस्था का सूचक है। शैव मान्यता के अनुसार सदाशिव-भाव पश्यन्ती वाणी का स्तर है।

४. 'यह मैं' इस परामर्श में 'इदं-भाव' की प्रधानता है, अतः यह क्रियाशक्ति-प्रधान ईश्वर अवस्था का सूचक है। ईश्वर-भाव मध्यमा वाणी का स्तर है।

५. शैवशास्त्रों में 'चमत्कार' शब्द से स्वरूप की आनन्दमयता के अलौकिक आस्वाद का अर्थ लिया जाता है। अहं विमर्श स्वतः चमत्कार है, क्योंकि यह तो स्वरूप की आनन्दमय अवस्था है। यह समूचा विश्व-प्रसार भी चमत्कार है, क्योंकि यह तो वास्तव में उसी अनन्त आनन्द के पारावार से उठने वाली प्रसारात्मक तरंग है। जिस प्रकार पारावार से उठने वाली तरंग उससे अलग जैसी दिखाई देने पर भी अलग नहीं होती है और उछल-उछल कर बहुत ऊपर उठने पर भी उसी के गर्भ में अवस्थित

इयता १. पश्यन्त्यादिसृष्टिक्रमेण बाह्यनीलादिपर्यन्तेन स्वविमर्श-आनन्दात्मना क्रीडनेन, २. सर्व-उत्तीर्णत्वेन सर्व-उत्कर्ष-अवस्थितेः भगवतो भैरवस्य तथा स्थातुम् इच्छया विजिगीषात्मना, ३. इयद् अनन्त-ज्ञान-स्मृति-संशय-निश्चयादिव्यवहारकरणेन, ४. सर्वत्र च भासमाने नीलादौ तत् नीलाद्यात्म-

---

अवस्था में रहता है। फलतः वस्तु स्थिति इस प्रकार है कि वह परा-वाणी पश्यन्ती[1] और मध्यमा[2] वाणियों के रूप में उल्लसित होने पर भी, वास्तव में, परसंविदात्मक स्वरूप का ही विमर्श करती रहती है और इस परा-संवित् को ही देवी की संज्ञा दी जाती है।

'देवी' इस नामकरण के आधार पर 'दिव्' धातु के छः अर्थ

१. (क्रीड़ा) यह पराशक्ति, पश्यन्ती से लेकर बहिर्मुखीन विश्व में दिखाई देने वाले 'नील[3]' इत्यादि रूपोंवाले पदार्थों तक के सारे प्रपञ्च की सर्जना करने के क्रम के द्वारा, वास्तव में, निजी आनन्दमय अहंविमर्श की स्पन्दात्मक क्रीड़ा करने में व्यस्त रहती है।

२. (विजिगीषा) = जीतने की इच्छा।

भगवान् भैरव भट्टारक एकमात्र विश्वोत्तीर्ण तत्त्व होने के कारण सबसे उत्कृष्ट पदवी पर अवस्थित हैं। उनमें, वैसी सबसे उत्कृष्ट पदवी पर अवस्थित रहने की इच्छारूपिणी शक्ति होने के कारण इसका (परा-शक्ति का) स्वभाव विजिगीषा है।

३. (व्यवहार)

यह परा-शक्ति अनन्त प्रकार के ज्ञान, स्मृति, संशय, निश्चय इत्यादि रूपों वाले अथवा इनसे इतर प्रकार के विश्वात्मक व्यवहारों को निर्बाध एवं निरन्तर रूप में चलाती रहती है।

रहती है, ठीक उसी प्रकार यह विश्वचमत्कार की तरंग अहं चमत्कार के सागर के गर्भ में ही सदा अवस्थित रहती है।

१. अहन्ता की प्रधानता और इदन्ता की गौणता में, अर्थात् ज्ञान-प्रधान सदाशिव-रूपता में।

२. इदन्ता की प्रधानता और अहन्ता की गौणता में, अर्थात् क्रिया-प्रधान ईश्वर-रूपता में।

३. संसार के भाव दो प्रकार के होते है—१. नीलरूपी और २. सुखरूपी। 'नील' शब्द से बहिरंग इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण किए जाने वाले घट, पट इत्यादि ठोस और 'सुख' शब्द से केवल अन्तःकरणों के द्वारा ग्रहण किये जाने वाले 'सुखिता-दुःखिता' इत्यादि भावनात्मक पदार्थों का ग्रहण किया जाता है।

भासनरूपेण द्योतनेन, ५. सर्वैः एव तदीय-प्रकाशावेशैः तत् प्रवणैः स्तूयमानतया, ६. यथेच्छं च देश-काल-अवच्छेदेन सर्वात्मता-गमनेन, मुख्यतो 'भैरवनाथस्य' एव देवत्वम् इष्यते, तच्छक्तेरेव भगवत्या देवीरूपता। यदुक्तम्—'दिवु क्रीडा-

४. (द्युति)

यह परा-शक्ति, प्रत्येक स्थान पर आभासमान रहने वाले नील या सुख-रूपी पदार्थों में वर्तमान रहने वाली 'नील' इत्यादि रूपों वाली प्रमेयता[1] के रूप में, वास्तव में, स्वरूप का ही अवभासन करती रहती है, अतः यह स्वयं ही चमकने वाली है।

५. (स्तुति)

इस परा-शक्ति के सारे प्रकाशमानता के स्पर्श[2] (कोई भी आदान-प्रदानात्मक क्रियाकलाप करने के रूप में) वास्तव में, इसी की स्तुति करने में निरत रहते हैं। फलतः दूसरे शब्दों में ऐसा कहा जा सकता है कि यह स्वयं अपनी ही स्तुति करने में व्यस्त रहती है।

६. (गमन)

यह परा-शक्ति स्वतन्त्र इच्छा से भिन्न-भिन्न प्रकार के देशों, कालों, आकारों की इयत्ताओं को स्वीकारने पर भी अपने वास्तविक परारूप में ही प्रत्येक पदार्थ की आत्मा बनकर उसमें गमन करती रहती है।"

इन छः प्रकार के अर्थों का बोध हो जाता है, अतः मुख्य रूप में, भैरवनाथ अर्थात् सारी शक्तियों के अधिपति को ही 'देव' की और उसकी अभिन्न शक्ति भगवती परा-भट्टारिका को ही 'देवी' की संज्ञा देना युक्तियुक्त और अभीष्ट भी

---

१. शैव दार्शनिकों का विचार है कि संसार के प्रत्येक पदार्थ में अन्तर्निहित रहने वाली वेद्यता, वास्तव में उसमें अनुस्यूत होकर अवस्थित रहने वाली शक्ति है। इसी शक्ति के द्वारा किसी भी पदार्थ का उसके अपने सही रूप में प्रकाशन सम्भव हो सकता है।

२. ससार का प्रत्येक जड़ या चेतन पदार्थ, वास्तव में भगवती परा-शक्ति की प्रकाशमानता की ही एक-एक किरण है। इन सबों के द्वारा जहाँ कहीं अथवा जिस किसी रूप में जो कुछ होता रहता है, उसमें भी भगवती की इच्छा ही पूरी होती रहती है। फलतः प्रत्येक प्राणी, चाहे जो कुछ भी करे, वास्तव में, भगवती की ही स्तुति करता रहता है, क्योंकि किसी की इच्छा को पूरी करना भी उसकी स्तुति करना कहा जा सकता है। ऐसी स्थिति में जब सब कुछ भगवती का स्वरूप ही है तो यह कहना ठीक ही है कि भगवती सदा अपनी स्तुति करने में व्यस्त रहती है।

विजिगीषा-व्यवहार-द्युति-स्तुति-गतिषु' इति। तथा च एवंविध-मुख्यपारमैश्वर्य-मय-देवत्वांशांशिकानुग्रहाद् विष्णु-विरिञ्च्यादिषु देवताव्यवहारः।

एवं भगवती पश्यन्ती मध्यमा च स्वात्मानम् एव यदा विमृशति—'अहमेव परावाग्देवतामयी एवं अवोचम्'—तदा तेन रूपेण उल्लसन्मायारम्भतया स्वात्मापेक्षया तन्मायीयभेदानुसारात् ताम् एव पराभुवं स्वात्ममयीं 'भूतत्वेन' अभिमन्वाना, भेदावभासप्राणनान्तर्बहिष्करणपथव्यतिवर्तिनीत्वात् परोक्षतया—"सूर्यादि-संचारायत्त-दिनविभाग-कृताद्यतनानवच्छेदाद् ब्रह्मणः अनेककल्पसम्मितमहः, ततः अपि विष्णुप्रभृतेः, अन्तः च प्राणचारादौ प्राणोय-

---

है। व्याकरण में भी 'दिव्' धातु के—'क्रीड़ा, विजिगीषा (जीतने की इच्छा), व्यवहार, द्युति (चमकना), स्तुति और गति (जाना)' ये छः प्रकार के अर्थ बताये गये हैं। विष्णु, ब्रह्मा इत्यादि अवान्तर देवताओं को 'देवता' कहना आंशिक रूप में युक्तियुक्त ही है, क्योंकि उनको इसी मुख्य और परम ऐश्वर्य की विभूति से परिपूर्ण देवभाव के छींटें मिल जाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है।

परा-भूमिका के सदा वर्तमानकालिक होने पर भी—'देवी उवाच' इस वाक्य में परोक्षभूतवाची लिट्‌लकार का प्रयोग करने की उपयुक्तता।

१. इस रीति से जिस अवसर पर भगवती पश्यन्ती के रूप में 'मैं ही अपनी मौलिक परा-वाणी रूप में इस प्रकार बोली'—इस रूप में स्वरूप का ही विमर्श करने लगती है, उस अवसर पर उस[१] रूप में, विकास में आने वाली माया[२] का श्रीगणेश होने के कारण, अपने परा-रूप की अपेक्षा उस मायीय भेदभाव का ही अनुसरण करने से, अपनी आत्मा बनी हुई उस परा-भूमिका को ही (सापेक्षता से) साधारण भूतकालिक मानकर विमर्श का विषय बना लेती है।

२. जिस अवसर पर मध्यमा के रूप में—'मैं ही अपनी मौलिक परा-वाणी के रूप में इस प्रकार बोली थी' इस रूप में विमर्श करने लगती है, उस अवसर पर भेदभाव के स्पष्टतर अवभास का जीवन देनेवाले अन्तःकरणों और बहिरङ्ग इन्द्रियों की सरणि पर आगे बढ़ती हुई अपने मौलिक परा-रूप को ही (सापेक्षता से) परोक्ष भूतकालिक मानकर विमर्श का विषय बना लेती है।

---

१. पश्यन्ती वाणी के रूप में।

२. पश्यन्ती और मध्यमा वाणियों की भूमिकाओं पर क्रमशः भेदभाव का आसूत्रण और अन्तःकरणों में स्पष्ट अवभास होने के कारण इनको माया का आरम्भ-बिन्दु माना जाता है।

शत-सहस्रांशेऽपि अहर्व्यवहारः,—इति अनवस्थितं काल्पनिकं च अद्यतनत्वम् अकाल्पनिके संविद्वपुषि कथम् ?"

इति न्यायात् भूतानद्यतनपरोक्षार्थपरिपूरणात् परोक्षोत्तमपुरुषक्रमेण विमृशेत्—'अहम् एव सा, परावाग्देवीरूपैव, सर्ववाच्यवाचकाविभक्ततया एवम् उवाच' इति तात्पर्यम् ।

कालविभाग की काल्पनिकता का सिद्धान्त

"तिथियों का विभाग सूर्य इत्यादि ग्रहों के संचार पर निर्भर होता है। (भूलोक के) तिथि विभाग से उपजी हुई—'आज का' इत्यादि रूपों वाली काल-विभाग की कल्पना ब्रह्मलोक[1] के कालविभाग को संचालित नहीं कर सकती है। यही कारण है कि ब्रह्मलोक का एक दिन इस लोक के अनेकों कल्पों के समान होता है। ब्रह्मलोक से ऊर्ध्ववर्ती विष्णुलोक तक के लोकों का भी यही[2] हाल है। आन्तरिक योगक्रम में एक-एक प्राण[3]-संचार के सौवें, हजारवें अंश में भी बाहिरी संसार के एक-एक दिन की अवधि बीत जाती है। फलतः 'आज का' इत्यादि रूपों में प्रचलित काल-विभाग, वास्तव में, अव्यवस्थित और काल्पनिक या सापेक्ष है, अतः वह अकाल्पनिक अर्थात् शाश्वतिक संवित् पर कैसे थोपा जा सकता है ?"

इसी सिद्धान्त के अनुसार अर्थात् सापेक्षरूप[4] में ही साधारण, अनद्यतन और परोक्ष-भूतकाल के अर्थों को संपन्न करती हुई, परोक्ष-भूत के अर्थ पर प्रयुक्त होने वाले 'लिट्' लकार के उत्तम पुरुष के क्रम के द्वारा—'मैं' जिसका वास्तविक रूप वह परा-वाणी देवी ही है, प्रत्येक प्रकार के वाचक और वाच्य के विभाग से रहित रूप में इस प्रकार बोली थी,—इस प्रकार का विमर्श करती रहती है। यही (देवी-उवाच—इस वाक्य का) तात्पर्य है।

---

१. ब्रह्मलोक हमारे सौर मंडल से बाहर और बहुत दूर है, अतः यहाँ का सूर्य-संचार वहाँ के काल विभाग को जन्म देने में सक्षम नहीं है।

२. ब्रह्मलोक से विष्णुलोक तक जितने भी ऊपर-ऊपर वाले लोक हैं, उन उन के काल विभाग भी उनके अपने-अपने ग्रह संचार पर निर्भर होने के कारण एक दूसरे से नहीं मिलते हैं।

३. समाधि में बैठा हुआ योगी जितने समय में एक प्राण-संचार पूरा करता है, उतने में बाहरी संसार की शताब्दियाँ बीती हुई होती हैं।

४. वाणियों के प्रपंच का कार्यकलाप केवल इसी लोक में नहीं चलता है। वह तो न जाने कितने भुवनों में युगपत् ही कार्यनिरत होता है। हो सकता है कि जो

'सुप्तोऽहं किल विललाप' इति हि एवम् एव उपपत्तिः, तथाहि—ताम् अतीतामवस्थां न स्मरति, प्रागवेद्यत्वात्। इदानीं पुरुषान्तरकथितमाहात्म्यात्, अतिविलाप-गानादिक्रिया-जनित-गद्गदिकादि-देहविक्रियावशेन वा, ताम् अवस्थां चमत्कारात् प्रतिपद्यते। नहि अप्रतिपत्तिमात्रमेव एतत्—'मत्तः सुप्तो वा अहं किल विललाप' इति मदस्वप्नमूर्च्छादिषु वेद्यविशेषानवगमात् परोक्षत्वम्, परा-

---

लौकिक और आध्यात्मिक संदर्भ में परोक्ष अर्थ की विवेचना।

'निश्चय से मैं नींद में बेसुध पड़ा रो रहा था'—ऐसे ऐसे लौकिक कथनों में भी परोक्ष अर्थ इसी युक्ति से सिद्ध हो जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि ऐसा कहने वाला व्यक्ति अपनी उस भूतकालीन अवस्था को (अर्थात् नींद से उठने के समय में) स्मरण नहीं करता है, क्योंकि उसको स्मृतिकाल से पहले वह अवस्था (परोक्षरूप में) वेद्य[1] नहीं थी। वर्तमान काल में अर्थात् नींद से उठने के समय पर, वह प्रमाता, या तो दूसरे व्यक्तियों के कहने से या उस अवसर[2] पर अधिक मात्रा में रोने-कलपने या गाने-बजाने से जनित हिचकियों, मुख की मलिनता इत्यादिरूपों वाले अपने ही शारीरिक विकारों को प्रत्यक्षरूप में देखने से, उस अवस्था को, चमत्कार पूर्वक अर्थात् अपने अहंभाव को उसके साथ जोड़ने से उसका आनन्दात्मक अनुभव करता हुआ, अपने साथ सम्बन्धित समझने लगता है (अपने आप पर थोप लेता है)। यह तथ्य केवल एक उड़ती खबर नहीं है

अवसर इस लोक का परोक्ष भूतकाल हो वही दूसरे का वर्तमान काल हो। ऐसी स्थिति में यह एक निश्चित तथ्य है कि इस लोक में जिस समय परावाणी परोक्ष भूतकाल के रूप में विमर्श कर रही हो, दूसरे लोक में वही समय उसके वर्तमानकालिक विमर्श का विषय होगा। यह बात पहले ही कही गई है कि 'प्रत्येक वाणी मूलरूप में पराशक्ति रूपिणी है', अतः इस लोक या दूसरे लोक की अपेक्षा से इसके स्वरूप में कोई अन्तर नहीं पड़ सकता है। फलतः यही निष्कर्ष निकलता है कि वास्तव में कालविभाग की कल्पना ही सापेक्ष है और सापेक्ष होने के कारण अव्यवस्थित, काल्पनिक एवं निराधार है। जब कालकलना ही काल्पनिक एवं सापेक्ष है, तब भूत, वर्तमान या भविष्यत् जैसी कल्पनायें ही कहाँ सच्ची हो सकती हैं? अतः 'देवी उवाच' इस प्रकार के वाक्यों में 'लिट्' लकार या किसी दूसरे लकार के प्रयोग से परा-वाणी के त्रिकालाबाधित स्वरूप को कोई क्षति नहीं पहुँच सकती।

१. स्मृतिकाल में उसी बात की स्मृति संभव हो सकती है, जिसका स्मृतिकाल से पहले प्रत्यक्ष रूप में अनुभव किया जा चुका हो।

२. गहरी नींद में बेसुध पड़ा रहने के अवसर पर।

वस्थायां तु वेद्यविशेषस्य अभाव एव,—इति केवलमत्र वेदक-तादात्म्य-प्रतिपत्त्या तुर्यरूपत्वात्, मदादिषु तु मोहावेशप्राधान्यात्, इति इयान् विशेषः, परोक्षता तु समानैव ।

एवं सर्व एव प्रमाता गुरुशिष्यादिपदे अन्यत्र वा व्यवहारे स्थितः सर्वकालमेव यत्किञ्चित् कुर्वाणः एनाम् संविदम् अनुप्रविश्य सर्वव्यवहारभाजनं भवति, अतः ताम् एव वस्तुतो विमृशति देवी ।

कि—'मैं पागलपन या गहरी नींद की अवस्था में पड़ा हुआ रो रहा था'। इस प्रकार से अभिव्यक्त की जाने वाली उन्माद, स्वप्न या मूर्च्छा इत्यादि अवस्थाओं में वहिरंग इन्द्रिय-बोध के द्वारा, वेद्य-पदार्थों का साक्षात्कार विशेषरूप में न होने के कारण परोक्षत्व होता है और इसके प्रतिकूल परा-अवस्था में वेद्य-जगत् की (स्वरूप से इतर) किसी विशेषरूप में उपलब्धि का अभाव ही इसका बीज होता है। इन दो प्रकार के परोक्षों में केवल यह अन्तर है कि जहां परा अवस्था में निजी प्रमातृ-भाव के साथ सर्वाङ्गीण तादात्म्य होने के फलस्वरूप केवल तुरीया दशा की व्यापकता के कारण वेद्य-जगत् का साक्षात्कार चिन्ता से अतिरिक्तरूप में नहीं होता है, वह उन्माद इत्यादि अवस्थाओं में, अत्यधिक मात्रा में (तामसिक) मोह का ही आवेश होने के कारण (ऐसा होता है)। जहां तक परोक्षत्व का प्रश्न है वह तो दोनों रूपों में समान ही होता है।

इसी रीति के अनुसार संसार के सारे प्रमाता, चाहे वे (अध्यात्ममार्ग में) गुरु और शिष्य इत्यादि पदवियों पर अवस्थित हों अथवा (संसारमार्ग में) जो कोई भी काम करते रहते हों, वास्तव में, इसी (प्रश्न और उत्तर के रूप वाली) अनुत्तरा-संवित् के गर्भ में अवस्थित रहने से ही उन सारे व्यवहारों[1] को क्रियान्वित करने के लिये सक्षम बन जाते हैं। अतः वस्तुस्थिति यही है कि देवी (प्रश्न पूछने वाला प्रमाता) वास्तव में उस परा-भट्टारिका (संवित्) का ही विमर्श करती रहती है।

---

१. संसार के सारे बड़े से बड़े या छोटे से छोटे व्यवहार अपनी-अपनी जगह पर प्रश्न और प्रतिवचन ही हैं। प्रत्येक क्रिया का रूप तब तक प्रश्न है, जब तक वह पूरी होकर, निरपेक्ष रूप में, विश्रान्त न हो जाए। यदि किसी व्यक्ति को दफ्तर जाना है तो उसके लिए दफ्तर जाना तब तक प्रश्न है, जब तक वह अथक दौड़-धूप करने के अनन्तर दफ्तर के कमरे में पहुँच न जाए। दफ्तर के कमरे में पहुँच जाना ही इस प्रश्न का उत्तर है। डाकू के सामने प्रश्न है कि अमुक रात को अमुक पूँजीपति के घर में डाका डालना है। यह प्रश्न तब तक प्रश्न ही बना रहता है जब तक उसका

'उवाच' इति यावत् उक्तं स्यात्—'अहम् एव सततं सर्वम् अभेदेन विमृशामि पराभूमौ'—अन्यथा पश्यन्ती-मध्यमा-भूमिगं स्फुटम् इदं प्रथनं न स्यात्—तावद् एव उक्तं भवति 'देवी उवाच' इति। एवं पुरस्तात्—'भैरव उवाच' इति मन्तव्यम्।

'उवाच' इस शब्द का जितना तात्पर्य निकलता है कि—"मैं अर्थात् पर मंत्रमयी संवित् प्रतिसमय निजी पराभाव पर अवस्थित रहकर, पश्यन्ती से लेकर वैखरी तक प्रसार में आये हुए विश्व का, अभेदरूप में ही अनुसंधान करती[1] हूँ" उतना ही 'देवी उवाच'—इस सम्पूर्ण वाक्य का भी निकलता है, क्योंकि यदि यही स्थिति वास्तविक न होती तो पश्यन्ती मध्यमा भूमिकाओं पर प्रसार में आने वाली इदन्ता का स्पष्ट विकास संभव नहीं होता। इसी रीति पर

वह डाका डालने का काम पूरा न हो, क्योंकि साक्षात् डाका डाला जाना ही इस प्रश्न का समाधान है और यही इस प्रश्न की विश्रान्ति है। इसी दृष्टिकोण के आधार पर गहरा विवेचन करने से यह निष्कर्ष निकलता है कि वास्तव में संवित् का विश्व-रूप में प्रसृत होना प्रश्न और अपने मौलिक भैरव-रूप में प्रतिसंहृत होना ही उत्तर है। प्रतिवचन को पाने के लिए प्रश्न चाहिए और प्रश्न तब तक मन को चैन नहीं आने देता, जब तक उसका प्रतिवचन प्राप्त न हो। प्रत्येक प्राणी के मन में प्रतिक्षण अनेकों प्रश्न युगपत् ही उभरते रहते हैं और अपने अनुकूल प्रतिवचनों को प्राप्त करने में व्यस्त रहते हैं। ये प्रश्नों की शृंखलाएँ, अनन्त काल से, सरल रेखाओं की तरह, सीधी दिशा में आगे ही चलती रहती हैं, अपने अपने समाधानों की तलाश में। कहीं एक दूसरे से मिलने नहीं पातीं। आखिर एक बिन्दु पर पहुँच कर उन सारी विभिन्न प्रकार की प्रश्न शृंखलाओं को एक ही समाधान मिलता है, जिसको शास्त्रीय शब्दों में अनुत्तररूपता, भैरव-रूपता, समरसीभाव, कलातीत इत्यादि बहुतेरे नाम दिये गये हैं, परन्तु यदि उसको साधारण शब्दों में 'अन्तहीन अन्त' कहा जाये तो शायद गलत भी नहीं होगा। इस प्रश्न-प्रतिवचनात्मक शाश्वतिक प्रक्रिया को किसी विशेष देश, काल एवं आकार के चौखट्टे में सीमित नहीं किया जा सकता, क्योंकि यह कहाँ, कब और किस रूप में नहीं चलती रहती है? फलतः 'देवी उवाच, भैरव उवाच' यह एक अन्तहीन यथार्थ है।

१. यहाँ पर स्थूल शब्दों में समझाये गये वाग्-विमर्श का वास्तविक रूप पराभाव का विमर्शात्मक स्पन्दनमात्र समझ लेना चाहिये। इस विमर्श में शक्ति-भाव की प्रधानता मानी गई है।

तत्रापि हि—'स्व-पर-शक्त्यविभागमयो भैरवात्मैव 'अहम् उवाच' इत्यर्थः। केवलं शक्तिप्रधानतया सृष्टिस्वभावाख्यामर्शो—'अहम्' इति उचितो देवी-परामर्शः, शक्तिमत्प्रधानतया संहारावेशविमर्शो—'म-ह्-अ' इति भैरवरूप-चमत्कारः। स्फुटयिष्यते च एतत्।

अगले प्रकरण में—'भैरव उवाच' इस वाक्य के भी ऐसे ही तात्पर्य को ध्यान में रखना चाहिए।

वहां पर भी इस वाक्य का यही तात्पर्य निकलता है कि—निजशक्ति[1] और परशक्ति अर्थात् गुरुशक्ति और शिष्यशक्ति की एकाकारता से परिपूर्ण भैरवीय आत्मा का रूप धारण करने वाला मैं अनुत्तर-तत्त्व भेदहीन स्वरूप में स्वरूप का ही विमर्श[2] करता हूँ'। इन दोनों प्रकार के विमर्श में केवल इतना अन्तर है कि 'देवी उवाच' इसमें शक्तिभाव की प्रधानता है, अतः सर्जनात्मक स्वभाव का विमर्श होने के कारण इसमें 'अ+ह[3]+म्' इसी वर्ण क्रम के अनुसार अहंरूपी देवीभाव का परामर्श युक्तियुक्त है और 'भैरव उवाच' इसमें शक्तिमान्-भाव की प्रधानता है, अतः संहारात्मक स्वभाव के आवेश का विमर्श होने के कारण इसमें

---

१. यहाँ पर कुछेक संस्कृतज्ञ मित्र 'स्वपरशक्त्यविभागमयः' इन मूल संस्कृत शब्दों का यह अर्थ निकालते हैं कि अनुत्तर-भाव, 'गुरु-शिष्य', 'प्रतिवाचक-प्रश्नकर्ता', 'अहन्ता-इदन्ता', 'शिव-जगत्,' 'भैरव-देवी', इत्यादि अनन्त प्रकार के रूपों वाले विभाग के परिपूर्ण अभाव की दशा है। परन्तु प्रातःस्मरणीय गुरुमहाराज के उप-देशामृत के अनुसार अनुत्तर-भाव किसी पदार्थ के अभाव की नहीं, अपितु समरसीभाव की अवस्था है। यह वह अवस्था है, जिसमें पहुँचकर सारे विरोधात्मक द्वन्द्व चित्-रूप बनकर एकाकार हो जाते हैं।

२. इस विमर्श का वास्तविक रूप भैरवीय विमर्श का स्पन्दन समझ लेना चाहिये। इसमें शक्तिमान् की प्रधानता मानी गई है।

३. अनुत्तर-तत्त्व स्वरूप का बहिर्मुखीन प्रसार करने के अवसर पर शक्ति-भाव को धारण करता है। शक्ति का स्वभाव उच्छलत्ता है, अतः स्वरूप का प्रसार करना उसका शाश्वतिक नियम है। शक्ति-भाव के रूप को धारण करके विश्वमयता के रूप में स्वरूप के प्रसार को शास्त्रीय शब्दों में सृष्टि-स्वभाव या प्रसर कहते हैं। शास्त्रीय परिपाटी के अनुसार इसका सूचक अहंपरामर्श का 'अ+ह+म्' यह वर्णक्रम है। इस वर्णक्रम के अनुसार 'अकार' से शिव, 'हकार' से शक्ति और 'मकार' से नर या जीव का अभिप्राय निकालकर यह तात्पर्य अभिव्यक्त किया जाता है कि बहिर्मुखीन रूप-प्रसार की ओर उन्मुख होने के अवसर पर शिव पहले शक्तिभाव पर, फिर शक्ति के

एतच्च पश्यन्ती-मध्यमाभुवि ज्ञानशक्तिमय्याम् एव परस्या इच्छाशक्तिमय्याः संविदो विमर्शनम्। तदेव च सर्वारम्भपर्यन्तशास्त्रप्रयोजनम्। अत एव

'म+ह[1]+अ' इस उल्टे वर्ण क्रम से अहंरूप भैरवीय चमत्कार की अभिव्यक्ति होती है। इस अभिप्राय का स्पष्टीकरण आगे किया जायेगा।

(त्रिकशास्त्रीय परिभाषा के अनुसार) इस प्रकार की स्वरूपविमर्श की अनुभूति को, विशुद्ध ज्ञानशक्ति[2] के रूपवाली पश्यन्ती और मध्यमा वाणियों की भूमिका पर ही इच्छाशक्ति के रूपवाली परासंवित् का विमर्शात्मक साक्षात्कार

द्वारा जीव भाव पर उतर कर विश्वमयता के रूप में प्रसृत हो जाते हैं। यही कारण है कि 'देवी' अर्थात् रूप प्रसार करने वाली पराशक्ति का परामर्श अभिव्यक्त करने के लिए 'अ+ह+म्' यही वर्णक्रम युक्तियुक्त है। 'अहम्' को ही दूसरे शास्त्रीय शब्दों में सृष्टि-बीज भी कहा जाता है और इससे स्वरूप की अवरोह-प्रक्रिया का संकेत मिल जाता है।

१. वह अनुत्तर-तत्त्व स्वरूप के प्रसार को पुनः स्वरूप में ही संहृत करने के अवसर पर शक्तिमान्-भाव को धारण करता है। शक्तिमान्-भाव को शास्त्रीय शब्दों में 'भैरव' या 'पर-भैरव' और उसमें विद्यमान रहने वाली स्वरूप की ही संहारात्मक उन्मुखता को 'संहारावेश' कहते हैं। 'अहम्' का ही उल्टा वर्णक्रम अर्थात् 'म्+ह+अ इस पर-भैरवीय संहारावेश का सूचक है। इस वर्णक्रम के अनुसार 'मकार' से नर, 'हकार' से शक्ति और 'अकार' से शिव का अभिप्राय लेकर यह तात्पर्य निकाला जाता है कि नर रूप पर उतरे हुए शिव शक्ति के माध्यम से ही फिर अपने मौलिक शिव-भाव में संहृत हो जाते हैं। यही कारण है कि संहार की क्रीडा करने वाले अनुत्तर-भैरव का परामर्श अभिव्यक्त करने के लिए 'म्+ह+अ' यही वर्णक्रम युक्ति-युक्त हैं। 'महअ' को शास्त्रीय शब्दों में संहारबीज कहते हैं।

यहाँ पर प्रसार-संहार की इस शाश्वतिक एवं युगपत् चलने वाली क्रीडा के सम्बन्ध में यह बात ध्यान में रखनी आवश्यक है कि शिव और नर के बीच में शक्ति एक द्विमुखी प्रवेशद्वार की भूमिका निभा लेती है। शिव निजी अनुत्तर-भाव से अवरोह करने के अवसर पर शक्ति के द्वार से ही नर-भाव के क्षेत्र में और नर भी आरोह करने के अवसर पर शक्ति के द्वार से ही शिवभाव में प्रविष्ट हो जाते हैं। यही कारण है कि शैवशास्त्रों में शक्ति को मुख, अर्थात् प्रवेशद्वार की संज्ञा दी गई है—'शैवी मुखमिहोच्यते'।

२. साधारण जीवभाव के स्तर पर पश्यन्ती और मध्यमा वाणियों का रूप ज्ञानेन्द्रियाँ परन्तु स्वरूप-उपलब्धि के स्तर पर विशुद्ध ज्ञानशक्ति ही होता है।

ज्ञानशक्तौ एव सदाशिवमय्यां पूर्वोत्तर-पद-वाक्य-क्रमोल्लासात् वास्तव-परमहा-मन्त्रवीर्य-विमर्श एव दकार-एकार-वकार-यकार-उकार-वकार-आकार-चकार =(देव्युवाच), भकार-ऐकार-रेफ-अकार-वकार-उकारादि = (भैरव उवाच) पद-वाक्य-योजना।

होना कहते हैं। प्रस्तुत शास्त्र अथवा दूसरे सारे शास्त्रों[1] का भी आरम्भ से लेकर अन्त तक केवल इतना ही प्रयोजन है। अतः सदाशिवमयी[2] ज्ञानशक्ति[3] में, पूर्ववर्ती अर्थात्—'देवी उवाच' इस प्रकार के और उत्तरवर्ती अर्थात्—'भैरव उवाच' इस प्रकार के[4] पदों और वाक्यों का उल्लास होने के कारण, वास्तविक स्थिति यह है कि परम महामन्त्रात्मक वीर्य के विमर्श में अर्थात् अहंविमर्श[5] के

---

१. वन्दनीय गुरुमहाराज का कथन है कि संसार की भूमिका पर भी 'देवी उवाच' और 'भैरव उवाच' इस प्रकार की प्रश्न-प्रतिवचनात्मक प्रक्रिया प्रतिक्षण अखण्ड रूप में चलती रहती है। फलतः यहाँ पर अभिनवगुप्त जी के शब्दों का यह भी तात्पर्य है कि अनन्तकाल से चली आती हुई इस जगत्रूपी प्रश्न-प्रतिवचनात्मक प्रक्रिया के शास्त्र का भी आरम्भ से लेकर अन्त तक इतना ही, अर्थात् स्वरूप-विमर्शन के द्वारा अनुत्तर-भाव में प्रवेश पाना ही, मात्र पार्यन्तिक प्रयोजन है।

२. त्रिकशास्त्रों की प्रक्रिया में विशुद्ध ज्ञानशक्तिमयी पश्यन्ती भूमिका को सदा-शिव-भूमिका माना जाता है। पहले भी कहा गया है कि इस भूमिका पर इदन्ता का केवल इष्यमाणरूप में आसूत्रण मात्र होता रहता है, अतः यह अहंता से परिवलित रूप में ही वर्तमान रहती है। इस भूमिका को अभिव्यक्त करने वाला परामर्श 'अहमिदम् =यह मैं' इस प्रकार माना जाता है।

३. विशुद्ध ज्ञानशक्तिरूपिणी पश्यन्ती-भूमिका में।

४. त्रिकशास्त्रीय संदर्भ में एक शब्द को पद की संज्ञा नहीं दी जाती है, क्योंकि वह एक पूरे अभिप्राय को अभिव्यक्त करने में सक्षम नहीं होता है। अतः पूरे अभिप्राय को अभिव्यक्त करने वाले एक पूरे वाक्य को ही पद कहा जाता है। उदाहरणार्थ 'देवी', 'उवाच' इस प्रकार के अलग-अलग रूप में इन शब्दों को पद नहीं माना जा सकता है, अपितु 'देवी उवाच' इस प्रकार के रूप में यह एक पद माना जा सकता है।

५. 'देवी उवाच', 'भैरव उवाच' इस प्रकार की प्रश्न-प्रतिवचनात्मक प्रक्रिया केवल संसार की भूमिका पर ही नहीं, अपितु परा-भूमिका पर भी चलती रहती है। अन्तर केवल इतना है कि जहाँ संसार की भूमिका पर वैखरी वाणी के द्वारा उच्चारण किये जाने वाले स्थूल अक्षरों के द्वारा इन प्रश्नरूपी और प्रतिवचनरूपी पदों और

एवम् अमुना क्रमेण सदा उदिता एव।

एवं परमार्थमयत्वात्, परमेश्वरस्य चित्तत्त्वस्य यदेव अविभागेन अन्तर्वस्तु स्फुरितं तदेव पश्यन्तीभुवि वर्ण-पद-वाक्यविविभाजयिषया परामृष्टं, मध्यमा-पदे च भेदेन स्थितं वस्तुपूर्वकं सम्पन्नं यावत् वैखर्यन्तं—'अनुत्तरं कथम्' इत्यादि भिन्न-मायीय-वर्ण-पद-वाक्यरचनान्तम्।

एतत् एव तदनुपलक्ष्यं 'भैरव-वक्त्रम्' सृष्टिपरामर्शात्मकम्, अनुत्तराहं-

---

ऐसे ही क्रम के अनुसार अनुग्रह-शक्ति सदा उदीयमान रूप में ही अव-स्थित है।

भैरवीय-मुख का रूप और उस पर निश्चित देश, काल आदि के नियन्त्रण का अभाव।

इस रीति से (आध्यात्मिक वा लौकिक व्यवहारों में) एकमात्र पारमार्थिक स्वरूपमय होने के कारण परमेश्वर अनुत्तरतत्त्व के गर्भ में जो विभागहीन परा वाणी रूपी वस्तु परविमर्श के रूप में स्पंदित हुई, वही—१. पश्यन्ती-वाणी की भूमिका पर पहुंचकर वर्णों, पदों और वाक्यों में विभक्त हो जाने से सूक्ष्माति-सूक्ष्म इच्छात्मक विमर्श का विषय बन गई, २. मध्यमा-वाणी की भूमिका पर पहुँचकर भेद-भाव पर आरूढ़ हो जाने से वाच्यों और वाक्यों का अलग-अलग रूप धारण कर गई और ३. वैखरी-वाणी की अन्तिम कोटि पर पहुँचने तक भिन्न-भिन्न प्रकारों के मायीय वर्णों, पदों और वाक्यों की संरचना का रूप धारण कर[1] गई।

यही वह [2]भैरवीय-मुख है जो कि—

१. देवी पराशक्ति के बिना और किसी को दिखाई नहीं देता।

२. सृष्टि[3]-परामर्श अर्थात् रूप प्रसार के परिचायक विशुद्ध 'अहं विमर्श' के रूप वाला है।

---

१. चिन्मात्ररूपिणी परा-वाणी के बहिर्मुखीन प्रसार के पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी नाम वाले तीन स्तरों पर क्रमशः शक्ति के इच्छात्मक, ज्ञानात्मक और क्रियात्मक रूप मूल प्रेरणादायक तत्त्व बने हुए होते हैं।

२. वास्तव में पर-भैरव का मुख, उसके साथ सदा सर्वदा अभिन्न रूप में अवस्थित रहने वाली पराशक्ति ही है। भैरवीय-मुख को पारिभाषिक शब्दों में 'भैरव-वक्त्र' कहते हैं।

३. पहले भी इस बात का उल्लेख किया गया है कि 'अ + ह + म्' रूप प्रसार का परिचायक होने के कारण 'सृष्टि-बीज' है।

भावसार-अकार-आकाररूप-शिव-शक्ति-संघट्टसमापत्तिक्षोभात्मकं, त्रिक-शास्त्र-प्रसरबीजं, ध्रुवपदं, मौलिकं सर्वंजीवतां जीवनैकरूपम् ।

---

३. 'अनुत्तर' अर्थात् शिव-भाव और 'अहंभाव' अर्थात् शक्तिभाव का ही मात्र प्रतिनिधित्व करने वाले अकार और आकार[1] रूपी शिव एवं शक्ति के 'संघट्ट'[2] अर्थात् एकाकारता के गठन से ही जन्म पाने वाले 'क्षोभ'[3] अर्थात् विश्वमयता के गोरखधन्धे का जीवन है।

४. त्रिकशास्त्रों में वर्णन की गई सृष्टि-प्रसार की प्रक्रिया का बीज है।

५. शाश्वतिक स्थिरता का स्थान है।

६. 'मूल'—अर्थात् अनुत्तरपद से ही प्रसार में आया है।

७. सारे जीवित प्रमाताओं का एकमात्र जीवन है।

---

१. तंत्र शास्त्रों की मान्यता के अनुसार 'आकार' शक्ति-भाव का परिचायक है। इस सम्बन्ध में शास्त्रीय परिभाषा यह है—

'भैरवीय-मुख अथवा भैरव-वक्त्र के—१. परवक्त्र २. परापर-वक्त्र और ३. अपर-वक्त्र ये तीन रूप हैं। इन तीनों रूपों में 'अकार' निर्विवाद रूप में शिव का वाचक है। जहाँ तक शक्ति का सम्बन्ध है, इस विषय में यह समझना आवश्यक है कि पर-वक्त्र के स्तर पर 'आकार', परापर-वक्त्र के स्तर पर (:) (विसर्ग, जिसको शास्त्रीय शब्दों में 'हकार' का आधा कहते हैं), और अपर-वक्त्र के स्तर पर 'हकार' इसके वाचक हैं। फलतः मूलरूप में 'आकार' ही आनन्दात्मिका शक्ति का द्योतक है और विसर्ग एवं 'हकार' इसके रूपान्तरमात्र हैं, क्योंकि शक्ति की बहिर्मुखीन प्रसार की प्रक्रिया में उत्तरोत्तर स्थूल बना हुआ 'आकार' ही पहले विसर्ग फिर 'हकार' बन गया है। जहाँ तक शिव के वाचक 'अकार' का सम्बन्ध है, वह तो प्रत्येक रूप में 'अकार' ही रहता है, क्योंकि स्वयं शिव न कभी स्थूल और न सूक्ष्म ही बनते हैं, क्योंकि वे विकारातीत हैं।

२. पहले कहा गया है कि शिव एवं शक्ति के परस्पर उन्मुख रूप को 'संघट्ट' या 'यामल' कहते हैं। उनकी इस पारस्परिक उन्मुखता से ही विश्वमयता का विकास हो जाता है।

३. शिव एवं शक्ति के संघट्ट से अथवा शास्त्रीय शब्दों में बीजरूपी स्वर और योनिरूपी व्यंजनों के पारस्परिक संयोग से ही सारी इदन्ता प्रसार में आकर मौलिक शिव-भाव से भिन्न रूप में भासित होने लगती है। उसका भेदरूप में दिखाई देना ही 'क्षोभ' कहलाता है।

अत एव व्यवच्छेदाभावात् स्थाननिर्देशाद्ययोगात् स्थानादिपूर्वकत्वं न उपपन्नम् ।

(भैरवीय-मुख की) इसी सर्वव्यापकता के कारण (प्रस्तुत ग्रंथ आरम्भ करते समय)[1] देवी के द्वारा पूछे जाने वाले प्रश्न का ही सीधा उल्लेख करने से पहले किसी विशेष स्थान इत्यादि का उल्लेख किया जाना युक्ति-युक्त नहीं था, क्योंकि जब अनुत्तर-तत्त्व की व्यापकता में कहीं कोई अड़चन नहीं है तो किसी

---

१. प्रस्तुत शास्त्र का आरम्भ—'अनुत्तरं कथं देव !' इत्यादि शब्दों में पूछे गये सीधे देवी के प्रश्न से हुआ है । इससे पहले कोई ऐसी भूमिका नहीं बांधी गयी, जिसमें देवी के द्वारा प्रश्न पूछे जाने के स्थान और समय इत्यादि का निर्देश किया होता । इस सम्बन्ध में स्वाभाविक रूप में यह प्रश्न उठता है कि जिस प्रकार प्रस्तुत ग्रन्थ से इतर दूसरे तन्त्र ग्रंथों की आमतौर पर यह परिपाटी रही है कि उनमें देवी और भैरव के बीच चलने वाले प्रश्न-प्रतिवचनात्मक संवाद का आरम्भ करने से पहले 'कैलास' इत्यादि किसी विशेष स्थान और 'प्राचीन काल' इत्यादि किसी विशेष समय का उल्लेख किया गया है, उसी प्रकार की परिपाटी का अनुसरण प्रस्तुत ग्रन्थ में क्यों नहीं किया गया है ? यहाँ पर भगवान् अभिनव गुप्त ने इस प्रश्न का समाधान एक ही वाक्य में प्रस्तुत किया है । उनका अभिप्राय यह है कि इतर तन्त्र ग्रन्थों का वर्ण्य-विषय चाहे कुछ भी रहा हो, परन्तु प्रस्तुत शास्त्र का वर्ण्यविषय साक्षात् अनुत्तर-तत्त्व है । वह तत्त्व व्यापक और नित्य होने के कारण सार्वदेशिक और सार्वकालिक है । उसको किसी विशेष देश एवं काल के साथ जोड़कर सीमाबद्ध करना न तो संभव ही था और न अपेक्षित ही ।

अब जिन ग्रन्थों में वर्ण्य विषयों का आरम्भ करने से पहले 'कैलास' इत्यादि विशेष स्थानों और विशेष समयों का उल्लेख किया गया है, वे ऐसा किये जाने से ही अवर कोटि के ग्रन्थ बन गये हैं । इस दोष से छुटकारा पाने के लिए उनकी व्याख्यायें लिखने वाले तांत्रिक पण्डितों ने व्याकरण के नियमों की कवाइद करके उन विशेष देश एवं कालवाचक शब्दों से कूट अर्थों को निकालने का प्रयत्न तो किया है, परन्तु बात नहीं बन पाई है । उदाहरण के तौर पर 'कैलास' शब्द का निम्नलिखित प्रकार से अर्थ लगाया गया है :—

के=ब्रह्मबिल में, एला=स्पन्दायमान शक्ति के ऊपर, आसः=बैठा हुआ, अर्थात् 'शक्ति का अधिपति शक्तिमान्' ।

परन्तु भगवान् अभिनवगुप्त ऐसे ऐसे साधारण एवं अनपेक्षित विषयों पर अपनी प्रतिभा एवं अमूल्य समय को व्यर्थ बरबाद करने के पक्ष में कभी नहीं रहे हैं ।

वस्तु च प्रश्नतदुत्तररूपं सततोदितमेव प्रथमम् अविभागमयम् । तेन एतावद् एव अत्र तात्पर्यम्—'स्वात्मा सर्व-भाव-स्वभावः, स्वयं प्रकाशमानः स्वात्मानम् एव स्वात्माविभिन्नेन प्रश्नप्रतिवचनेन प्रष्टृप्रतिवक्तृस्वात्ममयेन अहन्तया चमत्कुर्वन् विमृशति, इति ।

'अहम् एवं विचित्रचमत्कारेच्छुः तथा जानन् एव तथैव भवामि' इति यावत्, तावदेव 'देवी उवाच', अनुत्तरं कथम् ?' इत्यारभ्य—'भैरव उवाच',

---

विशेष स्थान या समय का निर्देश करके उसको कैसे सीमाबद्ध किया जा सकता था ?

प्रश्न और प्रतिवचन के विवेचन का उपसंहार ।

फलतः यह प्रश्न-प्रतिवचनात्मक प्रक्रिया हमेशा उदितरूप में ही वर्तमान रहती है और परा-वाणी की भूमिका पर इसका रूप बिल्कुल वाचकों और वाच्यों के विभाग से रहित होता है। अतः (देवी उवाच, भैरव उवाच) इसका तात्पर्य केवल इतना है कि—

'परारूपी आत्मा प्रत्येक जड एवं चेतन पदार्थ का स्वभाव होने के कारण स्वयं ही प्रकाशमान है, अतः वह उसी आत्मरूपता से ओतप्रोत प्रश्नकर्ता और उत्तरदाता के अहं-भाव को स्वीकार करके, स्वरूप के ही विस्तार का आनन्द[1] लेती हुई, स्वरूप से ही अभिन्न प्रश्न एवं प्रतिवचन के द्वारा, स्वरूप का हो विमर्श (निम्नलिखित रूप में) करतो रहती है।

'मैं स्वयं सारे प्रश्न-प्रतिवचनात्मक प्रपञ्च का रहस्य जानते रहते ही केवल पश्यन्ती आदि विषयों के रूप में अपने ही रूप-विस्तार के आनन्द को लेने की इच्छा से उस प्रकार अर्थात् प्रश्नकर्ता और उत्तरदाता के रूप में वर्तमान हूँ ।'

इन उल्लिखित शब्दों से जितना कुछ समझ[2] में आता है, बस उतना ही

---

१. भगवान् मूलतः आनन्दशक्ति से ओतप्रोत हैं, अतः वे प्रतिसमय स्वरूप को ही अपने से अधिक अर्थात् भिन्न जगत्रूप में सत्ता देकर अपने ही रूप के विस्तार का आनन्द लेने की क्रीड़ा करते रहते हैं। शास्त्रों की मान्यता यह है कि आनन्द शक्ति वह शक्ति है, जिसके द्वारा समूचे विश्वप्रसार की क्रीडा सम्पन्न होती रहती है । यह बात पहले भी कही गयी है कि आनन्दमयता के कारण स्वरूप से अलगाये हुए और 'इदम्' रूप में फैलाये हुए जगत्-रूपो स्वरूप का ही आनन्द लेने के अभिप्राय को शास्त्रीय शब्दों में स्वरूप-चमत्कार, स्वात्म-चमत्कार, अहंचमत्कृति इत्यादि शब्दों से अभिव्यक्त किया जाता है। भगवान् के इस रूप का द्योतक 'अहम्' यह सृष्टि बीज है ।

२. यहाँ पर 'समझ में आने से' स्वरूप-संवेदन के विकास की ओर संकेत किया गया है ।

शृणु देवि !' इति मध्यतो यावत्—'इत्येतत् रुद्रयामलम्' इति, यद्वा सर्वाणि पञ्चस्रोत:प्रभृतीनि शास्त्राणि यावत् लौकिक: अयं व्यवहार: । स एष उक्त: पर: सम्बन्ध: ।

गोप्यम् उपदेशसारं सद्यो भैरवपदावहं सततम् ।
अभिनवगुप्तेन मया व्याख्यातं प्रश्नसर्वस्वम् ॥

शिष्यहितपरतया तु इदम् एव संगृह्य अभिदध्म:—

इस—'देवी उवाच, अनुत्तरं कथम्' इत्यादि प्रारम्भिक, 'भैरव उवाच, शृणु देवि !' इत्यादि मध्यवर्ती और 'इत्येतद् रुद्रयामलम्' इत्यादि अन्तिम प्रकरणों वाले सारे परात्रिंशिका शास्त्र का अभिप्राय है । यदि यह भी कहा जाए कि भगवान् स्वच्छन्दनाथ[1] के पाँच मुखों से निकले हुए तन्त्रशास्त्रों का मुख्यरूप में और गौणरूप में सारे शास्त्रों और लौकिक व्यवहार का भी मात्र इतना ही अभिप्राय है तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी । इस प्रकार से 'पर-सम्बन्ध' का विवेचन प्रस्तुत किया गया है ।

मुझ अभिनवगुप्त ने इस सारी प्रश्न और प्रतिवचनात्मक प्रक्रिया में निहित रहस्य को स्पष्ट शब्दों में समझा दिया । अनुत्तर-भूमिका का अनुभव कराने वाले सारे उपदेशों का मात्र इतना ही पार्यन्तिक सार है । यह यथार्थरूप में अनुभव में आ जाने के तत्काल ही भैरव-पद पर प्रतिष्ठित कराने में अचूक राम बाण है । अत: हृदय में ही छिपाकर रखने की वस्तु है ।

अपने शिष्यों का उपकार करने पर तत्पर होने के कारण इसी उपदेश के सार को (निम्नलिखित) श्लोकों में संगृहीत करके भी प्रस्तुत कर रहा हूँ ।

---

१. भगवान् अनुत्तर ने संसार का कल्याण करने के लिए शैवतन्त्रों की अवतारणा की है, परन्तु अनुत्तर-रूप में ही अवस्थित रहकर नहीं, अपितु भगवान् स्वच्छन्दनाथ के रूप को धारण करके । भगवान् की स्वातन्त्र्य शक्ति के चित्, निर्वृति, इच्छा, ज्ञान और क्रिया ये पांच मुख हैं, अत: भगवान् स्वच्छन्दनाथ ने इन्हीं पांच मुखों के द्वारा अद्वैत, द्वैताद्वैत और द्वैत सिद्धान्तों की विवेचना से पूर्ण बयानवे तन्त्रों को अवतरित किया । भगवान् स्वच्छन्दनाथ के इन शक्तिरूपी पांच मुखों के शास्त्रीय नाम क्रमश: ईशान, तत्पुरुष, सद्योजात, वामदेव और अघोर हैं । अद्वैत-सिद्धान्तों का विवेचन करने वाले तन्त्रों को भैरव-तन्त्र, द्वैताद्वैत सिद्धान्तों की व्याख्या करने वाले तन्त्रों को रुद्रतन्त्र और द्वैत-सिद्धान्तों पर आधारित तन्त्रों को शिव-तन्त्र कहते हैं । इनकी संख्या क्रमश: चौंसठ, अठारह और दस हैं । सारे तन्त्रों की कुल संख्या बयानबे है ।

सर्वेषु व्यवहारेषु ज्ञेयं कार्यं च यद्भवेत्।
तत्परस्यां तुर्यभुवि गतभेदं विजृम्भते॥
भेदासूत्रणरूपायां पश्यन्त्यां क्रमभूजुषि।
अन्तःस्फुटक्रमायोगे मध्यायां तद्विभेदभाक्॥
मध्या पश्यन्त्यथ परामध्यास्याभेदतो भृशम्।
परोक्षमिव तत्कालं विमृशेन्मत्तसुप्तवत्॥

जाहणकुण हर्जाहि शिह पहिलउउशि असब्बो।
विअलि अरो ओ वि अम्बई जानिव्व उका।
अव्वईणजो अन्तिहि मज्जिअभेदस्फुरन्तु
कामेण आसरि सेइण ओअव
इसोच्चि अरेच्चभेरेणमतुउजिमणि
अवत्थ बहि अणुसंधेइखनेन॥

एवम् एव एतदनुत्तरत्वं निर्वक्ष्यति, इति। तदुक्तं श्रीसोमानन्दपादैः—

'सारे सांसारिक आदान-प्रदानों में जो भी कोई पदार्थ ज्ञेयरूप या कार्यरूप में दिखाई देता है, वह अपने मूलरूप में, तुरीयारूपिणी पराशक्ति की भूमिका में भेदहीन संवित् के रूप में सदा विकासमान ही है॥ वही पदार्थ, मध्यमा और वैखरी वाणियों के क्रम को उपजाने वाली और भेद-भाव को सूक्ष्मातिसूक्ष्म आसूत्रणमात्र का रूप धारण करने वाली पश्यन्ती की भूमिका पर और अन्तःकरणों के ही आधार पर भेदभाव के क्रम को स्पष्टरूप में अंकित करने वाली मध्यमा की भूमिका पर उतर कर ज्ञेयता और कार्यता के भेद-भाव का विषय बन जाता है।

ऐसी परिस्थिति में वास्तविकता यह है कि मध्यमा और पश्यन्ती वाणियाँ परा वाणी पर आधारित रहकर ही, उस अपने सदा वर्तमानकालिक परा-काल का, उन्मादग्रस्त अथवा सोकर उठे हुए व्यक्ति की भाँति परोक्ष भूतकाल के तथाकथित रूप में विमर्श करने लगती हैं, क्योंकि वास्तव में इन दोनों वाणियों का मौलिक परा-वाणी के साथ कोई भी स्वरूपगत भेद नहीं है।

ग्रन्थ का वर्ण्य-विषय, नामकरण, सम्बन्ध और प्रयोजन।

इसी रीति से आगे अनुत्तर-भाव का विवेचन किया जायेगा। श्रीमान् सोमानन्दपाद ने अपनी विवृति[1] में—

---

१. भगवान् सोमानन्दनाथ के द्वारा परात्रिंशिका पर लिखी गयी यह विवृति इस समय प्राप्य नहीं है।

'पञ्चविधकृत्यतत्परभगवद्भैरवभट्टारकस्य प्रथमशाक्तस्पन्दसमनन्तरम्'। इत्यादि निजविवृतौ। तद्ग्रन्थिनिर्दलनार्थमेव अयम् अस्माकं तत् शासनपवित्रितानां यत्नः।

उक्तः सम्बन्धः। अभिधेयं—'त्रीशिका' इति। तिसृणां शक्तीनां इच्छा-ज्ञान-क्रियाणां सृष्टयाद्युद्योगादिनामान्तरनिर्वाच्यानाम् ईशिका ईश्वरी। 'ईशना' च ईशितव्याव्यतिरेकेणैव भाविनी, इति एतत् शक्तिभेदत्रयोत्तीर्णा तत्

'पाँच प्रकार के कृत्यों को तत्परता से करने में लगे हुए भगवान् भैरव-भट्टारक के पहले शाक्तस्पन्द अर्थात् 'देवी उवाच' इस वाक्य के अनन्तर……… इत्यादि बातें कहीं हैं। उनकी उन बातों में कहीं-कहीं पर गुत्थियां रह गई हैं जिनको खोलने के लिए मैं प्रस्तुत प्रयत्न कर रहा हूं, क्योंकि मैं उन्हीं के उपदेश-परक ग्रन्थों का अध्ययन करके पवित्र हो गया हूँ।

जहाँ तक सम्बन्ध[1] का प्रश्न है उसका उल्लेख पहले ही हो चुका है।

प्रस्तुत शास्त्र का वास्तविक नाम 'त्रीशिका–अर्थात् परात्रीशिका' है, क्योंकि इसका वर्ण्य-विषय 'त्रीशिका' ही है।

'त्रीशिका' उस संवित्-शक्ति को कहा जाता है, जो कि इच्छा-शक्ति, ज्ञान-शक्ति और क्रिया-शक्तियों, जिनको क्रमशः (संसार की भूमिका पर) सृष्टि, स्थिति, संहार और (अध्यात्म की भूमिका पर) उद्योग, अवभास और चर्बण[2] कहते हैं, की सर्वस्वतन्त्र संचालिका है। उसका वह संचालन, संचालित किये जाने वाले विषय के साथ अभिन्न रहकर ही चलता रहता है। फलतः मूलरूप में इन तीन प्रकार के शक्ति-भेदों से परे रहने वाली और तीनों शक्तियों के विभागहीन रूप को धारण करने वाली भगवती संवित्-शक्ति को ही (प्रस्तुत

१. पहले कहा जा चुका है कि प्रस्तुत शास्त्र में सम्बन्ध का रूप 'पर-सम्बन्ध' है और यह वह सम्बन्ध है, जिसपर दूसरे सारे सम्बन्ध आधारित हैं।

२. यद्यपि शैवशास्त्रों में सृष्टि, स्थिति, संहार, पिधान और अनुग्रह ये पाँच अवस्थाएँ स्वीकारी गई हैं, तथापि प्रस्तुत स्थल पर अन्तिम दो, अर्थात् पिधान और अनुग्रह अवस्थाओं का संहार में ही अन्तर्भाव करके मुख्यतः तीन अवस्थाओं का नाम निर्देश किया गया है। इसी प्रकार योग की प्रक्रिया के साथ सम्बन्ध रखने वाली उद्योग, अवभास, चर्बण, ग्रास और विश्रान्ति इनमें से अन्तिम दो अर्थात् ग्रास और विश्रान्ति अवस्थाओं का चर्बण में ही अन्तर्भाव करके तीन ही अवस्थाओं का नाम लिखा गया है।

शक्त्यविभागमयी संविद्भगवती—'भट्टारिका-परा' अभिधेयम्, तद्योगादेव च इदमभिधानं त्रीशिकाख्यम् ।

'त्रिशका' इत्यपि गुरवः पठन्ति, अक्षरवादसाम्यात् च निरुक्तम् आहुः,— 'तिस्रः शक्तीः कायति' इति त्रिशका । न तु त्रिंशत्श्लोकयोगात्—'त्रिंशिका', एतावतोऽपि त्रिशकार्थत्वात् । तथाहि तन्त्रसारे—

'त्रिशकार्थस्त्वया प्रोक्तः सार्धकोटिप्रविस्तरः' । इति ।

अभिधानाभिधेययोश्च पर एव सम्बन्धः, तादात्म्यात्,—इति उक्तप्रायम् ।

शास्त्र में) 'भट्टारिका[1]-परा' अर्थात् परा-भट्टारिका = परा-शक्ति कहते हैं और यही इस ग्रन्थ का वर्ण्य विषय भी है। इसी के साथ सम्बद्ध होने के कारण इसका 'त्रीशिका, अर्थात् परात्रीशिका' यह नाम रखा गया है। हमारे गुरुओं को (त्रिंशिका के स्थान पर) 'त्रिशका' यह पाठ भी मान्य है। वे इस शब्द के अक्षरों की समानता के आधार पर इसका निर्वचन निम्न प्रकार से करते हैं—

'त्रिशका' वह मौलिक शक्ति है, जो कि (इच्छा, ज्ञान और क्रिया) इन तीन शक्तियों को विमर्शात्मक रूप में स्पन्दायमान बना देती है' ॥

यह समझना सरासर भूल है कि प्रस्तुत ग्रन्थ में तीस श्लोक हैं, अतः इसको 'त्रिंशिका' अर्थात् 'परात्रिंशिका' कहते हैं, क्योंकि यदि वैसा कोई अभिप्राय होता तो 'त्रिशका' शब्द से उसका बोध भी हो ही जाता। इस सम्बन्ध में तन्त्रसार में यह कहा गया है—

'हे देव[2]! आपने 'त्रिशका' शब्द का अभिप्राय डेढ़ करोड़ श्लोकों के विस्तार में समझा दिया है'।

प्रस्तुत ग्रंथ के नाम और वर्ण्य-विषय में तादात्म्य है, अतः इन दोनों का

---

१. भगवान् अभिनवगुप्त ने प्रस्तुत-शास्त्र में पराशक्ति के प्रति कल्पनातीत आदर-भावना को अभिव्यक्त करने के लिए 'परा-भट्टारिका' शब्द के स्थान पर 'भट्टारिका-परा' शब्द का बहुधा प्रयोग किया है।

२. तन्त्रसार इस समय अप्राप्य है। यहाँ पर प्रस्तुत किये गये उद्धरण से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि यह तन्त्र अपने समय में एक विशालकाय ग्रन्थ रहा होगा। यह भी ज्ञात होता है कि इस महान् ग्रन्थ में 'त्रिशका' शब्द का अभिप्राय कल्पनातीत विस्तार में समझाया गया था। यह बात भी सम्भव है कि इस ग्रन्थ में कहीं पर 'त्रिशका' शब्द से ही प्रस्तुत ग्रन्थ के तीस श्लोकों का अभिप्राय निकाला गया हो, जिसको दृष्टिपथ में रखकर भगवान् अभिनवगुप्त ने प्रस्तुत संदर्भ में इस श्लोकार्ध को उद्धृत किया है।

प्रयोजनं च सर्वप्रमातॄणां विभोः परशक्तिपातानुग्रह-वशोत्पन्नैतावदनुत्तर-ज्ञानभाजनभावानाम् इत्थं निजस्वरूपहृदयङ्गमीभावेन, निजामोदभरक्रीडाभासितभेदस्य निखिलबन्धाभिमततत्त्वव्रातस्य स्वात्मचमत्कारपूर्णाहन्तातादात्म्य-भैरवस्वरूपाभेदसमावेशात्मिका जीवित एव मुक्तिः,—प्राणदेहादिभूमावेव हि अन्तर्बहिष्करणविषयायां प्रेरणाख्यायाम् उद्योगबलजीवनादिरूपायां रूढस्य बन्धाभिमतेभ्यो मुक्तिः,—इति गीयते ।

त्रुटितेऽपि हि मायीये संस्कारमात्रे केयं मुक्तिवाचोयुक्तिः, किमपेक्षया वा ? इति । तदुक्तं श्रीस्पन्दे—

आपसी सम्बन्ध भी 'पर-सम्बन्ध' ही है, इस बात का पहले ही उल्लेख हो चुका है।

प्रयोजन के विषय में यह कहना है कि (जाति, धर्म, या वर्ण इत्यादि के भेद-भाव के बिना) सारे प्रमाताओं को, अपनी वास्तविक चिदानन्दरूपता अच्छी प्रकार से समझा कर, स्वरूप के आनन्द की घनता के खिलवाड से ही नाना प्रकार के रूपों में अवभासित किये हुए और बन्धक समझे जाने वाले तत्त्ववर्ग[1] को स्वरूपचमत्कार से परिपूर्ण अहंभाव के साथ तादात्म्य प्राप्त करवाने की प्रक्रिया के द्वारा भैरव-भाव के साथ एकाकार बनाकर, उसी में, समाविष्ट करवाने के रूप वाली जीवन्मुक्ति की अवस्था पर पहुँचाना ही प्रस्तुत ग्रन्थ का मात्र प्रयोजन है, परन्तु इसमें यह बात अतीव आवश्यक है कि वे प्रमाता भगवान् के तीव्रतम शक्तिपातरूपी अनुग्रह की प्रबलता से अनुत्तर-ज्ञान को हृदयङ्गम कर सकने के उपयुक्त पात्र बने हुए होने चाहिये। शैव शास्त्रों में यह बात डंके की चोट समझाई जाती है कि प्राण-प्रमातृभाव, देह-प्रमातृभाव और पुर्यष्टक-प्रमातृ-भाव में वर्तमान रहते हुए ही, अपनी अंतरङ्ग और बहिरङ्ग इंद्रियों को, उद्योग-बल और प्रयत्न का रूप धारण करने वाली प्रेरणा देने की अपार क्षमता प्राप्त करने से ही इन तथाकथित बन्धनों से छुटकारा मिल जाता है।

यदि (परमेश्वर के अनुग्रह और निजी उद्योगबल से) मायीय संस्कार केवल छिन्न-भिन्न ही हो जाएँ, तो उस अवस्था में भी मुक्ति की बातें करने या उसको प्राप्त करने की युक्तियों को समझाने का क्या प्रयोजन[2] है, अथवा किसको या

---

१. अनाश्रित शिव-तत्त्व से लेकर पृथ्वी-तत्त्व तक के सारे तत्त्व बन्धक समझे जाते हैं।

२. मायीय संस्कार अतीव प्रबल होते हैं। उनको छिन्न-भिन्न करने की युक्तियाँ समझाने तक ही सारे शास्त्र समाप्त हो जाते हैं, क्योंकि किसी भी प्रकार से उनका

'इति वा यस्य संवित्तिः क्रीडात्वेनाखिलं जगत् ।
स पश्यन् सततं युक्तो जीवन्मुक्तो न संशयः ॥'

इति । स्फुटीभविष्यति च एतत् अविदूर एव ।

'जहि जहि धावइ जंकुण तहि तहि बिअविअकाउ ।
अच्छन्त उपरिउणबिअपाय इहलइफलसिवणाओ ॥'

तदनेन स्वसंवेदनेन प्रयोजनम् एव अत्र सकल-पुमर्थपर्यवसानम्,—इति प्रयोजन-प्रयोजनानवकाशः । उक्तान्येव सम्बन्ध-अभिधेय-प्रयोजनानि ।

अथ ग्रन्थार्थो व्याख्यायते—'अनुत्तरम्' इति—

१. 'न विद्यते उत्तरम् अधिकं यतः ।' यथा हि तत्त्वान्तराणि षट्त्रिंशत्

किस अपेक्षा से उसको प्राप्त करना है ? इस सन्दर्भ में स्पन्द शास्त्र में कहा गया है :—

"मैं ही चतुर्दिक् स्पन्दायमान रहने वाला स्वरूप हूँ"—जिस योगी में इस प्रकार का संवेदन यथार्थरूप में उदित हुआ हो, वह सारे देह, प्राण और पुर्यष्टक रूपी जगत् को स्वरूप के ही खिलवाड़ के रूप में देखता हुआ, प्रति समय स्वरूप में ही अवस्थित होकर रहता है और इसमें कोई संशय नहीं कि वह सच्चा जीवन्मुक्त है ।

इस स्पन्दवचन के अनुसार निजी संवेदन को विस्तृत करने से, प्रत्येक प्रकार के पुरुषार्थ की चरमकोटि पर पहुँचाना ही प्रस्तुत शास्त्र का एकमात्र प्रयोजन है । अतः इस प्रयोजन से और किसी प्रयोजन को निकालने का तनिक भी अवकाश नहीं है । अस्तु, सम्बन्ध[1], विषय[2] और प्रयोजन[3] समझाये गये ।

अब 'अनुत्तरम्' इत्यादि मूल-सूत्र की व्याख्या प्रस्तुत की जा रही है—

'अनुत्तरम्' शब्द की सोलह प्रकार की व्याख्या ।

१.'अनुत्तर' वह पद है, जिससे और किसी तत्त्व की बढ़ती और भिन्नता नहीं है ।

छिन्न-भिन्न हो जाना ही मुक्ति कहलाती है । यदि किसी भाग्यशाली पुरुष के अन्तस् से मायीय संस्कार एक बार हट जाएँ तो उसके लिए मुक्ति की बातें समझाने वाले शास्त्रों के पुलन्दे और अभ्यास क्रम के सारे दाँव-पेंच बेकार हैं ।

१. पर-सम्बन्ध ।

२. 'भट्टारिका-परा' = पराशक्ति ।

३. जीवन्मुक्ति की अवस्था को प्राप्त करवाना ।

अनाश्रितशिवपर्यन्तानि परभैरवबोधानुप्रवेशासादिततथाभावसिद्धीनि संविदम् अधिकयन्ति, नैवं परा परिपूर्णा परभैरवसंवित्, तस्याः सदा स्वयमनर्गलानपेक्षप्रथाचमत्कारसारत्वात् ।

२. तथा—'न विद्यते उत्तरं प्रश्नप्रतिवचोरूपं यत्र'। यत एव हि महासंवित्सिन्धोः उल्लसदनन्तप्रतिभापर्यन्तधाम्नः, उल्लास्यप्रश्नप्रतिभानादिपात्रं भवति शिष्यः, तदेव वस्तुतः तत्त्वं सततोदितम्—इति किमिव आचार्यीयम् उत्तरम् अन्यत् स्यात् ?

३. 'उत्तरणम्' उत्तरो—भेदवादाभिमतोऽपवर्गः, स हि वस्तुतो नियतिप्राणतां न अतिक्रामति । तथाहि—प्रथमं शरीरात् प्राणभूमावनुप्रविश्य, ततोऽपि बुद्धिभुवम् अधिशय्य, ततोऽपि स्पन्दनाख्यां जीवनरूपताम् अध्यास्य, ततोऽपि

जिस प्रकार (पृथ्वीतत्त्व से लेकर) अनाश्रित शिव-तत्त्व तक के छत्तीस तत्त्व परम उत्कृष्ट भैरवीय-बोध के अन्तर्गत होने से ही अपने-अपने रूप में सत्ता प्राप्त किये हुये हैं और यही कारण है कि भैरवी-संवित् को अपने से बड़ाई प्रदान करने और उससे बिछुड़े हुए जैसे अलग रूप में प्रकाशित होने के लिये विवश हैं, उस प्रकार परारूप को धारण करने वाली पर भैरवीय संवित् ऐसा करने के लिए परवश नहीं है, क्योंकि वह स्वयं, प्रत्येक रूप में परिपूर्ण होने के कारण निर्बाध एवं अपेक्षा से रहित 'ज्ञानरूपता के चमत्कार'—अर्थात् अहंरूप में प्रसार की जीवनाधायिनी शक्ति है।

२. अनुत्तरम्—न विद्यते 'उत्तरम्' प्रश्नप्रतिवचोरूपं यत्र ।

'अनुत्तर' वह पद है, जिसमें प्रश्नरूपता और प्रतिवचनरूपता का कोई घोटाला नहीं है।

कृमिज्ञान से लेकर अनाश्रित शिवज्ञान तक प्रसार में आने वाले अनन्त ज्ञानों की परम्परा का एकमात्र विश्रान्ति-स्थान बने हुए जिस अपार संवित्-सागर से ही उठने वाली तरङ्गमाला का पात्र शिष्य बन जाता है, वही वास्तव में, हमेशा उदय की अवस्था में रहने वाला तत्त्व है। ऐसी परिस्थिति में (शिष्य के द्वारा पूछे जाने वाले प्रश्न का) आचार्यीय उत्तर इस संवित्-तत्त्व को छोड़कर और क्या होगा ?

३. अनुत्तरम्—न विद्यते 'उत्तरः' उत्तरणं—यत्र ।

'अनुत्तर' वह भूमिका है, जिसमें तथाकथित भूमिकायें पार करके तथाकथित अपवर्ग को प्राप्त करने का कोई बखेड़ा नहीं है। भेदवादियों की मान्यता

सर्ववेद्यप्रक्षयात्मशून्यपदम् अधिष्ठाय, ततोऽपि सकलमलतानवतारतम्यातिशय-धाराप्राप्तौ शिवत्वव्यक्त्या अणुरपवृज्यते,—आरोपव्यर्थत्वात् इति।

४. ईदृश एव, नाभि-हृत्-कण्ठ-तालु-ब्रह्मरन्ध्र-भैरवबिलाद्यधिष्ठानक्रम-प्राप्तः ऊर्ध्वतरणक्रमः 'उत्तरः'—

के अनुसार 'उत्तर'[1] शब्द का अर्थ पार उतरना है और उस पार उतरने को मोक्ष का नाम दिया जाता है। यदि तात्त्विक दृष्टि से देखा जाय तो इस प्रकार का 'उत्तर' भी प्रकृति के विधान का उल्लंघन करने में सक्षम नहीं है। कहने का अभिप्राय यह कि इस प्रक्रिया के अनुसार जीवात्मा पहले देह-प्रमातृभाव को लांघकर प्राण-प्रमातृभाव की भूमिका में प्रविष्ट हो जाता है। वहाँ से ऊपर उठकर बुद्धि-प्रमातृभाव पर आरूढ़ हो जाता है। इस भूमिका को भी पार करके स्पन्दना नाम वाली सामान्य प्राणनरूपता पर पहुँच जाता है। वहाँ से भी आगे बढ़कर प्रत्येक प्रकार के संकल्प-विकल्पात्मक प्रमेय पदार्थों की अभाव-रूपिणी शून्य-भूमिका पर प्रतिष्ठित हो जाता है। अनन्तर वह एक ऐसे उत्कर्ष पर पहुँच जाता है जो कि प्रत्येक मल की क्षीणता के तारतम्य की चरम सीमा है। यहीं पर उसमें शिवत्व अभिव्यक्त हो जाता है और वह अपवर्ग (मुक्ति) को प्राप्त कर लेता है, क्योंकि उसपर चढ़ी हुई उपाधियाँ निष्फल हो जाती हैं। इस प्रकार की यह भूमिकायें पार करने की बंधी-बंधाई लीक व्यर्थ ही है।

४. अनुत्तरम्—न विद्यते 'उत्तरः' ऊर्ध्वतरणक्रमः यत्र।

'अनुत्तर' वह पद है, जिसमें छः चक्रों को भेदन करके ऊपर सहस्रार-चक्र तक चढ़ने के क्रम को अपनाने का कोई प्रयोजन नहीं है।

(योग की प्रक्रिया में भी) ऐसा ही एक 'उत्तर' है और उससे क्रमपूर्वक [2]नाभि, हृदय, कंठ, तालु, ब्रह्मरन्ध्र और भैरवबिल (ऊर्ध्वकवाट् या सहस्रार चक्र) इन अधिष्ठानों (चक्रों) को लांघ कर ऊपर ऊपर चढ़ने का अभिप्राय लिया जाता है।

---

१. शैव सिद्धों की मान्यता यह है कि यदि किसी प्रमाता पर परमेश्वर का तीव्रतम शक्तिपात हो तो उसके हृदय में अकस्मात् और एक ही बार अनुत्तर तत्त्व की अभि-व्यक्ति हो जाती है। फलतः इस सम्बन्ध में किसी विशेष प्रकार की लीक को अपना कर एक के बाद दूसरी भूमिकायें पार करके किसी अपवर्ग नाम वाले पारीण क्षेत्र में पहुँच जाने जैसी कल्पनायें पनप नहीं सकतीं हैं।

२. योग-प्रक्रिया में प्रसिद्ध षट्-चक्रों के त्रिकशास्त्रीय नाम।

५. तथा—'उत्तरन्ति अतः'—इति 'उत्तरो' बन्धः—

६. उत्तरणम्—'उत्तरो' मोक्षः—

तद् एवंविधा 'उत्तराः' यत्र न सन्ति ।

७. 'उत्तरं' च शब्दनं, तत् सर्वथा—'ईदृशं, तादृशं' इति व्यवच्छेदं कुर्यात्, तत् यत्र न भवति अव्यवच्छिन्नम् इदम्—'अनुत्तरम्' ।

'इदम्' इत्यपि हि व्यवच्छिन्नोत्तरव्यवच्छेदप्राणमेव,—इति व्यवच्छेद-

---

५. अनुत्तरम्—न विद्यते 'उत्तरः' बन्धः यत्र ।

'अनुत्तर' वह पद है, जिसमें कोई भी तथाकथित बन्धक[१] वर्तमान नहीं है।

'उत्तर' शब्द का अर्थ बन्धक है और बन्धक संसार को माना जाता है, क्योंकि (विवेकशील) व्यक्ति इसको काट कर आगे चले जाते हैं ।

६. अनुत्तरम्—न विद्यते 'उत्तरः' मोक्षः यत्र ।

'अनुत्तर' वह पद है, जिसमें तथाकथित मोक्ष[२] जैसी कल्पना का भी कोई स्थान नहीं है।

'उत्तर' शब्द से मोक्ष का अभिप्राय भी लिया जाता है, क्योंकि यह (संसार-रूपी सागर को) पार करके प्राप्त की जाने वाली भूमिका की कल्पना है। फलतः जिस पद में इस प्रकार के उत्तर वर्तमान न हों, वही अनुत्तर-पद कहलाता है।

७. अनुत्तरम्—न विद्यते 'उत्तरं' शब्दनं यत्र ।

'अनुत्तर' वह पद है, जिसमें 'शब्दन' अर्थात् इयत्ताओं को जन्म देने वाले मानसिक ऊहापोह का टंटा नहीं है।

'उत्तर' शब्द का अभिप्राय 'शब्दन' अर्थात् मानसिक ऊहापोह भी है। वह सर्वथा—'यह वस्तु ऐसी है[३], वह वस्तु वैसी थी[४], इस प्रकार के रूपों वाली इयत्ताओं को जन्म देता है। इसको दृष्टिपथ में रखकर यदि यह परिभाषा स्थापित की जाये कि जहाँ इस प्रकार की इयत्तायें न हों, वैसा कोई व्यवच्छेदों

---

१. शैव-मान्यता के अनुसार जब सारा संसार अनुत्तर-तत्त्व का बहिर्मुखीन प्रसार मात्र है, तो वह बन्धक क्योंकर हो सकता है ?

२. जब कोई बन्धक ही वर्तमान नहीं तो मुक्ति की कल्पना का अवकाश ही कहाँ है ?

३. प्रत्यक्ष रूप में इयत्ता ।

४. परोक्ष रूप में इयत्ता ।

कत्वात् विकल्पात्मैव । अत एव यावत् अनुत्तरे रूपे प्रविविक्षुः मायीयः प्रमाता, तावत् कल्पित एव विशेषात्मनि ।

तत्र तु अविकल्पितं यद् अविनाभावि, तद्विना कल्पितरूपास्फुरणात्, तदेव वस्तुत 'अनुत्तरम्' । तत्र हि भावनादेः अनुपपत्तिरेव वस्तुतः,—इति भावना—करणोज्झितत्वमुक्तम्, न तु अनुपयुक्तित एव । तत् ईदृशम्—'अनुत्तरम्' व्यवहारवृत्तिष्वपि एवमेव,—इति ।

से रहित परन्तु 'पर-इदंभाव'[1] के रूप में ग्रहण किये जाने का विषय बना हुआ पद 'अनुत्तर' है, तो उसमें भी एक दोष उत्पन्न हो जाता है। वह यह कि 'इदं भाव' (चाहे वह पर-इदं भाव ही क्यों न हो) स्वयं भी इयत्तामूलक 'उत्तर' से जीवन पाता है। अतः इयत्ता का पिंड होने के कारण विकल्पात्मक ही है। फलतः ज्यों ही कोई माया की वशवर्तिता में पड़ा हुआ प्रमाता, अनुत्तर-तत्त्व को 'पर-इदंरूप' में वेद्य बनाकर उसमें प्रविष्ट होने की इच्छा करने लगे, त्यों ही यह बात परिलक्षित हो जाती है कि वह कल्पित और विशेष[2] आत्म-प्रतिभास पर ही टिका हुआ है।

यथार्थ तो यह कि उस कल्पित और विशेष आत्मा-प्रतिभास में जो विकल्प-हीन तत्त्व (सामान्य अहं-भाव) अनुस्यूत होकर, अविना-भाव[3] सम्बन्ध में अवस्थित रहता है वही वास्तविक अनुत्तर है, क्योंकि उसकी अविनाभाविता के बिना वह आत्म-प्रतिभास का कल्पितरूप कभी भी स्फुरणा में नहीं आता। वास्तविकता यह कि उस तत्त्व (सामान्य अहं-भाव) की अनुभूति प्राप्त करने में भावना अर्थात् समाधि इत्यादि का पचड़ा किसी काम का नहीं है। यही कारण है कि

---

१. 'यह घट है, यह पुस्तक है' इस प्रकार से संसार के सर्वसाधारण पदार्थों का जिस रूप में ग्रहण किया जाता है, वह साधारण 'इदं-भाव' कहलाता है। इसके प्रतिकूल यदि स्वरूप को ही 'यह स्वरूप है' इस प्रकार से वेद्य बना कर ग्रहण किया जाये तो उसको 'पर-इदं-भाव' कहा जाता है। अनुत्तर-तत्त्व की वास्तविक अनुभूति प्राप्त करने के लिए ये दोनों प्रकार के इदंभाव बेकार हैं, क्योंकि वह एक शाश्वतिक वेदक-तत्त्व होने के कारण वेद्य कैसे बन सकता है ? उसका साक्षात्कार केवल 'पर-अहंभाव' के रूप में ही हो सकता है।

२. आत्म-प्रतिभास सदा सर्वदा सामान्य रूप में ही अनुभव में आ जाता है।

३. 'अविना-भाव' सम्बन्ध वह है, जिसमें दो पदार्थ आपस में इस प्रकार घुलमिल कर अवस्थित हों कि उनका पृथक् किया जाना संभव ही न हो। उदाहरण के तौर पर पुष्प और परिमल का पारस्परिक सम्बन्ध 'अविना-भाव' कहा जा सकता है।

तदुक्तं मयैव स्तोत्रे—

'वितत इव नभस्यविच्छिदेव
प्रतनु पतन्न विभाव्यते जलौघः ।
उपवनतरुवेश्मनीध्रभागा-
द्युपधिवशेन तु लक्ष्यते स्फुटं सः ॥
तद्वत् परभैरवोऽतिसौक्ष्म्याद्
अनुभवगोचरमेति नैव जातु ॥
अथ देशाकृतिकालसन्निवेश-
स्थितिसंस्पन्दितकारकत्वयोगाः ।
जनयन्त्यनुभाविनीं चितिं ते
झटिति न्यक्कृतभैरवीयबोधाः ॥' इत्यादि ।

(श्री सोमानन्द पाद जैसे गुरुओं ने) भावना और करणोपासना के पचड़े का भूल जाना ही श्रेयस्कर बताया है और उनका यह कथन कोरा गपड़चौथ भी नहीं है। फलतः इस प्रकार का 'अनुत्त र-तत्त्व' प्रत्येक आदान-प्रदानात्मक लोकव्यवहार[1] में भी उल्लिखित रूप में ही वर्तमान है।

इस सम्बन्ध में मैंने स्वयं अपने एक स्तोत्र में—

यदि मूसलाधार वारिश गिर रही हो और उस झड़ी को खुले आकाश की ही पृष्ठभूमि पर देखने का प्रयास किया जाये तो वह सूक्ष्म होने के कारण कदापि दिखाई नहीं देती। इसके प्रतिकूल यदि उसी झड़ी को उपवन के वृक्षों,मकानों या छतों की ओलवियों की पृष्ठभूमि पर देखा जाए तो स्पष्ट रूप में दिखाई देती है।

× × ×

उसी प्रकार पर-भैरवरूपी प्रकाश भी सूक्ष्मातिसूक्ष्म होने के कारण अर्थात् देह, वुद्धि, पुर्यष्टक और शून्य इन चारों प्रकारों के प्रमातृभाव से अतिगत और सामान्य रूप होने के कारण, साक्षात् रूप में, कभी भी अनुभव में नहीं आ सकता है।

× × ×

हे भगवन् ! ऐसी परिस्थिति में देश, आकार, समय, संरचना, दशा और

---

१. इस कथन का तात्पर्य यह कि यदि कोई व्यक्ति यथार्थरूप में अवधानात्मक स्वभाव पर प्रतिसमय स्थिर रहने का अभ्यास करता रहे तो उसको भावना या करणोपासना के झमेले में पड़ने के बिना प्रत्येक प्रकार का आदान-प्रदानात्मक लोकव्यवहार करते करते भी अनुत्तर-तत्त्व की उपलब्धि हो सकती है।

तथा च वक्ष्यते—'उत्तरस्याप्यनुत्तरम्' इति । व्याख्यास्यते च एतत् ।

८. एवम् एव नरात्मनः शाक्तम् उत्तरं; ततोऽपि शाम्भवं; तेष्वपि भूततत्त्वात्ममन्त्रेश्वरशक्त्यादिभेदेन स्वात्मन्येव उत्तरोत्तरत्वं; भूतादिषु अपि पृथिव्यादिरूपतया, जाग्रत उत्तरं स्वप्नः; ततः सुप्तं ततः तुर्यं; ततोऽपि तदतीतं, जाग्रदादिष्वपि स्वात्मन्येव चतुरादिभेदतया उत्तरोत्तरत्वम् ।

चेष्टा इत्यादि प्रकारों की उपलब्धियों के द्वारा सम्पन्न होने वाले कारक-सम्बन्ध ही आपके पर-भैरवीय-बोधात्मक प्रकाश की तीव्रतम छटा को धीमी और सह्य बनाकर, अंतरतम में, आपको अनुभव करानेवाली चेतना का उदय करा देते हैं ।

इत्यादि बातें कही हैं । इसके अतिरिक्त इस सम्बन्ध में आगे 'उत्तर का भी अनुत्तर' इत्यादि सूत्रों का उल्लेख होगा और इस विषय की मीमांसा की जायेगी ।

८. अनुत्तरम्—न विद्यते 'उत्तरं' उत्तरत्वं यत्र ।

अनुत्तर वह पद है, जिसमें सापेक्ष उत्कर्षों का कोई महत्त्व नहीं है । ऊपर की तरह ही यह भी कहा जाता है कि आणव-उपाय से शाक्त और शाक्त-उपाय से शांभव उत्कृष्ट है । उन शांभव[1] उपायों में भी भूत, तत्त्व, मन्त्र, मन्त्रेश्वर शक्ति इत्यादि रूपों में, अपने आप में ही, उत्तरोत्तर उत्कर्ष स्वीकारा जाता है । पाँच महाभूतों में भी पृथिवी इत्यादि रूपों में, आपस में, सापेक्ष उत्कर्ष पाया जाता है । जाग्रत् की अपेक्षा स्वप्न, स्वप्न की अपेक्षा सुषुप्ति, सुषुप्ति की अपेक्षा तुर्या और तुर्या की अपेक्षा तुर्यातीत अवस्था उत्कृष्ट पाई जाती है । जाग्रत्[2]

---

१. शाम्भव उपाय पचास प्रकार के माने गये हैं । इस सम्बन्ध में तंत्रालोक का पहला आह्निक द्रष्टव्य है ।

२. जाग्रत् आदि अवस्थाओं के चार चार भेद इस प्रकार हैं :—

१. जाग्रत्, जाग्रत्-जाग्रत्, जाग्रत्-स्वप्न, जाग्रत्-सुषुप्ति ।

२. स्वप्न, स्वप्न-जाग्रत्, स्वप्न-स्वप्न, स्वप्न-सुषुप्ति ।

३. सुषुप्ति, सुषुप्ति-जाग्रत् सुषुप्ति-स्वप्न, सुषुप्ति-सुषुप्ति ।

शास्त्रों में इनके भी पारस्परिक उत्कर्ष या अपकर्ष की लम्बी चौड़ी मीमांसा प्रस्तुत की गयी है । तुर्या अवस्था मौलिक चेतना होने के कारण इन सारे अवस्था भेदों में समानरूप में व्याप्त रहती है । अतः वह अपेक्षा के क्षेत्र से बाहर है । तुर्यातीत अवस्था

तदेतत् श्री पूर्वपञ्चिकायां मयैव विस्तरतो निर्णीतम्, इह अनुपयोगात् ग्रन्थगौरवाच्च न वितत्य उक्तम्। तद् ईदृशम् औत्तराधर्यद्वैतसंमोहाधायि—'उत्तरत्वम्'।

९. तथा विप्र-राजन्य-वैश्य-शूद्रान्त्यजातिविभागमयम् ऊनाधिकत्वं यत्र न स्यात्,—भावप्राधान्यम् उत्तरशब्दस्य।

१०. 'उत्तराः' पश्यन्त्याद्याः शक्तयः—

११. अघोराद्याः—

१२. पराद्याः—

ताः यत्र न स्युः।

आदि अवस्थाओं में भी, अपने आप में ही, अलग अलग चार-चार भेदों में सापेक्ष उत्तरोत्तरता वर्तमान है।

इस समूचे प्रपञ्च का वर्णन मैंने स्वयं ही श्रीपूर्वपञ्चिका[1] नामक शास्त्र में विस्तारपूर्वक किया है। प्रस्तुत स्थल पर अनुपयोगी होने और ग्रंथ के कलेवर में अनपेक्षित गौरव होने के कारण उतने विस्तार से उल्लेख नहीं किया गया। कहने का तात्पर्य केवल इतना कि इस प्रकार की सापेक्ष[2] उत्तरोत्तरता का गोरखधन्धा भेदभावना से जनित मोह में ही धकेलने वाला है।

(९) **अनुत्तरम्——न विद्यन्ते 'उत्तराः'——(शक्तिभेदाः) यत्र।**

अनुत्तर वह पद है, जिसमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और अन्त्य जाति (चाण्डाल इत्यादि) इस प्रकार के जातिविभाग पर आधारित 'नीची और ऊँची जात' का कोई भी बखेड़ा नहीं है। प्रस्तुत संदर्भ में 'उत्तर' शब्द भाववाचक है।

(१०–११–१२) **अनुत्तरम्—न विद्यन्ते 'उत्तराः' (शक्तिभेदाः) यत्र।**

अनुत्तर वह पद है, जिसमें—

कोई अलग अवस्था नहीं है, प्रत्युत तुर्यापद पर स्थिरता प्राप्त करने को ही तुर्यातीत-अवस्था में प्रविष्ट होना कहा जाता है। 'स्पन्द-कारिका' भट्टकल्लट वृत्ति के हिन्दी अनुवाद में इस विषय पर यावत्-शक्य प्रकाश डाला गया है।

१. यह ग्रन्थ इस समय प्राप्त नहीं है।

२. संसार का प्रत्येक जड़ अथवा चेतन भाव अपनी अपनी जगह पर एक एक सापेक्ष उत्कर्ष या अपकर्ष है। इस सापेक्षता की नागिन ने अपने विषभरे फूत्कारों से ठीक अनाश्रित-शिव-तत्त्व से लेकर अन्तिम पृथिवी तत्त्व तक के विस्तार वाले जड़-चेतनात्मक विश्व के अणु अणु को मूर्च्छित करके रखा है। केवल अनुत्तर-पद ही ऐसा पद है, जहाँ सारी अपेक्षायें भी अनुत्तर-भाव में ही निलीन हो जाती हैं।

१३. 'नुद प्रेरणे' इत्यस्य नोदनं नुत्, तया तरणं दीक्षाक्रमेण तरः,— 'शिष्यचैतन्ये गुरुचैतन्यं प्रेर्यते—तेन हंसप्राणादिशून्यविषुवत्प्रभृतिस्थानभेद-परिपाट्या, सकले निष्कलेऽपि वा, पूर्णाहुतियोजनिकादिस्थितया मोक्षदां दीक्षां विधत्ते।

---

१. 'उत्तर' अर्थात् पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी,

२. अघोरा, घोराघोरा, घोरा और

३. परारूपिणी, सूक्ष्मरूपिणी, स्थूलरूपिणी—इस प्रकार से शक्ति के कपोल-कल्पित भेदों के घोटाले नहीं हैं।

१३. अनुत्तरम्——न भवति 'नुदा'—प्रेरणेन, 'तरः'–तरणं यत्र। (अ + नुत् + तरः)

अनुत्तर वह पद है, जहाँ शिष्य को दीक्षा-क्रम के धक्के से ठेलकर पहुँचाया नहीं जा सकता है।

'नुत्' इस शब्द-खण्ड का अर्थ प्रेरणा देना है, क्योंकि यह प्रेरणार्थक 'नुद्' धातु से व्युत्पन्न है। 'तर' इस शब्द-खण्ड का अर्थ उस प्रेरणा से अर्थात् (तंत्र शास्त्रों में वर्णित) दीक्षा के क्रम से पार उतरवाना है। इसका अभिप्राय यह कि शिष्य की अप्रबुद्ध चेतना में गुरु की प्रबुद्ध चेतना का संक्रमण किया जाता है। इस क्रम के अनुसार कोई योग्य गुरु, 'हंस'[1] इस प्रकार स्वाभाविक उच्चारण का रूप धारण करने वाले प्राण एवं अपान के संचार से रहित, अर्थात् विषुवत्[2] और अभिजित्[3] नामवाले संधिकालों की परिपाटी[4] का अनुसरण करके

---

१. 'हंस' शब्द स्वरूप का वाचक है। योगिक-प्रक्रिया के अनुसार एक प्राणाचार अर्थात् एक श्वास-प्रश्वास में इस शब्द का उच्चारण पूरा हो जाता है। फलतः प्रत्येक प्राणी स्वाभाविक रूप में शब्द का रात-दिन जप करता रहता है, क्योंकि उसकी प्राणगति में 'हं' और अपानगति में 'सः' का स्वाभाविक उच्चारण पूरा हो जाता है।

२. दीक्षाक्रम में प्राणगति के अन्त और अपानगति के आदि, अर्थात् इन दोनों गतियों के अन्तरालवर्ती संधिक्षण को 'विषुवत्' काल कहते हैं।

३. अपानगति के अन्त और प्राणगति के आदि, अर्थात् अपान और प्राण के अन्त-रालवर्ती संधिक्षण को 'अभिजित्-काल' माना जाता है। विषुवत् और अभिजित् नाम-वाले संधिक्षणों में स्वरूप की स्पन्दना का आभास सरलता से प्राप्त हो सकता है।

४. समर्थ गुरु एक एक प्राणाचार में ही निष्पन्न होने वाले विषुवत् और अभिजित् नामवाले संधिक्षणों को अतीव कुशलता से भाँप कर उसी क्षण पर शिष्य की अप्रबुद्ध चेतना में अपनी प्रबुद्ध चेतना का संक्रमण विद्युत्-गति से कर लेते हैं।

तत् अत्र चैतन्यस्य स्वप्रकाशस्य व्यापिनो देशकालाकारविशेषाविशेषितस्य कथङ्कारम् इमा विडम्बनाः ? तत् एवंविधो—'नुदा प्रेरणेन, तरः तरणं यत्र न भवति',—तद् 'अनुत्तरम्' । यत् वक्ष्यते—

'एवं यो वेत्ति तत्त्वेन तस्य निर्वाणगामिनी ।
दीक्षा भवति···· ··· ···· ···· ···· ···· ···· ॥'

इति ।

अर्थात् 'चलन'[1] को भली-भाँति भांप कर, अपने शिष्य को, पूर्णाहुति के द्वारा शिव-भाव में एकाकार[2] हो जाने की स्थिति पर पहुँचाकर, 'सकल'[3] रूप में या 'निष्कल'[4] रूप में मोक्ष प्रदान करने वाली दीक्षा[5] देता है ।

परन्तु इस अनुत्तर मार्ग में, स्वभाव से ही प्रकाशमान, सर्व-व्यापक और देश, काल एवं आकार की विशेषताओं से विशिष्ट न बन सकने वाले चित्-तत्त्व को इस प्रकार की विडम्बनाओं का पात्र क्योंकर बनाया जा सकता है ? फलतः इस प्रकार की प्रेरणाओं से जहाँ पार उतारा नहीं जा सकता, वही 'अनुत्तर-पद' है । इस सम्बन्ध में आगे चलकर बताया जायेगा—

---

१. 'चलन' विषुवत् या अभिजित् के उस काल को कहते हैं, जब दिन-रात बराबर हो जाते हैं । योग-क्रम में भी प्राणीय संचारों में 'चलन' आते जाते रहते हैं ।

२. दीक्षाओं में एक दीक्षा का नाम 'निर्वाण-दीक्षा' है । तन्त्र-शास्त्रों में इसको 'शिवयोजनारूपा' अर्थात् शिवभाव के साथ एकाकार बनाने वाली दीक्षा कहा गया है । विशेष जानकारी के लिए तन्त्रालोक का पंद्रहवां आह्निक द्रष्टव्य है ।

३. जो शिष्य स्वयं मुक्त होने के साथ साथ जगत् का भी उद्धार करने का इच्छुक हो, उसको दी जाने वाली दीक्षा को 'सकल-दीक्षा' कहते हैं । इस दीक्षा के द्वारा उसके आगामी और संचित कर्मों का नाश तो किया जाता है, परन्तु प्रारब्ध कर्म संचित रखे जाते हैं । इन्हीं प्रारब्ध कर्मों के आधार पर वह कुछ समय तक जगत् का उद्धार करने के लिए पार्थिव काया में बना रहता है ।

४. जिस शिष्य को केवल स्वयं ही मुक्त होने की इच्छा हो, उसको 'निष्कल-दीक्षा' दी जाती है । इस दीक्षा के द्वारा उसके तीनों ही प्रकार के कर्म-फलों का नाश किया जाता है । परिणामतः वह दीक्षा प्राप्त करने के अनन्तर ही पार्थिव शरीर को छोड़कर शिवभाव में निलीन हो जाता है ।

५. यहां पर 'मोक्षदा दीक्षा' से निर्वाण का अभिप्राय लिया जाता है ।

१४. अनिति श्वसिति इति क्विपि अन्—'अणुः' आत्मा देहपुर्यष्टकादिः, तथा अननं जीवनम्, अन्—देहाद्यन्तर्गतैव भिन्नभिन्नशक्त्याद्यहन्ताशून्यप्राया जीवनाख्या वृत्तिः, यः 'शून्यप्रमाता' इति अभिहितः, तस्यैव उत्तरत्वं सर्वतः परमार्थतया आधिक्यं यत्र—भैरवैकमयत्वात् ।

"जडाजडभरिते जगति जडैः जीवदेकमग्नैः स्थीयते। जीवतां च जीवनं नाम प्रागुक्तं ज्ञानक्रियारूपम् एकं पारमेश्वर्यं सर्वेषां, परत्रापि स्ववत् । देहादिरेव पृथक्तया भाति । यत् पुनः प्राणनं तद् अभेदेनैव स्वप्रकाशम्, एतत् एव च परमार्थः ।

इस प्रकार से जो कोई भी साधक, यथार्थ रूप में, स्वरूप का परिचय प्राप्त करे, उसके लिए वह आत्म-परिचय[१] ही 'निर्वाण-दीक्षा' बन जाता है।

१४. अनुत्तरम्—'अनिति' अन्, तस्यैव उत्तरत्वं यत्र ।

'अन्' धातु का अर्थ सांस लेना है। (संस्कृत व्याकरण के नियमानुसार) इसके साथ 'क्विप्' प्रत्यय लगाने से इसका 'अन्' यह रूप बन जाता है। यह 'अन्' शब्द अणु अर्थात् जीवात्मा का द्योतक है, क्योंकि वह शरीर, प्राण और पुर्यष्टक में अवस्थित रहकर प्रतिसमय सांस लेता रहता है।

इसके अतिरिक्त इसी 'अन्' शब्द का अर्थ प्राणना भी है। इस अर्थ के आधार पर यह शब्द शून्य-प्रमातृ-भाव में अवस्थित रहने वाली आत्मा का भी द्योतक है। शून्य-प्रमातृ-भाव में आत्मा श्वास-प्रश्वास के बिना केवल प्राणना के रूप में अवस्थित रहती है। यह प्राणना अथवा दूसरे शब्दों में 'जीवना' नाम वाली वृत्ति शरीर, प्राण और पुर्यष्टक के भी अन्तरतम में वर्तमान रहकर, भिन्न-भिन्न प्रकार की इन्द्रिय-शक्तियों पर अधिष्ठित रहने वाले—'मैं सुखी हूँ' 'मैं मोटा हूँ' इत्यादि प्रकारों वाले बहिर्मुखीन अहंभावों से 'शून्य' होती है। इसी भाव पर अवस्थित रहने वाली आत्मा को 'शून्य-प्रमाता' कहा जाता है। फलतः जिस अवस्था में, दूसरे देहादि की अपेक्षा इस 'अन्' का ही सर्वतोमुखी और पारमार्थिक उत्कर्ष पाया जाता हो, वही 'अनुत्तर-पद' है, क्योंकि इस अवस्था में आत्मा भैरवरूपता के साथ एकाकार बनी होती है।

इस सारे कथन का तात्पर्य यह कि जड और चेतन पदार्थों से खचाखच भरे हुए विश्व में जितने भी जड़ पदार्थ हैं, वे केवल जीवित भावों का आश्रय मिल

---

१. स्वरूप-उपलब्धि हो गई तो हो गई, फिर दीक्षाओं के मोल-तोल या लेन-देन का प्रयोजन ही क्या है?

यदुक्तं श्रीमद्उत्पलदेवपादैः—

'ज्ञानं क्रिया च भूतानां जीवतां जीवनं मतम् ।' इति ।

तथा च 'जीवनं ज्ञानक्रिये एव' इति ।

१५. 'अ' इति या च इयम् अमायीय-अश्रौत-नैसर्गिक-महाप्रकाशविश्रान्त-निस्तरङ्ग-चिदुदधिस्वात्मचमत्काररूपा, शाक्तोल्लासमय-विश्वामर्शनरूप-परिपूर्णाहंभाव-प्रथमपर्यवसानोभय-भूमिगा कला, तस्या एव वक्ष्यमाणनयेन या इयं 'नुत्'—विसर्गान्तता, तस्या एव 'तरः'—प्लवः सर्वोपरिवृत्तित्वं यत्र ।

जाने से ही अपने-अपने रूप में सत्ता प्राप्त कर लेते हैं। जहाँ तक जीवित भावों का सम्बन्ध है, उन सबों में निश्चयपूर्वक वही पूर्वोक्त एक ही रूप वाला परमेश्वरता का परिचायक ज्ञान-क्रियात्मक जीवन व्याप्त रहता है और यह व्यापकता एक जीवित प्रमाता को जैसी अपने में उपलब्ध होती है, ठीक वैसी ही दूसरे में भी होती है। केवल शरीर, प्राण और पुर्यष्टकों में ही पृथक्-पृथक् रूपता और आत्म-तत्त्व से भिन्नता पाई जाती है। प्राणना तो प्रत्येक जीवित-पिंड में आत्म-रूपता के साथ अभिन्न रूप में ही प्रकाशमान रहती है और यही वास्तविकता भी है। इस सन्दर्भ में श्रीमान् उत्पलदेव का कथन है—

'ज्ञान और क्रिया ही जीवित प्राणियों में अन्तर्निहित वास्तविक जीवन-तत्त्व माना गया है।'

और 'यही बात सही भी है कि ज्ञान और क्रिया ही वास्तविक जीवन-तत्त्व हैं।'

१५. अनुत्तरम् = 'अ' कलाया या 'नुत्'-विसर्गान्तता, तस्या एव 'तरः' यत्र ।
(अ + नुत् + तरः)

'अ' इस प्रकार की जो कला, अर्थात् अनुत्तर-शक्ति है, इसका वास्तविक रूप अमायीय, शास्त्रों में वर्णन किये जाने के अयोग्य और नैसर्गिक एवं महान् प्रकाशपुञ्ज में ही विश्रान्त होकर वर्तमान रहने के कारण चित्–समुद्र का किसी भी तरंगायमानता से हीन स्वरूप-चमत्कार ही है। भाव यह कि वास्तव में यह अपनी ही प्रसारात्मिका आनन्दमयता का स्वयं ही आनन्द लेने वाली 'अहंरूपिणी कला' है। यही कला 'शाक्त[1]-उल्लास' अर्थात् निजी शक्तिरूपता के सर्वाङ्गीण प्रसार को परिलक्षित कराने वाले और विमर्शात्मक स्पन्द में ही समूची विश्वा-

---

१. जिस अवस्था में पराशक्ति बहिर्मुख होकर समूचे विश्वरूप में प्रसार करती है, उसको शास्त्रीय शब्दों में शाक्त-उल्लास या शाक्त-प्रसर कहते हैं।

१६. अविद्यमाना देश-काल-गमनागमनादि-द्वैत-सापेक्षा 'नुत्' प्रेरणा क्रमात्मकक्रियामयी यत्र तद् 'अनुत्', आकाशादि लोक-प्रसिद्धया, ततोऽपि सातिशयम् 'अनुत्तरम्'।

'तस्यापि हि आकाशादेः संयोगि-घटादि-विचित्रोपाधिवशात् समवायि-शब्दादि-योगात् च स्यादपि ईदृशी सक्रमा क्रिया। संवित्-तत्त्वे तु सर्वतः अनवच्छिन्न-पूर्ण-स्वातन्त्र्यैश्वर्यसारे, विच्छिन्न-चमत्कारमय-विश्रान्त्या स्वीकृत-

त्मकता की सम्पन्नता को द्योतित कराने वाले पूर्ण 'अहंभाव'[1] की पहली कोटि 'अ' और अन्तिम कोटि 'ह' इन दोनों में समान[2] रूप से व्याप्त रहती है। आगे बताई जाने वाली रीति के अनुसार जिस पद में इसी 'अ-कला' की प्रेरणामयी विसर्गान्तता[3] का सर्वतोमुखी साम्राज्य छाया रहता हो, वही 'अनुत्तर-पद' है।

१६. अनुत्तरम् = अविद्यमाना 'नुत्'—क्रमात्मक क्रियामयी प्रेरणा यत्र तत् 'अनुत्' ततोऽपि सातिशयम्।

अनुत्तर-धाम तो वही है, जिसमें (आम संसार-भाव की तरह) सक्रम क्रिया-त्मकता से जनित प्रेरणा के लिये कोई अवकाश न हो और जो आकाश एवं शून्य इत्यादि से भी उत्कृष्ट हो।

लोकप्रसिद्धि के अनुसार 'अनुत्' शब्द से आकाश इत्यादि का अभिप्राय लिया जाता है, क्योंकि आकाश अथवा शून्य में देश, काल, आना जाना इत्यादि प्रकार के द्वन्द्वों की अपेक्षा से युक्त और क्रमिक क्रियात्मकता की हलचल देखने में नहीं आती। परन्तु जिस पद में इस आकाश इत्यादि से भी अतिशय पाया जाये, वही 'अनुत्तर-पद' है।

इस कथन का तात्पर्य यह कि उस आकाश इत्यादि में भी, उसके साथ सम्पर्क में आने वाले घट, पट इत्यादि पदार्थों की विचित्र अर्थात् देश-काल

१. शास्त्रीय परिपाटी में शाक्त-प्रसर को ही 'अहं-भाव' कहते हैं, अर्थात् 'अ-कला' अथवा अनुत्तर-तत्त्व का 'ह-कला' अथवा शक्तिभाव पर अवरोहात्मक प्रसार।

२. यद्यपि अनुत्तर-तत्त्व निजी अवरोहक्रम में शक्ति-भाव और नर-भाव तक प्रसार करता है, परन्तु तो भी वह निजी अनुत्तर-भाव से कभी भी वियुक्त नहीं होने पाता, अतः इस स्थिति को शास्त्रीय शब्दों में इस प्रकार अभिव्यक्त किया जाता है कि सारे 'अहं-भाव' में 'अ-कला' ही समान रूप से व्याप्त होकर वर्तमान है।

३. आगे 'खेचरीसमताम्' इस श्लोकांश की व्याख्या में विसर्गान्तता का स्पष्टी-करण होगा।

शङ्क्यमान-उपाधिभाव-सकलेदन्तास्पद-भावपूग-परिपूरिताहमात्मनि, निराभासे सदाभासमाने, स्वीकार-आभासीकृत-अनाभासे, इदन्ताभास-तदनाभास-सारे, देशकालापेक्षाक्रमाभावात्, अक्रमैव स्वात्म-विमर्श-संरम्भमयी, मत्स्योदरीमतादि-प्रसिद्धा 'विमर्शाभिधा क्रिया'—इति तदेव 'अनुत्तरम्'।

इत्यादि अवच्छेदों से संकुचित, उपाधियों का रंग चढ़ जाने अथवा स्वतः आकाश में ही समवाय-सम्बन्ध से वर्तमान रहने वाली शब्दात्मकता से इस प्रकार की क्रमिक क्रियात्मकता की हलचल कभी पैदा हो सकती है। इसके प्रतिकूल संवित्-तत्त्व तो—

१. सर्वतोमुखी रूप में इयत्ताओं से रहित होकर परिपूर्ण स्वातन्त्र्य और ईश्वरता का निचोड़ है।

२. (यह घट है, यह पट है, इस प्रकार की) इयत्ताओं का विषय बने हुये स्वरूप विस्तार के चमत्कार को भी अपनाने से, स्वयं ही स्वीकारी हुई शंक्यमान[1] उपाधियों का रूप धारण करने वाले समूचे 'इदं-भाव' का विषय बनी हुई भावराशियों से भरपूर होने के कारण पूर्ण 'अहंरूप' है।

३. वास्तव में एक ओर स्वरूपतः आभासमानता से हीन, अर्थात् नित्यतृप्त होने के कारण किसी भी प्रकार की आकांक्षा की हलचल से रहित होने पर भी, दूसरी ओर हमेशा विश्वात्मक रूप में आभासमान है।

४. जगत्-रूपी इदंभाव को अपनी ही उपाधि के रूप में अङ्गीकार करके, अपने आभासहीन रूप को ही, (अनाश्रित शिव-तत्त्व से लेकर पृथिवी-तत्त्व तक) आगे विकास में आने वाले शेष-जगत् के रूप में भासमान बनाता है।

५. (यहाँ पर इस समय घट ही है, पट नहीं, इन प्रकारों में) इदं-भाव की युगपत् आभासमानता और अनाभासमानता में स्पंदित होते रहना ही इसका सार है।

ऐसे संवित्-तत्त्व में, 'मत्स्योदरीमत' इत्यादि शास्त्रों में विख्यात 'विमर्श' नामवाली एक ऐसी लोकोत्तर क्रियात्मकता वर्तमान है, जो कि हमेशा क्रम से रहित है, क्योंकि इसमें देश एवं काल की अपेक्षा बुद्धि से जनित क्रम का पूर्ण

---

१. भविष्य में जिस वस्तु के विकास में आने की आशंका हो, उसको 'शंक्यमान' कहा जाता है। प्रस्तुत संदर्भ में अनुत्तर-तत्त्व अपनी बहिर्मुखीन प्रसार की प्रक्रिया की पहली ही कोटि पर अनाश्रित-शिव का रूप धारण करके आगे विकास में आने वाले प्रमेय-भाव का एकदम निषेध करने पर भी, तत्काल ही, शक्ति का रूप धारण करके उसी को, अपनी ही उपाधि के रूप में स्वीकार कर लेता है। इसी अवस्था को यहाँ 'शंक्यमान की स्वीकृति' का नाम दिया गया है।

अतिशयमात्रे तमपो विधिः। द्विवचनविभक्त्युपपदे अत्र तरप्। तत्र 'अयं शुक्लः, अयं शुक्लः, अयम् अनयोः अतिशयेन शुक्लः'—इति वाक्ये अयमर्थः— 'अनयोः शुक्लयोः मध्यादयं सातिशयः शुक्लः = शुक्लतरः'। 'एषां तु शुक्लानाम् अयम् अतिशयेन शुक्लः'—इति कोऽयम् अधिकोऽर्थः? तथाहि—'अयं प्रासादः शुक्लः, अयं पटः शुक्लः, अयं हंसश्च शुक्लः, एषां सातिशयः = शुक्लतमः'—इति। तत्र प्रासादोऽपि शुक्लः, पटोऽपि शुक्लः, हंसश्च शुक्लः,—इति किमिवाधिकम् उक्तं स्यात् 'तमपि' प्रत्यये? एवंविधवाक्यकरणम् अयुक्तमेव। न हि तरपः तमप् अधिकं अतिशयम् अभिदध्यात्।

अभाव है और स्वरूप-विमर्श का स्पन्दन ही इसका मात्र रूप है। इस कारण से यही तत्त्व अनुत्तर-पद है।

'अनुत्तरम्' इस शब्द में अतिशयवाची 'तमप्' प्रत्यय लगाकर 'अनुत्तमम्' यह रूप बनाने के बदले तुलनावाची 'तरप्' प्रत्यय लगाकर 'अनुत्तरम्' यह रूप बनाये जाने की सार्थकता।

'तमप्' प्रत्यय किसी पदार्थ के एकान्त अतिशय का बोध कराने के अर्थ पर लगाया जाता है। यहाँ पर (अनुत्तर शब्द में) दो पदार्थों के तुलनात्मक विभाग को अभिव्यक्त करने के अभिप्राय से ही 'तरप्'[1] प्रत्यय का प्रयोग किया गया है। इस सम्बन्ध में यदि ऐसा कहा जाये कि—'यह एक वस्तु सफेद है, यह दूसरी वस्तु सफेद है, इन दोनों में यह एक अतिशय से सफेद है'—तो इस वाक्य का यह अभिप्राय होगा कि—'इन दो वस्तुओं में से यह एक अतिशय से सफेद होने के कारण 'शुक्लतर' है।' अब यदि ऐसा कहा जाये कि—'इन बहुत सी सफेद वस्तुओं में से यह एक वस्तु अतिशय से सफेद है', तो इस कथन में पहले प्रकार के कथन की अपेक्षा कौन सा विशिष्ट अर्थ ध्वनित होता है? तात्पर्य यह कि—'यह महल सफेद है, यह कपड़ा सफेद है और यह हंस भी सफेद है। इनमें से जो अतिशय से सफेद हैं, वह 'शुक्लतम' है,—तो इस कथन में जब महल भी सफेद, वस्त्र भी सफेद और हंस भी सफेद है, तब किसी एक को 'शुक्लतम' अर्थात् तमप् प्रत्यय जोड़कर विशिष्ट बनाने में कौनसा अधिक अभिप्राय बताया जाता है? फलतः इस प्रकार के वाक्यों की संरचना करने में कोई तुक नहीं,

---

१. उत्तररूपी इदं-भाव और अनुत्तररूपी अहं-भाव में तुलनात्मक विभाग के द्वारा अनुत्तर की ही विशिष्टता को द्योतित करने के अर्थ पर 'तरप्' प्रत्यय का प्रयोग किया गया है।

एवं तु तावत् स्यात्—अविवक्षिते प्रतियोगिविशेषे तमप्प्रयोगः, प्रतियोगिविशेषापेक्षायां तु तरप्। प्रतियोग्यपेक्षैव द्विवचनविभक्त्युपपदार्थः। एक एव हि प्रतियोगी भवेत्। 'अनयोः अयं शुक्लः अतिशयेन'—इति न तृतीयः प्रतीयते —निर्धारणार्थेन प्रथमस्य एव प्रतियोगित्वावगतेः। न च 'द्विप्रभृत्यपेक्षा भवति एकस्य, युगपद् एकैकापेक्षा मता'—इति तस्य क्रमेण न अधिकोऽर्थः कश्चित्।

क्योंकि 'तमप्' प्रत्यय 'तरप्' प्रत्यय की अपेक्षा किसी विशेष अतिशय को द्योतित करने में सक्षम[1] नहीं है।

हाँ ऐसी परिस्थिति में यह बात संगत लगती है, जहाँ किसी विशेष जोड़ीदार को द्योतित किये जाने का अभिप्राय न हो वहाँ 'तमप्' प्रत्यय का प्रयोग किया जाता है और जहाँ पर किसी खास जोड़ीदार को द्योतित किये जाने की अपेक्षा हो वहाँ 'तरप्' प्रत्यय लगाया जाता है। दो वस्तुओं में तुलनात्मक विभाग को अभिव्यक्त किये जाने के मूल में जोड़ीदार को द्योतित करने की अपेक्षा ही कार्यनिरत होती है। जोड़ीदार तो एक ही वस्तु बन सकती है, उदाहरणार्थ—'इन दो सफेदों में से यह एक अतिशय से सफेद है'—इस परामर्श में दो व्यक्तियों के अलावा किसी तीसरे का बोध नहीं होता। इसका कारण यह कि दूसरे को निश्चित रूप में अतिशयशाली ठहराने से पहले में प्रतियोगिता की वर्तमानता पाई जाती है। (तुलनात्मक विभाग के लिए एक ही क्षण पर) दो से अधिक वस्तुओं की अपेक्षा रहती ही नहीं, क्योंकि यह निर्विवाद तथ्य है कि युगपत् अर्थात् बिल्कुल एक ही कालखण्ड पर, एक वस्तु की प्रतियोगिता[2]

---

१. यहां पर आचार्य जी यह सिद्ध करना चाहते हैं कि वास्तव में यह तरप् और तमप् प्रत्ययों का चक्कर तो केवल मानवकल्पना से निकली हुई माथापच्ची है। उदाहरणार्थ—'इन दो सफेद वस्तुओं में यह एक शुक्लतर है और इन बहुत सी सफेद वस्तुओं में यह एक शुक्लतम है'—इन दो परामर्शों में से पहले को तुलनावाची मानकर 'तरप्' प्रत्यय के द्वारा और दूसरे को अतिशयवाची मानकर 'तमप्' प्रत्यय के द्वारा अभिव्यक्त किये जाने पर भी, निश्चित रूप में, दोनों अवस्थाओं में किसी एक का ही अतिशय ध्वनित किया जाता है। फलतः इन दोनों प्रत्ययों में कोई मौलिक अर्थभेद पाया नहीं जाता, अतः ऐसे फेर में पड़ जाना ही बेकार है।

२. इस संदर्भ में एक दो बातें ध्यान में रखने के योग्य हैं। एक काल खण्ड पर एक की प्रतियोगिता बिल्कुल एक ही के साथ संभव हो सकती है, दो या इससे अधिकों के साथ नहीं। उदाहरणार्थ यदि अशोक की प्रतियोगिता राम और श्याम के साथ हो तो कोई मनुष्य 'राम श्याम से अशोक पटुतर है' ऐसा परामर्श बनाकर और राम तथा

'तारतम्यम्' इति तु प्रयोगः क्रमातिशये अव्युत्पन्न एव रूढः, न तु तरप्-तमप्-प्रत्ययार्थानुगमात्—'तार्यं, ताम्यम्' इत्याद्यपि हि स्यात्। तदलम् अकाण्डे श्रुतलव-कौशल-प्रथनेन। इह तु उत्तर-क्रमिक-प्रतियोग्यपेक्षायां 'तरप्'। प्रतियोग्यनपेक्षायाम् 'अनुत्तमम्'—इत्यपि प्रयोगे अयम् एव अर्थः। तथाहि आगमान्तरे—

बिल्कुल एक ही वस्तु के साथ संभव हो सकती है। फलतः (तरप् प्रत्यय की अपेक्षा) 'तमप्' प्रत्यय लगाने के क्रम को अपनाने पर भी कोई अधिक अर्थ द्योतित नहीं होता।

जहाँ तक 'तारतम्य'—इस शब्द के प्रयोग करने का सम्बन्ध है, यह तो वास्तव में क्रमिक अतिशय को अभिव्यक्त करने के अर्थ पर व्याकरण प्रक्रिया के द्वारा व्युत्पन्न ही नहीं है—केवल रूढ होने से ही प्रयोग में लाया जाता है। इसमें तो तरप् और तमप् प्रत्ययों के अर्थ के साथ दूर का भी वास्ता नहीं, क्योंकि वैसी परिस्थिति में इसके 'तार्यं, ताम्यम्'—ऐसे रूप भी प्रयोग में होते। अस्तु इस विषय को लेकर रंचभर शास्त्रज्ञान की शेखी बघारने का कोई प्रयोजन नहीं। यहाँ पर तो पूर्वोक्त उत्तरों के साथ क्रमिक प्रतियोगिता के भाव को अभिव्यक्त करने की अपेक्षा से ही 'तरप्' प्रत्यय का प्रयोग किया गया है। यदि प्रतियोगी को अभिव्यक्त करने की अपेक्षा न भी होती तो 'अनुत्तमम्' ऐसा प्रयोग किये जाने पर भी यही अर्थ निकलता। इस सम्बन्ध में दूसरे आगमग्रन्थों में—

श्याम को द्वन्द्व समास के चौखट्टे में बन्द करके यह सिद्ध नहीं कर सकेगा कि एक ही क्षण पर अशोक के एक से अधिक प्रतियोगी बनाये गये। इसका कारण यह कि जिस कालखण्ड पर 'राम' शब्द के उच्चारण की प्रक्रिया चल रही थी उसी क्षण पर 'श्याम' शब्द वर्तमान ही नहीं था। इसी प्रकार 'श्याम' शब्द के उच्चारण काल पर 'राम' शब्द भी नहीं था। इतना ही नहीं, अपितु इस वाक्य का उच्चारण करने वाले व्यक्ति के मन में भी उस कालखण्ड पर निश्चित रूप से यही क्रमिक प्रक्रिया कार्यनिरत थी। अतः स्पष्ट रूप से प्रतियोगिता क्रमिक होने के कारण एक कालखण्ड पर केवल दो ही वस्तुओं में सम्भव हो सकती है। अब यदि इसी उपरोक्त परामर्श में 'राम-श्याम' के स्थान पर 'इन दो से' ऐसा कहकर एक की प्रतियोगिता एक ही क्षण पर एक से अधिकों के साथ संभव हो सकने का सिद्धान्त स्थापित करने का प्रयत्न किया जाये तो भी एक बाधा से पिंड नहीं छूटता। वह यह कि 'दो' यह शब्द राम और श्याम के समुच्चय का बोध कराता है। समुच्चयवाची शब्द चाहे परार्ध का द्योतक ही क्यों न हो, अपने में हमेशा एकत्व लिए ही होता है। अतः एक कालखण्ड पर दो ही वस्तुओं में प्रतियोगिता का सिद्धान्त निर्दोष है।

'अद्यापि यन्न विदितं सिद्धानां बोधशालिनाम् ।
न चाप्यविदितं कस्य किमप्येकम्—अनुत्तमम्' ॥

इति ।

एवं स्वातन्त्र्यसार-अकालकलित-क्रियाशक्ति-शरीरम् 'अनुत्तरम्' । तदुक्तम् उत्पलदेवपादैः—

'सक्रमत्वं च लौकिक्याः क्रियायाः कालशक्तितः ।
घटते, न तु शाश्वत्याः प्राभव्याः स्यात्प्रभोरिव ॥'

इति । तद् व्याख्यातमिदं 'अनुत्तरम्'—षोडशधा । यदुक्तं सारशास्त्रे—

'अनुत्तम ऐसा मात्र अवर्णनीय पद है, जो कि ज्ञानी सिद्धों को ज्ञान प्राप्त करने के उपरान्त भी विदित नहीं, परन्तु दूसरी ओर किसी साधारण से साधारण जीवधारी को अज्ञात[1] भी नहीं है ।'

इस प्रकार के उद्‌गार प्रकट किये गये हैं ।

फलतः 'अनुत्तर-तत्त्व' वही है, जो कि सर्वस्वतन्त्र एवं काल की कल्पना से रहित अर्थात् क्रमिकता का विषय ही न बन जाने वाले क्रियाशक्ति रूपी शरीर को धारण करनेवाला तत्त्व है। इस सम्बन्ध में महामहिम उत्पलदेव ने कहा है—

'संसार की भूमिका पर जो (उत्क्षेपण, अपक्षेपण इत्यादि रूपों वाली) साधारण और अल्पकाल-पर्यवसायिनी क्रियायें चलती रहती हैं, उन पर काल-शक्ति के प्रभाव से क्रमिकता की वशर्वतिता लागू हो सकती है। परन्तु प्रभु की अभिन्न क्रिया[2]-शक्ति शाश्वतिक है, अतः उस पर ऐसी कोई वशर्वतिता ठीक उसी प्रकार लागू नहीं हो सकती, जिस प्रकार स्वयं प्रभु पर ।"

---

१. यदि सर्वसाधारण जीवधारियों को वह चेतन तत्त्व पहले से ही विदित न होता, अर्थात् यदि उनमें वह पूर्णतया अनुस्यूत न होता, तो उनको अपने अपने रूप में सत्ता ही कैसे प्राप्त हो सकती ?

२. अनुत्तर पदवी पर ज्ञान और क्रिया का रूप स्वतन्त्र ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति है । लौकिक पदवी पर ये स्वतन्त्र शक्तियां न रहकर संकुचित ज्ञान और क्रिया का रूप धारण कर लेती हैं । संसार के प्रत्येक प्राणी के अन्तस् में विद्यमान संकुचित ज्ञान एवं क्रिया को प्रकाशित करने और संयोजन एवं वियोजन के रूप में स्पन्दायमान बनाने के मूल में, क्रमशः, पारमेश्वरी ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति ही कार्य निरत होती हैं । वास्तव में ईश्वर की स्वतन्त्र, शाश्वतिक और क्रमहीन ज्ञानशक्ति और

'अनुत्तरं तद्हृदयं हृदये ग्रन्थिरूपता।
ग्रन्थि षोडशधा ज्ञात्वा कुर्यात् कर्म यथासुखम् ॥' इति।

तथा—'हृदये यः स्थितो ग्रन्थिः ।'

इत्यादि।

तदीदृग् 'अनुत्तरं' केन प्रकारेण, किम् उत्तररूपपरित्यागेन उतस्विद् अन्यथा ? इति। कश्च अयं प्रकारो यदनुत्तरं सर्वमिदं हि ज्ञानज्ञेयजातं सर्वत

यह 'अनुत्तर-तत्त्व' की सोलह प्रकार की व्याख्या प्रस्तुत की गई। (सोलह प्रकार से व्याख्या करने का प्रेरणादायक हेतु) सार-शास्त्र में वर्णन किया गया है—

'अनुत्तर-पद समूची विश्वरूपता का हृदय अर्थात् शक्ति-केन्द्र है। उसमें सोलह[१] प्रकार की गांठें विद्यमान हैं। विवेकी व्यक्तियों को उन सोलह प्रकार की गांठों का रहस्य भलीभाँति हृदयङ्गम करने के उपरान्त ही सुखपूर्वक, अर्थात् निःशंक होकर, कार्यभार चलाना चाहिये।'

और—

'हृदय में जो गाँठ है ...... ।'

इत्यादि भी कहा गया है।

'कथम्' शब्द की व्याख्या।

१. तो ऐसा अनुत्तर-तत्त्व किस प्रकार से[२] अनुभव में आ सकता है ? क्या (पूर्वोक्त) उत्तरता, अर्थात् विश्वात्मक उथल-पुथल का एकदम बहिष्कार करने,

---

क्रियाशक्ति की तीव्र छटा जब वेद्य-जगत् की छाया पड़ जाने से मन्द पड़ जाती है, तब ये दोनों देश, काल और आकार की सीमाओं में पड़कर ससीम, परतन्त्र और क्रमिक ज्ञान और क्रिया के रूप में प्रगट हो जाती हैं।

१. 'अनुत्तर' शब्द की १६ व्याख्याओं में जिन सोलह प्रकार के उत्तरों का वर्णन किया जा चुका है, वे ही सोलह प्रकार की गांठें हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ की भूमिका में इनका उल्लेख किया जा चुका है। इसके अतिरिक्त गुरुजनों का कथन है कि प्रमाता, प्रमेय, प्रमाण और प्रमिति ये चार अलग अलग सृष्टि, स्थिति, संहार और अनाख्य इन चार चार रूपों में वर्तमान हैं। गुणा करने पर इनकी संख्या सोलह बन जाती है। ये भी वास्तव में १६ ग्रन्थियां ही हैं। अनुत्तर-भाव की अनुभूति प्राप्त करने के इच्छुक व्यक्तियों को पहले इन्हीं १६ गांठों को ज्ञान के द्वारा खोलने की आवश्यकता होती है।

२. करण कारक के द्वारा वाच्य 'प्रकार'।

एव अन्योन्यं भेदमयं विरोधम् उपलभते ? ततश्च इदम् औत्तराधर्यं भवेदेव इति। कस्मिंश्च प्रकारे, मोक्षे एव, किं वा बन्धाभिमतेऽपि ?—इति। 'थमु'-प्रत्ययस्य विभक्तिविशेषार्थानियमनेन प्रकारमात्रे विधानात् प्रकारमात्रविषय एव अयं प्रश्नः।

अथवा, उसको भी (अपना ही अंग समझकर) अपनाने के द्वारा इसकी उपलब्धि हो सकती है ?

२. इस प्रकार की ज्ञातृता को प्राप्त करने का कौनसा प्रकार[१] है ? निश्चितरूप से यह सारा ज्ञानरूपी और ज्ञेयरूपी विश्वप्रपञ्च, वास्तव में, चारों ओर अनुत्तर ही अनुत्तर है, परन्तु ऐसा होने पर भी इस तथ्य को नकारा नहीं जा सकता कि यह पारस्परिक भिन्नताओं से भरपूर होने के कारण पारस्परिक विरोधों अथवा द्वन्द्वों का आलय बना हुआ है और इसके फलस्वरूप इसमें उत्कर्षों एवं अपकर्षों का द्वन्द्वयुद्ध अवश्य छिड़ा ही रहता है।

३. यह अनुत्तर भाव किस प्रकार में[२] उपलब्ध हो सकता है ? क्या केवल मुक्त होने की दशा में ही अथवा कथित बन्धन समझे जाने वाले संसार-भाव में रहते हुए भी ? (अथवा दूसरे प्रकार से यों भी कहा जा सकता है कि क्या केवल समाधि की अवस्था में ही इसका साक्षात्कार हो सकता है अथवा बन्धन समझी जाने वाली व्युत्थान की अवस्था में भी ?)।

इस सारे कथन का निष्कर्ष यह कि 'थमु' प्रत्यय नियमित रूप से किसी एक ही कारक के साथ सम्बन्धित अर्थ का द्योतक न होने के कारण, सामान्य[३] रूप में, कोई 'प्रकार मात्र' अभिव्यक्त करने के अर्थ पर ही प्रयोग में लाया जाता

---

१. कर्ता कारक के द्वारा वाच्य 'प्रकार'।

२. अधिकरण कारक के द्वारा वाच्य 'प्रकार'।

३. शैवदर्शन के पाठकों को अच्छी प्रकार विदित है कि 'उपायजालं न शिवं प्रकाशयेत्'—इस कथन के अनुसार किसी भी उपाय के 'द्वारा' शिवत्व की उपलब्धि हो नहीं सकती, अतः प्रस्तुत प्रसंग में 'प्रकार' को करण कारक का विषय बनाना सरासर भूल है। दूसरी ओर अनुत्तर और विश्व दो भिन्न सत्तायें नहीं हैं, अतः इनका एक दूसरे 'में या पर' होने का प्रश्न ही नहीं उठता। फलतः 'प्रकार' को अधिकरण कारक का विषय भी नहीं बनाया जा सकता है। ऐसी परिस्थिति में यहाँ पर देवी ने 'प्रकार' को सामान्य कर्ता कारक का ही विषय बनाकर 'प्रकारमात्र' समझाने की ही प्रार्थना की है।

'देव' इति व्याख्यातम् ।

१. 'कुलं' स्थूल-सूक्ष्म-पर-प्राणेन्द्रिय-भूतादि—समूहात्मतया कार्यकारण-भावाच्च । यथोक्तम्—

है। अतः प्रस्तुत सूत्र में इस शब्द (कथम्) के द्वारा केवल 'प्रकार' समझाने के विषय में ही प्रश्न पूछा गया है ।[1]

'देव' इस शब्द का व्याख्यान पहले ही किया जा चुका है ।

'कौलिकसिद्धिदम्' शब्द की व्याख्या के प्रसङ्ग में पहले 'कुल' का निर्णय ।

(१)—स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर, कारण शरीर, पांच प्राण, तेरह इन्द्रियाँ

---

१. प्रस्तुत प्रसंग के सम्बन्ध में वस्तुस्थिति इस प्रकार है—

मूलसूत्र के 'अनुत्तरं कथम्' इन शब्दों का अर्थ दो प्रकार से लगाया जा सकता है । (१) अनुत्तर का स्वरूप कैसा है ? (२) अनुत्तर भाव की अनुभूति प्राप्त कर सकने का 'प्रकार' कौन सा है ? इनमें से यदि पहले अर्थ को लिया जाये तो यह मानना पड़ेगा कि प्रश्नकर्ता को प्रश्न पूछने से पहले अनुत्तर का स्वरूप बिल्कुल ज्ञात नहीं है । अब वह इसको नये सिरे से जानना चाहता है । भगवान् अभिनव इस वस्तुस्थिति के पक्ष में नहीं हैं, क्योंकि उनके विचारानुसार किसी भी प्रश्नकर्ता के अन्तर्हृदय में, उसी पूछे जाने वाले प्रश्न का सही उत्तर पहले से ही विद्यमान होता है, चाहे उसके चेतन मन को इसकी चेतना न भी हो । लोकव्यवहार में भी देखा जाता है कि जब भी कोई व्यक्ति किसी दूसरे से कोई प्रश्न पूछे, तो उत्तर देने वाले के उत्तर को सुनकर यदि उसके अन्तर्हृदय में पहले से ही विद्यमान सही उत्तर के साथ, अज्ञात रूप में हो, संगति बैठ गई तो वह संतुष्ट होकर चुप हो जायेगा । यदि नहीं बैठ गई तो—'जी, मैं नहीं समझा'—इन शब्दों को तब तक दोहराता रहेगा, जब तक सही उत्तर न पायेगा । उसका—'जी, मैं नहीं समझा'—इन शब्दों को बार-बार दोहराते रहना ही इस तथ्य का परिचायक है कि उसके अन्तर्हृदय में कहीं न कहीं उसके अपने ही प्रश्न का सही उत्तर भी पहले से ही विद्यमान है, जिसके साथ उत्तरदाता के बताये गये उत्तर की संगति बैठती या नहीं बैठती है । वास्तविक परिस्थिति तो यह है कि प्रत्येक प्रश्नकर्ता स्वयं अपने प्रश्न के उत्तर को जानता हुआ भी, मन पर छाई हुई तामसिक मूढता के कारण प्रश्न पूछ लेता है । प्रस्तुत प्रसङ्ग में भी 'अनुत्तर-तत्त्व' का स्वरूप पहले से ही सिद्ध है और प्रश्न पूछने वाली देवी भी उसको पहले से ही जानती है, क्योंकि ऐसी स्थिति न होती तो वह 'अनुत्तरं कथं देव' ? इन शब्दों के उच्चारण के तत्काल ही 'सद्यः कौलिकसिद्धिदम्'

'संहत्यकारित्वात्'—इति ।

२. तथा 'कुलं' बोधस्यैव आश्यानरूपतया यथावस्थानात् । बोधस्वातन्त्र्यादेव च अस्य बन्धाभिमानात् । उक्तं हि—'कुल संस्त्याने बन्धुषु च'—इति । नहि प्रकाशैकात्मकबोधरूपत्वाद् ऋते किमपि एषाम् अप्रकाशमानं

और पांच महाभूत इत्यादि के संघात को 'कुल' कहते हैं। इनको यह संज्ञा दो बातों के आधार पर दी गई है—(१) ये सारे (एक पार्थिव काया में) आपस में निबिडता से रचे हुए संघात के रूप में वर्तमान रहते हैं, (२) ये आपस में एक दूसरे के साथ कार्य-कारण-भाव सम्बन्ध में अवस्थित होते हैं। इस विषय में कहा गया है—

'आपस में संघात के रूप में अवस्थित रहकर ही प्रयोजनों को सिद्ध करने के कारण'—इत्यादि।

(२) समूचा प्रमेय-विश्व ही 'कुल' है। इसका आधार भी दो बाते हैं—(१) वास्तव में बोध (संवित्) ही आश्यान[1] बनकर भिन्न-भिन्न प्रकार के प्रमेय पदार्थों के रूप में सुचारु ढंग से व्यवस्थित है। (२) बोध के स्वातन्त्र्य से ही इस प्रमेय विश्व पर बन्धकता का अभिमान होने लगता है। धातुपाठ में भी 'कुल' धातु का अर्थ 'आश्यानीभाव' और 'बंधु' (अर्थात् प्रेम के बंधन में फसाने वाला = बन्धक) बताया गया है। यह तो निश्चित बात है कि प्रकाश के साथ अभिन्न

इन शब्दों को कैसे कह सकती ? यदि उसको पहले ही अनुत्तर का स्वरूप ज्ञात न होता तो वह कैसे कह सकती कि अनुत्तर कौलिकसिद्धि को प्रदान करने वाला है ? फलतः प्रस्तुत प्रसङ्ग में 'कथम्' शब्द का उपरोक्त दूसरा अर्थ, अर्थात् सामान्य रूप में 'प्रकार' समझाने का अर्थ ही युक्तियुक्त है। एक बात और कि देवी के द्वारा प्रश्न पूछे जाने के मूल में तामसिक मूढता नहीं, अपितु भाव में पड़ी हुई आत्माओं का उद्धार करने की कामना ही कारण बनी हुई है।

१. साधारण रूप में 'आश्यानीभाव' शब्द से जम जाने, या ठोस बन जाने का अर्थ लिया जाता है। शैव प्रसङ्ग में इसका अभिप्राय अभेदव्याप्ति को भूलकर भेदव्याप्ति को स्वीकारना है। तरल चित्-रस ही खास अवरोह-प्रक्रिया को अपना कर अनाश्रित शिव, शक्ति, सदाशिव इत्यादि रूपों में आश्यान बनता हुआ छत्तीस तत्त्वों का रूप धारण कर लेता है। इस आश्यानी-भाव की अन्तिम कोटि पृथ्वी-तत्त्व है, क्योंकि यह तत्त्व शेष सारे तत्त्वों की अपेक्षा अधिक ठोस, कठिन एवं सघन होने के कारण प्रमेयता की चरम-सीमा माना जाता है। अभेदव्याप्ति ही चित्-रस की तरलता और

वपुर् उपपद्यते ।

तत्र 'कुले भवा कौलिकी सिद्धिः'—तथास्वदाढ्यं परिवृत्त्य आनन्दरूपं हृदय-स्पन्द-स्वरूप-परसंविदात्मक-शिवविमर्शतादात्म्यं, तां (सिद्धिम्) ददाति,

---

बोधरूपता को छोड़कर, इन प्रमेय पदार्थों का कोई निजी प्रकाशहीन शरीर (नीला[1], पीला, घट, पट, सुख, दुःख इत्यादि रूपों वाला) नहीं है।

समूचे 'कौलिकसिद्धिदम्' शब्द की व्याख्या ।

(१) इस प्रकार के 'कुल'[2] में ही उत्पन्न होनेवाली सिद्धि को 'कौलिकसिद्धि' कहते हैं। कुल के अन्तर्गत ही 'कौलिकसिद्धि' की प्रसूति हो जाती है। तात्पर्य यह है कि 'परिवृत्ति'—अर्थात् समूचे कुल को अनुत्तर रूपी अनुभव करने की दृढ़ता, अथवा इदन्तारूपी विश्वाभास को अहन्तारूपी अनुत्तराभास में पूर्णतया विश्वाभास करने की क्षमता के द्वारा, चतुर्दिक् आनन्दमयता से परिपूर्ण, 'हृदय' अर्थात् मध्यधाम के स्पन्दन के स्वरूपवाले और परसंवित् की विकासमयी अवस्था का रूप धारण करनेवाले परशिवात्मक विमर्श के साथ एकाकारिता हो

भेद-व्याप्ति ही सघनता है। जितनी-जितनी ज्ञातृता निमग्न और ज्ञेयता उन्मग्न होती जाती है, उतनी-उतनी ही आश्यानीभवन की अधिकता समझनी चाहिये। केवल इतना ध्यान में रखना आवश्यक है कि आश्यान बनने पर भी बोधरूप में उसी प्रकार कोई स्वरूप-क्षति नहीं होती, जिस प्रकार जल के आश्यान होकर हिम बन जाने पर भी उसके मौलिक जलत्व की स्वरूप-क्षति नहीं होती है।

१. यदि नीलादि ही किसी भी प्रमेय-पदार्थ का स्वतन्त्र और वास्तविक स्वरूप होता, तो वह नीलत्व इत्यादि साधारण रूप में सारे और विशेष रूप में अपनी इच्छा के अनुसार किसी ही प्रमाता को अपने रूप से परिचित करा लेता। इसके प्रतिकूल देखने में यही आता है कि नीले को स्वयं नीला होने का ज्ञान ही नहीं और साथ ही, अपने से भिन्न किसी दूसरे पीले इत्यादि के होने की चेतना भी नहीं है। फलतः कोई दूसरा, नीलादि से भिन्न, चेतन-तत्त्व ही उन सबों को नीले-पीले इत्यादि रूपों में व्यवस्थित कर सकता है। अतः नीलादिरूपता वेद्यपदार्थों का वास्तविक स्वरूप नहीं माना जा सकता।

२. त्रिकमान्यता के अनुसार अपने शरीर इत्यादि और अपने से सम्बन्धित शेष जगत् को दुतकार कर ताटस्थ्यवृत्ति अपनाने से स्वरूप-उपलब्धि अविकल रूप में कदापि नहीं हो सकती। फलतः शरीर इत्यादि और शेष जगत्रूपी कुल में रहते हुए ही, सारे भावों में प्रतिसमय अनुस्यूत होकर अवस्थित रहनेवाली ज्ञानमयी स्फुरणा की वास्तविक अनुभूति प्राप्त करने से ही अनुत्तरत्व की उपलब्धि सम्पूर्णरूप में हो

अनुत्तरस्वरूपतादात्म्ये हि कुलं तथा भवति । यथोक्तम्—

व्यतिरेकेतराभ्यां हि निश्चयोऽन्यनिजात्मनोः ।
व्यवस्थितिः प्रतिष्ठाऽथ सिद्धिर्निर्वृत्तिरुच्यते ॥'

इति ।

'सद्यः' इति शब्दः 'समाने अहनि'-इत्यर्थवृत्तिः, उक्तनयेन अह्नोऽनवस्थितत्वात् 'समाने क्षणे'—इत्यत्र अर्थे वर्तते। समानत्वं च क्षणस्य न सादृश्यम्, अपितु तत्त्वपर्यवसायी एव—एवम् एव सद्यः'शब्दात् प्रतीतिः।

जाने की सिद्धि को देती है। यह तो निश्चित है कि अनुत्तर-भाव के साथ तादात्म्य हो जाने की अवस्था में सारा 'कुल' अनुत्तरमय ही अनुभव होने लगता है। जैसा कहा गया है—

'व्यतिरेक[1] और उससे इतर, अर्थात् अन्वय[2] के द्वारा, 'अन्य'-अर्थात् इदं-भाव और 'निज आत्मा'—अर्थात् स्वरूपभूत अहं-भाव का यथार्थ निश्चय और वास्तविक ज्ञान प्राप्त करने को ही शिव-भाव में प्रतिष्ठित होना समझा जाता है। इसी को दूसरे शब्दों में स्वरूपनिष्ठ बन जाना, कौलिकसिद्धि को प्राप्त करना और आनन्दमयता में पूर्णरूप से लय हो जाना भी कहा जाता है।'

कौलिकसिद्धि के प्रसङ्ग में सद्यः' शब्द से बोध में आनेवाला कालखण्ड ।

'समाने अहनि' इस विग्रह के आधार पर 'सद्यः' शब्द का अर्थ 'उसी दिन' लगाया जाता है। परन्तु प्रस्तुत प्रसङ्ग में इसका अर्थ 'उसी क्षण'—अर्थात् अनुत्तरत्व की उपलब्धि हो जाने के तत्काल ही लगाया जाता है, क्योंकि पूर्वोक्त रीति के अनुसार (त्रिकमार्ग में) दिन जैसी कल्पना के लिए कोई व्यवस्था नहीं है। 'उसी क्षण' कहने का भी यह अभिप्राय नहीं कि वर्तमान-क्षण की समानता किसी पूर्वकालिक या अपरकालिक क्षण के साथ की जाय, अपितु यहाँ पर इसको 'तत्त्व[3] पर्यवसायी' ही माना जाय। तात्पर्य यह कि इस शब्द से बिल्कुल स्वरूप-

---

सकती है और उसी को कौलिकसिद्धि प्राप्त करना कहा जाता है। ऐसे सिद्ध को सारा कुल ही अनुत्तरता से ओत-प्रोत दिखाई देता है।

१. व्यतिरेक-व्याप्ति—

यदि अहं-भाव की वर्तमानता न होती तो इदं-भाव का नामो-निशान भी कहीं नहीं होता।

२. अन्वय-व्याप्ति—

अहं-भाव के वर्तमान होने से ही इदं-भाव की वर्तमानता भी निश्चित है।

३. अनुत्तरीय वर्तमान-क्षण, अर्थात् अकालकलित शाश्वतिक क्षण ।

अतः 'तस्मिन्नेव क्षणे'—इति वर्तमानक्षणस्य सावधारणत्वेन भूत-भविष्यत्-क्षणान्तर-निरासे तदुभयापेक्षकलनाप्राणां वर्तमानस्यापि कलनां निरस्येत—यतो यद् इदं परमेश्वरस्य भैरवभानोः रश्मिचक्रात्मकं निजभासास्फारमयं 'कुलम्' उक्तं, तच्च यदा अन्तर्मुख-परभैरव-संवित्-तादात्म्यलक्षणं निरोधम् एति, तदा एव परमानन्दामृतास्वादमयम्, अदेशकालकलितम्, अनुत्तरं, ध्रुवं, विसर्गरूपं, सततोदितम्। तदुक्तं श्रीवाद्यतन्त्रे—

लाभ प्राप्त करने के क्षण का ही अभिप्राय लिया जाय, क्योंकि प्रस्तुत संदर्भ में 'सद्यः' शब्द से इसी अर्थ का बोध हो जाता है। फलतः 'बिल्कुल स्वरूप-लाभ पाने के क्षण पर'—ऐसा अर्थ लगाकर जब वर्तमान क्षण को तत्त्व पर्यवसायिता पर नियमित किया जाय, तब दूसरे भूत[1]-क्षण और भविष्यत्-क्षण के अस्तित्व का स्वयं ही निरास हो जाता है। इसके फलस्वरूप उन दोनों क्षणों (भूत और भविष्यत् क्षणों) की अपेक्षा-बुद्धि से ही जीवन पाने वाली वर्तमान-क्षण की कल्पना भी स्वतः गल जाती है। इसका कारण यह है कि जितने भी अपरिमित विस्तार वाले 'कुल' का उल्लेख किया गया, वह तो महान् ऐश्वर्यशाली भैरव-रूपी सूर्य के निजी किरणजाल, अर्थात् अभिन्न शक्तियों के चक्र का बहिर्मुखीन विकास मात्र है। जिस समय वह (कुल) अन्तर्मुखीन भैरव-संवित् में एकाकार बनाये जाने के रूपवाले 'निरोध' का विषय बन जाता है, उसी समय उसका परम आनन्दरूपी अमृत के लोकोत्तर आस्वाद से परिपूर्ण, देश एवं काल की इयत्ताओं में सीमित न हो सकने वाला, अनुत्तर अर्थात् उत्तरों के घोटाले से अविगत, अविचल और शाश्वतिक, विसर्गरूपी[2] और सदा सर्वदा

---

१. लोकव्यवहार में प्रसिद्ध और केवल अपेक्षा-बुद्धि पर आधारित भूत, भविष्यत् और वर्तमान क्षण।

२. अनुत्तरीय वीर्य के प्रसारात्मक स्वभाव को शास्त्रीय शब्दों में 'विसर्ग' कहते हैं। विसर्ग तो स्वाभाविक उच्छलन ही समझना चाहिए। जहाँ शिव विसर्गरूप है, वहाँ शक्ति भी विसर्गरूपिणी है, क्योंकि शक्ति का अकाट्य स्वभाव भी उच्छलन ही है। इस विसर्ग से ही यह सारा कल्पना से भी अगम्य सृष्टि-प्रपञ्च संपन्न हो जाता है। शिवत्व का आगे आगे प्रसार ही सृष्टि का विस्तार है। संहार भी वास्तव में प्रसार ही है, क्योंकि जहाँ सृष्टि-प्रक्रिया में शिव-भाव नर-भाव पर प्रसृत हो जाता है, वहाँ संहार की प्रक्रिया में नर-भाव शिव-भाव में पहुँच जाता है। फलतः यह प्रसार-संहारमयी क्रीड़ा केवल विसर्गरूपता ही है। इस विसर्गात्मकता को 'अहं' के हकार के ऊपरवाली बिन्दी सूचित करती है। स्मरण रहे कि तांत्रिक प्रक्रिया में अनुस्वार को विसर्ग का आधा

'संरुध्य रश्मिचक्रं स्वं पीत्वामृतमनुत्तमम् ।
कालोभयापरिच्छिन्ने वर्तमाने सुखी भवेत् ॥'

इति । विचारितश्च विस्तरतोऽन्यत्र मयैव कालोभयापरिच्छेदः ।

२. तथा 'कुलात्'—देहप्राणादेः, आगता 'सिद्धिः'—भेदप्राणानां नील-सुखादीनां निश्चयरूपा, तां ददाति इति ।

'शरीरादयो हि झगिति अनुत्तर-ध्रुव-विसर्गवीर्यविशेन अकालकलितेन

उदीयमान[1] रूप स्वयं निखर उठता है। इस सम्बन्ध में वाद्यतन्त्र का कथन है—

'(कोई भी इच्छुक व्यक्ति) अपने 'रश्मिजाल'—अर्थात् निजी शक्तियों के ही बहिर्मुखीन प्रसाररूपी विश्व को स्वरूप में ही विश्रान्त करके और अनुत्तम-तत्त्वमयी सुधा को पीकर, भूत और भविष्यत् जैसे कालखण्डों की इयत्ताओं से रहित 'वर्तमान में'—अर्थात् स्वरूप-लाभ से जन्य अकालकलित वर्तमानता में पहुंचकर असीम शान्ति प्राप्त कर लेता है।'

इन दोनों कालखण्डों (कल्पित भूत एवं भविष्य) की इयत्ताओं के अनस्तित्व के सिद्धान्त की मीमांसा मैंने अपने दूसरे ग्रन्थ में विस्तार पूर्वक प्रस्तुत की है।

'कौलिकसिद्धिदम्' शब्द की व्याख्या का अवशिष्ट भाग ।

२. यह भी कहा जा सकता है कि (अनुत्तर-भाव की दृढ़ अनुभूति) 'कुल'—अर्थात् प्राण-प्रमातृभाव, देह-प्रमातृभाव इत्यादि से ही सम्पन्न होनेवाली 'सिद्धि'—अर्थात् भेद-भाव से ही पनपनेवाले नील और सुखरूपी पदार्थों को नाना प्रकार के अलग-अलग रूपों में निश्चित कर सकने की सिद्धि को प्रदान करती है।

इस कथन का अभिप्राय यह कि शरीर इत्यादि में, निश्चयपूर्वक, काल की कलना से रहित 'अनुत्तर ध्रुव'—अर्थात् सर्वोत्कृष्ट एवं स्थिर अनुत्तर-पद के वाचक 'अकार' और 'विसर्ग'—अर्थात् शिवत्व की प्रसाररूपिणो शक्ति के वाचक 'हकार' (=अहं-भाव)' के वीर्य[2] का संचार झट से स्वाभाविक रूप में

ही कहते हैं। हकार का आधा पूर्ण विसर्ग (:) और उसका आधा अर्ध विसर्ग (˙) अथवा बिन्दु।

१. इसका तात्पर्य यह कि जब सारा अन्तर्मुखीन एवं बहिर्मुखीन स्वरूप-विकास मात्र शाश्वतिक प्रकाश है, तब उस असीम विस्तार में 'उस दिन, एक दिन, उसी क्षण, वर्तमान, भूत एवं भविष्यत् क्षण' जैसी कालखण्डों की इयत्तायें कैसे टिक सकती हैं?

२. इस विषय में प्रस्तुत लेखक के स्पन्द-कारिका भाषानुवाद में 'नहीच्छा नो-

प्राणादि-मध्यम-सोपानारोहेण एव भावानां तथात्वनिश्चयरूपां सिद्धिं विदधते । यथोक्तम्—

'अपि त्वात्मबलस्पर्शात् पुरुषस्तत्समो भवेत्' ।

इति । तथा—

'..........करणानीव देहिनाम्' ।

इति ।

३ तथा 'कुले'—शिवशक्त्यात्मनि सन्निहितेऽपि 'सिद्धिः'—उक्तनयेन जीवन्मुक्ततामयी समभिलषिताणिमादि-प्रसवपदा, तां सद्यः अनाकलितमेव

ही हो जाता है । उससे वे (स्वयं अचेतन होने पर भी) प्राण इत्यादि रूपों वाले 'मध्यम-सोपान'—अर्थात् अन्तर्वर्तिनी संवित् शक्ति की सीढ़ी पर आरूढ होकर, सारे भावों को अपने अपने निश्चित रूपों में व्यवस्थित कर लेने की सिद्धि वितरण कर देते हैं । जैसा कहा गया है—

'प्रत्येक मित-प्रमाता शाक्त-बल का स्पर्श प्राप्त करने से, ईश्वर की तरह ही सृष्टि, संहार इत्यादि कृत्यों को करने में समर्थ बन जाता है ।'

और—

'...... ....शरीर धारियों की इन्द्रियों की तरह ।' इत्यादि ।

३. यह भी कहा जा सकता कि (अनुत्तर-तत्त्व) 'कुल'—अर्थात् चतुर्दिक् शिव-शक्तिमय संघट्ट[1] के बिल्कुल पास में ही होने पर भी, पूर्वोक्त रीति के अनुसार ऐसी जीवन्मुक्ति की सिद्धि को प्रदान कर देता है, जो कि मनोनीत अणिमा[2]

दनस्यायं'—इत्यादि कारिका पर लिखा हुआ विवरण द्रष्टव्य है । यहाँ पर केवल इतना कहना पर्याप्त होगा कि शक्तिधन स्वयं ही प्रत्येक देहधारी की काया और इन्द्रियों में शक्तिरूप में आविष्ट होकर, भावों को व्यवस्थित कर लेता है । शक्ति के आवेश से ही जड़ शरीर इत्यादि चेतन बन कर, ईश्वर की तरह ही, केवल संकल्पमात्र से सारे कृत्यों को निष्पन्न कर लेते हैं ।

१. शिव और शक्ति का आपस में इस प्रकार का मिला हुआ स्वरूप कि उसमें शिव-भाव और शक्तिभाव को अलग अलग आँकने की कल्पना भी सम्भव नहीं है ।

२. त्रिक-शास्त्रों में अणिमा इत्यादि आठ सिद्धियों का वैसा ही रूप नहीं माना गया है, जैसा कि अन्य दर्शनों में मिलता है । अन्य दर्शनों में जैसा इनका वर्णन किया गया है, वह तो बिल्कुल भेद-भाव पर ही आधारित है । त्रिकदर्शन में इनका रूप भी अभेदमय ही वर्णन किया गया है । संक्षेप में वह निम्नलिखित प्रकार का है—

१ अणिमा—प्रत्येक भाव को चित्-रूप में ही विश्रान्त करने की क्षमता ।

भावनाकरणादिरहितत्वेन एव ददाति । यदुक्तं श्रीसोमानन्दपादैः—

'भावनाकरणाभ्यां किं शिवस्य सततोदितेः' ।

इति । तथा—

'एकवारं प्रमाणेन शास्त्राद्वा गुरुवाक्यतः ।
ज्ञाते शिवत्वे सर्वस्थे प्रतिपत्त्या दृढात्मना ।
करणेन नास्ति कृत्यं क्वापि भावनयापि वा ॥'

इति ।

४. 'कुले' जाता 'सिद्धिः'—शाक्त-हादिरूप-प्रसरणाद् आरभ्य बहिर्भाव-

---

इत्यादि आठ प्रकार की अवान्तर सिद्धियों को अनायास ही जन्म देनेवाली होती है। वह अनुत्तर इस सिद्धि को किसी विशेष समय की वशवर्तिता, भावना और करणोपासना[1] इत्यादि के पचड़े को अपनाने के बिना ही देता है। इस सम्बन्ध में श्रीमान् सोमानन्दपाद ने कहा है—

'शिव शाश्वत रूप में उदीयमान सत्ता है, अतः उसके उस सतत उदीयमान रूप में 'भावना'—अर्थात् ध्यान, धारणा, प्रत्याहार, समाधि इत्यादि और करणोपासना से कौन सा अन्तर पड़ने का है ?'

और—

'(प्रत्यक्ष, अनुमान इत्यादि) प्रमाणों, शास्त्रों के अध्ययन, सद्-गुरुओं के उपदेश अथवा अपनी ही दृढ़ आत्मिक-प्रतिपत्ति के द्वारा, एक ही बार, सर्वव्यापक शिव-भाव की अनुभूति हो जाने के उपरान्त, करणोपासना की पद्धति को अपनाने का, अथवा कहीं द्वादशान्त इत्यादि स्थानों पर धारणा देने का रंचमात्र भी प्रयोजन अवशिष्ट नहीं रहता है।'

४. (अनुत्तर-तत्त्व) 'कुल'—अर्थात्, इसी उल्लिखित शिव-शक्ति की संघट्ट-

---

२ महिमा—सर्वव्यापकता का भाव प्राप्त करना।
३ लघिमा—भेद-भाव के बोझ से अनायास ही मुक्त होना।
४ गरिमा—सर्वतोमुखी अनुत्तरत्व की उपलब्धि से गौरवशाली बनना।
५ प्राप्ति—अन्तःबहिः चित्-रूप बनकर प्रत्येक पदार्थ को आत्मरूप में ही विश्रान्त कर सकना।
६ प्राकाम्य—सारे विश्ववैचित्र्य को स्वरूप में ग्रहण कर सकना।
७ ईशित्व—इयत्ताओं से निकल कर अखण्डता में प्रवेश पाना।
८ वशित्व—सर्वंसह स्वभाव का उभर आना।

१. करणोपासना एक खास प्रकार की उपासना थी, जिसका प्रचलन सोमानन्द पाद के जमाने में रहा होगा।

पटल-विकास पर्यन्तं भेदावभासना, तां ददाति।

'तदेव हि अनुत्तरं महाप्रकाशात्म, अन्तःकृत-बोधमय-विश्व-भावप्रसरम् अनुत्तरादेव निरतिशय-स्वातन्त्र्यैश्वर्य-चमत्कार-भरात् भेदं विकासयति। न हि अप्रकाशरूपं भाव-विकास-प्रकाशे कारणं भवेत्। प्रकाशात्मकं चेत्? नूनं तत् परमेश्वर-भैरवभट्टारक-रूपम् एव, इति किम् अपरेण वाग्जालेन?

तथा 'येन'—अनुत्तरेण—

मयता में जन्म लेनेवाली 'सिद्धि' को देता है। इस सिद्धि का रूप, प्राथमिक शाक्त-स्पन्द के 'ह्-कला' इत्यादि रूपों में बहिर्मुखीन प्रसार आरम्भ करने से लेकर, बाह्य जगत् में दिखाई देनेवाले भावराशियों के भिन्न-भिन्न रूपों में विकसित होने तक, चतुर्दिक् भेद-भाव को ही अवभासित करने वाला होता है।

'(उपरोक्त शब्दों का तात्पर्य यह कि) वह असीम आलोकमय अनुत्तर-तत्त्व, अनुत्तरीय रूप को ही धारण करने वाली निजी अतिशय शाली स्वातन्त्र्य और ऐश्वर्य की आस्वादमयता की उभाड़ से ऐसे भेद-भाव को विकसित कर लेता है कि उसके गर्भ में बोधमय[1] विश्व के अनन्त भावों के प्रसार का रहस्य[2] भरा रहता है। यह बात तो निश्चित है कि (उस प्रकाशमय अनुत्तर-तत्त्व के अतिरिक्त) कोई भो दूसरा प्रकाश[3]-हीन तत्त्व (माया, प्रकृति इत्यादि) संसार की भावराशि को प्रकाशित करने का हेतु नहीं बन सकता। अब यदि ऐसे किसी तत्त्व को भी प्रकाशमय ही माना जाय तो वह भी परम ऐश्वर्यशाली भैरव-भट्टारक का ही रूपान्तर मात्र होगा। फलतः इस विषय में बातों का बतंगड़ बनाने से ही क्या?

'येन' शब्द की व्याख्या।

और 'येन'—अर्थात् जिस अनुत्तर के द्वारा।

---

१. अनुत्तर-भाव की भूमिका पर सारा प्रमेय जगत् भी अविकल रूप में वर्तमान है, परन्तु भेद केवल इतना है कि वहाँ इसकी स्थिति बोधमयी अथवा विमर्शमयी ही है।

२. अभेद में से ही भेद के विकास का रहस्य। बीज में से ही पत्र, पुष्प, शाखा इत्यादि प्रकारों के नानात्व का विकास।

३. यहाँ पर भगवान् अभिनव ने मूल-पाठ में 'अप्रकाशरूपम्' शब्द का प्रयोग करके वेदान्त के मायावाद, सांख्यों के अव्यक्तवाद और वैशेषिकों के परमाणुवाद की अवास्तविकता की ओर संकेत किया है।

१. विशेषेण 'ज्ञाता'-मात्रा; मानेन; प्रमात्मना, 'त्राणं'-पालनं, पतित्वं यासां प्रमातृ-प्रमाण-प्रमेय-प्रमितिरूपाणां, ता 'मात्रा' विज्ञाता येन तत्—'विज्ञातमात्रम्'--

२. तथा 'विशेषेण' प्रतिपत्तिदार्ढ्यबन्धेन यत् 'ज्ञातं' तत् विभातमेव—न पुनः भावनीयं, 'सकृद्विभातात्मतत्त्वात्',—

(३अ). तथा 'ज्ञातमात्रं' ज्ञातम् एव--ज्ञेयैकरूपत्वात्, न तु कदाचित् ज्ञातृरूपं घटादि,—

(३आ). तथा 'ज्ञाता' ज्ञेयरूपा—भेदमयी इयं 'माया', तदुभयं विगतं यत्र तत् 'विज्ञातमात्रम्',—

'घटादयो यत्र 'ज्ञातृ' एकरूपतया स्वप्रकाशात्मानः, यत्र च माया न प्रभ-

---

'विज्ञातमात्रेण' शब्द की व्याख्या।

(१)—'विज्ञातमात्र' शब्द उस तत्त्व का बोध कराता है, जिसको प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय और प्रमिति ये चार शक्तियाँ स्वयंसिद्ध रूप में जानी पहचानी ही हैं। कारण यह कि वह इनमें से अन्तिम प्रमिति-शक्ति के द्वारा पहली तीन शक्तियों का भरण-पोषण करता रहता है। साथ ही इनमें प्राण फूँकने से इनके पति-भाव (निःसपत्न स्वामिता) की भूमिका भी निभाता रहता है।

(२)— यह अभिप्राय भी है कि विशेष रूप में, अर्थात् एकतान संवेदन की दृढ़ता (शांभव उपाय) के द्वारा जो कुछ भी बोध में प्रकाशित होता है, वह तो शाश्वतिक रूप में ज्ञात ही है। उसको नये सिरे से भावना का विषय बनाने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि आतम-तत्त्व की उपलब्धि तो एक ही बार हो जाती है। (अथवा आत्म-तत्त्व तो शाश्वतिक रूप में प्रकाशमान ही है)।

(३अ)—यह अभिप्राय भी है कि ज्ञान का विषय बनने वाले (घट, पट आदि) भाव प्रमाता के बोध में वर्तमान ही हैं, क्योंकि ये तो केवल ज्ञेय रूप हैं, अर्थात् प्रमाण, प्रमेय और प्रमिति का ही रूप धारण किये हुए हैं। ये घट इत्यादि ज्ञेय-भाव कभी भी ज्ञाता नहीं बन सकते।

(३आ)—यह भी अभिप्राय है कि 'ज्ञाता' शब्द से स्वतन्त्र बोध के द्वारा जानने के योग्य और भेद-भाव से परिपूर्ण 'माया-तत्त्व' अभिप्रेत है। फलतः जिस तत्त्व में ये दोनों, अर्थात् ज्ञेय रूपता और भेद से पूर्णता न पायी जाती हो वही 'विज्ञातमात्र' है।

निष्कर्ष

जहाँ पर घट आदि भावों की राशियाँ ज्ञातृसत्ता के साथ एकाकार होने के

वति, तेन विज्ञातमात्रेण—

'खे' ब्रह्मणि अभेदरूपे स्थित्वा, 'चरति'—विषयम् अवगमयति, तथा हानादानादिचेष्टां विधत्ते, स्वरूपे च आस्ते—इति 'खेचरी'—अन्तर्बहिष्करणतदर्थसुखादिनीलादिरूपा । तथाहि—

कारण स्वप्रकाशमय ही हैं और जिस पर माया-तत्त्व का कोई बस नहीं चलता उसी विज्ञातमात्र का साक्षात्कार करने के द्वारा—

'खेचरीसमताम्' शब्द की व्याख्या, 'खेचरी' शक्ति का विश्लेषण और इसके साम्य एवं वैषम्य का पर्यालोचन ।

खेचरी[1] वह पारमेश्वरी शक्ति है, जो स्वयं सर्वव्यापी और भेदहीन चित्-रूपता पर अविचल-भाव से प्रतिष्ठित रहकर, भिन्न भिन्न इन्द्रियों की भूमिकाओं को स्पन्दायमान बनाती हुई—

१. खेचरी-शक्ति परमेश्वर की स्वातन्त्र्य-शक्ति का ही नामान्तरमात्र है । इसका यह नामकरण इसकी विशेष क्रियात्मकता के आधार पर किया गया है । यह शक्ति प्रत्येक प्राणी की काया में तेरह इन्द्रियों को स्पन्दायमान बना देती है । यह एक ओर भिन्न-भिन्न प्रकार की इन्द्रिय-भूमिकाओं में विचरण करते समय गोचरी, दिक्चरी और भूचरी शक्तियों का रूप धारण करके देहधारी के बौद्धिक क्षेत्र और बाहरी प्रमेय-जगत् का पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित करा देती है और दूसरी ओर स्वयं अपने मौलिक खेचरी रूप में ही अविचलता से अवस्थित रह कर, भिन्न-भिन्न इन्द्रिय-स्रोतों के द्वारा चलते रहने वाले अपने ही बहिर्मुखीन प्रसार को सुव्यवस्थित ढंग से संचालित भी करती रहती है । इसके अतिरिक्त त्रिक-ग्रन्थों में इसकी एक और प्रकार की विशेष द्विमुखी क्रियात्मकता का वर्णन भी किया गया है । वह यह कि एक ओर से यह शक्ति अवरोह-क्रम में गोचरी इत्यादि रूपान्तरों को धारण करके अंतरंग प्रपञ्च को बहिरंग रूप में प्रवृत्त एवं प्रसृत होने की प्रेरणा देती रहती है और दूसरी ओर परमेश्वर के तीव्रतम शक्तिपात के अधिकारी जनों के हृत्कमलों को विकसित करके उनमें बहिरंग प्रमेय-जगत् को अंतरंग अहंभाव में विश्रान्त कर सकने की क्षमता भी उजागर करती रहती है । ऐसी परिस्थिति में यह बात मानव मात्र के संवेदनात्मक अनुपात पर निर्भर रहती है कि इस शक्ति का श्रेयस्कर उपयोग कौन सा हो सकता है ? इसके समुचित प्रयोग को 'खेचरीसाम्य' और अनुचित प्रयोग को 'खेचरी-वैषम्य' की संज्ञा दी गई है । इसके इस साम्य एवं वैषम्य पर आगे चलकर ग्रन्थकार ने स्वयं ही पर्याप्त प्रकाश डाला है । त्रिक दर्शन में इस शक्ति के 'व्योमचरी, चिद्गगनचरी, स्वभावचरखेचरी' इत्यादि अनेक नामान्तर भी प्रस्तुत किये गये हैं ।

'वेद्य-वेदकभाव-अनुल्लासिपदे शून्ये, संविन्मात्र-हगुल्लासे, संवेद्यगत-आन्तरैक्यरूप-दिश्यमान-भेदोल्लासे, स्फुटभेदोद्रेके च क्रमेण व्योमचरी-गोचरी-दिक्चरी-भूचरीभूता याः शक्तयः, ता वस्तुत उक्तनयेन स्वभावचर-खेचरीरूप-शक्त्यविभक्ता एव, इत्येकैव सा पारमेश्वरी शक्तिः। यदुक्तम्—

'शक्तयोऽस्य जगत्कृत्स्नं शक्तिमांस्तु महेश्वरः'।

---

१. (गोचरी-शक्ति का रूप धारण करके अन्तःकरणों की भूमिका पर) वेद्य पदार्थों का बोध कराती है।

२. (दिक्चरी शक्ति का रूप धारण करके बाहरी ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों की भूमिकाओं पर) किसी ज्ञेय विषय को छोड़ने और किसी को पकड़ने की प्रेरणा देती है।

३. (भूचरी-शक्ति का रूप धारण करके नील और सुख रूपी प्रमेय-भूमिका पर) प्रमेय जगत्-प्रपञ्च के रूप में ही अवस्थित रहती है। और—

४. इतनी क्रियात्मकता के साथ ही स्वरूप से कदापि च्युत नहीं होती है। तात्पर्य यह कि—

१. शून्य भूमिका पर—जिसमें प्रमेय-भाव और प्रमातृ-भाव एक दूसरे से अलग होकर भिन्न रूप में विकसित ही नहीं हुये होते हैं,

२. अन्तःकरणों की भूमिका पर—जिसमें केवल आंतरिक संवेदन में ही (इन दोनों के) पार्थक्य-ज्ञान के विकसित होने का आसूत्रण होता रहता है,

३. बाह्य-इन्द्रियों की भूमिका पर—जिसमें उन्हीं ज्ञेय-विषयों का, जो कि आंतरिक संवेदन में प्रमातृ-भाव के साथ एकाकार होते हैं, इन्द्रिय-बोध के द्वारा पूर्ण विकसित भेदरूप में साक्षात्कार होता रहता है और—

४. प्रमेय भूमिका पर—जिसमें प्रमातृ-भाव और प्रमेय-भाव की पारस्परिक भिन्नता स्पष्टतम रूप में विकसित होती रहती है,

क्रमशः जो खेचरी,गोचरी, दिक्चरी और भूचरी शक्तियाँ कार्यनिरत रहती हैं, वे वास्तव में पूर्वोक्त रीति के अनुसार अपने मौलिक स्वभाव, अर्थात् विश्वात्मक खेचरी-शक्ति के साथ नितान्त अभिन्न ही हैं, अतः मूलरूप में वह खेचरी एक ही पारमेश्वरी शक्ति है। इस परिप्रेक्ष्य में कहा गया है—

'महेश्वर'[1] एक ही शक्तिमान् है और यह सारा जगत्-प्रपञ्च उसकी एक

---

१. उपर्युक्त अर्थ गुरुपरम्परा के आधार पर लगाया गया है। साधारण रूप में इस श्लोकार्ध का अर्थ इस प्रकार लगाया जाता है—

'यह सारा जगत् भगवान् की अनन्त शक्तियों का अपरिमित विस्तार है और उस

इति। ततः स्त्रीलिङ्गेन निर्देशः। न हि आत्मनः, मनसः, इन्द्रियाणां, बाह्यानां च भेदविषयस्य व्यवस्थापनं युज्यते—अभिसंधानाद्ययोगाद् अप्रकाशत्वाच्च।

सैव 'खेचरी' कामक्रोधादिरूपतया वैषम्येन लक्ष्यते। तस्याः 'समता', सर्वत्रैव परिपूर्णभैरवस्वभावात्।

'अणुमात्रमपि अविकल-अनुत्तरस्वरूप-अपरिज्ञानम् एव चित्तवृत्तीनां

ही (स्वातन्त्र्य) शक्ति की नाना-रूपता है।'

इसी अभिप्राय को स्पष्ट करने के लिये (खेचरीसमता इस शब्द का) स्त्रीलिङ्ग में निर्देश किया गया है। निश्चय पूर्वक आत्मा (खेचरी-शक्ति), मनस् (गोचरी-शक्ति), इन्द्रियाँ (दिक्चरी-शक्ति) और बाहरी प्रमेय जगत् (भूचरी-शक्ति) इनको अलग अलग सत्तायें मानकर एक दूसरे से भिन्न रूप में व्यवस्थित करना युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि वैसी परिस्थिति में ज्ञेय विषयों का अनुसंधान करने में भुलावा आदि लगना निश्चित होगा, जो कि कतई इष्ट नहीं होगा और इन्द्रिय-बोध के द्वारा वे जाने ही नहीं जा सकेंगे।

वह खेचरी शक्ति ही वैषम्य[1] की अवस्था में काम, क्रोध इत्यादि रूपों में परिलक्षित होती है। अपेक्षित तो यह है कि 'सर्वत्र—अर्थात् शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंधात्मक विषयों का साक्षात्कार या उपभोग करने के अवसरों का आधार 'खेचरी[2]-साम्य' होना चाहिये, क्योंकि यही परिपूर्ण में भैरवात्मक स्वभाव है।

अनुत्तर-स्वरूप की परिपूर्णता का अणुमात्र के बराबर भी अनचीन्हा रह

सारे शक्ति-चक्र का अधिपति महेश्वर है'।

१. किसी भी ज्ञेय विषय का साक्षात्कार करने अथवा इन्द्रिय-वृत्तियों के द्वारा किसी भी भोग का उपभोग करने का आधार यदि केवल देहाभिमान से उत्पन्न होने वाली विषय-पिपासा हो, तो खेचरी शक्ति का वैषम्य समझना चाहिये। अतः कोई भी व्यवहार करने के प्राथमिक क्षण पर ही, उसमें शिवत्व का आभास प्राप्त करने का अभ्यास डालना प्रत्येक श्रेयस्काम व्यक्ति का आवश्यक कर्तव्य है।

२. किसी भी प्रमेय-विषय का साक्षात्कार करने अथवा इन्द्रिय-वृत्तियों के द्वारा किसी भी सुखमय या दुःखमय भोग का उपभोग करने का प्राथमिक और पार्यन्तिक लक्ष्य यदि स्वरूप-लाभ बनाया गया हो, तो 'खेचरी-साम्य' की अवस्था समझनी चाहिये। त्रिक-मान्यता के अनुसार 'खेचरी-साम्य' ही साधक के अन्तस् में शिवत्व को उजागर कर देता है।

वैषम्यम्। स एव च संसारः—अपूर्णताभिमानेन स्वात्मनि अणुत्वापादनाद् 'आणवमलस्य', तद्-अपूर्णरूप-परिपूरण-आकाङ्क्षायां भेददर्शनात् 'मायाख्यस्य मलस्य', तत् शुभाशुभवासनाग्रहेण 'कार्ममलस्य' च उल्लासात्। स्वरूप-अपरिज्ञानमयतद्वैषम्य-निवृत्तौ मलाभावात् क्रोध-मोहादि-वृत्तयो हि परिपूर्ण-भगवद्-भैरवभट्टारक-संविदात्मिका एव। यदुक्तं श्रीसोमानन्दपादैः—

'............तत्सरत्प्रकृतिः शिवः'।

इति। तथा—

'सुखे दुःखे विमोहे च स्थितोऽहं परमः शिवः'।

इति। तथा—

'दुःखेऽपि प्रविकासेन—दुःखार्थे धृतिसंगमात्'।

जाना ही चित्तवृत्तियों का वैषम्य (खेचरी-वैषम्य) है। यहीं पक्षान्तर में संसार-भाव भी समझना चाहिये, क्योंकि इसमें—

१. अपनी ही परिपूर्ण आत्मा के विषय में (अख्याति के द्वारा) अधूरेपन का अभिमान हो जाने से 'आणव-मल' का,

२. आत्मा के इसी (तथाकथित) अपूर्ण रूप को परिपूर्ण बनाने की अभिलाषा में पूर्णता और अपूर्णता में भिन्नता की प्रतीति हो जाने से 'मायीय-मल' का, और—

३. 'यह काम अच्छा है और यह बुरा है'—इस प्रकार अच्छाई और बुराई की वासना का शिकार बन जाने से 'कार्म-मल' का सर्वतोमुखी अभ्युत्थान हो जाता है। स्वरूप के अपरिचय-रूपी खेचरी-वैषम्य के हट जाने पर किसी भी मल का भाव रहने ही नहीं पाता और फलतः सहज ही में यह अनुभूति हो जाती है कि क्रोध, मोह इत्यादि रूपों वाली इन्द्रिय वृत्तियाँ तो निःसंदेह सब ऐश्वर्यों से परिपूर्ण भैरव-भट्टारक की संवित्-शक्ति के साथ अभिन्न ही हैं। इस विषय में श्री सोमानन्दपाद ने कहा है—

'........अतः यह बात स्पष्ट है कि (प्रत्येक रूप में) प्रसार करना शिव का स्वभाव है।'

और—

'निश्चय से 'मैं'—अर्थात् अहंरूप को धारण करने वाला परम शिव, (सत्त्व-गुण के कार्य) सुख, (रजस् के कार्य) दुःख और (तमस् के कार्य) मोह, इन तीनों में स्वयं ही अवस्थित हूँ'।

और—

'दुःखात्मक अनुभूतियों में भी अवश्य शिवत्व का विकास उपलब्ध हो जाता है,

इत्यादि च।

'क्रोधादिवृत्तयो हि चिच्चमत्कार-तादात्म्याद्, अन्यथा तत्स्वरूपलाभस्यैव अयोगाच्च। परमेश्वर्यः करणदेवता एव भगवत्यः तास्ताः क्रीडा वितन्वन्त्यः चिदर्कस्य दीधितिरूपाः। तथा ता एव तत्तत् परस्पर-साङ्कर्य-लब्ध-असंख्येय-रूपाः, तदुच्चाटन-मारण-शान्त्यादिरूपेषु कर्मसु परिकल्पित—तत्तत्-समुचित-

---

क्योंकि (देखा जाता है कि) भौंरा कांटेदार कलियों वाले अथवा सायंकाल बंद हो जाने वाले कमल पर बैठ कर तन्मयता से रसपान करने के अवसरों पर दुःखदायक काम करने पर उतारू हो जाता है।'[1]

इत्यादि भी।

निश्चय से क्रोध इत्यादि इन्द्रिय-वृत्तियाँ चित्-रस की आस्वादमयता के साथ तादात्म्य-संबन्ध में वर्तमान होने से ही अपने रूपों में विकसित हो जाती हैं, अन्यथा उनको अपने अपने रूपों में सत्ता कभी भी प्राप्त नहीं हो सकती। इधर से भगवती 'करण-देवियाँ'—अर्थात् इन्द्रिय[2]-शक्तियाँ ही (शब्द इत्यादि पांच प्रकार के ज्ञेय विषयों के क्षेत्रों में) विभिन्न प्रकार की क्रीडायें करती रहती हैं, क्योंकि वे चित्-सूर्य की किरणरूपिणी ही तो हैं। साथ ही वे करण-देवियां ही भिन्न भिन्न प्रकार के पारस्परिक संकर के द्वारा अनगिनत रूपों में अभिव्यक्त

---

१. इस उद्धरण-वाक्य के विषय में शिवदृष्टि (आ० ५ का० ५) अवश्य द्रष्टव्य है। वहाँ पर इसी श्लोक के अन्तिम दो चरणों में भौंरे का उदाहरण प्रस्तुत किया गया है। कांटेदार कलियों पर रसपान करते समय उसका सारा शरीर क्षत-विक्षत हो जाता है, परन्तु वह अपने काम से निवृत्त नहीं होता, क्योंकि उसको दुःख में भी सुख की अनुभूति प्राप्त हो जाती है।

२. शब्दन, स्पर्शन, दर्शन, आस्वादन और सूंघना ये पांच इन्द्रिय-व्यापार यदि सांसारिक विषय-पिपासा को क्षणिक शान्ति प्रदान करने तक ही सीमित रखे जायें तो 'इन्द्रिय-वृत्तियाँ' कहलाते हैं। इन्द्रिय-वृत्तियाँ अतीव प्रबल होती हैं और बड़े-बड़े ज्ञानी-मानी सत्पुरुष भी दास बनकर उनका अनुसरण करने पर विवश बने रहते हैं। इसके प्रतिकूल यदि इन्हीं उपर्युक्त इन्द्रिय-व्यापारों को तुच्छ सुख भोग के मार्ग से आग्रह-पूर्वक मोड़कर आत्म-अभिव्यक्ति की दिशा पर लगाया जाये, तो ये वृत्तियाँ न रहकर 'इन्द्रिय-शक्तियाँ' बन जाते हैं। ऐसी अवस्था में मानव को इन पर ऐसा असाधारण आधिपत्य स्वतः ही प्राप्त हो जाता है कि वह संसार के बड़े बड़े काम भी सरलता से कर सकता है। इतना ही नहीं, बल्कि वह इन्हीं इन्द्रिय-शक्तियों से अनुत्तरत्व की उपलब्धि भी प्राप्त कर सकता है। करण-देवियाँ, करणेश्वरियाँ, मरीचि-चक्र, शक्ति-चक्र इत्यादि शास्त्रीय शब्द इन्हीं के नामान्तर हैं।

सौम्य-रौद्र-प्रकाराः कृत्यादिभेदात् देवतात्वेन उपास्या उक्ता मतादिशास्त्रेषु भगवद्-भैरव-भट्टारक-परिवारभूताश्च। यथोक्तम्—

'उच्चाटने काकवक्त्रा……।'

इत्यादि उपक्रम्य—

'ता एव देवदेवस्य रश्मयः कादिधारिकाः।'

इत्यन्तम्।

तथात्वेन तु अपरिज्ञातस्वरूपाः चिच्चमत्कारं—विकल्पेऽपि निर्विकल्पैक-सारं—तेन तेन विचित्र-वर्णाक्षर-पुञ्जात्मना घोरतरात्मना, विकल्परूपेण,

---

होकर, 'उच्चाटन'--अर्थात् किसी को ईर्ष्यावश अपने हितैषियों से अलगाने, 'मारण'--अर्थात् किसी को अभिचार इत्यादि से मारने, 'शान्ति'—अर्थात् मन्त्रादि से किसी का दुःख-दर्द दूर करके उसको शान्ति प्रदान करने के अवसरों पर, उन उन कार्यों की प्रकृति के अनुसार मङ्गलमय या उग्र रूपों को धारण कर लेती हैं। इसी आधार पर (द्वैताद्वैत-सिद्धान्त पर आधारित) मततन्त्र इत्यादि शास्त्रों में इनको, इन्हीं उल्लिखित आह्लादक या उद्वेजक कार्यों की भिन्नता के अनुसार, 'कृत्या[1]' इत्यादि भेदों में विभक्त करके, देवता रूप में इनकी उपासना[2] करने का विधान समझाया गया है। यह भी बताया गया है कि वास्तव में ये भगवान् भैरव-भट्टारक का निजी शक्ति-परिवार ही हैं। जैसा कि—

'उच्चाटन करने के लिये काकवक्त्रा……।' इत्यादि से आरम्भ करके—

'ककार इत्यादि रूपों को धारण करने वाली वे ही इन्द्रिय-शक्तियाँ, देवताओं के भी देवता शिव की 'रश्मियाँ'—अर्थात् निजी शक्ति-परिवार हैं'।

यहाँ तक समझाया गया है।

यदि इस खेचरी-परिवार का उल्लिखित रूप में परिचय न हो तो यह विचित्र प्रकार के अक्षर[3]-समूहों का रूप धारण करने वाले, अत्यन्त भयोत्पादक

---

१. आचार्य जी ने तन्त्रालोक (३. २६५) में विशुद्ध अभेद भूमिका में विचरण करने वाली इन्द्रिय शक्तियों का भी कृत्य, नाम एवं उपासना के आधार पर रूप-वैविध्य दिखाया है। परन्तु यहाँ पर वैसा प्रसङ्ग न होने के कारण 'कृत्या' यह शब्द एक देवी का नाम है। तांत्रिक लोग अनुष्ठान के द्वारा इसको सामने लाकर इसके द्वारा शत्रु का नाश करवाते हैं।

२. यही वह 'करणोपासना' है, जिसका उल्लेख 'कौलिकसिद्धिदम्' शब्द की व्याख्या में उद्धृत किये गये सोमानन्द पाद के उद्धरण-वाक्य में किया गया है।

३. त्रिक-मान्यता के अनुसार सारे वर्णों में विभिन्न प्रकार की शक्तियाँ निहित हैं,

देवतात्मना, शङ्कातङ्कानुप्रवेशेन तिरोदधत्यः सांसारिक-पाश्य-पशुभाव-दायिन्यः। यथोक्तम्—

'पीठेश्वर्यो महाघोरा नर्तयन्ति मुहुर्मुहुः।'

इति। तथा—

'विषयेष्वेव संलीनानधोऽधः पातयन्त्यणून्'।

इत्यादि। तथा—

'शब्दराशिसमुत्थस्य शक्तिवर्गस्य भोग्यताम्।
कलाविलुप्तविभवो गतः सन् स पशुः स्मृतः॥'

इति।

ज्ञातस्वरूपाः ता एव उक्तयुक्त्या जीवन्मुक्तताप्रदायिन्यः।

यथोक्तम्—

(घोरतर), केवल विकल्परूपी और स्वेच्छाचारिता का खिलवाड़ करने वाले शंकाजाल के उपद्रव को घुसेड़ने के द्वारा, चित्-रस की आनन्दमयता पर आवरण डालकर, आवागमन के पाश में फंसाने वाले पशुभाव की सर्जना ही कर देता है। इस विषय में कहा गया है—

'पीठेश्वरियाँ—अर्थात् वर्ण-समुदायों में निहित रहने वाली शक्तियाँ, अतीव घोर रूप को धारण करने वाली होती हैं। ये पशुओं को बार बार अगणित नाच नचवाती हैं'।

और—

'ये शक्तियाँ अणुओं को प्रति समय केवल विषयों का उपभोग करने पर लगाकर नीचे नीचे ही धकेलती रहती हैं'।

इत्यादि। और—

'शब्द[1] राशि से उद्भूत शक्ति वर्ग की वश्यता में पड़े हुये पति-प्रमाता का ही पशु-प्रमाता का नाम पड़ा है, क्योंकि कलासमूह ने उसके असीम वैभव (स्वातन्त्र्य) को तहस-नहस करके रखा है।'

यदि इन्हीं करण-शक्तियों के वास्तविक शक्तिरूप की अनुभूति हो जाये तो ये ही, पूर्वोक्त युक्ति के अनुसार, जीवन्मुक्ति की अवस्था को देनेवाली सिद्ध हो

अतः वे किसी भी समय अच्छे या बुरे प्रभावों को आँख की पलक में उत्पन्न कर सकते हैं।

१. यहाँ पर उदाहरणों के रूप में प्रस्तुत किये गये सारे स्पन्द-वाक्यों का ब्योरेवार अभिप्राय समझने के लिये प्रस्तुत लेखक का स्पन्दकारिका भाषानुवाद द्रष्टव्य है।

'यदा त्वेकत्र संरूढस्तदा तस्य लयोद्भवौ ।
नियच्छन् भोक्तृतामेति ततश्चक्रेश्वरो भवेत् ॥'

इति ।

स्वरूपपरिज्ञानं तु एतावदेव—यदेतासु क्रोधादिषु वृत्तिषु उदयसमय-निर्विकल्पैकरूपासु, विकल्पोऽपि उदयमानो वर्णराशि-समारब्ध-तत्तद्विचित्र-शब्दारूषितत्वेऽपि न तादृशेन वर्णपुञ्जात्मना शक्तिचक्रेण युज्यते यत्तस्य प्राक्तन-निर्विकल्पैकव्यवहारमयस्य विकल्पात्मनो मातुः स्वरूपं खण्डयेत् ।

जाती हैं। जैसा कहा गया है—

'जब कोई साधक सामान्य-स्पन्द की पदवी पर प्रतिष्ठित हो जाये तब वह स्वतन्त्रता पूर्वक उस शक्ति-चक्र की सर्जना और संहार करता हुआ, स्वयं उसका भोक्ता बन जाता है। इस प्रकार से वह शक्ति-समुदाय का अधिपति (पतिप्रमाता) बन जाता है'।

इन्द्रिय-शक्तियों के वास्तविक स्वरूप की जानकारी होने का तात्पर्य केवल इतना है कि—

'उत्थान-काल के प्राथमिक क्षण पर विशुद्ध निर्विकल्प रूप (चित्-रूप) को ही धारण करने वाली इन क्रोध इत्यादि इन्द्रिय-वृत्तियों के अभ्युत्थान के अवसरों पर, (कायिक और वाचिक विकारों के रूप में) विकल्पों का उदय भी साथ साथ ही हो जाता है। (परन्तु सचेत पुरुषों के लिये) वे विकल्प, वर्णसमुदायों से बनने वाले शब्दों के द्वारा (कथित रूप में) रञ्जित होने पर भी, किसी वैसे वर्णपुञ्जों का रूप धारण करने वाले शक्तिचक्र के साथ जुड़ नहीं जाते, जो कि मूलतः केवल निर्विकल्प व्यवहार चलाने के अभ्यासी और (तत्कालीन परिस्थिति वश) विकल्पों में पड़ने वाले प्रमाता के स्वरूप को खंडित[1] कर सकें। ये (क्रोध

---

१. तात्पर्य यह कि खेचरी-साम्य पर चलने के अभ्यासी योगिजन के मन में भी कभी-कभार परिस्थितिवश क्रोध आदि वृत्तियों का उदय हो जाता है। ऐसे अवसरों पर वह भी साधारण व्यक्तियों की भाँति ही विकल्पमय व्यवहार करता हुआ दिखाई देता है। परन्तु उसकी ऐसी स्थिति को वास्तविकता समझने के धोखे में कभी भी पड़ना नहीं चाहिये। उसको तो अपने शक्ति-चक्र पर ऐसा असाधारण अधिकार प्राप्त हुआ होता है कि वह उस विकल्प जाल को अपने ऊपर प्रभावी नहीं होने देता। ऐसा योगी ऐसे अवसरों पर, बाहरी तौर से तदनुकूल कार्यों को करता हुआ भी, अन्दर से अत्यन्त सावधानता पूर्वक स्वरूप पर स्थिर बना रहता है। कारण केवल इतना है कि ऐसे

न च विकल्पा अनुभवात् विकल्पान्तराद्वा भिन्नाः, अपि तु स एव एकः स्वातन्त्र्यभेदित-भावोपराग-लब्धभेद-भूताद्यभिघ-विज्ञानचक्र-प्रभुः। तदेवं 'खेचरी-साम्यम्' एव मोक्षः।'

तच्च अनुत्तर-स्वरूप-परिज्ञानम् एव सततोदितं, परमेश्वर्याः शिवात्मनि

आदि वृत्तियों के अभ्युत्थानों के साथ उद्भूत होने वाले) विकल्प, स्वरूप-अनुभूति का नाम धारण करने वाले 'दूसरे प्रकार के विकल्प'—अर्थात् निर्विकल्प-ज्ञानरूपी विकल्प से, किसी भी रूप में भिन्न नहीं हुआ करते[1], बल्कि वास्तविकता तो यह है कि वह अकेला निर्विकल्प ज्ञानरूपी विकल्प ही, निजी स्वातन्त्र्य से अलगाये हुए भावों की रंजना से भिन्नताओं का विषय बनने वाले 'विज्ञान चक्र'—अर्थात् सविकल्प-ज्ञानरूपी विकल्प परम्परा का नियामक (उत्पादक) होता है। फलतः इस [2]रीति के अनुसार 'खेचरी-साम्य' की अवस्था ही मोक्ष कहलाती है।

शब्द, स्पर्श,[3] रूप, रस और गंधात्मक विषयों के ग्रहण-कालों में खेचरी-साम्य की अनिवार्यता।

'वह[4] अनुत्तर-स्वरूप का यथार्थ ज्ञान ही मात्र ऐसी सत्ता है, जो कि 'सतत'

अवसरों पर भी, उसके मुख से निकलने वाले वर्ण, शक्ति-चक्र के घोर रूप से कदापि जुड़ने ही नहीं पाते।

१. पारमार्थिक और अपारमार्थिक विकल्पों में कोई भी स्वरूपगत भेद नहीं होता। विकल्प चाहे शुभ हो या अशुभ, वह तो विकल्प ही है। निर्विकल्प कहा जाने वाला भाव भी वास्तव में विकल्प ही है, नहीं तो उसका अनुभव ही कैसे होने पाता? दर असल प्रत्येक ज्ञान अपनी प्राथमिक कोटि पर निर्विकल्प होता है। अनन्तर वह निर्विकल्प ही दूसरी कोटि पर भिन्नताओं को अङ्गीकार कर सविकल्पक रूप में उद्भूत हो जाता है। अतः सारी सविकल्प-परम्परा का एकमात्र संचालक मौलिक निर्विकल्प-ज्ञान ही हुआ करता है।

२. किसी भी क्रोध-काम इत्यादि रूप वाली इन्द्रिय-वृत्ति के ऊपरी बनावटी वर्ण-पुञ्जात्मक रूप पर ही अटके रहने को भूलकर, उसमें अन्तर्निहित रहने वाली चिन्मात्ररूपता के निरन्तर अनुसंधान में लगे रहना ही 'खेचरी-साम्य' की अवस्था को प्राप्त कर सकने की सुगम एवं सहज रीति है। इसी क्रिया को दूसरे शब्दों में विकल्प-संस्कार भी कहते हैं। यही 'युक्त-योगी' की अवस्था भी है।

३. यहाँ पर ग्रन्थकार 'स्पर्शात्मक' क्षेत्र में 'खेचरी-साम्य' की विशेष आवश्यकता का उल्लेख कर रहे हैं, क्योंकि इसमें, अनुत्तर-भूमिका पर 'शिव-शक्ति-संघट्ट' और लोक-भूमिका पर सर्व साधारण दम्पतियों के पारस्परिक संयोग के द्वारा सम्पन्न होने वाली

संघट्टसमापत्त्या उभय-विमर्शानन्द-रूढि। शिवो हि परवाङ्मय-महामन्त्र-वीर्य-

--अर्थात् समाधि-काल और व्युत्थान-काल दोनों में, समान रूप से, उदित अवस्था में वर्तमान है। यही ज्ञान, परम ऐश्वर्य से परिपूर्ण परा-भट्टारिका के, अपने ही आत्मरूपी शिव-भाव में 'संघट्ट', अर्थात् संघटन अथवा तन्मयीभावात्मक मिलन की अवस्था में, समान रूप से दोनों के, चिदानन्दमयी विमर्शात्मक पदवी पर अविचल रूप में आरूढ़ रहने का मूल रहस्य[1] है। निश्चय से शिव[2], सर्वोत्कृष्ट वाङ्मयता के एकमात्र प्रतीक 'महामन्त्र'--अर्थात् अहं-प्रकाश का

'विसर्गरूपता' (सृष्टि विकास) का मूल रहस्य अन्तर्निहित है।

४. ग्रन्थकार ने प्रस्तुत प्रकरण लिखते समय अपेक्षा से बहुत अधिक सांकेतिक भाषा का प्रयोग किया है। गुरु लोग भी इसकी व्याख्या करने के अवसरों पर अधिक से अधिक सांकेतिक शब्दों का प्रयोग करना ही श्रेयस्कर समझते हैं। कारण यह कि इसका अध्ययन करने वाले पाठक को अतीव सावधान रहने की आवश्यकता पड़ती है, नहीं तो 'खेचरी-वैषम्य' का शिकार बन जाना कहीं दूर नहीं। फलतः इस प्रकरण का भाषानुवाद करते समय यद्यपि कुछ मात्रा तक स्पष्टवादिता से ही काम लिया गया है, परन्तु तो भी कभी कभी अत्यधिक स्पष्टवादिता अरुचिकर भी बन सकती है।

१. लोक-व्यवहार की भूमिका पर भी जब एक मिथुन के दोनों सदस्यों में स्वरूप-चेतना, आंशिक रूप में ही सही, उजागर हो और दोनों के मन में 'खेचरी-साम्यात्मक' प्रवृत्तियाँ ही प्रबल हों, तभी वे पारस्परिक मिलन-क्षणों पर वास्तविक स्वरूप-चमत्कार मयी आनन्दमयता में तल्लीन हो सकते हैं। फलतः लोक-भूमिका पर भी अधिक से अधिक आनन्दमयता की अनुभूति पर ही, यथार्थ विसर्गात्मकता, अर्थात् हृष्ट-पुष्ट सृष्टि विकास की उत्तरोत्तर पूर्णता निर्भर रहती है। इस तथ्य का स्पष्टीकरण आगे चलकर स्वयं ही होगा। यहाँ पर केवल इतना संकेत देना आवश्यक है कि यदि दाम्पत्य का आधार 'खेचरी-वैषम्य' हो तो आत्म-शक्ति का ह्रास हो जाने से सृष्टि-विकास में महान् अनिष्ट एवं अवनति उत्पन्न हो जाने की आशङ्का निश्चित है।

२. अनुत्तर-भट्टारक अपने अहंप्रकाशमय महावीर्य को परा-भट्टारिका के अहंविमर्शमय गर्भ में विसर्जित करने के स्वयंसिद्ध स्वभाव के द्वारा, बहिर्मुखीन विश्व की सर्जना के कल्पनातीत एवं अतिदुर्घट कृत्य को संपन्न करने के रूप में, शाश्वतिक रूप में निजस्वरूप का प्रसार करते रहते हैं। इस विश्वात्मक प्रसार की प्रक्रिया को शास्त्रीय शब्दों में 'अ-कला' की विसर्गान्तता कहते हैं, जिसका उल्लेख 'अनुत्तर' शब्द की १५ वीं व्याख्या में हो चुका है। इस सम्बन्ध में कई बातों की चर्चा करना युक्तियुक्त प्रतीत होता है। शिव-वीर्य का रूप केवल 'अहं-प्रकाश' है। जिस अवस्था में शिव विशुद्ध प्रकाश

विसृष्टिमयः, परमेश्वरी-विसृष्टया तद्वीर्य-घनतात्मक-प्रसून-निर्भरया सृष्टया

रूप धारण करने वाले 'शिव-वीर्य'--अर्थात् स्थूल शब्दादि के विभाग से रहित 'सामान्य-प्रकाशात्मक-स्पन्दन रूपी' शुक्र का, (सामान्य सृष्टि के रूप में) विसर्जन करने के स्वभाव वाला है। परमेश्वरी परा-भट्टारिका भी, उस शिव-वीर्य को उत्तेजना देने वाली 'प्रसून-अवस्था' अर्थात् सामान्य-प्रकाशमय स्पन्दन को ही, (शब्द वीर्य, स्पर्श वीर्य, रूप वीर्य, रस वीर्य और गंध वीर्य इन स्पष्ट रूपों में) 'विशेष-विमर्शमय स्पन्दन' का रूप प्रदान करने के लिये सक्षम 'कुसम-अवस्था' से भरित रहने के स्वभाव वाली है। फलतः विश्वात्मक सृष्टि-प्रसार की सम्पन्नता के लिये 'सामान्य-विसर्गात्मक' शिव-भाव का, 'विशेष-विसर्गात्मक' शक्ति-भाव के साथ संयुक्त हो जाना एक आवश्यक अनुत्तरीय व्यवस्था है'। इस कथन की

के रूप में अवस्थित रहते हैं, उस अवस्था में केवल चित्-रूपता की प्रधानता होने के कारण विमर्शमयी शाक्त-स्फुरणा भी, अभिन्न होकर उसी अचल प्रकाशमयी अवस्था में लीन होकर अवस्थित रहती है। दूसरे प्रकार से इस अवस्था को अहं-प्रकाशमय महावीर्य की 'शान्त-अवस्था' समझा जाता है। किसी भी प्रकार के वीर्य का जब तक कोई पृथक् आलम्बन न हो, तब तक उसका शान्त अवस्था में पड़ा रहना स्वाभाविक ही है और इस अवस्था में उसके विसर्ग का कोई प्रश्न ही नहीं उठता।

इसके अतिरिक्त यह भी ध्यान में रखना आवश्यक है कि 'शिव-वीर्य' में, आगामी शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंधात्मक रूपों वाले 'विशेष-वीर्यात्मक' तत्त्व भी उसी सामान्य प्रकाशमय महावीर्य के रूप में ही वर्तमान रहते हैं। यही कारण है कि आगामी विशेष शब्द, स्पर्श इत्यादि विषयों की, अथवा दूसरे शब्दों में यह कहना भी उचित है कि सारे जड़-चेतनात्मक विश्व की, सामान्य विसृष्टि ही 'शिव-विसर्ग' का वास्तविक रूप है।

सर्जना की ओर उन्मुखीभाव की अवस्था में प्रकाशमय शिव अपने ही अभिन्न विमर्शमय शक्ति-भाग को विसर्गात्मकता का आलम्बन बना लेते हैं। इस अवस्था को 'महावीर्य' की उत्तेजित अवस्था समझा जाता है।

आलम्बन का रूप धारण करने वाली 'परा-शक्ति' में, प्रकाशमय शिव-वीर्य को विमर्शमयी घनता प्रदान करके विशेष शब्दादि के रूप में विसर्जित करने की शाश्वतिक अभिलाषा भरी रहती है। यही उसकी 'प्रसून-अवस्था' समझी जाती है। सामान्य शब्दादि की विशेष विसृष्टि ही 'शक्ति-विसर्ग' का वास्तविक रूप माना जाता है। इस प्रकार से अनुत्तरीय स्तर पर शाश्वत प्रकाश और विमर्श की संपृक्तता में ही विश्व-विकास का रहस्य भरा है और केवल 'खेचरी-साम्य' ही इसकी आधार शिला है।

युज्यते। तथा हि—

सर्वेषाम् अन्तर्बहिष्करणानां यद्यद् अनुप्रविशति तत्तत् मध्यनाडीभुवि सर्वाङ्गानुप्राणनसारायां, प्राणात्मना चेतनरूपेण आस्ते, यत् 'ओजः'—इति कथ्यते, तदेव सर्वाङ्गेषु अनुप्राणकतया तदविभक्त-वीर्य-रूपत्वेन। ततः पुनरपि नयन-श्रवणादीन्द्रियद्वारेण बृंहकरूपं रूपशब्दादि अनुप्रविशत्, बृंहकत्वाद् एव,

---

मीमांसा आगे प्रस्तुत की जा रही है। इस कथन का स्पष्टीकरण निम्न प्रकार से है—

'सारे अन्तःकरणों और बाहरी इन्द्रियों के जो जो विषय (शब्द इत्यादि) अंतस् में प्रविष्ट होते रहते हैं, वे सारे शरीर के प्रत्येक अवयव में जीवन-तत्त्व का संचार करने वाली मध्यनाड़ी (सुषुम्णा) की भूमिका में, सामान्य प्राणना के रूपवाले चेतना-तत्त्व के रूप में पहले से ही विद्यमान होते हैं। उस चेतना-तत्त्व को 'ओज'[1] कहते हैं। वही 'ओज' शरीर के सारे अङ्गों में सामान्य अनुप्राणक वीर्य के रूप में संचरित होता रहता है और (अनुकूल उत्तेजना के अभाव में) उसमें शब्द, स्पर्श इत्यादि रूपों वाला कोई विशेष विभाग नहीं होता। अनन्तर जब शरीर के अन्दर 'ओज'[2] के रूप में विद्यमान वीर्य को उत्तेजना देनेवाले रूप, शब्द इत्यादि क्रमशः नेत्र, कान इत्यादि इन्द्रियों के द्वारों से अन्तस् में प्रविष्ट हो जाते हैं, तब वे, उत्तेजक होने के कारण से ही, स्पर्शात्मक वीर्य को

लौकिक स्तर पर भी सृष्टि के विकास का रूप कुछ ऐसा ही है, परन्तु वह प्रायः 'खेचरी वैषम्य' पर ही आधारित होता है।

१. ओज वास्तव में शब्दात्मक, स्पर्शात्मक इत्यादि पांच प्रकार के वीर्यों की मौलिक एवं विभागहीन 'सामान्य-वीर्यात्मक' अवस्था है। पांचभौतिक काया में यही मात्र अनुप्राणक तत्त्व है और सुषुम्णा नाड़ी ही इसके स्रोत का मूल उद्गम-स्थान है।

२. 'ओज' तब तक शब्द इत्यादि में से किसी एक या एक साथ ही सारे वीर्यों के रूप में उत्तेजित होकर विभाग को प्राप्त नहीं कर लेता, जब तक इन्द्रिय-बोध के द्वारा किसी प्रकार के वीर्य को उत्तेजित करने वाले अनुकूल आलम्बन का साक्षात्कार न हो जाये। उदाहरणार्थ कानों के द्वारा कल गान का, त्वचा के द्वारा कोमल स्पर्श का, नयनों के द्वारा सुन्दर रूप का, जिह्वा के द्वारा अभीष्ट रस का और नाक के द्वारा अभीष्ट गंध का साक्षात्कार हो जाने से ही क्रमशः शब्द इत्यादि रूपों वाला वीर्य उत्तेजित हो जाता है। इस सम्बन्ध में यह भी ध्यान में रखना आवश्यक है कि इन शब्द इत्यादिकों में से प्रत्येक प्रकार का वीर्य सर्व-सर्वात्मक होता है, अतः कभी-कभार एक ही प्रकार के वीर्य को उत्तेजित करने वाले आलम्बन का साक्षात्कार हो जाने पर शेष चार भी अकस्मात् उत्तेजित हो जाते हैं। इस सम्बन्ध में आगे यथास्थान चर्चा होगी।

तद्वीर्य-क्षोभरूप-कामानल-प्रबोधकं भवति। यथोक्तम्—

'आलापात् गात्रसंस्पर्शात्..............'।

इत्यादि। एकेनैव च रूपाद्यन्यतमेन उद्रिक्त-प्राक्तन-बलोपबृंहितस्य सर्व-विषय-करणीयोक्त-क्षोभकरण-समर्थत्वं सर्वस्य-सर्वस्य सर्वसर्वात्मकत्वात्। स्मरण-विकल्पादिनापि सर्वमय-मनोगत-अनन्त-शब्दादि-बृंहणवशात् जायत एव क्षोभः। परिपुष्ट-सर्वमय-महावीर्यमेव पुष्टि-सृष्टिकारि, न तु अपूर्णं, नापि क्षीणं, समुचित-शैशव-वार्धकयोरिव। वीर्यविक्षोभे च वीर्यस्य, स्वमयत्वेन

क्षुब्ध बनाने के रूप में कामाग्नि[1] को भड़का देते हैं। जैसा कि इस सम्बन्ध में—

'केवल बातचीत करने से या किसी अंग का स्पर्श हो जाने से..........।'

इत्यादि कहा गया है।

प्रत्येक इन्द्रिय और उसका विषय सर्वसर्वात्मक होता है। इसलिए रूप इत्यादि इन्द्रिय-विषयों में से किसी एक का ही साक्षात्कार हो जाने से, पूर्वोक्त ओजोरूपी वीर्य के उत्तेजित हो जाने पर, सारी इन्द्रियों की चेतनायें स्वयं ही उत्तेजित हो जाती हैं और परिणामतः वह एक ही इन्द्रिय-विषय अन्य सारे इन्द्रिय-विषयों के द्वारा उत्पन्न किये जाने वाले क्षोभ को उत्पन्न करने में समर्थ बन जाता है। मन भी सर्वसर्वात्मक है, अतः किसी (स्त्री इत्यादि) विषय का केवल स्मरण या संकल्प करने से ही, उसमें विद्यमान अनन्त प्रकार के शब्द इत्यादि रूपों वाले वीर्य को उत्तेजना मिलती है और अवश्य मानसिक क्षोभ उत्पन्न हो जाता है, सर्वमय रूप में ही परिपक्व बने हुए 'महावीर्य'[2] से परि-पुष्ट सृष्टि का विकास हो जाता है। अपूर्ण[3] और क्षीण वीर्य से, जैसा कि क्रमशः

---

१. भाव यह कि किसी अवसर पर किसी अभिलषित स्त्री का साक्षात्कार हो जाने पर उसके रूप, शब्द इत्यादि नेत्र, कान इत्यादि इन्द्रियों के द्वारों से अन्तस् में प्रविष्ट हो जाते हैं। उस समय उसके साथ साक्षात् स्पर्श न होने पर भी, शरीर में पहले से ही विद्यमान 'स्पर्श-वीर्य' उत्तेजित हो जाता है और सहसा कामाग्नि भड़क उठती है।

२. यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाये तो 'महावीर्य' की संज्ञा केवल अहं-प्रकाशमय शिववीर्य को ही सजती है, क्योंकि यथार्थ सर्वमयता का पूरा विकास उसीमें परि-लक्षित होता है। अस्तु, यहाँ पर भगवान् अभिनव ने लौकिक स्तर पर भी ऐसे वीर्य को 'महावीर्य' का नाम दे दिया है, जिसमें शब्द, स्पर्श इत्यादि रूपों वाली वीर्यात्मकता का पूरा परिपाक पाया जाता हो।

३. यदि 'खेचरी-वैषम्य' का नारकीय भूत सवार हो जाने के फल-स्वरूप वीर्य को

अभिन्नस्यापि अदेशकालकलित-स्पन्दमय-महाविमर्श-रूपमेव परिपूर्ण-भैरव-संविदात्मकं स्वातन्त्र्यम् आनन्दशक्तिमयं, सुरतप्रसवभूः। नयनयोरपि हि रूपं तद्वीर्य-विक्षोभात्मक-महाविसर्ग-विश्लेषण-युक्त्या एव सुखदायी भवति,

---

बचपन[1] और बुढ़ापे में पाया जाता है, ऐसा कभी भी संभव नहीं हो सकता। यद्यपि वीर्य स्वरूपमय होने के कारण निजी आत्म-भाव से अलग नहीं होता, तो भी उसकी उत्तेजना क बेला पर अनुभूति में आनेवाला आह्लाद का मूल उद्गम स्थान, वह परिपूर्ण भैरवीय-संवित् रूपी स्वातन्त्र्य ही है, जो कि—देश एवं काल की सीमाओं से अतिगत, स्पन्दमय महा-विमर्श के रूप को धारण करनेवाला और आनन्द शक्ति से सराबोर है। नयनों को सुन्दर रूप और कानों को मीठा मीठा गान, केवल इन इन्द्रियों के अनुकूल वीर्य की विक्षुब्ध (उत्तेजित) अवस्था का रूप धारण करनेवाली 'महाविसर्ग[2]-विश्लेषण' की युक्ति से ही सुखदायी बन

अच्छी तरह से परिपक्व और आत्म चेतना को अच्छी प्रकार विकसित न होने दिया गया हो, तो संतति क्षैण्य, संतति क्षय या किन्हीं परिस्थितियों में पूर्ण कुलनाश हो जाने की संभावना बनी ही रहती है। इसके अतिरिक्त ऐसी परिस्थिति में दाम्पत्य की पार्यन्तिक स्वरूप-चमत्कारात्मक परिणति, जैसी कि खेचरी-साम्य के द्वारा अपेक्षित है, संभव नहीं हो सकती। फलतः हृष्ट एवं पुष्ट सृष्टि-विकास में सौ सौ बाधाओं का खड़ा हो जाना अवश्यंभावी बन जाता है।

१. शैशवकालीन वीर्य अपरिपक्व और वृद्धावस्था का वीर्य क्षीण होने के कारण न तो 'महावीर्य' कहा जा सकता है और न इनसे परिपुष्ट सृष्टि का विकास हो सकता है। यह बात तो स्वाभाविक है, परन्तु किन्हीं परिस्थितियों में खेचरी-वैषम्य की कुत्सित एवं जघन्य प्रवृत्तियों की प्रबलता के कारण युवावस्था में भी वीर्य उपर्युक्त 'महावीर्य' के रूप में विकसित नहीं होने पाता। इसके फलस्वरूप सृष्टि के सर्वतोमुखी विकास-कार्य को जो क्षति पहुँचने की आंशका बनी रहती है, उसके लिये आचार्य जी ने मानव पशु-समाज को स्वयं दोषी ठहराया है।

२. 'महाविसर्ग-विश्लेषण' यह पारिभाषिक शब्द 'महाविसर्ग' और 'विश्लेषण' इन दो शब्दों के योग से बना हुआ समस्त पद है। त्रिकीय परिप्रेक्ष्य में इस शब्द से, अहं प्रकाशमय शिववीर्य के 'महान् विसर्ग'—अर्थात् बहिरंग विश्वप्रसार के रूप में विसर्जित किये जाने के रूप वाले आनन्दात्मक चमत्कार का 'विश्लेषण = वि + श्लेषण'—अर्थात् स्वरूप में ही पूर्णरूप में सोखने का अभिप्राय लिया जाता है। इस दृष्टि से अनुत्तर-तत्त्व, शाश्वतिक रूप में, महाविसर्ग-विश्लेषणमय ही है। भाव यह कि वह स्वरूप में ही महान् अहंवीर्य के विसर्ग को सम्पन्न करने और स्वरूप में ही उससे

श्रवणयोश्च मधुरगीतादि। 'अन्यत्र अपि इन्द्रिये अन्यत् केवलं परिपूर्णसृष्टितां न अश्नुते—स्वात्मन्येव उच्छलनात्'। तथा च तद्वीर्यानुपबृंहितानाम् अविद्यमान-तथाविध-वीर्यविक्षोभात्मक-मदनानन्दानां पाषाणानामिव रमणीयतर-तरुणीरूपमपि, नितम्बिनी-वदन-घूर्णमान-काकली-कलगीतमपि न पूर्णानन्द-पर्यवसायी। यथा यथा च न बृंहकं भवति तथा तथा परिमित-चमत्कार-पर्यवसानम्। सर्वतो हि अचमत्कारे जडतैव। अधिकचमत्कारावेश एव वीर्यविक्षोभात्मा सहृदयता उच्यते। यस्यैव एतत् भोगासङ्गाभ्यास-निवेशिता-

सकता है। इतना तो है कि किसी षण्ढ या उत्तेजना से विहीन वीर्यवाले व्यक्ति की इन्द्रिय में यह युक्ति परिणति की चरमसीमा पर पहुँचने नहीं पाती, क्योंकि ऐसे व्यक्तियों को अपने अंतस् की परिधि में ही 'उच्छलना'—अर्थात् वीर्य की उत्तेजना का क्षीण अनुभव मात्र होता रहता है।

इसका तात्पर्य यह कि जिन व्यक्तियों का वीर्य पूर्णरूप से परिपक्व न बना हो और जिनमें वैसे महावीर्य को (महाविसर्ग-विश्लेषण की युक्ति से) विक्षुब्ध अवस्था का रूप धारण करनेवाले सच्चे कामसुख की अनुभूति न हो, उन पत्थरों के समान जड़ों के लिए, तरुणी सुन्दरियों की कमनीय रूपच्छटा अथवा पतली कमर वाली ललनाओं के मुखों से उद्भूत, झूम में डालनेवाले और मदिर स्वरों पर तिरते हुए मधुर गीत भी परिपूर्ण स्वरूप-आनन्द की अनुभूति में पर्यवसित नहीं हो पाते। (इन इन प्रकारों के आकर्षण पदार्थ भी) जितनी जितनी कम मात्रा में उनमें उत्तेजना उत्पन्न करते हैं, उतनी उतनी ही कम मात्रा में चमत्कारोत्पादक भी बन जाते हैं। यदि चमत्कारिता का नितान्त अभाव ही बना रहे तो ऐसे व्यक्तियों को पूरे जड़ ही समझना चाहिए। अधिक से अधिक चमत्कारिता के आवेश को ही उत्तेजित वीर्य रूपी रसिकता कहा जाता है। जिस किसी नरपुङ्गव का हृदयमात्र खेचरी–साम्यात्मक प्रवृत्तियों पर आधारित

जनित आनन्दमयता का आस्वाद लेने वाला तत्त्व है। समूची बहिरंग विश्वमयता का प्रसार भी अनुत्तर-तत्त्व के इसी महाविसर्ग-विश्लेषणात्मक स्वभाव का लोकोत्तर चमत्कार है।

लोक भूमिका पर भी शब्द आदि ज्ञेय विषयों का साक्षात्कार हो जाने पर किसी भी प्रकार का वीर्य उत्तेजित हो जाने की अवस्था में जिस अनिर्वाच्य और केवल निजी अनुभूति से ही गम्य आन्तरिक सुख की अनुभूति हो जाती है, उसके मूल में भी यही महाविसर्ग विश्लेषण की युक्ति कार्य निरत होती है। इस दृष्टि से इस युक्ति का स्वरूप-चमत्कारमयी अनुभूति के साथ साक्षात् सम्बन्ध है।

नन्त-बृंहक-वीर्य-बृंहितं हृदयं, तस्यैव सातिशय-चमत्क्रिया ।

दुःखेऽपि एष एव चमत्कारः । अन्तर्व्यवस्थितं हि यद्यत् दयितासुतसुखादि वीर्यात्मकं, तदेव भावनासदृश-दृगाक्रन्दादि-बोधेन क्षोभात्मकं विकासमापन्नं,—'पुनर्न भविष्यति'—इति नैरपेक्ष्यवश-विशेषचमत्क्रियात्म दुःखसतत्त्वम् । तदुक्तम्—

'दुःखेऽपि प्रविकासेन..............।'

सुखभोग के प्रति आसक्त रहने का अभ्यासी होने के कारण, अपने अंदर संचित किये हुए उत्तेजक महावीर्य को उत्तेजना में भरपूर हो, उसी को अतिशय मात्रा में चमत्कारात्मक आनन्द की अनुभूति हो पाती है।

(खेचरी-साम्य की प्रवृत्तियों वाले व्यक्ति को) दुःखात्मक परिस्थितियों में भी ऐसे ही आनन्दमय आस्वाद की अनुभूति हो जाती है। इसका अभिप्राय यह कि किसी व्यक्ति के अंतस् में जो (जीवित स्त्री या पुत्र इत्यादि की संयोगदशा में अनुभव किया हुआ) सुखबोध 'वीर्यात्मक रूप में', अर्थात् कभी शान्त और कभी उत्तेजित अवस्था को ग्रहण करनेवाले वीर्य के रूप में विद्यमान रहता है, वह (फिर उसी प्रिय स्त्री या पुत्र इत्यादि के मरने पर उनकी वियोग दशा में) अपनी भावनाओं के अनुकूल (दुःखात्मक) घटनाओं या और किसी के रोने-कलपने का साक्षात्कार हो जाने से, उसके मन में नये सिरे से क्षोभमय विकास की दशा पर पहुँच जाता है। फल यह निकलता है कि उस व्यक्ति की वह दुःखात्मक अनुभूति भी, उसके मन में उदित होनेवाले—'मुझे अब कभी भी वह सुखानुभूति प्राप्त नही होगी'—इस प्रकार के निरपेक्षता के भाव की तीव्रता से पर्यन्ततः विशेष प्रकार के आनन्दमय चमत्कार को उत्पन्न[1] कर देती है। इस विषय में कहा गया है—

'दुःख में भी चित्त का विकास हो जाने से.......... ।'

---

१. स्पष्ट है कि भगवान् अभिनव के मतानुसार दुःखमयी अनुभूतियों का मूल भी सुखात्मक वीर्य ही होता है। इस सम्बन्ध में सद्-गुरुओं का भी यह कथन है कि जब किसी व्यक्ति के अन्तस् में दुःखात्मिका अनुभूति की तीव्रता, यथार्थरूप में, अपनी चरम-सीमा पर पहुँच जाती है, तब किन्हीं परिस्थितियों में, किसी अलक्षित दैव-संयोग से, उसको विशेष स्वात्म-चमत्कार का आवेश भी हो जाता है और वह अतर्कित रूप में ही मध्य-धाम में प्रवेश पाकर समाधिनिष्ठ हो जाता है। परन्तु ऐसा कुछ अलक्षित एवं आकस्मिक शक्तिपात खेचरीसाम्य के अभ्यासी व्यक्तियों को ही संभव हो सकता है, सर्वसाधारण को नहीं।

इति ।

यदा सकलेन्द्रिय-नाडीभूत-मरुदादि-परिपूरणे तु महा-मध्यम-सौषुम्ण-पदा-

सच्चे वीर और योगिनियों के दाम्पत्य की वेलाओं पर कभी कभी आकस्मिक रूप में उभरनेवाली स्वरूप-चमत्कारिता की त्रिकोय मीमांसा ।

(खेचरी-साम्यात्मक जीवन की प्रक्रिया में पूरे अभ्यस्त वीरों और योगिनियों के पारस्परिक 'मिलन' अवसरों पर) जब[1] जब समूची आनन्देन्द्रिय में अवस्थित रहने वाली प्रधान प्रजनन[2]-नाडी में प्राण एवं अपानवायु के पूरी तरह व्याप्त हो जाने के फलस्वरूप, अतर्कित रूप में ही मध्य-धाम नामवाले

---

१. यहाँ पर मूलग्रन्थ के 'यदा' शब्द से, साधारण रूप में, प्रत्येक प्रकार की सुखात्मिका और दुःखात्मिका अनुभूतियों की आवेगात्मिका तीव्रता की चरम-कोटि का अभिप्राय है । परन्तु चलते हुए प्रसंग के अनुसार इस शब्द से, विशेष रूप में हृष्ट एवं पुष्ट सन्तति को आगे बढ़ाने के पावन उद्देश्य पर आधारित 'दाम्पत्य' की वेला का अभिप्राय लिया जाता है । अनुभवी व्यक्तियों के कथनानुसार ऐसी वेलाओं पर जिस समय सुखानुभूति की आवेगात्मक तीव्रता की चरमकोटि का क्षण आ जाता है, उस समय प्राण एवं अपान स्वतः सिद्ध एवं अलक्षित रूप में ही विद्युद्गति से मध्य-धाम में अनुप्रविष्ट होकर क्षणमात्र के लिए विश्रान्त हो जाते हैं । ऐसे सुनहरे अवसरों पर यदि इस जोड़ी के दोनों सदस्यों की आत्म-चेतना और आन्तरिक सावधानता अविचल बनी रहे तो वे तुर्यारूपी शाक्त-धाम में अनायास ही प्रतिष्ठित होकर स्वरूप-चमत्कार का अनुभव कर लेते हैं । ऐसी अवस्था का साक्षात्कार होने के लिए शर्त है कि ऐसे व्यक्ति आजन्म खेचरी-साम्यरूपी तलवार की धार पर चलने के अभ्यासी, अलक्षित शक्तियों के अनुग्रह के पात्र, धीर एवं मनीषी होने चाहियें । उनमें स्वरूप-चेतना का आवेश हुआ होना चाहिये और ये यथार्थ रूप में वीर एवं योगिनी होने चाहियें । फलतः ये बातें प्रायः योगियों का ही विषय हैं और हमेशा खेचरी-वैषम्य के ही दलदल में फँसे हुए आम लोगों को ऐसे विषयों पर माथापच्ची करने से लाभ की अपेक्षा कभी कभी हानि का ही भाजन बनना पड़ता है ।

२. भगवान् अभिनव ने यह मूल संस्कृत-वाक्य इतने सांकेतिक रूप में लिखा है कि परात्रिंशिका की जानकारी रखने वाले कश्मीरी विद्वज्जनों में इसके अर्थ के विषय में बहुत सा मतभेद पाया जाता है । श्री सद्-गुरु महाराज ने भी इस स्थल का व्याख्यान करते समय आशातीत सांकेतिकता से ही काम लेना श्रेयस्कर समझा । केवल प्रस्तुत लेखक के द्वारा 'नाडीभूत' शब्द का अभिप्राय स्पष्ट किये जाने की प्रार्थना के उत्तर में उनके मुखारविन्द से अंग्रेजी भाषा का (PRODUCER) शब्द निकला और

नुप्रवेशे निज-शक्तिक्षोभ-तादात्म्यं प्रतिपद्यते, तदा सर्वतो द्वैतगलने परिपूर्ण-चमत्कृतिभर-विमर्शाहन्तामय-चमत्कारानुप्रवेशे, परिपूर्ण-सृष्टयानन्दरूप-रुद्रयामलयोगानुप्रवेशेन तन्महामन्त्र-वीर्य-विसर्ग-विश्लेषात्मना, ध्रुवपदात्मक-निस्तरङ्ग-अकुल-भैरवभावाभिव्यक्तिः। तथाहि—

तन्मध्यनाडीरूपस्य उभयलिङ्गात्मनोऽपि तद्वीर्योत्साह-बललब्धावष्टम्भस्य

सुषुम्णा नाड़ी के अन्तरालवर्ती अवकाश में प्राणापान के प्रविष्ट हो जाने से, निजी 'शक्तिक्षोभ'—अर्थात् सौषुम्ण-पद में प्रतिसमय उत्तेजित रूप में ही वर्तमान रहनेवाली शक्तिरूपता के साथ (विश्लेषण युक्ति के द्वारा) तादात्म्य हो जाये, उस अवसर पर (दम्पति के दोनों सदस्यों के अंतस् में) चारों ओर (शरीर, प्राण इत्यादि, अथवा पूर्णरूप से समूची बहिरंग प्रमेयता के साथ सम्बन्धित) द्वैतभाव के गल जाने से, दोनों की आत्मा ऐसी आनन्दमयता के क्षेत्र में, सहज ही, प्रवेश पाती है, जो कि परिपूर्ण रसमयता से बोझिल विमर्शात्मक अहंभाव से आमूलचूल सराबोर है। उस वेला पर शिव-भाव और शक्ति-भाव के आवेश से युक्त पति एवं पत्नी (दोनों समानरूप से) ऐसे 'रुद्र-यामल[1]' योग की दशा में अनुप्रविष्ट हो जाते हैं, जो कि महान् 'मन्त्रवीर्य'-अर्थात् अहंभावात्मक वीर्य, की पूर्वोक्त 'विसर्ग-विश्लेषण' की युक्ति के साथ एकाकार और परिपूर्ण चिदानन्द रूप को धारण करनेवाली होती है। परिणामतः उन दोनों में निश्चल, तरङ्गहीन, अकुल (अनुत्तररूपी) भैरव-भाव सहज एवं स्वतःसिद्ध रूप में अभिव्यक्त हो जाता है। इस तथ्य का स्पष्टीकरण आगे किया जा रहा है—

'तात्पर्य यह कि सर्वसाधारण 'कम्प', अर्थात् दाम्पत्य की चरमसीमा[2]

बात आई गई हो गई। अतः उल्लिखित भाषानुवाद कुछ मात्रा तक इसी शब्द के तार को पकड़ कर किया गया है। प्रस्तुत अवतरण का अध्ययन करने वाले पाठक को यह समझने में देर नहीं लगती कि ऐसे यौगिक प्रयोग केवल वीर-योगिनी सम्प्रदाय में प्रचलित रहे होंगे और उस तान्त्रिक युग में भी ऐसे उल्लेख यदा कदा ही पाये जाते हैं। अभिनवगुप्त जी को भी शायद सृष्टि-प्रक्रिया के विश्वात्मक एवं साधारण सांसारिक रूपों में सामञ्जस्य दिखाने के अभिप्राय से ही ऐसे प्रयोगों की स्पष्ट मीमांसा प्रस्तुत करनी पड़ी है।

१. प्रस्तुत ग्रन्थ का विषय ही रुद्र-यामल योग है, अतः पाठक को ग्रन्थ-समाप्ति पर स्वयं ही इसके स्वरूप का आभास होने लगता है। साधारण रूप में इस शब्द से विश्वात्मक स्तर पर स्वरूप में ही शिवत्व और शक्तित्व की संघट्टदशा का अभिप्राय लिया जाता है।

२. स्खलन के क्षण का अभिप्राय है।

कम्पकाले सकल-वीर्यक्षोभ-उज्जिगमिषात्मकम् अन्तःस्पर्शसुखं स्वसंवित्-साक्षिकम् एव। न चैतत् कल्पित-शरीर-निष्ठतयैव केवलं तदभिज्ञानोपदेश-

---

(विसर्गकाल) की वेला पर, प्रत्येक मिथुन[1] में दोनों लिङ्गों का प्रतिनिधित्व करने वाले सदस्यों का स्पर्शगुण अपनी अपनी मध्यनाड़ी[2] में पूर्णतया प्रतिबिम्बित हुआ होता है और दोनों अपनी अपनी जगह उसी पूर्वोक्त उत्तेजित वीर्य से जनित उत्साह एवं बल का आश्रय दृढ़ता से अपनाये हुए होते हैं, अतः उस वेला पर (प्रत्येक मिथुन को) अपनी अपनी इन्द्रियों में उत्तेजित रूप में रहने वाले प्रत्येक प्रकार के (शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्धात्मक) उत्तेजित वीर्य के उच्छलित होने के ही रूपवाला, अपना अपना आंतरिक स्पर्श-सुख अपने अपने संवेदन के द्वारा अनुभव में आता ही रहता है। आवश्यकता केवल इस बात की है कि इस आंतरिक स्पर्श-सुख को कल्पना से ही अनुभावी समझी जाने वाली मात्र

---

१. यहाँ पर मूल 'उभयलिङ्गात्मनः' शब्द से प्रत्येक मिथुन का अभिप्राय लिया जाता है, चाहे वे ज्ञानी, अज्ञानी, खेचरी-साम्यात्मक अथवा वैषम्यात्मक प्रवृत्तियों को ही लिये हुए क्यों न हों।

२. भगवान् अभिनव की मान्यता के अनुसार इस मतिभ्रम में रहना सरासर भूल है कि दाम्पत्य की वेला पर पुरुष और स्त्री को एक दूसरे की अपेक्षा से आनन्द की अनुभूति हो जाती है। वास्तविकता तो यह है कि किसी भी जीवधारी को दाम्पत्य या और किसी भी अवसर पर जिस किसी प्रकार की भी आनन्दात्मिका अनुभूति हो जाती है, वह कहीं बाहर से नहीं आती है। प्रत्येक जीवधारी के मध्य-धाम में प्रतिसमय आनन्दमयता का समुद्र (पूर्वोक्त शाक्त-उत्तेजना) ठाठें मारता ही रहता है। बाहरी कारणों से केवल इतना होता है कि वह एक प्रकार से उछलने जैसा लगता है। इस अपने आनन्द-पारावार की अलक्षित उछाल से ही, किसी भी प्राणी को, विशेष अवसरों पर आत्मरूप में ही, आनन्द की अनुभूति हो जाती है। दाम्पत्य के अवसरों पर भी वास्तव में स्त्री एवं पुरुष दोनों को अलग-अलग अपने-अपने मध्य-धाम के साथ अलक्षित सम्बन्ध जुड़ जाने से अपनी-अपनी चमत्कारिता की अनुभूति अपने अपने संवेदन के द्वारा स्वतन्त्र रूप में हो जाती है। एक की अनुभूति में दूसरे की साझेदारी नहीं बन सकती, क्योंकि आनन्दात्मिका अनुभूति तो स्वरूपमयी होने के कारण स्वरूप से भिन्न और किसी रूप में हो ही नहीं सकती। यही कारण है कि मूर्त आलम्बन के अभाव में भी कभी-कभी केवल स्मरण इत्यादि से ही दाम्पत्यकालीन सुखानुभूति आंशिक रूप में हो ही जाती है।

द्वारेण इयति महा-मन्त्रवीर्य-विसर्गविश्लेषणावाप्त-ध्रुवपदे परब्रह्ममय-शिव-शक्तिसंघट्टानन्द-स्वातन्त्र्य-सृष्टि-पराभट्टारिकारूपेऽनुप्रवेशः। तद्वक्ष्यते—

'ततः सृष्टिं यजेत्…… ……।'

इत्यादि। तथा—

'यथा न्यग्रोधबीजस्थः…………।'

इत्यादि। तथा—

'……………इत्येतद् रुद्रयामलम्।'

इति। अन्यत्रापि उक्तम्—

जड़[1] काया पर ही निष्ठ नहीं समझना चाहिये, अपितु (किसी भी इच्छुक मिथुन के दोनों सदस्य) इस साधारण स्पर्श-सुख को ही सद्-गुरुओं के उपदेश के अनुसार अनुत्तरीय आनन्दमयता के रूप में पहचानने पर, महान् अहंपरामर्शरूपी वीर्य की 'विसर्ग-विश्लेषण' युक्ति से अविचल अनुत्तर-भाव पर पहुँच जाने से, परब्रह्म-मय शिव-शक्ति के संघट्टरूपिणी आनन्दमयता के स्वातन्त्र्य से परिपूर्ण सर्वतो-मुखी सर्जना के आकार वाली परा-भट्टारिका की भूमिका में प्रवेश पा जाते हैं। इस सन्दर्भ में आगे कहा जायेगा—

'अनन्तर (परमहामन्त्रात्मिका) सृष्टि का यजन करना चाहिये…………।'

इत्यादि। और—

'जिस प्रकार बरगद वृक्ष के बीज में (स्थूल वृक्ष सूक्ष्म रूप में) वर्तमान ही होता है……।'

इत्यादि। और—

'यही रुद्र-यामल-योग का रहस्य है।'

इत्यादि। दूसरे ग्रन्थों में भी कहा गया है—

१. इससे पहले के वाक्यों में दाम्पत्य-सुख के जिस रूप का वर्णन किया है, वह जड़ काया पर ही आत्मबुद्धि धारण करने वाले सर्वसाधारण जीव-धारियों को विदित ही होता है। शास्त्रीय शब्दों में दाम्पत्य के इस रूप को 'ग्राम्य-धर्म-वृत्ति' कहते हैं, क्योंकि इसमें खेचरी-वैषम्य की प्रवृत्तियोंवाले मिथुन इसको जड़ काया का ही विषय समझते हुए साधारण सहवास तक ही सीमित रखते हैं। परन्तु यहाँ पर आचार्य जी ने इस तथ्य को स्पष्ट कर दिया है कि यौन-सम्बन्ध को इतना तुच्छ समझना अतीव मूर्खता है। वास्तव में यह सृष्टि विकास का एक अत्यावश्यक, महत्त्वपूर्ण और पवित्र अंग है। अतः प्रस्तुत वाक्य में जो कुछ कहा गया है, वह ऐसे मिथुनों का विषय है, जिनमें आत्म चेतना जगी हो और जो ऐसे अवसरों पर आत्मिक रूप में जागरूक रहने के अभ्यस्त हों।

'लेहनामन्थनाकोटैः स्त्रीसुखस्य भरात्स्मृतेः ।
शक्त्यभावेऽपि देवेशि ! भवेदानन्दसम्प्लवः ॥'

इति ।

'भरात् स्मर्यमाणो हि संस्पर्शः, तत्स्पर्शक्षेत्रे च मध्यमाकृत्रिम-परात्मक-

'हे देवताओं की स्वामिनी ! (किन्ही विशेष परिस्थितियों में) स्त्रीरूपी मूर्त आलम्बन के अभाव में भी, चूमाचाटी[1], प्रधान इन्द्रिय का परचाना, बार-बार अङ्गमर्दन या नखक्षत इत्यादि प्रयोगों से स्त्री-सुख के अनन्य एवं धारावाहिक स्मरण-मात्र की आवेगपूर्ण तीव्रता से भी स्वरूप-आनन्द में पूर्ण लयीभाव की अवस्था का उदय हो सकता[2] है।'

(विज्ञानभैरव के उल्लिखित उद्धरण का अभिप्राय—)

आवेगपूर्ण तीव्रता से स्मरण का विषय बनाया हुआ 'स्पर्श'—अर्थात् निजी कल्पना में वर्तमान किसी मनोनीत प्रेयसी (स्त्रीरूप में अङ्गीकृत) के साथ कल्पित कायिक-स्पर्श, पहले 'स्पर्शक्षेत्र'—अर्थात् आनन्देन्द्रिय में और अनन्तर 'मध्य-धाम' नामवाली स्वाभाविक एवं पराल्पिणी प्रधान नाड़ी में

१. 'लेहनं = वक्त्रासवास्वादनं, परिचुम्बनमिति यावत्, मन्थनं = प्रधानाङ्गविलोडनम्, आलिङ्गनं वा, आकोटः = पुनः पुनर्मर्दनं, नखक्षतादि वा' (विज्ञानभैरव का० ७० की टीका)

२. मानव-प्रकृति की नानारूपता और विचित्रता स्वाभाविक है। अतः विज्ञान-भैरव जैसे तन्त्रग्रन्थों में भिन्न-भिन्न मानवप्रकृतियों के अनुकूल भिन्न-भिन्न प्रकार की धारणाओं का उल्लेख एवं वर्णन किया गया है। धारणाओं के इस वैविध्य का उद्देश्य यह है कि यदि किसी व्यक्ति का मन स्वभावतः अथवा जन्मान्तरीय संस्कारों की प्रबलता से किसी विशेष दिशा में ही गतिशील हो, तो उसको हठपूर्वक उस दिशा से मोड़ने के बजाय विशेष आत्मिक अनुशासन को अपनाकर उसी दिशा में नियमित रूप में आगे बढ़ने देने से, एक बिन्दु पर पहुँचकर स्वतःसिद्ध रूप में उसका लयीभाव हृत्-मण्डल में होना निश्चित है और स्वरूप-आनन्द की उपलब्धि भी अतीव सहज एवं सरल है। प्रस्तुत उद्धरण में भी ऐसी ही एक धारणा का वर्णन किया गया है। इसके अनुसार शृंगारी प्रकृतिवाला व्यक्ति भी खेचरी-साम्यात्मक अनुशासन की पद्धति को अपनाकर अपने मन को नियमित प्रकार से शृंगार की दिशा में ही प्रवहमान होने दे तो वह अपने अंतस् में ही विद्यमान आनन्दमयता का अनन्य एवं धारावाहिक चिन्तन करते के फलस्वरूप साधारण शृंगार को ही महाशृंगार में परिणत कर सकता है। महाशृंगार ही तो मानव-जीवन का पार्यन्तिक लक्ष्य है।

शक्तिनालिका-प्रतिबिम्बितः, तन्मुख्य-शाक्त-स्पर्शाभावेऽपि तदन्तर्वृत्ति-शाक्त-स्पर्शात्मक-वीर्यक्षोभकारी भवति, इत्यभिप्रायेण—

'शक्तिसंगमसंक्षोभशक्त्यावेशावसानिकम् ।
यत्सुखं ब्रह्मतत्त्वस्य तत्सुखं 'स्वाक्यम्' उच्यते ॥'

इति, तथा—

'……स्नेहात् कौलिकमादिशेत् ।'

इति च।

महावीरेण भगवता व्यासेनापि—

'मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम् ।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ! ॥'

स्वयंसिद्ध रूप में सदा वर्तमान रहनेवाली शक्तिरूपिणी स्त्री में प्रतिबिम्बित हो जाता है। फलतः किसी मूर्त स्त्री के साथ साक्षात् कायिक स्पर्श हो पाने के अभाव में भी, उसी मध्य-धाम में अवस्थित रहने वाली 'शक्तिरूपिणी' स्त्री के साथ संकल्पात्मक-स्पर्श हो जाने के रूप में 'स्पर्श-वीर्य' को उत्तेजना प्रदान कर देता है। इसी अभिप्राय से—(विज्ञान भैरव में)

'किसी मूर्त स्त्री के साथ साक्षात् समागम हो जाने की वेला पर, स्पर्शवीर्य के उत्तेजित हो जाने से लेकर, क्रमशः परिपूर्ण आनन्द-शक्ति का ही आवेश हो जाने की अन्तिम कोटि के रूप में जिस परब्रह्ममय आनन्द की उपलब्धि हो जाती है, उसको (कहीं बाहर से आयात नहीं, अपि तु) 'स्वाक्य[१]', अर्थात् अपने अन्तस् में ही शाक्त-स्पर्श हो जाने से उद्भूत आत्म-सुख ही समझना चाहिये।'

और—

'…………दाम्पत्य प्रेम से कौलिक-सिद्धि को वितरण करने वाला समझना चाहिये।'

यह भी कहा गया है।

वीरपुङ्गव भगवान् वेदव्यास ने भी श्रीगीता में कहा है—

१. श्लोक का गुरुपरम्परागत अर्थ—

(इस आब्रह्मस्तम्बपर्यन्त चराचर विश्व में) जो कोई भी 'योनि[२]'—

---

१. स्वाक्यं = स्वकमेव स्वाक्यम्, आत्मन एव सम्बन्धि, न अन्यत आयातं……। यह विज्ञान-भैरव का० ६९ की व्याख्या है, इस विषय का पहले ही टिप्पणी में स्पष्टीकरण किया गया है।

२. यहाँ पर 'योनि' शब्द से प्रत्येक प्रकार के जड़ या चेतन भूतवर्ग के साथ

इति गीतम्—

श्रीसोमानन्दपादैरपि निजविवृती—

'भगवत्या रतस्थायाः प्रश्नः,—इति परैकमयत्वेऽपि तन्मय-महदन्तरालः-

अर्थात् स्त्री-सम्बन्धी गुह्याङ्ग है, वह वास्तव में मेरी अभिन्न ब्रह्म-शक्ति ही है। मैं स्वयं ही प्रत्येक योनि में गर्भ को धारण एवं परिपुष्ट करता हूँ। अतः हे अर्जुन! वास्तव में मेरी उसी ब्रह्म-शक्तिरूपिणी योनि से ही समूचे चेतन एवं जड़ भूतवर्ग की उत्पत्ति हो जाती है।

२. भगवान् अभिनव का अर्थ—(श्रीगीता अभिनवटीका १४. ३)

हे अर्जुन! अकृत्रिम आनन्द के ही स्वरूप वाले मुझ अनुत्तर की निजी बृंहक-शक्ति ही 'योनि' है। मैं स्वयं विसर्ग-प्रक्रिया के द्वारा उसमें गर्भ धारण करता हूँ। उसी से समूचे जड़-चेतन-वर्ग का सृष्टि-प्रसार हो जाता[1] है।

३. सर्व साधारण अर्थ—

हे अर्जुन! 'महद्-ब्रह्म[2]'—अर्थात् इदन्तामयी मूलप्रकृति ही मुझ परब्रह्म-स्वरूप की योनि है। मैं उसी में स्वयं गर्भ धारण करता हूँ। उसी से समूचे जड़-चेतन भूतसमुदाय की उत्पत्ति हो जाती है।

श्रीमान् सोमानन्दपाद ने भी अपनी विवृति में कहा है—

(प्रस्तुत 'अनुत्तरं कथं देव!' इत्यादि सूत्र) योनि[3] की अवस्था पर वर्तमान भगवती (परा-शक्ति) का प्रश्न है। यद्यपि यह सारी प्रश्न-प्रक्रिया केवल

सम्बन्ध रखने वाली योनियों, अर्थात् जननेन्द्रियों का अभिप्राय है।

१. इस अर्थ का तात्पर्य यह कि मैं अनुत्तर प्रकाशरूपी शिव, निजी अभिन्न विमर्श-शक्ति के द्वारा, अनादिकाल से जीवों को, केवल उन पर अनुग्रह करने के मात्र उद्देश्य से, संसरण का विषय बनाता हूँ।

२. प्रस्तुत अर्थ में इदन्तामयी मूलप्रकृति को 'महद् ब्रह्म' की संज्ञा दी गई है। इसके दो आधार हैं। एक यह कि मूल-प्रकृति स्वयं जड़ है, अतः वह चित् प्रकाश में अनुप्रविष्ट होकर ही सृष्टि प्रसार की भूमिका निभा सकती है। चित्प्रकाश में अनुप्रविष्ट होने के कारण वह भी ब्रह्मरूपिणी मानी जाती है। दूसरा यह कि यद्यपि मूल प्रकृति चित्-प्रकाश में अनुप्रविष्ट होकर सृष्टि-प्रसार का कारण बन सकती है, परन्तु तो भी स्वतः वेद्य भूमिका पर अवस्थित होने के कारण सूक्ष्मातिसूक्ष्म चित्प्रकाश की अपेक्षा स्थूल ही है। अतः स्थूल होने के कारण 'महद्-ब्रह्म=स्थूल ब्रह्म' कही जाती है।

३. यहाँ पर चलते हुए प्रसङ्ग को दृष्टिपथ में रखकर 'रत' शब्द का 'योनि' यह

भिप्रायेण·········।' इति ।

तदलम् अमुना त्रिकशास्त्र-रहस्य-कथातिप्रस्तावेन । तदिदम्—'अनुत्तरं कौलिकसिद्धिदम्,' येन ज्ञातमात्रेण 'खेचरी-साम्यम्'-उक्तनयेन ॥१॥

एतद् गुह्यं महागुह्यं कथय-स्व मम प्रभो ! ॥ १½ ॥

१. 'गुह्यम्'-अप्रकटत्वात्, यतो गुहायां मायायां स्वरूपापरिज्ञानमय्यां

परसम्बन्धमयी है, तथापि प्रस्तुत प्रसङ्ग में इसको परसम्बन्ध पर ही आधारित रहनेवाले महत्, अन्तराल इत्यादि अवान्तर सम्बन्धों की अपेक्षा से ही समझना चाहिये।

अस्तु, रहने दीजिये, त्रिकशास्त्र के रहस्यपूर्ण उपदेशों की बातों का अपेक्षा से अधिक वर्णन करने का कोई प्रयोजन नहीं है।

इतनी मीमांसा से यह बात स्पष्ट हो गई कि वही अनुत्तर-तत्त्व कौलिक-सिद्धि को वितरण करनेवाला है, जिसकी मात्र उपलब्धि हो जाने के तत्काल ही, पूर्वोक्त रीति से, खेचरी-साम्य की अवस्था का स्वयं ही प्रादुर्भाव हो जाता है ॥१॥

देवी के प्रश्न का अवशिष्ट भाग

मूल-सूत्र

हे मेरे अपने ही स्वरूप भगवान्, यह 'गुह्य'—अर्थात् पूर्णरूप से हृदयङ्गम न हो सकने वाला और 'महा-अगुह्य'—अर्थात् अत्यन्त गुप्त होता हुआ भी सबको पहले से ही विदित, रहस्य मुझे बताइये ॥१½॥

तत्त्व-विवेक

'गुह्य' और 'महागुह्य = महा-अगुह्य' शब्दों की व्याख्या

१. यह एक 'गुह्य'[1] है, क्योंकि यह अप्रकट है—अर्थात् इसका भेद सहज ही में हृदयङ्गम नहीं हो जाता है। इसका कारण यह है कि यद्यपि यह रहस्य 'गुहा' —अर्थात् स्वरूप के अपरिचय का रूप धारण करने वाली 'माया' के गर्भ में

भाषानुवाद किया गया है। इस शब्द का सहवास के अतिरिक्त 'उपस्थ' और 'योनि' भी कोशप्रसिद्ध अर्थ है। द्रष्टव्य—नालन्दा शब्दसागर (आदीश बुक डिपो, दिल्ली २००७ वि० प्रकाशन) पृष्ठ ११५६।

१. प्रस्तुत प्रसङ्ग में 'गुह्य' शब्द किसी गुप्त विषय अथवा किसी प्रकार की गोपनीयता का द्योतक नहीं है। कारण यह कि अनुत्तर-तत्त्व तो शाश्वत एवं सर्वव्यापक रूप में स्वयं प्रकाशमान है, अतः वह गुप्त कैसे रह सकता है, अथवा गोपनीय क्योंकर हो सकता है? वह तो प्रत्येक जड़ एवं चेतन के अभ्यन्तर एवं बहिः सर्वत्र व्याप्त एवं

स्थितमपि अप्रकटम्—

२. अथ च 'महद्-अगुह्यं'-सर्वस्य एवंविधचमत्कारमयत्वात् ।

'मातृ-मान-मेयमय-भेदाविभाग-शालिनी भगवती शुद्धविद्यैव त्रिकोणा मायायाम् अतिशय-प्रतिफलित-भेदावग्रहा भवति—इति मायापि जगज्जननभूः विद्यैव वस्तुतः । तद् उक्तेन नयेन सा एवंभूतत्वेन अपरिज्ञायमानत्वात्, अभेद-

अनादिकाल से, सब के सामने, वर्तमान ही है, तो भी 'अप्रकट' है, अर्थात् किसी के बोध का विषय नहीं बनता ।

२. साथ ही यह 'महान्-अगुह्य'—अर्थात् समूचे जड़-चेतन भूत समुदाय को जाना-पहचाना ही है, क्योंकि जो कुछ भी है, वह तो अनुत्तरीय आनन्दमयता का ही विकास है ।

इसका तात्पर्य यह है कि प्रमाता, प्रमाण और प्रमेय इस त्रिपुटी में भी सर्वथा विभागहीन रूप में ही प्रकाशित रहनेवाली और इसी हेतु त्रिकोण[1] का रूप धारण करने वाली भगवती 'शुद्धविद्या[2]'—अर्थात् शिव-बोध, ही माया पदवी पर उतर कर, अतिशय मात्रा में स्वरूप की नानारूपता का अंकन करने वाले स्वभाव को अपनाती है । अतः समूचे बहिरंग जगत्-प्रसार की जन्म-भूमि होने के कारण माया भी, वास्तव में, शिव-विद्या ही है । फलतः पूर्वोक्त नीति के

सुस्पष्ट रूप में वर्तमान हैं । अतः यहां पर सद्गुरुओं के उपदेशानुसार इस शब्द से—'गुरुकृपा के बिना केवल शुष्क तर्क से पूर्णरूप में हृदयङ्गम न हो सकने वाला'—लिया जाता है ।

१. इच्छा-शक्ति, ज्ञान-शक्ति और क्रिया-शक्ति अथवा दूसरे शब्दों में प्रमातृ-भाव, प्रमाण-भाव और प्रमेय-भाव, इनकी मौलिक विभागहीन अवस्था को शास्त्रीय शब्दों में त्रिकोण, त्रिपुटी, त्रिशूल इत्यादि शब्दों से अभिव्यक्त किया जाता है ।

२. यहां पर 'शुद्धविद्या' शब्द से शुद्धविद्या-तत्त्व का अभिप्राय नहीं लिया जाता है । प्रस्तुत प्रकरण में इस शब्द से अनुत्तरीय स्वातन्त्र्यशक्ति का, जिसको दूसरे शब्दों में शिव-विद्या, शिव-बोध इत्यादि भी कहते हैं, अर्थ लिया जाता है । शिवविद्या को ही बहिर्मुखीन प्रसार की प्राथमिक सूक्ष्मातिसूक्ष्म इच्छा परामर्श का रूप धारण करने की अवस्था में 'माया-शक्ति' कहा गया है । यह मायाशक्ति ही भेद-भूमिका पर पूर्णरूप से उतर कर 'माया-तत्त्व' का रूप धारण कर लेती है । अतः 'माया' वस्तुतः अपने मौलिक रूप में शिव-विद्या ही है । जो इतने कल्पनातीत, परन्तु पूर्णरूप से व्यवस्थित विश्व-प्रसार की जन्मभूमि हो, वह अविद्या कैसे हो सकती है ? माया को 'अविद्या' स्वरूप की अपेक्षा से नहीं, अपि तु प्रसार में आने वाले जड़ प्रमेय-विश्व की अपेक्षा से ही कहा जाता है ।

माहात्म्य-तिरोहिततत्तत्-प्रमात्रादि-कोणत्रयत्वात् 'महागुहा'—इति उच्यते। सैव च वस्तुतः पूजाधाम 'त्रिशूलं' त्रिकार्थे। तदुक्तम्—

'सा त्रिकोणा महाविद्या त्रिका सर्वरसास्पदम्।
विसर्गपदमेवैतत्तस्मात् संपूजयेत्त्रिकम्॥'

इति। तथा—

अनुसार, उस मायारूपिणी शिवविद्या को ही प्रस्तुत त्रिक परिप्रेक्ष्य में 'महागुहा' की संज्ञा दी जाती है। कारण यह कि वह अपने वास्तविक शिवविद्या के रूप में अनचीह्नी रह जाने पर ही अड़ियल होने और निजी अभेदमय स्वरूप-स्वातन्त्र्य से ही भिन्न भिन्न आकार-प्रकारों वाले प्रमाता, प्रमाण और प्रमेयों के मौलिक एकाकार रूप पर आवरण डालकर त्रिकोण के रूप में ही सर्वत्र परिलक्षित होती है। तात्त्विक दृष्टि से विचार करने पर यह प्रतीत होता है कि वास्तव में प्रस्तुत त्रिक-संदर्भ में वह शिव-विद्या ही सर्वोत्कृष्ट अर्चना का धाम है और वही वास्तविक 'त्रिशूल' भी है। इस विषय में कहा गया है—

'वास्तव में वह शिव-विद्या ही–त्रिकोण के आकार वाली, सबसे उत्कृष्ट विद्या, त्रिकरूपिणी[१], समूची रसमयता की मूलभूमि[२] होने के कारण सारे बहिरंग एवं अन्तरङ्ग विसर्ग[३] (प्रसार) की पदवी है, अतः इसी त्रिकरूप[४] की अर्चना करनी चाहिए।'

और—

---

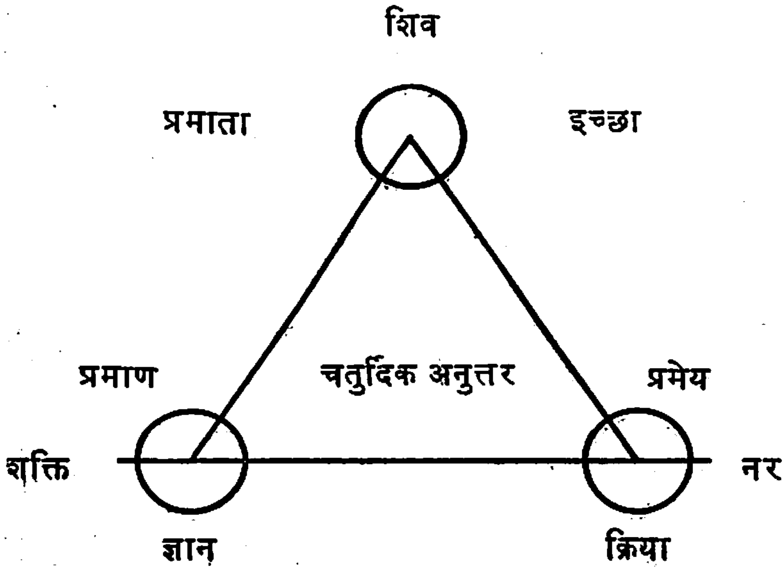
१. 'त्रिक' = प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय अथवा इच्छा, ज्ञान, क्रिया अथवा शिव, शक्ति, नर इस प्रकार की त्रिपुटी का रूप धारण करने वाली।

२. मौलिक चिदानन्दरूपता ही बहिरङ्ग शब्द आदि विषय हैं, अतः शब्द आदि विषयों से ही भुक्ति-मुक्तिरूपी रस का वितरण करने वाली।

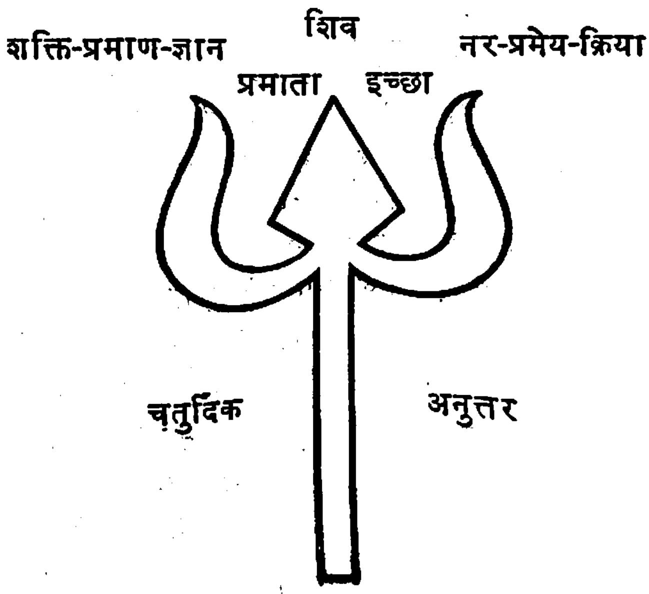
३. 'विसर्ग पद'—बहिर्मुखीन एवं अन्तर्मुखीन विकास की मूलभूमि 'चित्-कुण्डलिनी'। साधक को चित्-कुण्डलिनी का साक्षात्कार तो कभी हो सकता है, परन्तु इसके भी मूलरूप 'परा–कुण्डलिनी' का साक्षात्कार हो सकना अतीव दुर्लभ है। यह अनुभवी गुरुओं का कथन है।

४. अभिप्राय यह कि साधना के सन्दर्भ में प्रमातृ-भाव, प्रमाण-भाव और प्रमेय-भाव तीनों का समान महत्त्व अङ्गीकार करना आवश्यक है, क्योंकि तीनों में शिव-प्रकाश समान रूप से व्याप्त है। केवल प्रमातृ-भाव को ही सर्वोपरि मानने से परिपूर्ण अनुत्तर-भाव की उपलब्धि होना दुर्लभ ही है।

शिव || त्रिकोण || विद्या



शिव || त्रिशूल || विद्या



'उदेत्येकः समालोकः प्रमाणार्थप्रमातृगः ।'

इति ।

ततश्च ईदृश्यां महागुहायां शुद्धविद्याहृदयमय्यां; महासृष्टिरूपायां; जगज्जन्मभूमौ स्वचमत्काररूपेण भवति यत्-'म-ह-अ'-इति, तद् एतत् 'गुह्यम्' । एतेन हि इदम् अविच्छिन्न-भैरवभासा-विमर्शरूपं स्वातन्त्र्यं, भावेभ्यः स्वरूप-प्रत्युपसंहार-क्रमेण, आत्मविमर्श-विश्रान्तिरूपं, प्रकाशस्य हि स्वाभाविक-अकृत्रिम-परवाङ्-मन्त्रवीर्य-चमत्कारात्म-'अहम्' इति । यथोक्तम्—

'प्रकाशस्यात्मविश्रान्तिरहंभावो हि कीर्तितः ।'

'एकला शिव-प्रकाश ही प्रमाण, प्रमेय और प्रमाता इन तीनों में समानरूप से व्याप्त होकर, नित्य उदीयमान अवस्था में वर्तमान है ।'

इस उपर्युक्त मीमांसा से यह तथ्य समझ में आता है कि शुद्धविद्यारूपी हृन्मण्डल के स्पन्दन से परिपूर्ण, महासृष्टि का रूप धारण करने वाली और समूचे विश्व की 'जन्मभूमि'—अर्थात् योनिरूपिणी महागुहा में, इसके अपने ही 'चमत्कार से'—अर्थात् संहार-क्रम से, जो यह 'म-ह-अ'—अर्थात् अन्तर्मुखीन संहारक्रमिक 'अ-ह-म्' का स्पन्दन चलता रहता है, वही यह 'गुह्य'—अर्थात् हृदयङ्गम न हो सकने वाला रहस्य है ।

इस कथन का तात्पर्य यह है कि निश्चय से यह 'म-ह-अ'- (संहारक्रमिक अ-ह-म्) ही, उस विच्छेदहीन भैरवीय-प्रकाश का जीवनभूत विमर्शरूपी स्वातन्त्र्य है । इसका रूप, 'भावों से'—अर्थात् 'म-ह' इस वर्णयुग्म से क्रमशः बोध में आने वाले नर-भाव और शक्ति-भाव से, स्वरूप को सिमटने की प्रक्रिया के द्वारा, 'आत्मविमर्श'—अर्थात् 'अ'- इस वर्ण से बोध में आने वाले विशुद्ध अनुत्तर-भाव में ही अवस्थित रहने की अवस्था है । इसका हेतु केवल यही है कि निश्चय से यथार्थ 'अ-ह-म्' की अवस्था वही है, जिसमें वह भैरवीय प्रकाश, निजी स्वभावसिद्ध और अकृत्रिम अहं परामर्शरूपी मन्त्रवीर्य की आनन्दमयता के आस्वाद की अवस्था में वर्तमान रहता है । जैसा कहा गया है—

'घट-प्रकाश, पट-प्रकाश इत्यादि अनगिणत रूपों में दिखाई देने वाले बहिरङ्ग प्रकाशों की 'आत्म-विश्रान्ति'—अर्थात् संहारक्रम में इस नानारूपता से संहृत होकर फिर निजी मौलिक एवं विच्छेदहीन अनुत्तर-भाव में विश्रान्त हो जाने की अवस्था को ही यथार्थ 'अहं-भाव' का नाम दिया गया है ।'

इति। तद् एव 'गुह्यम्'-अतिरहस्यम्। तथाहि—

'सृष्टिक्रमेण यथा अविकृत-अनुत्तर-ध्रुवरूप-विश्रान्तो भैरवभट्टारकः सकल-कलाजाल-जीवनभूतः, सर्वस्य आदिसिद्धः 'अ-कलात्मकः' एव प्रसरात्मना रूपेण विसर्गरूपताम् अश्नुवानः, 'विसर्गस्यैव कुण्डलिन्यात्मक-'ह्'-शक्ति-मयत्वात्', पुनरपि तच्-शाक्तप्रसर-भेद-वेदकरूप-बिन्द्वात्मना नररूपेण

वह 'म—ह—अ' ही कभी भी अनावृत न हो सकनेवाला महान रहस्य[1] है। इसका स्पष्टीकरण आगे किया जा रहा है—

अनुत्तर (अहम्) की प्रसार-संहार क्रीड़ा

जिस प्रकार—

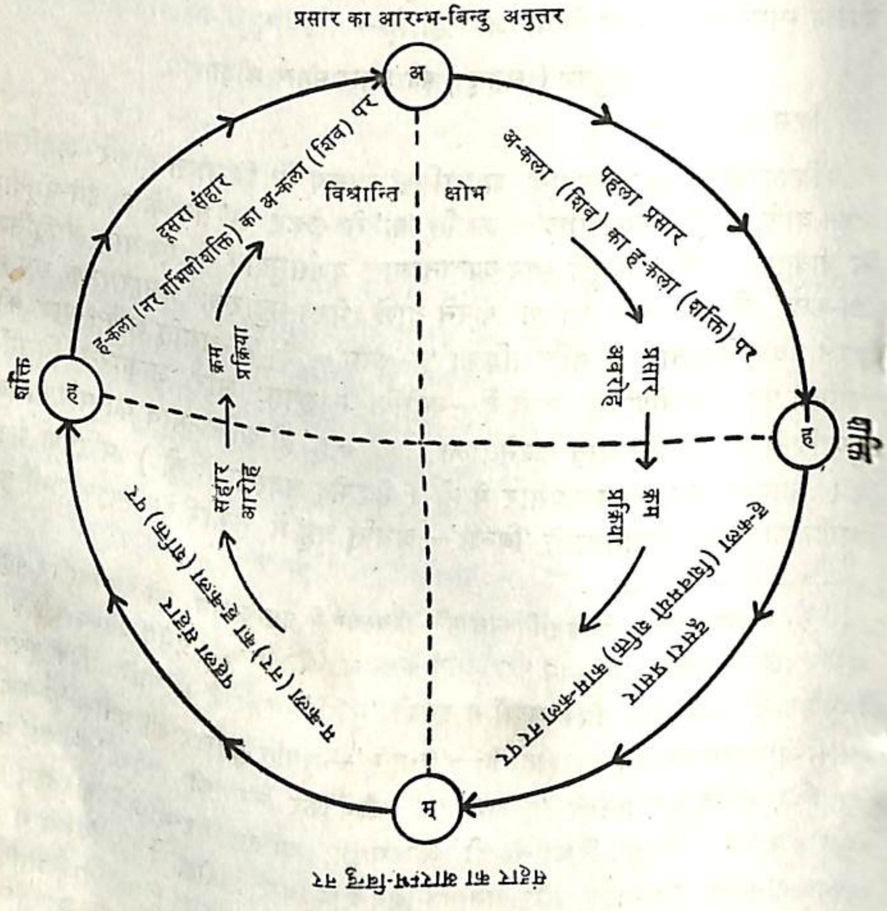
विकारहीन, अनुत्तर एवं शाश्वतिक स्वरूप में विश्रान्त होकर अवस्थित रहने वाले, समूचे 'कलाजाल'—अर्थात् 'क' से लेकर 'क्ष' तक के व्यंजन-समुदाय के जीवनाधार और समूचे स्वर-व्यञ्जनात्मक वर्णसमुदाय में एकमात्र आदिसिद्ध 'अ-कला' के रूप को धारण करने वाले भैरव-भट्टारक, प्रसारात्मक रूप में पहले विसर्गमयता की परिचायिका 'ह—कला = ऽ'—अर्थात् शक्ति-भाव की भूमिका पर अवतीर्ण हो जाते हैं—क्योंकि स्वरूपतः और आकारतः विसर्ग-कुण्डलिनी का प्रतिनिधित्व करनेवाला 'ऽ = ह' ही शक्ति-भाव का परिचायक है। अनन्तर उस शाक्त-प्रसार में ही (भेदाभेद अवस्था में ही) परिपूर्ण भेद-व्याप्ति का बोध करानेवाली 'बिन्दी'—अर्थात् अहं में हकार के ऊपर लगी हुई

---

१. अनुत्तर-कला स्वरूप-विकास की अवस्था में प्रसार-क्रम को अपनाकर पहले शक्ति-भाव और फिर नर-भाव पर उतर कर जड़-चेतनात्मक प्रमेय विश्व के रूप में विकसित हो जाती है। त्रिक शब्दों में इसको 'सृष्टि' कहते हैं। पारिभाषिक रूप में इसकी अभिव्यञ्जना यों की जाती है—'अ-ह-म्'—अर्थात् अनुत्तर की प्रतीक 'अ-कला' का पहले, शक्ति की प्रतीक 'ह-कला' पर और फिर नर की प्रतीक 'म-कला' पर अवरोह करना। स्वरूप-विश्रान्ति की अवस्था में, अन्तिम नर-भाव संहार-क्रम को अपनाकर पहले शक्ति-भाव और अनन्तर शिव-भाव पर आरोह करके स्वरूप में ही विश्रान्त हो जाता है। त्रिक शब्दों में इसको 'संहार' कहते हैं। इसकी पारिभाषिक अभिव्यंजना का रूप 'म-ह-अ' है। अर्थात् नर की प्रतीक 'म-कला' का पहले, शक्ति की प्रतीक 'ह-कला' पर और फिर अनुत्तर की प्रतीक 'अ-कला' में ही आरोह-प्रक्रिया के द्वारा विश्रान्त हो जाना। दोनों रूपों में यह केवल 'अ-ह-म्' की ही प्रसार-संहारमयी लीला है। त्रिक-शास्त्र की परिपाटी के अनुसार 'सृष्टि' एक प्रश्न है और 'संहार' उसका मात्र प्रतिवचन है। इस परिप्रेक्ष्य में आदिकाल से ही मानव कितना कुछ रही है?

अनुत्तर की योगपदिक प्रसार-संहार क्रीडा

१–सृष्टि = अ ⟶ ह ⟶ म् } दोनों रूपों में
२–संहार = म ⟶ ह ⟶ अ } अहम्



सृष्टि-क्रम में शिव के नर-भाव में, और संहार-क्रम में नर के शिव-भाव में प्रवेश पाने का द्विमुखी सिंह द्वार शक्ति-भाव है।

प्रसरति,

तथा—

पुनरपि तन्मूल-त्रिशूलप्राण-परशक्तित्रयोपसंहारे तद्विसर्गविश्लेषणया, मूल-ध्रुवानुत्तर-प्रवेशः सर्वदा । स्फुटयिष्यते च एतद् अविदूर एव ।'

'महे'-परमानन्दरूपे पूर्वोक्ते, यदिदम् उक्तनयेन 'अ' इति रूपं, तदेव गुह्यम् । एतदेव च 'महागुह्यं'-जगज्जननधाम तथा उभयसमापत्त्या आनन्देन 'अगुह्यं'-सर्वचमत्कारमयम् ।

बिन्दी = 'मकार', के द्वारा परिलक्षित होने वाले 'नररूप'—अर्थात् समूचे जड़-चेतनात्मक वाच्य-विश्व के रूप में प्रसार करते हैं,

उसी प्रकार—

स्वरूप-संहारात्मक रूप में, उस 'मूल'—अर्थात् नरभाव की प्रतीक 'बिन्दी = मकार' के साथ ही, पूर्वोक्त 'त्रिशूल' अर्थात् क्रमशः स्थूल-इच्छा, स्थूल-ज्ञान और स्थूल-क्रिया को अनुप्राणित करनेवाली परा; परापरा और अपरा इन तीन शक्तिरूपों का उपसंहार करने की प्रक्रिया में, उसी पूर्वोक्त 'विसर्ग-विश्लेषण' की युक्ति के द्वारा, 'विसर्ग'—अर्थात् अपरविसर्ग का रूप धारण करनेवाली 'ह्-कला = समूचे शाक्त-प्रसार' को भी अनुत्तर की प्रतीक 'अ-कला' में ही विश्रान्त करके, पुनः अपने मौलिक और अविचल अनुत्तर-भाव में प्रविष्ट हो जाते हैं। इस मीमांसा का पूरा स्पष्टीकरण थोड़ा आगे चलकर किया जायेगा।

'महागुह्यम्' शब्द से द्योतित होनेवाले तीन अभिप्राय ।

१. मह + अ + गुह्यम् । (शिव-भाव की दृष्टि से)

'मह में'—अर्थात् पूर्वोक्त आनन्दमय अनुत्तर-भाव और शब्द इत्यादि रूपों वाले भावमण्डल की प्रकाशमानता में, जो यह पूर्वोक्त 'अ' इस प्रकार की अनुत्तर-कला व्यापक रूप में वर्तमान है, वही एक 'गुह्य'—अर्थात् रहस्य है।

२. महा + गुह्यम् । (शक्ति-भाव की दृष्टि से)

यही एक कल्पना से भी अतीत 'गुह्य'—अर्थात् शिव-विद्यारूपिणी माया की गुफा है, जोकि समूचे जड़-चेतनात्मक विश्व के निकास की मूलभूमि है।

३. महा + अगुह्यम् । (नर-भाव की दृष्टि से)

यह एक ऐसा रहस्य है, जोकि प्रत्येक जीवधारी को विदित ही है, क्योंकि—१. पुंलिंग एवं स्त्रीलिंग दोनों के पारस्परिक संघटन, और—२. ग्राहक और

सुनता या सोचता आया, परन्तु आज तक भी उसको इस समस्या का समाधान प्राप्त नहीं हो रहा है कि स्वरूप की यह द्विमुखी प्रसार-संहारमयी प्रक्रिया क्यों चल रही है?

'स्व'-आत्मन्नेव, हे प्रभो—एवंविध-वैचित्र्य-कारितया प्रभवनशील ! आमन्त्रणम् एतत्। तच्च आमन्त्र्यस्य आमन्त्रकं प्रति तादात्म्यम्, आभिमुख्यं च प्रातिपदिकार्थाद् अधिकार्थदायि। यथोक्तम्—

ग्राह्यविषय की संवेदनात्मक एकाकारता[1] की वेलाओं पर अंतस् में अनुभूयमान आनन्द के आस्वाद से वे सारे परिचित ही हैं।

'कथय, स्व, मम, प्रभो' शब्दों की अलग अलग व्याख्या।

'स्व'—अर्थात् मेरी अपनी ही आत्मा। 'हे प्रभु'—अर्थात् इस प्रकार के विचित्र[2] कार्य का सक्षम कर्ता होने के कारण निर्बाध प्रभुताई के मालिक ! यह आमन्त्रण पद है। आमन्त्रण पद साधारण प्रातिपदिक[3] अर्थ के अलावा, बुलाये जानेवाले का बुलानेवाले के प्रति अभिमुखीभाव और भावनात्मक तन्मयीभाव को भी ध्वनित कर देता है। जैसा कहा गया है—

---

१. संसार में प्रतिक्षण प्रत्येक प्रमाता का अपने-अपने प्रमेय-विषय के साथ संवेदनात्मक एका होते रहने से ही सारे आदान-प्रदानात्मक कार्यकलाप सम्पन्न होते रहते हैं। जब तक इन दोनों का संवेदनात्मक एका न हो तब तक प्रमातृभाव और प्रमेयभाव न तो स्वरूपसत्ता प्राप्त कर सकते हैं और न इनका कोई पारस्परिक सम्बन्ध ही जुड़ सकता है। इस संवेदनमय एकता के विषय में एक स्वाभाविक विधान है कि जब तक किसी भी प्रमाता को अपने मनोनीत प्रमेय-पदार्थ के साथ ऐसी एकाकारता न हो जाये तब तक उसको उसका ज्ञान ही नहीं हो सकता। ज्ञान उत्पन्न हो जाने पर भी जब तक वह प्रमेय-पदार्थ उस प्रमाता की आत्मरूपता (अहंभाव) में अच्छी तरह विश्रान्त न हो जाये तब तक उस प्रमाता के अन्तस् में एक प्रकार की कुतूहलमयी अतृप्ति बनी रहती है और वह बेचैनी की हालत में पड़ा रहता है। फलतः यह बात स्पष्ट है कि ग्राह्य विषय और ग्राहक का सर्वाङ्गीण संवेदनात्मक एका हो जाने के अवसर पर प्रत्येक प्रमाता के हृदय में एक प्रकार की आनन्दात्मिका वृत्ति का उदय हो जाता है और उस आनन्दमयता के आस्वाद को प्रत्येक जीवधारी जानता ही है।

२. निज स्वरूप की भित्ति पर, स्वरूप से और एक दूसरे से भी भिन्न शब्द-स्पर्श आदि प्रमेय-भावों की सर्जना करके, उन सबों में, स्वयं भेदरहित अनुत्तर रूप में अनुस्यूत होकर अवस्थित रहना ही तो प्रभु की निर्बाध प्रभुताई का विचित्र चमत्कार है। तात्पर्य यह कि शब्द इत्यादि रूपों वाले बहिरङ्ग नानाभाव में भी अनुत्तर का एकताभाव क्षतिग्रस्त नहीं होने पाता है।

३. व्याकरण-प्रक्रिया में प्रातिपदिक ऐसे शब्द को कहते हैं, जो सार्थक हो, धातु न हो और विभक्ति से रहित हो, जैसे—वृक्ष, मनुष्य इत्यादि। ऐसे शब्द से बोध में

'सम्बोधनाधिकः प्रातिपदिकार्थः ।'

इति । निर्णीतं च एतन्मयैव श्रीपूर्वपञ्चिकायाम् ।

'एतत्कथय' परावाग्रूपतया अविभक्तं स्थितम् अपि पश्यन्तीभुवि वाक्य-प्रबन्ध-क्रमासूत्रणेन योजय । यथोक्तं प्राक्—

'गुरुशिष्यपदे स्थित्वा·······।'

इत्यादि । पराभट्टारिकायाश्च पश्यन्त्यादितादात्म्यं निर्णीतं प्राग् एव ।

'आमन्त्रण भी प्रातिपदिक का ही अर्थ ध्वनित कर देता है, परन्तु उसमें सम्बोधन की अधिकता गर्भित रहती है।'

अस्तु, इस विषय की ब्यौरेवार मीमांसा मैंने श्री पूर्वपञ्चिका शास्त्र में स्वयं ही की है।

'यह कहिये'—इस कथन का तात्पर्य यह कि यद्यपि मेरे प्रश्न का उत्तर परा-वाणी में, विभागहीन रूप में, पहले से ही विद्यमान है, तो भी उसको पश्यन्ती-वाणी की भूमिका पर उतार कर वाक्य और प्रबन्धरूपी क्रमिकता की आसूत्रणा[1] के साथ मिलाइये। जैसा पहले ही कहा जा चुका है—

'(भगवान् शिव ने) गुरु और शिष्य दोनों पदवियों पर स्वयं ही प्रतिष्ठित होकर (तंत्रों की अवतारणा कर ली)' इत्यादि। पश्यन्ती इत्यादि वाणियों के साथ परा-भट्टारिका के तादात्म्य होने की बात तो पहले ही निश्चित की जा चुकी है।

आनेवाले अर्थ को प्रातिपदिकार्थ कहते हैं। यह अर्थ किसी भी शब्द के निजी संकेतित अर्थ तक ही सीमित रहता है—जैसे 'गाय' यह प्रातिपदिक विशुद्ध रूप में अपने संकेतित गो-पिंड को ही अभिव्यक्त करता है। इसके प्रतिकूल सम्बोधन में प्रातिपदिक अर्थ के अलावा अभिमुखीभाव की ध्वनि भी निहित रहती है। उदाहरणार्थ—'हे राम !' इसमें राम नामी व्यक्ति का संकेत करने वाले प्रातिपदिकार्थ के अतिरिक्त, उसकी (राम की) अपने बुलाने वाले के प्रति अभिमुखीभाव की ध्वनि भी पाई जाती है। अभिमुखता में भावनात्मक तन्मयीभाव का अन्तर्निहित होना भी स्वाभाविक ही है, क्योंकि जब तक बुलाने वाले और बुलाये जाने वाले में भावनात्मक ऐक्य न हो जाये तब तक आमन्त्रण की सार्थकता सिद्ध ही नहीं होने पाती। प्रस्तुत प्रकरण में भी देवी भैरव को 'प्रभो !' शब्द के द्वारा आमन्त्रित कर रही है। इसका तात्पर्य यह कि ऐसे आमन्त्रण के तत्काल ही भैरव देवी के अभिमुख हो गये और दोनों में सघन आत्मिक-एकाकारता हो गई।

१. ग्रन्थकार ने पहले ही इस तथ्य को समझा कर रखा है कि वाचकों और

१—तथा 'मम' इत्यस्य प्रत्यगात्मसम्बन्धित्वस्य इदंभावस्य यत् गुह्यं 'म-ह-अ' इत्युक्तम्—'अहम्'-इति। तथाहि—

'मम इदं भासते'—इति यद् भासनं, तस्य विमर्शः पुनरपि अहंभावैकसारः। स पुनः 'अहंभावो' भावप्रत्युपसंहरणमुखेन 'म-ह-अ' इत्येतद्रूप एव यथोक्तं प्राक्। यदुक्तम्—

१. और 'मम = मुझे' इस शब्द के द्वारा बोध का विषय बनने वाले जीवात्मभाव के ही अभिमुख रहने वाले इदं भाव में भी अनुस्यूत होकर अवस्थित रहने वाले जिस रहस्य का उल्लेख 'म–ह–अ' इस कूट शब्द के द्वारा किया गया, वह तो वास्तव में 'अहम्'-परामर्श ही है। इस कथन की मीमांसा आगे के शब्दों में की जा रही है—

'मुझे यह भासता है'—ऐसे परामर्श में भासने से वास्तव में भासने के रूपवाले विमर्श का अभिप्राय है, अतः इसमें भी स्वाभाविक रूप में अहंभाव का ही सार भरा[1] है—अर्थात् यह भासना भी आन्तरिक अहंभाव का बहिर्मुखीन प्रसार ही है। परन्तु, जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, ऐसे (बहिर्मुखीन प्रसारात्मक) अहंभाव का भी पार्यन्तिक रूप 'म–ह–अ' (अन्तर्मुखीन संहारात्मक अहंभाव) ही है, क्योंकि किसी भी भाव का उपसंहार[2] पर्यन्ततः अहंभाव में ही हो जाता है। इस परिप्रेक्ष्य में कहा गया है—

वाच्यों में पाये जाने वाले पारस्परिक भेदभाव की सूक्ष्मातिसूक्ष्म आसूत्रणा का आयोजन पश्यन्ती-वाणी की भूमिका पर ही होने लगता है। परावाणी की भूमिका पर ये दोनों विभागहीन रूप में ही अवस्थित रहते हैं।

१. 'मुझे यह भासता है'—इस प्रकार की अभिव्यक्ति का तात्पर्य यह निकलता है कि कोई इदन्तावाच्य घट, पट इत्यादि पदार्थ, उस कहने वाले प्रमाता के विमर्शमय स्पन्दन पर पूर्णरूप से आरूढ़ हुआ है, नहीं तो उसके संवेदन में ऐसे किसी भी पदार्थ के भासने का प्रश्न ही नहीं उठता। फलतः यद्यपि ऐसी अभिव्यक्तियाँ बहिर्मुखीन इदंभाव की ओर उन्मुख होती हैं, तथापि इनका पार्यन्तिक पर्यवसान अन्तर्मुखीन अहंभाव में ही होता रहता है।

२. इसका तात्पर्य यह कि जिस अवसर पर किसी प्रमाता को किसी प्रमेय-विषय की पूरी जानकारी हो जाने के उपरान्त उसके विषय में और अधिक कुछ भी जानने की आकांक्षा नहीं रहती, उस अवसर पर वह विषय उस प्रमाता के अहंभाव में ही ज्ञानरूप में निमग्न हो जाता है। इसी परिस्थिति को शास्त्रीय शब्दों में 'भावप्रत्युपसंहार' कहते हैं। ऐसी परिस्थिति में प्रसारात्मक 'अ-ह-म्' का रूप संहारात्मक 'म-ह-अ' बन जाना स्वाभाविक बात ही है।

'इदमित्यस्य विच्छिन्नविमर्शस्य कृतार्थता ।
या स्वस्वरूपे विश्रान्तिर्विमर्शः 'सोऽहं'मित्ययम् ॥'

इति । अन्यत्रापि—

'घटोऽयमित्यध्यवसा नामरूपातिरेकिणी ।
परेशशक्तिरात्मेव भासते न त्विदन्तया ॥'

('यह घट है, यह पट है', अथवा 'यह गुलाब ही है, चमेली नहीं',) ऐसी सैंकड़ों प्रकारोंवाली इयत्ताओं में बँटा हुआ विमर्श, अन्ततोगत्वा, चित्प्रकाश में ही विश्रान्त होकर कृतार्थ[१] हो जाता है ! वास्तव में इदं-भाव की इस स्वरूप[२]-विश्रान्ति को ही (पारिभाषिक शब्दों में) विमर्श कहा जाता है । इसका रूप वह पूर्ण 'अहंभाव' है, जोकि अगणित इदंरूपों में भी एक ही रूप में व्याप्त होकर प्रकाशमान रहता है । दूसरे शब्दों में इस स्वरूप-विश्रान्तिमय विमर्श का यथार्थ रूप 'सोऽहम्' यह आत्म-प्रत्यभिज्ञान ही है ।'

अन्यत्र भी कहा गया है—

'यह घड़ा है'—इस प्रकार का निश्चयज्ञान, उस घड़े के साथ सम्बन्धित 'नाम' और 'आकार' की सीमाओं से अतिगत, पारमेश्वरी ज्ञान-शक्ति का ही

---

१. प्रतिक्षण इन्द्रिय-बोध का विषय बनने वाले अगणित पदार्थों में से जिस किसी पदार्थ के प्रति चेतन-प्रमाता का उन्मुखीभाव हो जाये और उसके संवेदन में उसकी विश्रान्ति भी हो, उसी पदार्थ को उस वेला पर सत्ता प्राप्त हो जाती है । कारण यह कि उसी क्षण पर उस पदार्थ से इतर दूसरे शतशः पदार्थों के विद्यमान होने पर भी, उस प्रमाता में, उनकी ओर उन्मुखता का भाव जागृत नहीं होता । फलतः उसके तत्कालीन संवेदन में उनकी विश्रान्ति न होने के कारण उसके लिए वे पदार्थ सत्तावान् ही नहीं होते हैं । इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि वास्तव में सारे प्रमेय-भाव चित् प्रकाश के साथ एकाकार होने से ही अपने-अपने रूपों में प्रकाशमानता को प्राप्त कर सकते हैं । ऐसी परिस्थिति में यदि यह कहा जाये कि वास्तव में अहंभावात्मक चित्-प्रकाश ही जड़-भावों के रूपों में भी प्रकाशमान है, तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी ।

२. स्वरूप-विश्रान्ति के विषय में शास्त्रकारों का एक मन्तव्य ध्यान में रखा जाना परम आवश्यक है । यह इदंवाच्य प्रमेय-जगत् 'अहंरूपी' स्वरूप का ही बहिर्मुखीन-प्रसार में आया हुआ रूपान्तर मात्र है । यह स्वरूप से, कथित भिन्न रूप में प्रकाशमान् रहता हुआ भी प्रतिसमय 'स्वरूप पर' ही 'विश्रान्त'—अर्थात् आधारित रहकर स्पन्दायमान रहता है । दूसरी ओर उपसंहृत होने के अवसर पर भी 'स्वरूप में' ही 'विश्रान्त'—अर्थात् लीन हो जाता है । फलतः स्वरूप विश्रान्ति के दो मुख हैं—

इति । तदुक्तं श्रीसोमानन्दपादैः निजविवृतौ—

'अ-बीज शुद्धशिवरूपम् ।'

इत्यादि । तदेव अस्माभिः विपञ्चितम्, इति ।

२—तथा 'स्वमम'—सुष्ठु अविद्यमानं मम इति यस्य—अहन्ताभरैकरूपत्वात् विश्वं न किञ्चित् 'यस्य'—इति व्यतिरिक्त-निर्देशप्राणषष्ठ्यर्थ-योगि भवति । शास्त्रान्तरदीक्षितानां विज्ञानाकलानां, प्रलयकेवलिनां च यद्यपि 'मम'-इति

रूप होता है। किसी भी प्रकार का निश्चय-ज्ञान तो प्रमाता को (स्वरूप से भिन्न) इदंरूप में नहीं, प्रत्युत आत्म-रूप में ही भासित होता है।

इसी तथ्य को दृष्टिपथ में रखकर श्रीमान् सोमानन्दपाद ने अपनी विवृति में कहा है—

'अ-बीज'—अर्थात् अनुत्तररूपिणी 'अ-कला' ही विशुद्ध शिव का रूप है।'

इत्यादि। हमने उनके उसी कथन की स्पष्ट मीमांसा यहाँ पर प्रस्तुत की है।

'स्वमम' शब्द को इकट्ठा शब्द मानकर इसकी व्याख्या ।

१. स्वमम—सुष्ठु अविद्यमानं मम यस्य–(सु + अ + मम)

इकट्ठे 'स्वमम' शब्द से किसी ऐसी सत्ता का बोध हो जाता है, जिसमें 'मेरा' इस प्रकार से अभिव्यक्त हो जाने वाला ममत्व-अभिमान कतई नहीं है। इसका तात्पर्य यह कि उस सत्ता का रूप मात्र विश्वात्मक अहंभाव है, अतः उसके लिए, 'जिसका' इसप्रकार स्वत्व से भिन्नरूप में निर्देश किये जाने से ही जीवन पानेवाली षष्ठी[1] विभक्ति के अर्थ के साथ संगत हो जानेवाला, कोई स्वरूप से बिल्कुल अलग-थलग विश्व विद्यमान ही नहीं है। यद्यपि दूसरे शास्त्रों में वर्णित पद्धति के अनुसार दीक्षा पाने वाले योगियों और हमारे संप्रदाय के अनुसार विज्ञानाकल और प्रलयाकल भूमिकाओं पर पहुँचे हुए प्रमाताओं को भी

१. बहिर्मुखीन प्रसार की अवस्था में 'स्वरूप पर' विश्रान्त होकर अवस्थित रहना और
२. अन्तर्मुखीन संहार की अवस्था में 'स्वरूप में' विश्रान्त होकर अवस्थित रहना।

१. लोक व्यवहार में षष्ठी विभक्ति ऐसे दो वस्तुओं के पारस्परिक सम्बन्ध को द्योतित करती है, जो कि आपस में बिल्कुल भिन्न हों। उदाहरणार्थ—'राजा का पुरुष' इसमें षष्ठी विभक्ति आपस में नितरां भिन्न राजा और 'उसके' पुरुष का सम्बन्ध जताती है। जहाँ तक अनुत्तरीय विद्या (शिवविद्या) का सम्बन्ध है, इसमें ऐसे किसी औपचारिक द्वित्व का कहीं अस्तित्व ही नहीं है। विश्वात्मसंवित्-वाद की मान्यता के अनुसार अनुत्तरीय संवित् ही समूचा विश्व है। विश्व का अणु-अणु स्वयं संवित् भट्टा-

व्यतिरिक्तं नास्ति, तथापि भेदयोग्यतावसाना स्यादेव—प्रबोधसमये तद्विकासाद् अहंभावरूढिः। तदपाकृतये सुष्ठुशब्दार्थे 'सुः'। यदुक्तं मयैव स्तोत्रे—

'यन्न किञ्चन ममेति दीनतां
प्राप्नुवन्ति जडजन्तवोऽनिशम्।
तन्न किञ्चन ममास्मि सर्वमि-
त्युद्धुरां धुरमुपेयिवानहम्॥'

इति।

समाधिकाल में 'मेरा' इस प्रकार द्योतित होनेवाले स्वरूप से भिन्न पदार्थों का आभास कतई नहीं रहता है, परन्तु समाधि से उठने के बाद तत्काल ही उनमें वह भेदभावना पनप उठती है और वे झट् से फिर सीमित देहाभिमान पर आरूढ़[1] हो जाते हैं। अनुत्तर के सन्दर्भ में इस मितप्रमातृभाव को पूरा हटाने के अभिप्राय से ही (मूल स्वमम शब्द में) 'सु' उपसर्ग को, 'सुष्ठु = भली-भाँति'—अर्थात् भेदभाव के कतई न होने के अर्थ में प्रयुक्त किया गया है। जैसा कि मैंने अपने ही एक स्तोत्र में कहा है—

'सारे जड़[2] जन्तु रात दिन—'मेरा तो कुछ भी नहीं है'—इस प्रकार की जिस अपने अकिञ्चन होने की भावना से दब्बू बन जाते हैं, मैं उसी अकिञ्चनत्व को—'वह कौन सा पदार्थ है, जो मेरा स्वरूप नहीं ?' इस प्रकार यथार्थ निरा-

---

रिका ही है, अतः उसके सन्दर्भ में 'संवित् का विश्व'—इस प्रकार की भेद भावना पर आधारित षष्ठी विभक्ति का अर्थ संगत ही क्योंकर हो सकता है ?

१. ऐसा योगी समाधि के अन्त पर व्युत्थान में आते ही उस समाधिकालीन अनुभूति का—'अरे मैं तो बिल्कुल स्तब्ध जैसा हो गया था'—इस प्रकार के रूप में स्मरण करने लगता है। स्मरण करने के अवसर पर उसका साधारण जीवों की तरह फिर भी देहाभिमान पर आरूढ़ हो जाना स्पष्ट ही है, क्योंकि तभी तो वह वर्तमान अवसर पर, अतीत समाधिकालीन अनुभूति का स्मरण स्वत्व से भिन्न रूप में करने पर बाध्य हो जाता है। इसके प्रतिकूल विश्वात्म संवित् स्वभावतः एक ही शाश्वत सत्ता होने के कारण कालत्रय की सीमाओं में कदापि बन्द नहीं हो सकती। अतः उसके सन्दर्भ में न तो कोई समाधि काल ही और न कोई व्युत्थानकाल ही हो सकता है। वह तो शाश्वत वर्तमान है, अतः उसके लिए पूर्वकालिक अनुभूति और अपरकालिक स्मर्यमाणता जैसे पचड़े की आवश्यकता ही क्या है ?

२. यहाँ पर आचार्य ने सांख्यों, माध्यमिकों, बौद्धों अथवा शैवी दीक्षा के बदले दूसरे शास्त्रों के अनुसार दीक्षा पाने वाले व्यक्तियों को जड़-जन्तुओं का नाम दिया है।

३. (सु-) शोभनेन-द्वैत-कलङ्काङ्कना-कालुष्य-लेश-शून्येन, 'अमेन' परमार्थोपदेशाद्वयात्मना ज्ञानेन, 'मानम्'-अवबोधो यस्य,-स्वप्रकाशैकरूपत्वात् ।

४. अमतीति 'अमा', 'अ-मा'-इति, अविद्यमानं 'मा'-मानं, निषेधः, नित्योदितत्वात् संहारश्च यत्र सा भगवती 'अमा'-इति उच्यते ।

काङ्क्षा[1] के रूप में अनुभव करने से—'मैं तो सब कुछ हूँ'—इस प्रकार की परिपूर्णता की चरम-कोटि पर पहुँच गया हूँ ।'

बहुव्रीहि समास के आधार पर शिव-भाव की दृष्टि से 'स्वमम' शब्द की व्याख्या ।

३ स्वमम = शोभनेन अमेन मानं यस्य—(सु + अम + म)

प्रस्तुत प्रसङ्ग में 'स्वमम' शब्द से एक ऐसे अनिर्वचनीय तत्त्व का अवबोध हो जाता है, जिसकी उपलब्धि, द्वैत-भावना का दाग लगने से उत्पन्न मलिनता के सूक्ष्मातिसूक्ष्म संस्कारमात्र से भी रहित और परमार्थ-सम्बन्धी उपदेशों का बार बार श्रवण करने से ही पनपी हुई अभेद-भावना से परिपूर्ण ज्ञान के द्वारा ही हो सकती है,—कारण केवल इतना है कि उस तत्त्व का रूप मात्र स्वप्रकाशमानता है ।

शक्ति-भाव की दृष्टि से व्याख्या ।

४. 'अमा' शब्द भगवती परा-शक्ति का वाचक है । पहले पक्ष में इसको इकट्ठा शब्द मानकर और (गति, शब्द एवं बटवारे का अर्थ द्योतित करने वाले) 'अम' धातु से व्युत्पन्न करके इससे—(१) ज्ञान के प्रत्येक क्षेत्र में स्वच्छन्दतापूर्वक विहार करनेवाली, (२) प्रमेय-विश्व के अणु-अणु के रूप में 'शब्दायमान'—अर्थात् स्पन्दायमान रहनेवाली और—(३) प्रमेय-पदार्थों का सुव्यवस्थित रूप में बटवारा करनेवाली परा-शक्ति का तात्पर्य निकाला जाता है । दूसरे पक्ष में इसके 'अ–मा'—इस प्रकार के दो खण्ड मानकर और निषेधार्थक 'अ' एवं मानार्थक (मान = प्रमाण = ज्ञान) 'मा' धातु से व्युत्पन्न करके इससे ऐसी शाक्त-भूमिका का तात्पर्य निकाला जाता है, जिसमें—(१) ज्ञान, (२) उसके निषेध = अज्ञान और नित्य उदीयमान होने के कारण (३) ज्ञान-

---

१. राजसिक प्रवृत्तियों वाले व्यक्तियों के लिए अकिञ्चनत्व का रूप—'मेरा कुछ नहीं है' इस प्रकार की अतृप्ति और तज्जनित लोलुपता । सात्त्विक प्रवृत्तियों वाले महात्माओं के लिए अकिञ्चनत्व का रूप—'मुझे कोई वस्तु चाहिये ही नहीं'—इस प्रकार की पूर्ण तृप्ति और तज्जनित निःस्वार्थभाव ।

५—'मा' शोभना सततोदिता यत्र, 'मायां'-प्रमाण-प्रमेय-व्यवहृतौ सा तादृशी 'मा' यस्य,-इति बहुव्रीह्यन्तरो बहुव्रीहिः। परमेश्वरो हि प्रमाणादि-व्यवहारेऽपि परशक्तिमय एव-सर्वथा अद्वैतरूपत्वात्। तस्य आमन्त्रणम् आत्मन एव ॥१½॥

इदमेव सार्धश्लोक-निरूपितानन्त-प्रश्न-तात्पर्य-संग्रहेण एतदुक्तं भवति,—

रूपता का संहार—अर्थात् स्पन्दहीन जैसी अवस्था की वर्तमानता[1] न हो, ऐसी सर्वस्वतन्त्र और अनुत्तरीय ऐश्वर्य से परिपूर्ण भट्टारिका को भगवती 'अमा' कहते हैं।

बहुव्रीहि के अन्तर्गत दूसरे बहुव्रीहि के आधार पर जीव-भाव की दृष्टि से व्याख्या।

५. स्वमम—(१) सु शोभना अमा यत्र, तस्या (२) सा अमा यस्य।

'अमा'—अर्थात् प्रमाणों और प्रमेयों के ही पारस्परिक संघटन एवं विघटन के व्यवहारों की भूमिका (जीव-भाव), जिसमें भगवती अमा नित्य उदीयमान अवस्था में वर्तमान ही है। इस भूमिका पर अवस्थित रहने वाले, जिसका कार्य-भार, उसी पूर्वोक्त, 'अमा'—अर्थात् ज्ञान, अज्ञान एवं दोनों की विश्रान्ति से ही सुचारु रूप में चलता रहता है, उसको 'स्वमम'—अर्थात् शक्ति-गर्भित जीव कहा जाता है। यह अर्थ बहुव्रीहि समास के अन्तर्गत दूसरे बहुव्रीहि के द्वारा बोध में आ जाता है।

निःसन्देह परमेश्वर प्रमाणों और प्रमेयों के आदान-प्रदानात्मक व्यवहारों (जीव-भाव) में भी पराशक्तिमय ही हैं, क्योंकि परिपूर्ण अद्वैत ही तो उनका मात्र रूप है। फलतः उनको आमन्त्रित किये जाने का वास्तविक अभिप्राय अपनी आत्मा को ही आमन्त्रित करना है ॥१½॥

'यहाँ तक के डेढ़ श्लोक में वर्णित प्रश्नात्मकता का कहीं पर भी पूर्णविराम[2] नहीं, अतः इसका तात्पर्यमात्र संगृहीत करके, अत्यन्त संक्षिप्त सूत्ररूप में इस

---

१. यहाँ पर इस निषेधात्मकता का तात्पर्य गुरुक्रम में इस प्रकार निकाला जाता है—वह शाक्त-भूमिका जिसमें ज्ञानरूपता, अज्ञानरूपता और दोनों की विश्रान्तिरूपता मात्र संवित्-रूप में युगपत् ही विलासमान रहती है। वहाँ पर इनका अनस्तित्व नहीं, अपि तु इनके पार्थक्य का अनस्तित्व है।

२. भगवती परा-भट्टारिका का प्रश्न यह है कि अनुत्तर-तत्त्व का वास्तविक स्वरूप क्या है? यह एक ऐसा प्रश्न है, जिसका उत्तर चिरन्तन काल से ही ढूँढा जा रहा है, अनन्त रूपों में दिया जा रहा है, परन्तु इसकी प्रश्नात्मकता अपने अक्षुण्ण रूप में वैसी

इति निर्णेतुं निरूप्यते—

हृदयस्था तु या शक्तिः कौलिकी कुलनायिका ।
तां मे कथय देवेश ! येन तृप्तिं लभाम्यहम् ॥ २१/२ ॥

सर्वस्य नीलसुखादेः, देह-प्राण-बुद्ध्यादेश्च, परं प्रतिष्ठास्थानं 'हृत्', तस्यैव निज-स्वातन्त्र्य-कल्पित-भेदा 'अयाः'-विचित्राणि घटादिज्ञानानि, तत्स्था या इयं स्फुरणमयी शक्तिः, 'कुलस्य नायिका' शरीर-प्राण-सुखादेः स्फुरत्तादायिनी,

---

प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है'—इस बात को स्पष्ट करने के अभिप्राय से अग्रिम सूत्र अवतरित कर रहे हैं—

मूल सूत्र

हे देवताओं के स्वामी ! यह जो समूचे कुल को संचालित करनेवाली 'कौलिकी-शक्ति' प्रत्येक पदार्थ के हृदय में वर्तमान ही है, मुझे उसका स्वरूप बताइये, जिससे कि मैं आन्तरिक तृप्ति को प्राप्त करूँ ॥२१/२॥

तत्त्व-विवेक

'हृदयस्था' शब्द के 'हृत् + अय + स्था' ये तीन खण्ड करके व्याख्या।

१. ('हृत्' शब्द प्रत्येक पदार्थ के अन्तरतमवर्ती स्फुरण-केन्द्र का द्योतक है। संवित् इसकी (स्फुरण-केन्द्र) की आत्मा है। यह हृदय सारे नील एवं सुखरूपी प्रमेय-पदार्थों और शरीर, प्राण एवं बुद्धि इत्यादि की सर्वोत्कृष्ट एवं पार्यन्तिक विश्रान्तिरूपी गौरव का स्थान है।—**(विश्वोत्तीर्णता का संकेत)**

२. 'अय' शब्द से बहिरङ्ग विश्व में विचित्र प्रकारों वाले घटज्ञान इत्यादि भिन्न भिन्न रूपों में फैले हुए अनन्त ज्ञानों का बोध हो जाता है। ये ज्ञान, वास्तव में, उसी हृदयरूपी स्फुरण-केन्द्र के निजी स्वातन्त्र्य के ही द्वारा स्वयं-कल्पित भेद हैं।—**(विश्वमयता का संकेत)**

३. 'स्था' शब्द इन सारे परस्पर-भिन्न ज्ञानों के स्फुरण का उत्स बनी हुई

की वैसी है। सृष्टि विकास के साथ-साथ ही यह समस्या भी चली आ रही है कि आखिरकार इस उत्तररूपिणी सृष्टि-प्रक्रिया का अनुत्तररूपी अन्त कहाँ पर है ? संसार में क्षण-क्षण एवं पग-पग पर चलनेवाले व्यवहारों, यहाँ तक कि प्रत्येक दिल की प्रत्येक धड़कन में यह समस्या अन्तर्निहित ही रहती कि यह अबाध-गति से बहती हुई सृष्टि-मन्दाकिनी किस उद्गम से निकल कर किस अज्ञात पारावार से मिलने के लिए, किधर की ओर बहती जा रही है ? परा भगवती तो स्वयं भी अनादिकाल से ही इस प्रश्न का उत्तर पाने की तलाश में है, परन्तु इसका अन्त तो कहीं भी परिलक्षित नहीं होता।

ब्राह्म्यादि-देवताचक्रस्य वीर्यभूता, निखिलाक्ष-नाडीचक्रस्य मध्य-मध्यमरूपा, जननस्थानर्कणिका-लिङ्गात्मा अस्ति ।

तत्रैव च कुले भवा अकुलरूपा 'कौलिकी', यद्वा कुले भवम् अकुलात्म कौलं, तद् यस्याम् अन्तः तादात्म्येन अस्ति सा 'कौलिकी'।

'कुलं' हि अकुलप्रकाशरूढम् एव तथा भवति । यदुक्तम्—

और स्वरूपतः इन सबों के गर्भ में, स्फुरण के ही रूप में, व्याप्त रहनेवाली शक्ति का बोध कराता है।—(दोनों में शक्ति की व्यापकता का संकेत)

'कुलनायिका' शब्द की व्याख्या ।

इस शक्ति को 'कुल की नायिका' माना जाता है, क्योंकि यह—

१. अनुत्तर-भूमिका पर

शरीर एवं प्राणों को धारण करनेवाले ग्राहक-समुदाय, और सुख इत्यादि रूपोंवाले ग्राह्य-समुदाय को स्फुरण प्रदान करने वाले और ब्राह्मी इत्यादि देवियों के चक्र का बल बने हुए रूप में अवस्थित है।

२. शाक्त-भूमिका पर

सारी इन्द्रियों में फैले हुए शिराजाल के ठीक बीचों-बीच अवस्थित रहनेवाली मुख्य मध्यमा-नाड़ी (सुषुम्णा) के रूप को धारण करके अवस्थित है।

३. नर-भूमिका पर

प्रत्येक प्राणी के जनन का स्थान बनी हुई 'कर्णिका'—अर्थात् स्त्री का गुह्याङ्ग और 'लिङ्ग'—अर्थात् पुरुष की आनन्देन्द्रिय के रूप में वर्तमान है।

'कौलिकी-शक्ति' इस नामकरण के दो आधार ।

१. कौलिकी—कुले भवा अपि अकुला ।

'कुल'—अर्थात् प्रमातृ-वर्ग और प्रमेय-वर्ग का रूप धारण करनेवाले सारे चेतन एवं जड़ पदार्थों में स्वयं ही आमूलचूल व्याप्त रहने पर भी 'अकुल'—अर्थात् इससे (कुल से) अतिगत शक्ति को कौलिकी-शक्ति कहते हैं।

२. कौलिकी—कुले भवं कौलम्, तद् यस्यामन्तः अस्ति सा ।

अथवा 'कुल' अर्थात् प्रत्येक प्रकार की क्रियात्मकता का केन्द्र बनी हुई पाञ्चभौतिक काया में, 'अकुल'—अर्थात् कुल से अतिगत विशुद्ध चिन्मात्ररूप में ही अवस्थित रहनेवाले तत्त्व को 'कौल' कहते हैं। वह 'कौल'—अर्थात् पारमार्थिक चेतन-तत्त्व (शिवकला), स्वयं भी जिसके अन्तरतम में, तादात्म्य-भाव से वर्तमान रहता है, उसको कौलिकी-शक्ति कहते हैं।

कुल तो, निश्चय से, अकुलरूपी प्रकाशपुञ्ज के आधार पर टिका हुआ होने से ही उस रूप में बना रह सकता है। जैसा कि कहा गया है—

'अपि त्वात्मबलस्पर्शात्……… ।'

इति । तथा—

तदाक्रम्य बलं मन्त्राः सर्वज्ञबलशालिनः ।
प्रवर्तन्तेऽधिकाराय करणानीव देहिनाम् ॥'

इति ।

'देवानां' ब्रह्म-विष्णु-रुद्रादीनाम्, 'ईशस्य' आमन्त्रणम् ।

'तन्मे कथय'-इत्यपि पठन्ति श्रीसोमानन्दपादाः, व्याचक्षते च 'तत्'-तस्माद् इति ।

यद्वा तत् कथय येन 'तृप्तिं'-परमानन्दमयीं, 'लभे'-परमाद्वय-निर्वृति-स्वातन्त्र्यरसा भवामि,—इति समन्वयः ।

'व्रजामि'-इत्यपि पाठः ।

'किन्तु मौलिक आत्म-बल का स्पर्श पाने से ही…………।'
इत्यादि । और—

प्रत्येक प्रकार के 'मन्त्र'—अर्थात् मन्त्र, मन्त्रेश्वर और मन्त्रमहेश्वर स्तरों के प्रमाता उस स्पन्दरूपी आत्म-बल का स्पर्श पाने से ही सर्वज्ञता इत्यादि माहेश्वर बलों से शोभित होने लगते हैं और इसी की प्रेरणा से वे प्रत्येक प्रकार की सृष्टि, स्थिति और संहार जैसी इतिकर्तव्यताओं को उसी प्रकार अधिकारपूर्वक सम्पन्न करने में प्रवृत्त हो जाते हैं, जिस प्रकार शरीरधारियों की इन्द्रियाँ (संकल्पमात्र से सहज ही में सारे कामों को सम्पन्न कर लेती हैं) ।'

सूत्र के अवशिष्ट पदों की व्याख्या ।

'देवेश !'—यह शब्द ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र इत्यादि देवताओं के स्वामी का आमन्त्रण है ।

श्रीसोमानन्द पाद (मूलसूत्र के तीसरे चरण में 'तां मे कथय'—इस पाठ के साथ साथ) 'तन्मे कथय'—यह पाठ भी समीचीन ही मानते हैं । वे इस पाठ में 'तत्' शब्द का अर्थ—'उस कारण से' लगाते हैं ।

अथवा वे इस पाठ की संगति इस प्रकार से भी बिठाते हैं—'हे देवेश ! मुझे वह रहस्य समझाइये, जिससे मैं परम आनन्दमयी तृप्ति को प्राप्त करूँ, अर्थात् असीम अभेद-परामर्श की आनन्दमयता का आस्वाद करने से जनित स्वातन्त्र्य की रसमयता से सराबोर हो जाऊँ ।

(मूलसूत्र के चौथे चरण में 'लभामि' के स्थान पर) 'व्रजामि' यह पाठ भी प्रचलित है ।

'अहम्'-इत्यनेन सर्वप्रमातृजीवनरूपम् एव सततं परामृश्यते। तच्च एवम् अभिहितस्वरूपोपदेशेनैव प्रत्यभिज्ञाय निजमीश्वररूपं परिपूर्णभावात्मिकां तृप्तिं विन्दति-इति प्राक् प्रकटितम् एव। तदुक्तं श्रीसोमानन्दपादैः स्व-विवृतौ—

'हृदि अयो-गमनं, ज्ञानम्..........।'

इत्यादि।

इति शिवरसं पातुं येषां पिपासति मानसं
सततमशिवध्वंसे सक्तं शिवेन निवेशितम्।
हृदयगगनग्रन्थिं तेषां विदारयितुं हठाद्
'अभिनव' इमां प्रश्नव्याख्यां व्यधात् त्रिकतत्त्वगाम्॥

तदत्र प्रश्नसर्वस्वे—

श्रीभैरव उवाच।

व्याख्यातं प्रागेव एतत्, किं पुनरुक्ततापादनेन? 'भैरवो-भरणात्मको,

---

'अहम्'—इस शब्द के द्वारा प्रतिसमय, सारे प्रमाताओं का जीवन बने हुए चैतन्य-तत्त्व का ही मात्र परामर्श किया जाता है। इस तथ्य को पहले स्पष्ट किया ही जा चुका है कि वास्तव में वह चैतन्य-तत्त्व ही, इस प्रकार से समझाये गये स्वरूप-विमर्श के उपदेश को हृदयङ्गम करने के द्वारा, निजी ईश्वररूप को भली-भाँति पहचान कर परिपूर्ण-भाव के रूपवाली तृप्ति को प्राप्त कर लेता है। इस सन्दर्भ में श्रीसोमानन्द पाद ने अपनी विवृति में—

'हृदि अयः' शब्द का अभिप्राय—अपने हृत्-मण्डल में पैठना, अर्थात् स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करना है..........।'

इत्यादि बातें कही हैं।

भगवान् अभिनव का निजी संग्रह श्लोक।

जिन महापुरुषों के मन, जो कि प्रतिसमय अपने 'अमंगल'—अर्थात् मायीय अख्याति का नाश करने पर कटिबद्ध रहते हों और जिनमें भगवान् शंकर ने अपना स्थायी निवास बनाया हो, इस प्रकार के शिवरस का पान करने के लिए लालायित हों, उनके हृदयाकाशों में वर्तमान रहनेवाली गाँठों को खोलने के लिए, मुझ अभिनवगुप्त ने, इस 'प्रश्न-व्याख्या' की रचना की। यह व्याख्या त्रिक-रहस्य के सार का बिल्कुल सही ढंग से अनुगमन कर रही है।

तो इस प्रश्न-सर्वस्व में—

मूल-ग्रन्थ

श्रीभैरव कहने लगे—

तत्त्व-विवेक

इस वाक्य की व्याख्या पहले ही प्रस्तुत की जा चुकी है, अतः यहाँ पर फिर

महामन्त्र-रवात्मकश्च । केवलमत्र शक्तिमत्प्राधान्यं संहाररूपेण 'म ह अ'-इत्येवंरूपम्,-इत्युक्तं प्राक् । स्फुटीभविष्यति च अग्रत एव । तद् इयानत्र तात्पर्यार्थः—

'परा भगवती संवित् प्रसरन्ती स्वरूपतः ।
'परेच्छाशक्ति' रित्युक्ता भैरवस्याविभेदिनी ॥

पिष्टपेषण करने का कोई प्रयोजन नहीं । 'भैरव'-शब्द उस तत्त्व का द्योतक है, जो कि पोषक एवं रवात्मक[1] है । अभिप्राय यह कि पर-भैरवीय सत्ता एक ऐसी सत्ता है, जो कि बहिरङ्ग विश्व को स्वरूप से इतर रूप में सत्ता प्रदान करने पर भी इसको स्वरूप पर ही आधारित रखकर इसका पोषण करने के रूप में प्रकाशमयी और स्वयं, 'महामन्त्र'—अर्थात् अनुत्तरीय अहंभाव, के 'रव'—अर्थात् स्फुरणमय विमर्श से युक्त होने के कारण विमर्शमयी भी है । इस सम्बन्ध में केवल इतना ध्यान में रखने की आवश्यकता है कि प्रस्तुत सन्दर्भ में 'भैरव' शब्द में भगवान् के शक्तिमान्[2] रूप की प्रधानता पाई जाती है और इस बात का उल्लेख पहले ही हो चुका है कि संहारक्रम में शक्तिमान् की प्रधानता का रूप 'म ह अ'—यह कूट 'अहम्' ही है । अस्तु, इसका स्पष्टीकरण थोड़ा ही आगे चलकर होगा । समूचे प्रसङ्ग का तात्पर्य केवल इतना है—

संवित् का पहला स्पन्द इच्छा-शक्ति ।

हमेशा परा-भाव पर अवस्थित रहनेवाली भगवती संवित् को ही बहिर्मुखीन प्रसार की ओर ठीक उच्छलित होने के क्षण पर इच्छा[3]-शक्ति का नाम दिया गया है । वह इच्छा-शक्ति भी, वास्तव में, परारूपिणी ही है, क्योंकि वह पर-भैरव से कदापि वियुक्त नहीं हो जाती ।

---

१. यद्यपि साधारण परिस्थिति में संस्कृत भाषा के 'रव' शब्द से किसी भी प्रकार के शोर-गुल अथवा शब्दन का अभिप्राय लिया जाता है, परन्तु त्रिक-सन्दर्भ में इससे परभैरवीय विमर्श-शक्ति का ही बोध हो जाता है । इस विषय में यह बात स्मरणीय है कि साधारण परिस्थिति में भी प्रत्येक प्रकार के शब्दन का मूलरूप आन्तर विमर्श का स्पन्दन ही होता है ।

२. बहिर्मुखीन प्रसार की अवस्था में परभैरव के शक्तिरूप और अन्तर्मुखीन संहार की अवस्था में शक्तिमान् रूप की प्रधानता होती है ।

३. अनुभवी सिद्धों ने बहिर्मुखीन प्रसार की भिन्न भिन्न भूमिकाओं पर भिन्न भिन्न प्रकार की क्रियाशीलता को निभाने वाली शक्ति के इच्छा शक्ति ज्ञान-शक्ति इत्यादि भिन्न भिन्न नामकरण भी करके रखे हैं । वास्तव में ये सारे नाम औपचारिक हैं, क्योंकि इनसे शक्ति के मौलिक स्वरूप में कोई अन्तर नहीं पड़ता ।

तस्याः प्रसरधर्मित्वं ज्ञानशक्त्यादिरूपता ।
परापरापरारूपपश्यन्त्यादिवपुर्भृतिः ॥
तदेवं प्रसराकारस्वरूपपरिमर्शनम् ।
'प्रश्न'-इत्युच्यते, देवी तन्मयप्रश्नकारिणी ॥
तस्य प्रसररूपस्य परामर्शनमेव यत् ।
तदेव परमं प्रोक्तं तत् 'प्रश्नोत्तररूपकम्' ॥
तदेवापरसंवित्तेरारभ्यान्तस्तरां पुनः ।
परसंविद्घनानन्दसंहारकरणं मुहुः ॥

अनन्तरवर्ती स्पन्द प्रवाह

ज्ञानशक्ति, क्रियाशक्ति और परापरा-भाव एवं अपरा-भाव के साथ सम्बन्धित पश्यन्ती, मध्यमा आदि वाणियों के रूपों में प्रवाहित हो जाना ही उसका प्रसारात्मक धर्म है ।

प्रश्नात्मकता का स्वरूप

बहिर्मुखीन प्रसार के अवसर पर, प्रसार के ही आकार को धारण करनेवाले स्वरूप-विमर्श को प्रश्न की संज्ञा दी जाती है। फलतः देवी भी यह स्वरूप[1]-विमर्शात्मक प्रश्न ही पूछ रही है ।

उत्तरदाता पर-वक्त्र (अघोर-वक्त्र) का रूप

उस स्वरूप-प्रसार का जो विमर्शमय प्रस्तुतीकरण है, उसी को त्रिक-भाषा में सर्वोत्कृष्ट 'पर-वक्त्र[2] = भैरवीय मुख' कहा जाता है । (देवी के रूप में पूछा जाने वाला स्वरूप-विमर्शात्मक) प्रश्न और (भैरव के रूप में दिया जाने वाला स्वरूप-विमर्शात्मक) उत्तर ही इसका (पर-वक्त्र का) रूप है ।

पर-वक्त्र से निकलने वाले उत्तर का रूप

(संहार-क्रम में) 'अपर-संवित्ति'—अर्थात् जीव-कला (म-कला) से आरम्भ करके, बीच वाली 'परापरसंवित्ति'—अर्थात् शक्ति-कला (ह-कला) पर पहुँच कर, फिर 'पर-संवित्ति'—अर्थात् अनुत्तर-कला (अ-कला) की आनन्दमयता

---

१. यहाँ पर देवी के द्वारा पूछा जाने वाला स्वरूप-विमर्शात्मक प्रश्न तो उत्तर गर्भित ही है । इस विषय पर पहले 'कथम्' शब्द की व्याख्या पर लिखी गई टिप्पणी में प्रकाश डाला जा चुका है ।

२. यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो संसार की भूमिका पर भी प्रत्येक मुख अपनी अपनी जगह पर 'पर-वक्त्र' ही कहा जा सकता है । कारण यह कि संसार का

अन्तर्भावितनिःशेषप्रसरं भैरवं वपुः ।
'प्रतिवक्तृ'स्वरूपेण सर्वदैव विजृम्भते ॥
एतौ प्रसरसंहारावकालकलितौ यतः ।
तदेकरूपमेवेदं तत्त्वं 'प्रश्नोत्तरात्मकम्' ॥
तदेवं परसम्बन्धमनुत्तरतयान्वितम् ।
षडर्धसारसर्वस्वं गुरवः प्राङ् न्यरूपयन् ॥

में बार-बार स्वरूप का उपसंहार करना ही (पर-वक्त्र से निकलनेवाले उत्तर[1] का स्वरूप है) ।

अनुत्तर-भैरव की शाश्वतिक क्रीड़ा

वह भैरवीय स्वरूप, देवी के प्रश्न से लेकर भैरवीय उत्तर तक के समूचे प्रसार-क्रम को स्वरूप के गर्भ में ही विमर्श का विषय बनाकर, प्रत्युत्तर देनेवाले पर-वक्त्र के रूप में शाश्वतिक क्रीड़ा[2] करता रहता है।

प्रश्न एवं उत्तर की एकरूपता

'प्रसर'—अर्थात् प्रश्नात्मकता और 'संहार'—अर्थात् उत्तरात्मकता काल-क्रम के वशवर्ती नहीं हैं। तात्पर्य यह कि इस प्रश्न-प्रतिवचन की विरामहीन प्रक्रिया में प्रश्न की अनिवार्य पूर्ववर्तिता और उत्तर की आवश्यक उत्तरवर्तिता के क्रम[3] का कोई अवकाश ही नहीं है। इसलिये इस प्रश्न एवं उत्तर का वास्तविक तत्त्व यौगपदिक 'प्रश्नोत्तर' है।

'प्रश्नोत्तर' की परसम्बन्ध में ही अवस्थिति

इस प्रकार से यह अनुत्तर-भाव से परिपूर्ण 'प्रश्नोत्तर', वास्तव में, परा-

---

प्रत्येक आदान-प्रदान प्रश्न एवं प्रत्युत्तर ही है और सारे मुख इस प्रश्न-प्रत्युत्तर को ही प्रस्तुत करते रहते हैं ।

१. संसार की भूमिका पर भी प्रतिक्षण प्रत्येक प्रश्न स्वरूप से ही उद्भूत होकर और सही उत्तर पाने पर फिर स्वरूप में ही उपसंहृत हो जाता है । यदि पूछे—'यह क्या है ?', उधर से उत्तर मिले—'यह ऐनक है', बस जिज्ञासा शान्त हो गई और पूरा प्रश्न-प्रतिवचन फिर भी स्वरूप में ही संहृत हो गया । इतने में ही सृष्टि-संहार का चक्र पूरा हो गया । कोई निमिषमात्र भी ऐसा नहीं, जिसमें युगपत् ही ऐसे अगणित सृष्टि-संहार चलते न हों।

२. देवी के रूप में प्रश्न पूछा जाना, अर्थात् प्रसार और भैरव के रूप में उत्तर दिया जाना, अर्थात् संहार, यही पर-भैरव की शाश्वतिक क्रीडा है । इस प्रसार-संहार में ही समूची विश्वमयता और विश्वोत्तीर्णता का रहस्य भी अन्तर्निहित है ।

३. स्वरूप को पहचानने का कोई निश्चित समय या अवधि नहीं है । जहाँ स्वरूप

पफिलउ फुरइ फुरण अबि आरिणा होइ परावर ।
अवर विहइण देवि विसरिम इ ऊ उ ।
सासच्चिअ परिसरि सेइस ऊ अ उ देउ ।
विलोमइ भैरव ऊ अ उ उत्तर एहु अणुतूल ।

शृणु देवि महाभागे ! उत्तरस्याप्यनुत्तरम् ॥ ३ ॥
कौलिकोऽयं विधिर्देवि ! मम हृद्व्योम्न्यवस्थितः ।
कथयामि सुरेशानि ! सद्यः कौलिकसिद्धिदम् ॥ ४ ॥

'देवि !'—इति प्राग्वत् ।

सम्बन्ध में ही अवस्थित है । यही समूचे त्रिक-शास्त्र का सार-सर्वस्व भी है । मेरे पूज्य गुरु (श्रीशंभुनाथ) ने मुझे पूर्वकाल में यही रहस्य भली-भाँति समझा दिया है ॥

मूल-सूत्र

हे बड़भागिनी देवी ! तुम (प्रमाता, प्रमाण और प्रमेय इन तीन प्रकार वाले) उत्तर[1] का आधार बने हुए (प्रमिति रूपी) अनुत्तर-तत्त्व का स्वरूप-वर्णन सुनो ॥३॥

हे देवी ! यह कौलिक विधि-विधान, जो कि उपलब्ध हो जाने के तत्काल ही कौलिक-सिद्धि को देता है, मेरे हृदयाकाश[2] में (शाश्वतिक रूप में) वर्तमान ही है । हे देवताओं की शासिका ! इसको मैं तुम्हें भली-भाँति समझा रहा हूँ ॥४॥

की जिज्ञासा प्रश्न है, वहीं स्वरूप का प्रथन उसका उत्तर है । यह तो एक समकालीन 'प्रश्नोत्तर' है । इस प्रश्न और उत्तर पर किसी भी प्रकार के काल-क्रम का वश नहीं चलता । यह तो केवल अकाल-कलित भैरवीय क्रीड़ा का चमत्कार है । फलतः—'स्वरूप की उपलब्धि कब होगी ?', इस प्रश्न का सही उत्तर यही है कि—'जब होगी तभी होगी' । स्वरूप-प्रथन का निश्चित समय स्वयं स्वरूप-प्रथन ही है ।

१. यहाँ पर 'उत्तरस्याप्यनुत्तरम्' इन मूल पदों का अभिप्राय श्रीसद्-गुरु महाराज इस प्रकार से भी समझाते हैं—हे देवी ! तुम्हारा प्रश्न इतना जटिल है कि आगे उत्तर-ग्रन्थ में भली-भाँति समझाये जाने पर भी अनुत्तरित ही रह जाता है ।

२. तात्पर्य यह है कि कौलिक विधि-विधान मेरे हृदयाकाश में विशुद्ध चिन्मात्र रूप में ही वर्तमान रहता है, अतः इसको स्थूल वैखरी वाणी के द्वारा कदापि अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता । इसके अतिरिक्त हृदयाकाश में शाश्वतिक रूप में वर्तमान रहने के कारण यह सब को विदित ही है, अर्थात् यह एक शाश्वत यथार्थ ही है ।

१. (महाभागे !) महान् भागो यस्याः ।

२. या भज्यमाना-उक्त-वक्ष्यमाणोपदेशानुशीलनेन सेव्यमाना, पारमेश्वर्याख्यमहाबलदा भवति, इति ।

३. 'महत्'-परममहद्रूपतया प्रसिद्धः 'अनाश्रितशिवरूपः', स यस्याः भागः अंशः,—पारमेश्वरी हि शक्तिः अनन्तषट्त्रिंशदादितत्त्वगर्भिणी ।

४. 'महान्'-बुद्धयादितत्त्वविशेषो, 'भागो'-विभागकलापेक्षि रूपं

तत्त्व-विवेक

'महाभागे' शब्द की छः प्रकार से व्याख्या ।

१. महाभागा[1]—महान् भागो यस्याः ।

(त्रिक-सन्दर्भ में) परा-भट्टारिका को 'महाभागा = बडभागिनी' यह संज्ञा दिये जाने का आधार यह है कि इसमें शक्ति-अंश की अपेक्षा शिव-अंश ही महान् एवं व्यापक है।

२. महाभागा—या भज्यमाना महाबलदा भवति ।

यदि पहले बताये गये और आगे बताये जाने वाले उपदेश का अनुशीलन करने से इस भगवती परा-भट्टारिका की सेवा की जाये, अथवा (योगक्रम के अनुसार) इसको अभ्यास का विषय बनाया जाये, तो यह (परमेश्वरी-भाव नाम वाले) असीम बल को प्रदान कर देती है।

३. महाभागा—'महत्' भागो यस्याः ।

(तंत्र ग्रन्थों में) अनाश्रित शिव-तत्त्व 'परम् महत्' इस नाम से प्रसिद्ध है, क्योंकि दूसरे अवान्तर तत्त्वों की अपेक्षा यह अधिक व्यापक तत्त्व है। परन्तु ऐसा होते हुए भी यह परा-भट्टारिका का एक नगण्य अंश-मात्र ही है।

तात्पर्य यह कि परमेश्वर सम्बन्धिनी परा-शक्ति, निश्चित रूप में, छत्तीसों तत्त्वों के अनन्त प्रपञ्च को (जिसमें अनाश्रित-शिव भी एक तत्त्व-मात्र ही है), प्रतिसमय अपने गर्भ में धारण करती हुई ही अवस्थित है।

४. महाभागा—'महान्' भागो रूपं यस्याः ।

(शास्त्रों में) बुद्धि-तत्त्व को महत्-तत्त्व कहा जाता है। इस तत्त्व में 'विभाग कला' अर्थात् आगे आगे प्रसार में आने वाले अनन्त तत्त्वों के रूपों में विभक्त हो जाने की अपेक्षा भरी रहती है। ऐसा महत्-तत्त्व तो, वास्तव में, परा-शक्ति का ही रूपान्तर है।

---

१. प्रत्येक व्याख्या में 'महाभागा' शब्द के साथ आमन्त्रण स्वयं ही लगाना चाहिये।

यस्याः,—पारमेश्वरी हि संविदेकघना शक्तिः स्वस्वातन्त्र्योपकल्पित-भिन्न-ज्ञेय-कार्य-प्रतिष्ठापदत्वे 'बुद्धिः'-इत्युच्यते। यदुक्तं श्रीसोमानन्दपादैः—

'…………अपरस्थितौ।

सा बुद्धिर्यत्पुनः सूक्ष्मं सर्वदिक्कमवस्थितम्।
ज्ञानं बोधमयं तस्य शिवस्य सहजं सदा ॥'

इति।

'भागो'-भेदः स यत्र अस्ति रूपे,—इति मत्वर्थीयाकारप्रत्ययान्तेन 'भाग'-शब्देन विभक्तं रूपम् उच्यते। विभक्ते च वपुषि परिच्छेदः अन्योन्यव्यवच्छेदेन एव भवति। प्रसादात्मक-विषयनिश्चयो बुद्धौ उपजायमानोऽपररम्यारम्यादि-विश्ववर्तिनो भावान् अस्पृशन् एव, प्रत्युत तान् व्यवच्छिन्दन् उपजायत इति।

इसका तात्पर्य यह कि परमेश्वर से अभिन्न परा-शक्ति मात्र संविद्-भाव से परिपूर्ण है। वह निजी स्वातन्त्र्य से आयोजित नाना प्रकार के ज्ञेय एवं कार्य विषयों को (क्रमशः ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों के द्वारा) अपने अपने रूपों में व्यवस्थित करने की भूमिका पर 'बुद्धि' कहलाती है। इस विषय में श्रीसोमानन्द पाद का कथन है—

'अभेद-भूमिका पर जो सूक्ष्म एवं देश, काल और आकार की इयत्ताओं से रहित (सर्वदिक्) स्वरूप-बोध सदा वर्तमान है, उसको शिव का 'सहज-बोध' कहते हैं और इस 'सहज-बोध' को ही 'अपरस्थिति'-अर्थात् नररूपिणी भेद-भूमिका पर 'बुद्धि' कहा जाता है।'

'भाग' शब्द शक्ति के उस रूप का परिचायक है, जिसमें 'भेद-'—अर्थात् स्वरूप से और आपस में भी एक दूसरे से अलगाव की ही प्रवृत्ति भरी रहती है। प्रस्तुत स्थल पर 'भागा' शब्द के अन्त पर 'मतुब्' प्रत्यय के अर्थ को द्योतित करने वाला 'आ' प्रत्यय लगा हुआ होने के कारण, इस शब्द के द्वारा शक्ति का नाना भावों में बंटा हुआ रूप ही द्योतित होता है। इस बंटे हुए रूप में, पदार्थों की नियमित इयत्ताओं का निश्चय, उनको एक दूसरे से अलग करने के द्वारा अर्थात् दूसरे शब्दों में उनको परस्पर सापेक्ष बनाने के द्वारा ही संभव हो जाता है। साधारण रूप में बुद्धि में उपजने वाला 'प्रसादात्मक विषयनिश्चय'—अर्थात् प्रथमाभासकालीन निर्मलता से प्रत्येक पदार्थ को अपने यथावत् रूप में निश्चित एवं नियमित करने की क्षमता, विश्व में दिखाई देने वाले अनन्त प्रकार के एक दूसरे से भिन्न और सुन्दर या भद्दे लगने वाले पदार्थों के साथ चिपक तो नहीं जाता, प्रत्युत उनको एक दूसरे से अलगा कर भिन्न भिन्न रूपों में व्यवस्था प्रदान

सुखवृत्तिबुद्धेः धर्मैश्वर्यादिरूपत्वात् सत्त्वात्मको गुणनिःष्यन्दः,—इति गीयते। यदि तु तत्रापि अन्तस्तमाम् अनुप्रविश्यते तत् तद्द्वारेणैव तन्मूलवर्तिनि परमानन्दधाम्नि भवेदेव सततम् उदयः ।

५. 'महस्य'-सर्वतोऽखण्डित-परिपूर्ण-निरर्गल-निरपेक्ष - स्वातन्त्र्य - जगदानन्दमयस्य, 'आ'-ईषत्, 'भागाः'-सुखलक्षणा अंशा, यतः। यत् यत् किल सुखं तत्

करता हुआ ही स्वयं भी उत्पन्न हो जाता है। इस तथ्य की उद्घोषणा (प्रायः प्रत्येक शास्त्र में) की जा रही है कि सुखात्मिका वृत्ति के साथ सम्बन्धित बुद्धि के रूप धर्म[1], ऐश्वर्य इत्यादि हुआ करते हैं, अतः उससे सत्त्वप्रधान गुण-समुदाय की ही धारा बहती रहती है। उस पर भी यदि वैसी बुद्धि के अन्तरतम में पैठा जाये, अर्थात् प्रथमाभास पर ही स्थिर रहने की क्षमता प्राप्त की जायें, तो उसीके द्वारा, उसके मूल में वर्तमान रहने वाली उत्कृष्ट आनन्दमयी[2] भूमिका में, निश्चित रूप में, प्रतिक्षण आत्मिक उदय होता रहेगा ।

५. महाभागा—महस्य आ भागा यतः ।

परा-भगवती आनन्दमयता की एक ऐसी खान है कि इसके चतुर्दिक् अखंडित, परिपूर्ण, निर्बाध और निरपेक्ष स्वातन्त्र्य के परिचायक जगदानन्द[3] के आकार वाले आनन्द-भंडार से ही, संसार में अनुभव के विषय बनने वाले लघु

१. सुखवृत्ति के साथ सम्बन्धित बुद्धि के धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य ये चार रूप हुआ करते हैं ।

२. शैव मान्यता के अनुसार 'जगदानन्द' नाम वाले आनन्द की भूमिका ।

३. त्रिक-ग्रन्थों में—निजानन्द, निरानन्द, परानन्द, ब्रह्मानन्द, महानन्द और जगदानन्द ये छः आनन्द की भूमिकायें वर्णित हैं । इनमें से जगदानन्द को छोड़ शेष सारे आनन्द अधूरे माने जाते हैं; क्योंकि उन सब में विश्वमयता का बहिष्कार पाया जाता है । जगदानन्द की भूमिका में विश्वमयता किसी भी प्रकार से हेय नहीं, अतः इस भूमिका को प्राप्त करने के लिए भी विश्वमयता को दुःखपूर्ण या भ्रान्ति समझ कर छोड़ देने की कोई आवश्यकता नहीं । इस आनन्द की भूमिका में रममाण आत्मा के लिए विश्वमयता भी वैसी ही आनन्दमयी है, जैसी कि विश्वोत्तीर्णता । इसके अतिरिक्त परिपूर्ण आनन्दमयता की प्राप्ति विश्वमयता का पूरा बहिष्कार करने से नहीं, प्रत्युत उसको और उसमें पाई जाने वाली कथित दुःखमयता को भी स्वरूप का ही विकास समझकर, उससे भी आनन्द और रसमयता प्राप्त करने से ही हो सकती है। विश्वोत्तीर्णता और विश्वमयता एक दूसरे के बिना एकाङ्गी हैं । यही कारण है कि शैव मान्यता के अनुसार 'जगदानन्द' ही परिपूर्ण आनन्द की भूमिका है ।

तत् महानन्द-निर्वृत्तिधाम्नि विसर्गशक्तौ अनुप्रवेशात् तथाऽचेत्यमानतया किय-द्रूपतां प्राप्तम् । तदुक्तं भट्टनारायणेन—

'त्रैलोक्येऽप्यत्र यो यावानानन्दः कश्चिदीक्ष्यते ।
स बिन्दुर्यस्य तं वन्दे देवमानन्दसागरम् ॥'

इति ।

६. प्राङ्नयेन यदुक्तं-'म-ह-अ'—इति रूपं, तदेव भजनीयं यस्याः । परमेश्वरस्य हि स्वचमत्कार-बृंहितं यद् 'अहम्'—इति शाक्तं वपुः, तदेव 'परा-भट्टारिकारूपम्'—इति उच्यते ।

अत एव सैव च परमेश्वरी सर्वं शृणोति, श्रवणाख्यया सत्तया तिष्ठन्ती । श्रवण-संपुट-स्फुट-क्रमिक-स्वस्पन्दमय-वर्णराशि-निष्ठम् ऐकात्म्यापादनरूप-

---

आनन्दकणों का वितरण होता रहता है ।

तात्पर्य यह कि (जिस किसी भी स्तर पर) जो जो भी सुख है, वह तो केवल, महती आनन्दमयता और आत्म-विश्रान्ति का धाम बनी हुई 'विसर्ग-शक्ति'–अर्थात् शक्ति के सर्जनात्मक रूप में अनुप्रविष्ट (जुड़ा हुआ) होने से ही सुख है, केवल उस रूप में चेते न जाने के कारण से ही वह छोटे छोटे अंशों में बंट गया है । इस विषय में भट्टनारायण का कथन है—

(भव, अभव और अतिभव) इन तीनों लोकों में पाया जाने वाला जो, जितना और जिस प्रकार का आनन्द भी जिसकी एक लघु बूंद होता है, मैं उसी महान् आनन्द के सागर देवता को प्रणाम करता हूँ ।'

६. महाभागा—'म–ह–अ' एव भजनीयं यस्याः ।

पूर्वोक्त रीति के अनुसार जिस 'म ह अ' रूप का उल्लेख किया जा चुका है, उसी को मुख्य रूप में अपनाने के कारण से भी परा-भट्टारिका 'महा-भागा' है ।

इसका तात्पर्य यह कि स्वरूप की आनन्दघनता के आस्वाद से परिपुष्ट बना हुआ 'अहम्' ही, निश्चय से, परमेश्वर का शाक्त-शरीर है और वही 'परा-भट्टारिका' का स्वरूप कहा जाता है ।

'शृणु' शब्द की व्याख्या के परिप्रेक्ष्य में श्रवण-शक्ति का निरूपण ।

इसी उपरोक्त कारण से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि वह परा-भट्टारिका ही (प्रत्येक स्तर पर) 'श्रवण' नामवाली सत्ता (शक्ति) के रूप में अवस्थित रहती हुई, विश्व भर में उचारे जाने वाले ध्वनि समुदाय को स्वयं सुनती रहती

'संकलनानुसंधानाख्यं' स्वातन्त्र्यम्—तेन हि विना कलकल-लीन-शब्दविशेषं शृण्वन्नपि-'न शृणोमि' इति व्यवहरति प्रमाता। कलकलमात्रविषयमेव तु

है।। 'श्रवण-सत्ता' वास्तव में एक प्रकार का शक्तिमय स्वातन्त्र्य है। इसको त्रिक-परिभाषा में 'संकलनानुसंधान'[1] कहते हैं। किसी श्रोता के कानों के शून्यावकाश में प्रवेश करने वाली अतिस्पष्ट, निश्चित क्रम से युक्त और स्वाभाविक स्पन्दमय वर्णराशियों पर परिनिष्ठित रहकर, उन अलग अलग ध्वनिखण्डों को विद्युद्गति में संकलित करके, उनसे अभिमत अर्थों का बोध करवाना ही इस स्वातन्त्र्य का रूप होता है। औसत दर्जे के प्रमाता में यह स्वातन्त्र्य पर्याप्त मात्रा में नहीं होता, अतः वह चारों ओर से होने वाले कलकल[2] में डूबे

---

१. इस पारिभाषिक शब्द में 'संकलन' खण्ड से कानों में अलग अलग पड़ने वाले ध्वनिखण्डों को विद्युद्गति में आपस में जोड़ने और 'अनुसंधान' खण्ड से आन्तरिक विमर्श के द्वारा उन संकलित ध्वनियों से सही अर्थों के निश्चय एवं बोध को सम्पन्न किये जाने का अभिप्राय लिया जाता है। परात्रिंशिका की शारदा मूल-पुस्तियों का अध्ययन करते समय एक मूल-पुस्ती में इस शब्द पर लिखी गई टिप्पणी अधिगत हुई। पाठकों के लाभ के लिए उसको यहाँ पर अपने मूल संस्कृत रूप में ही प्रस्तुत किया जा रहा है—'सदसदनेकवर्णविषयम्, अनुव्यवसायरूपम्, पूर्ववर्णसंस्कारान्त्यवर्णानुभवजन्यं संकलनाज्ञानं 'संकलनम्'—इति।

२. साधारणतया नदी या झरने के बहाव से उत्पन्न होने वाली अस्पष्ट ध्वनि को कलकल कहते हैं। परन्तु प्रस्तुत संदर्भ में यह शब्द उस सामूहिक एवं संकरपूर्ण ध्वनिजाल का द्योतक है, जिसमें सार्थक एवं निरर्थक ध्वनियों का इतना मिश्रण हो कि श्रोता के कान में 'ओ, ओ! होयि, होयि' जैसे अस्पष्ट कोलाहल के अतिरिक्त, स्पष्ट रूप में, कोई भी शब्द प्रविष्ट ही नहीं होने पाये। वास्तव में यह सच्ची परिस्थिति नहीं है। कलकलात्मकता के कान में प्रविष्ट होने के अवसर पर निरर्थक ध्वनियों के साथ साथ सार्थक एवं स्पष्ट ध्वनियाँ भी श्रोता के कान में पड़ती हैं, परन्तु वह उनको अन्य निरर्थक एवं अस्पष्ट ध्वनियों से पृथक् रूप में संकलित करके उनका अनुसंधान करने में अक्षम होता है। इसका कारण, अभिनव गुप्त जी के कथनानुसार, आम व्यक्ति में पाई जाने वाली संकलनानुसंधानात्मक शक्ति की क्षीणता ही है। किसी किसी प्रमाता में इसकी तीव्रता भी परिलक्षित होती है। ऐसे भी व्यक्ति हैं, जो अन्य दो चार व्यक्तियों के द्वारा एक साथ उचारे गये शब्दों को सुनने के बाद तत्काल ही सही रूप में संकलित करके उनसे सही अर्थों को निकाल सकते हैं। स्पष्ट है कि ऐसे व्यक्तियों में दूसरों की अपेक्षा संकलनानुसंधान की तीव्रता होती है।

संकलनम्—इति। तत्रैव 'श्रुतम्'—इति व्यवहारः। वस्तुतस्तु स कलकलध्वनिः श्रोत्राकाशे अनुप्रविशन् 'नृ-वर्णान्' अनुप्रवेशयन् तथा भवेत्, तद्वर्णातिरिक्तस्य कलकलस्यैव भावात्। तद्वर्णविशेषविवक्षायां च कलकलस्य कारणाभावादेव अनुत्पत्तिः स्यात्, तद्विवक्षोत्पन्न-स्फुटवर्णमय-शब्दकार्यत्वेऽपि सजातीयशब्दोत्प-

हुए सार्थक शब्द विशेषणों को सुनने पर भी 'मैं तो कुछ नहीं सुनता हूँ'—ऐसा व्यवहार करने लगता है। उस अवसर पर तो उसके अंतस् में उस कलकल का ही संकलन होने पाता है, अतः वह 'अरे मैं तो केवल शोर-गुल सुन रहा हूँ'—यही कहने पर विवश हो जाता है। वस्तुस्थिति तो यह है कि वह कलकल की ध्वनि कान के अवकाश में प्रवेश करने के अवसर पर केवल 'नृवर्णान्'—अर्थात् परस्पर असम्बद्ध वर्ण-समुदाय को ही प्रविष्ट होने देने के कारण से ही कलकलात्मकता का रूप धारण कर लेती है। कारण यह कि सुस्पष्ट वर्णात्मकता से अतिरिक्त ध्वनिजाल तो कलकल ही होता है। परस्पर सम्बद्ध और सुस्पष्ट वर्णों को ही बोलने की इच्छा होने पर कलकलात्मकता उत्पन्न ही नहीं हो सकती, क्योंकि उसका कोई कारण ही विद्यमान नहीं होता है। तात्पर्य यह कि स्पष्ट वर्णों को ही बोलने की इच्छारूपी कारण से, स्पष्ट वर्णों वाले शब्दरूपी कार्य की उत्पत्ति हो जाने पर, 'सजातीय शब्द' अर्थात् कलकलात्मक शब्द का उत्पन्न हो जाना

अब यदि इसी प्रश्न को लेकर समूचे विश्व के परिप्रेक्ष्य में विचार किया जाये तो न जाने विश्व के कितने मानव या मानवेतर प्राणी, युगपत् ही, कितनी भाषाओं में कितने शब्दों का प्रतिक्षण उच्चारण करते रहते हैं। इसके अतिरिक्त कितने ही जड़ पदार्थों के पारस्परिक संयोग एवं विभाग से कितना महान् कोलाहलमय अस्पष्ट ध्वनि-जाल भी साथ साथ ही उत्पन्न होता रहता है। उस विश्वात्मक शब्द-समूह और संकरमय ध्वनिजाल से जन्य कलकल का रूप कैसा होगा? इसकी तो एक नगण्य मानव कल्पना भी नहीं कर सकता। ऐसे विराट् विश्वात्मक कलकल को युगपत् ही सुनने, सुनकर उनके अनन्त प्रकार वाले ध्वनिखण्डों को अपने अपने यथावत् रूप में तत्काल ही संकलित करने और उनसे युगपत् ही अनन्त प्रकार के सही अर्थों को निश्चित रूपों में व्यवस्थित करने की क्षमता केवल विश्वात्मक श्रवण-सत्ता में ही संभव हो सकती है। उसी का नाम पराभट्टारिका है, क्योंकि वह तो स्वरूपतः 'संकलना-नुसंधान' की चरम-कोटि होने के कारण स्वयं ही विराट् श्रवण-सत्ता है। संसार के सारे जीवधारियों में इसी विराट् विश्वात्मक श्रवण-सत्ता के लघु अंश विद्यमान होते हैं और वे उन्हीं से अपने अपने अनुकूल क्षेत्रों की सीमाओं तक 'संकलनानुसंधान' का उपयोग करते रहते हैं।

स्यनुपपत्तेः। सर्वथा त एव वर्णाः तेन स्फुटरूपेण संकलनाम् अगच्छन्तः 'कलकल'-शब्दवाच्याः। तत्संकलनावधानोद्युक्तस्य भवेदेव कियन्मात्रस्फुटोपलम्भ इति संकलनम् एव अत्र उपयोगि। संकलनं च भगवती सैव परा-परमेश्वरी करोति। यदुक्तम्—

'तदाक्रम्य बलं मन्त्राः……………।'

इत्यादि।

वस्तुतो हि शृणोति, पश्यति, वक्ति, गृह्णाति इत्यादि भगवत्या एव रूपम्। यथोक्तम्—

'येन रूपं रसं गन्धं स्पर्शशब्दौ च मैथुनम्।
एतेनैव विजानाति किमत्र परिशिष्यते॥'

इति वेदान्ते परमेश्वरेण।

न तु श्रवणं नाम स्फुट-कलकलात्मक-तार-गद्गदादिरूप-वर्णाकर्णनमेव।

संगत हो नहीं सकता। यदि वे स्पष्ट रूप में उचारे गये वर्ण भी अच्छी प्रकार से संकलित न होने पायें तो उनको भी कलकल की ही संज्ञा दी जा सकती है। भिन्न भिन्न ध्वनिखण्डों का संकलन करने में तीव्रतम सावधानी बरतने वाले प्रमाता को उनसे कुछ मात्रा तक स्पष्ट अर्थों की उपलब्धि अवश्य हो जाती है, अतः इस दिशा में संकलनात्मिका शक्ति ही उपयोगी है। जहाँ तक संकलन का सम्बन्ध है, वह तो वही परम ऐश्वर्यशालिनी परा-भगवती (प्रत्येक जीवधारी के अंतस् में श्रवणसत्ता के रूप में अवस्थित रहकर) स्वयं ही करती रहती है। जैसा कि—

'उस आत्मबल पर, आरूढ़ होने से ही मंत्र इत्यादि प्रमाता……।'

इत्यादि कहा गया है।

वास्तव में—'सुनता है, देखता है, बोलता है, पकड़ता है' इत्यादि सारी इतिकर्तव्यतायें भगवती के ही रूप हैं। जैसा कि वेदान्त में परमेश्वर ने स्वयं ही कहा है—

'जब (प्रत्येक प्रमाता) इस स्वातन्त्र्य-सत्ता के द्वारा ही रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द और मैथुन इन विषयों का अनुभव कर लेता है, तो इससे बढ़कर और कौन सी वस्तु अवशिष्ट रह जाती है' ?

सुनने के विषय में यह कहना होगा कि स्पष्ट, कलकलात्मक, तार, हकलापन और इनके ही समकक्ष दूसरे रूपों में भी बोले जाने वाले वर्णों को सुन पाना ही

तथाहि श्रीपरमेश्वर एव श्रीस्वच्छन्दशास्त्रे जपविभागनिर्णयावसरे एवमेव निरूपितवान्—

'आत्मना श्रूयते यस्तु स उपांशुरिति स्मृतः ।'

अत्र हि मध्यमापदे आत्मैव संश्रृणुते, नापर इत्युक्तम् । स्थानादिप्रयत्न-कुटतायां दन्तौष्ठपुटादिसंयोगविभागेन, अतिनिभृतमपि शब्दोच्चारे, निकटतर-वर्ति परश्रवणमपि स्यात्—इति सशब्दतापत्तिरेव—

श्रवण[1] नहीं कहा जा सकता । जैसा कि श्री परमेश्वर ने श्री स्वच्छन्द शास्त्र में जप की परिपाटियों का वर्णन करने के अवसर पर स्वयं ही इसी प्रकार का निरूपण किया है—

'जिसकी ध्वनि केवल आत्मरूप[2] में ही सुनी जाती हो, उसको 'उपांशु' जप कहा जाता है ।'

वहां पर यह बात कही गई है कि उपांशु जप मध्यमा-वाणी का ही विषय होने के कारण, इसकी ध्वनि को उस जपिया की निजी आत्मा ही सुन पाती है, कोई दूसरा नहीं । इसके प्रतिकूल जिस जप में शब्दों का उच्चारण चाहे धीमी आवाज में हो क्यों न किया जाता हो, परन्तु तालु आदि स्थानों और (व्याकरण प्रसिद्ध) आस्य-प्रयत्नों का स्पष्ट रूप में प्रयोग किये जाने के साथ साथ दांतों और होठों को आपस में मिलाने या अलगाने का भी स्पष्ट प्रदर्शन किया जाता हो, और कभी-कभार उस उच्चारण की ध्वनि को कोई निकट-तरवर्ती दूसरा व्यक्ति सुन भी पाता हो, उसको 'सशब्द-जप' ही कहा जाता है—

---

१. इस कथन का तात्पर्य यह है कि जिस अवस्था में वक्ता और श्रोता दो भिन्न व्यक्ति हों और वक्ता के द्वारा ऊँची आवाज में बोले जाने वाले शब्द श्रोता के कानों में पड़ते हों, उसीको सुनना नहीं कहते हैं । जब कोई व्यक्ति अकेला मुँह बन्द करके जीभ इत्यादि के हिलाने के बिना मन में कुछ सोचता रहता है, तो उस वेला पर वह अपनी ही मध्यमा-वाणी के द्वारा अन्तस् में बोले जाने वाले निभृत शब्दों को स्वयं सुनता भी रहता है । उस सुनने को भी सुनना ही कहा जा सकता है । फलतः बोलने, सुनने इत्यादि सारे क्रिया-कलाप के विविध रूप हुआ करते हैं ।

२. यहां पर मूल संस्कृत शब्द 'आत्मना' का भाषानुवाद आत्मरूप में किया गया है । कारण यह कि यहाँ पर सद्-गुरु महाराज ने एक विशेष बात का स्पष्टीकरण किया है । वह यह कि योग-क्रम को अपनाये बिना साधारण रूप में ही किसी मंत्र का निभृत जप करना और उस अवसर पर जपिया का अपने मध्यमा पद में उचारे जाने

'परैः संश्रूयते यस्तु सशब्दोऽसौ प्रकीर्तितः ।'

इत्युक्तम्—

यतः न चात्र निकटादिविशेषः कश्चिद्,—इति परप्रमातृ-दर्शनमात्र-गोचर-जिह्वौष्ठपुटादि-संयोगे तु यद्यपि आत्मन एव श्रवणं स्यात् न परस्य, तथापि मध्यमापदमेव एतत्संपद्यते—वर्णस्य बहिरात्मलाभाभावात् । वाय्वभिघाताद् हि स्फुटवर्णनिष्पत्तिरेव, न च तत्र वाय्वभिघातो बाह्यतापत्तिपर्यन्तः स्यात् । ओष्ठादिचलनम् अपि न तत्र वर्णांशेऽनुप्रविशेद्, अपि तु स्वात्मनिष्ठमेव तात्कालिकं स्यात्, तात्कालिकेङ्गितनिमिषितकरव्यापारादिस्थानीयम् । स्फुटस्थानकरण-प्रयत्नयोगे तु वर्णनिष्पत्तावपि यदि नाम ध्वनीनां तारतम्येन तारमन्द्रादिविभागे

'परन्तु जिस जप की ध्वनि को दूसरे जन सुन पाते हों, उसको 'सशब्द-जप' का ही नाम दिया गया है।'

ऐसा वहाँ पर कहा गया है।

'उपांशु' जप में तो (किसी की) निकटतरवर्तिता या दूरवर्तिता से कोई अन्तर नहीं पड़ने का । अतः यद्यपि (ऐसा जप करते समय) जपिया की जीभ और होंठों को आपस में ऐसा संयोग भी होता रहता है कि दूसरे प्रमाता उसको देख पाते हैं और जप की ध्वनि को उसकी निजी आत्मा सुनती भी रहती है, तो भी यह मध्यमा-वाणी तक ही सीमित रहता है—क्योंकि अन्तस् में उचारी गई ध्वनियां बाहरी वैखरी-वाणी की वर्णात्मकता का रूप प्राप्त नहीं कर लेती हैं। (मध्यमापद की ध्वनि) श्वास वायु के सबल अभिघात से ही स्पष्ट वर्णरूपता अर्थात् वैखरी से उचारे जाने वाले वर्णों का रूप प्राप्त कर लेती है। उपांशु जप में तो वायु का अभिघात आन्तरिक ध्वनियों को बाहरी वर्णरूप प्रदान करने तक पहुंचने ही नहीं पाता है। उस अवसर पर इशारे से ही (दूसरे लोगों के) हाथ इत्यादि अङ्गों को हिलाने या पटकने की क्रिया को बन्द किये जाने की अवस्था में, उसके स्थान पर, जपिया के अपने ही होंठों में चलने वाली तात्कालिक फड़कन भी स्पष्ट वर्णरूपता में परिणत न होकर, ठीक उसके अपने आप तक

वाले शब्दों को स्वयं सुनते रहना 'उपांशु' जप का अतिसाधारण रूप माना जाता है, क्योंकि ऐसा जप तो मध्यमा-पद से कभी भी निकलने ही नहीं पाता। इसके प्रतिकूल पूरे योगक्रम के अनुसार किये जाने वाले उपांशु जप के शब्दों को उस जपिया की अपनी श्रवणेन्द्रिय भी नहीं सुन पाती। वैसा साधक तो उस जपात्मक शब्दन को आत्म-विमर्शात्मक स्पन्दन के रूप में ही अनुभव करता रहता है। उसके लिए उस प्रकार का आत्मिक-अनुभव ही सुनना कहा जाता है।

दूरादूरादिश्रवणं स्यात्, सर्वथा परैः श्रूयते,—इति वैखरीपदमेव एतत्। इति अलं प्रसक्त्यानुप्रसक्त्या।

सैव परमेश्वरी आमन्त्रणयोगेन स्फुटं शक्तिरूपतयोक्ता।

नर-शक्ति-शिवात्मकं हि इदं सर्वं त्रिकरूपमेव। तत्र यत् केवलं स्वात्मनि अवस्थितं तत् केवलं जडरूपयोगि मुख्यतो नरात्मकं—'घटः तिष्ठति'—इतिवत्। एष एव प्रथमपुरुषविषयः शेषः। यत् पुनर् इदम् इत्यपि भासमानं, यद् आमन्त्र्यमाणतया आमन्त्रकाहंभावसमाच्छादिततद्भिन्नेदंभावं, 'युष्मत्'—शब्द-व्यपदेश्यं तत् 'शाक्तं रूपं'—'त्वं तिष्ठसि',—इत्यत्र हि एष एव युष्मच्छब्दार्थः,

---

ही सीमित रहती है। उस होंठों की धीमी फड़कन को तालु आदि स्थानों, उच्चारण की इन्द्रिय और आस्य-प्रयत्नों की स्पष्ट सहकारिता प्राप्त हो जाने पर सशब्द वर्णरूपता अवश्य प्राप्त हो जाती है, अतः उस अवस्था में यदि वे ध्वनियां तारता या मंद्रता के अनुपात से दूर या पास से श्रव्य बनकर, सर्वथा दूसरे लोगों को सुनाई दें, तो समझना चाहिये कि वह (उपांशु जप न रहकर) वैखरी-वाणी का विषय, अर्थात् सशब्द जप ही बन जायेगा। अस्तु, अब इस दिशा में और अधिक बातों की झड़ी लगाने का कोई प्रयोजन नहीं है।

फलतः यह स्पष्ट है कि प्रस्तुत प्रसङ्ग में (शृणु देवि ! इन दो शब्दों के द्वारा) आमन्त्रण के साथ उसी परमेश्वरी श्रवण-सत्ता की शक्तिरूपता का उल्लेख किया गया है।

नर, शक्ति और शिवरूपी त्रिक की मीमांसा।

निश्चय से यह समूचा विश्व-प्रपञ्च नरात्मक, शक्त्यात्मक और शिवात्मक होने के कारण त्रिकरूपी ही है। इस त्रिक में से जो कुछ (ज्ञेय रूप में) अपने आप तक ही सीमित रहता है, वह केवल जड़रूपता के साथ सम्बन्धित होने के कारण, मुख्य रूप में, 'नरात्मक' विश्व कहलाता है। उदाहरणार्थ—'भूमि पर घड़ा है'-(इसमें भूमि और घड़ा दोनों अपने अपने तक ही सीमित रहने के कारण नरात्मक हैं)। (व्याकरण में) इसी रूप को शेष[1] की संज्ञा दी गई है और केवल प्रथम पुरुष का विषय बनाया गया है। जो कुछ इदंरूप में भी भासमान रहता हुआ, बुलाये जाने पर बुलाने वाले के अहंभाव से परिवलित रहने पर भी उससे अलग[2] इदंरूप में ही अवस्थित रहता है और 'युष्मत् = तू और आप' शब्द के

---

१. शेष को ही भगवती परा-शक्ति का अपरा रूप समझना चाहिये।

२. पहले कहा गया है कि जब कोई किसी दूसरे को बुलाये तो उस अवसर पर दोनों में संवेदनात्मक एका हो जाता है, क्योंकि दोनों की पाञ्चभौतिक कायाओं के भिन्न होने पर भी उनमें वर्तमान रहने वाले अहंभावात्मक चैतन्य में कोई भेद नहीं होता।

आमन्त्रणतत्त्वं च। तथाहि—'यथा अहं तिष्ठामि तथैव अयमपि'—इति तस्यापि अस्मद्रूपावच्छिन्नाहंभावचमत्कारस्वातन्त्र्यम् अविच्छिन्नाहंचमत्कारेणैव अभिमन्वान आमन्त्रयते। यथार्थेन मध्यमपुरुषेण व्यपदिशति। सेयं भगवती परापरा। सर्वथा पुनः अविच्छिन्नचमत्कारनिरपेक्षस्वातन्त्र्याहंविमर्शे 'अहं तिष्ठामि'—

द्वारा वाच्य होता है, वह सारा 'शक्त्यात्मक' रूप कहलाता है। उदाहरणार्थ 'तुम बैठते हो'—इसमें 'तुम' शब्द से ऐसा ही अर्थ द्योतित[1] होता है। साथ ही इसमें आमन्त्रण का तत्त्व भी व्यंग्यरूप में अन्तर्निहित ही है। इस वाक्य का विश्लेषण करने पर यह बात स्पष्ट हो जाती है कि 'तुम बैठते हो'—ऐसा बोलने वाले व्यक्ति के आन्तरिक संवेदन में अवश्य यह चेतना वर्तमान रहती है कि 'जिस प्रकार से मैं बैठता हूं, उसी प्रकार से यह भी बैठता है', अतः वह उस संबोध्य व्यक्ति में वर्तमान रहने वाले और 'मैं रूपता' से विशेषित अहंभाव के चमत्कारात्मक स्वातन्त्र्य को, अपने विच्छेदहीन अहंभाव के चमत्कार के साथ एकाकार मानकर ही उसको आमन्त्रित कर लेता[2] है। (बुलाने के अवसर पर जो-)[3] यथार्थ मध्यमपुरुष का प्रयोग करता है, वह तो (शरीर इत्यादि की भिन्नता की अपेक्षा से) मात्र औपचारिक व्यवहार ही होता है। इसको भगवती का परापरा-भाव समझना चाहिये। इसके प्रतिकूल जिस रूप में—'मैं बैठता हूँ' इस प्रकार से सर्वथा विच्छेदरहित स्वरूप की आनन्दमयता से परिपूर्ण, अपेक्षाओं से हीन और पूरे स्वातन्त्र्य का रूप धारण करने वाले अहंविमर्श की ही

इतना तो अवश्य है कि दोनों के शरीर एवं उसके साथ सम्बन्धित नामरूप के भेद की अपेक्षा से ही वह सम्बोध्य व्यक्ति सम्बोधक के सामने इदंरूप में अवस्थित रहता है। फलतः शास्त्रीय परिभाषा में इस प्रकार कहा जाता है कि संबोध्य व्यक्ति सम्बोधक के अहंभाव से आच्छादित इदंभाव होता है।

१. फलतः संस्कृत के 'युष्मद्', हिन्दी के 'तुम, आप' अथवा सारी भाषाओं के मध्यम पुरुषवाची सर्वनामों में नियत रूप से संबोध्य और सम्बोधक की अहंभावात्मिका एकाकारता अवश्य अन्तर्निहित होती है। आमन्त्रणात्मकता का नियतरूप से निहित रहना आवश्यक नहीं। यह बात आगे चलकर स्पष्ट हो जायेगी।

२. इससे यह सिद्ध हो जाता है कि एक चेतन प्रमाता दूसरे चेतन प्रमाता को, उसके शरीर या नामरूपादि की अपेक्षा से नहीं, अपितु अपने में और उसमें वर्तमान रहनेवाली आत्मचेतना की अभिन्नता की अपेक्षा से ही बुलाने लगता है।

३. अभी उल्लिखित टिप्पणी में कहा गया कि 'तुम, आप' जैसे मध्यम पुरुषवाची शब्दों में आमन्त्रण-तत्त्व का हमेशा निहित रहना अनिवार्य नहीं है। अतः इस सम्बन्ध में शास्त्रीय नियम यह है कि जिस मध्यम पुरुष में आमन्त्रण-तत्त्व निहित हो, उसको 'यथार्थ

इति पराभट्टारिकोदयः, यत्र उत्तमत्वं पुरुषस्य। यदुक्तम्—

'यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः॥'

इति। अत्र क्षराक्षररूपाद् उभयतोऽपि हि उत्तमत्वं 'अस्मि'—इत्यदस्मदर्थेन उक्तम्। न हि अत्र सर्वत्र 'अहम्'—इति परिमितं शरीरादि अपदिश्यते—तस्य प्रत्यक्षेणैव ताद्रूप्यविरोधात्। तदेवम् ईदृशं स्वयंप्रथात्मकं शिवात्मकं रूपम्। अत एव बोधस्यास्य स्वसंवित्प्रथात्मकस्य किञ्चिन्न ऊनं नाभ्यधिकं—तस्या-

---

प्रधानता हो, उसको परा-भट्टारिका की ही उदित अवस्था समझना चाहिये। इस रूप में केवल उत्तम-पुरुष का ही प्रयोग सम्भव हो सकता है। जैसा कहा गया है—

'मैं 'क्षर'—अर्थात् नश्वर नरात्मक रूप से अतिगत और 'अक्षर'—अर्थात् अनश्वर शक्त्यात्मक रूप से भी उत्तम हूँ। यही कारण है कि मैं लोक-व्यवहार और वेदों में भी 'पुरुषोत्तम'—अर्थात् सबसे उत्कृष्ट और स्वरूप-चमत्कार से परिपूर्ण शिवरूपी उत्तम-पुरुष के नाम से प्रसिद्ध हूँ।'

इस उद्धरण-श्लोक में 'अस्मि = हूँ' इस सत्तार्थक अस् धातु के उत्तमपुरुष के एक वचन के द्वारा, क्षर एवं अक्षर दोनों रूपों से भी उत्तम होने की ध्वनि अभिव्यक्त की गई है। इसके अतिरिक्त 'अहम् = मैं'-शब्द के द्वारा अभिव्यक्त होने वाला अहं-भाव किसी संकुचित शरीर इत्यादि का परिचायक नहीं है, क्योंकि अपरिमित अहं-भाव तो प्रत्यक्ष-प्रमाण से ही परिमित अहं-भाव (देहा-भिमान इत्यादि) का विरोधी है। फलतः ऐसा स्वयं-प्रकाशमान रूप ही (भगवती का) शिवात्मक[1] रूप है। यही कारण है कि स्वाभाविक संवित्-प्रथा का रूप

मध्यम-पुरुष' और जिसमें नहीं हो, उसको 'अयथार्थ मध्यम-पुरुष' की संज्ञा देनी चाहिये।

१. त्रिक-तालिका—

शिव-भाव	शक्ति-भाव	नर-भाव	
परा-शक्ति	परापरा-शक्ति	अपरा-शक्ति	
अ-कला	ह-कला	म-कला	सृष्टि अहम्
अ	उ	म्	प्रणव
अभेद	भेदाभेद	भेद	
इच्छा	ज्ञान	क्रिया	
प्रमाता	प्रमाण	प्रमेय	
उत्तम-पुरुष	मध्यम-पुरुष	प्रथम-पुरुष	
एक-वचन	द्वि-वचन	बहु-वचन	

इस तालिका में त्रिकरूपता का संकेत-मात्र दिया गया है। वास्तव में विश्व में जो कुछ भी है, वह तो त्रिकरूपी ही है।

प्रकाशरूपस्य चिन्मये अननुप्रवेशात्। तदपेक्षया च माध्यस्थम् अपि न किञ्चिद्-इत्युपचयापचयमध्यस्थानीयेदन्तानिर्देशाभावलब्धप्रतिष्ठानेन प्रभवन्ति तद्बोधाविच्छेदरूपास्मदर्थाः। विच्छेदितोऽपि युष्मदर्थ एवमेव—इति। अत एव 'अलिङ्गे युष्मदस्मदी'—गीते। देहगतसंख्याद्युपचारेण परापरादिशक्तिगर्भीकारात्

धारण करने वाले इस शिवात्मक बोध में न्यूनता, अधिकता और अतिरिक्तता का कहीं नामो-निशान भी नहीं, क्योंकि ये तीनों अवस्थायें अप्रकाशरूपी होने के कारण उस चिन्मात्र रूप में प्रवेश नहीं पा सकती हैं। इन दोनों (न्यूनता और अधिकता या अतिरिक्तता) की अपेक्षा-बुद्धि से जन्य 'माध्यस्थता'—अर्थात् इन दोनों के असद्भाव की अवस्था का भी वहाँ कोई मूल्य नहीं है। फलतः बढ़ती घटती और मध्यस्थता इन कल्पनाओं पर पनपने वाले इदन्ता-निर्देश की सर्वाङ्गीण अभाव[1] की दशा होने से ही उच्चतर भूमिका पर वर्तमान रहने वाले शिवात्मक रूप को अभिव्यक्त करने के लिये, इयत्ताओं से रहित शिव-बोध के ही परिचायक 'अस्मद् = मैं' जैसे अर्थ समर्थ हैं। (संस्कृत भाषा के) 'युष्मद्' शब्द के अर्थ में भी यही विशेषता परिलक्षित होती है। यह शब्द विच्छेद का द्योतक होने पर भी स्वतः विच्छेदहीन रूप को ही धारण कर रहा है। यही कारण है कि संस्कृत-व्याकरण में युष्मद् और अस्मद् शब्दों को लिङ्गहीन[2] बताया गया है। हाँ केवल इन दो शब्दों का 'संख्या'—अर्थात् द्वि-वचन और बहु-वचन के साथ योग हो ही जाता है, क्योंकि ये शरीरों की भिन्नता पर आधारित संख्या की औपचारिकता का रंग चढ़ने से 'परापरा-शक्ति-भाव'—अर्थात् द्विवचनात्मकता

---

१. ऊनता, अधिकता, मध्यस्थता और इनके अभाव की अवस्था परस्पर सापेक्ष हैं। इनके भाव और अभाव की कल्पना केवल उसी भूमिका पर पनप सकती है, जहाँ इनका भाव और अभाव वर्तमान हो। शिव-बोध की भूमिका पर जब इनका कहीं अस्तित्व ही नहीं है, तो उसकी अपेक्षा-बुद्धि से जन्य अभाव भी कैसे सम्भव हो सकता है? जब अभाव नहीं तो उसकी अपेक्षा-बुद्धि से जन्य भाव भी नहीं है। फलतः शिव-बोध की भूमिका प्रत्येक प्रकार की अपेक्षा से रहित उच्चतर भूमिका ही है।

२. त्रिक-सन्दर्भ में मध्यम-पुरुष से भेदाभेद प्रधान शक्ति-रूप का अभिप्राय लिया जाता है। यह रूप जहाँ शिवरूप की अपेक्षा से भेद प्रधान है, वहाँ नररूप की अपेक्षा से अभेद-प्रधान है। फलतः यह रूप स्वतः विच्छेदसहित होने पर भी विच्छेदहीनता की ओर उन्मुख है। यही कारण है कि शक्ति को सदा शिव की ओर उन्मुख रहनेवाली बताया गया है। साथ ही इसी हेतु संस्कृत में मध्यम-पुरुषवाची युष्मद् शब्द को उत्तम-पुरुषवाची अस्मद् शब्द का समकक्ष रखा गया है।

संख्यायोगस्तु उपपद्यते । तथाहि—

स्वस्वातन्त्र्योपकल्पितभेदावभासस्य अनन्तशरीरादि-'एकतयैव' विमृशेद्,-'आवां युवाम्, वयं यूयम्' इति च। उपचयाद्यास्तु देहगता उपचरितुमपि न शक्याः, चिद्रूपस्य ऊनाधिकतानुपपत्तेः। 'सर्वं हि सर्वात्मकम्'—इति नरात्मानो जड़ा अपि त्यक्ततत्पूर्वरूपाः शाक्त-शैवरूपभाजो भवन्ति। 'शृणुत ग्रावाणः, मेरुः शिखरिणामहं भवामि, अहं चैत्रो ब्रवीमि'—इत्यपि प्रतीतेः। शाक्तं

और 'अपरा-शक्ति-भाव'—अर्थात् बहुवचनात्मकता को अपने में अवश्य गर्भित कर लेते हैं। इस कथन का स्पष्टीकरण आगे किया जा रहा है—

तीनों रूपों में शक्ति के प्रसार की प्रक्रिया।

(परा भगवती ने) निजी स्वातन्त्र्य के द्वारा, स्वरूप में ही भेद का प्रकाशन किया है, परन्तु तो भी वह अनन्त प्रकार के शरीर इत्यादिकों का विमर्श स्वरूप-गत एकता के रूप में ही करती रहती है, जैसे—'आवां[1], युवाम् = हम (दो), तुम (दो)', 'वयं, यूयम्' = हम (बहुत से), तुम (बहुत से)' इत्यादि। शरीरों में मुटाई, पतलाई इत्यादि और भी धर्म पाये जाते हैं, परन्तु उनका औपचारिक आरोप भी प्रस्तुत प्रसङ्ग में संभव नहीं, क्योंकि चिद्रूप किसी भी प्रकार न्यून या अधिक है ही नहीं। 'सारे पदार्थ अपनी अपनी जगह पर सर्वात्मक हैं'—इस (विश्वव्यापी) नियम के अनुसार कभी कभी नररूपधारी जड़ पदार्थ भी अपने पूर्ववर्ती जड़रूप को छोड़कर[2] शक्तिरूप और शिवरूप को अपना लेते हैं। उदाहरणार्थ—'अरे पत्थरो[3]! सुनो, मैं तो पहाड़ों में सुमेरु[4] ही हूँ, मैं चैत्र[5] बोल रहा हूँ' ऐसी प्रतीतियाँ भी संसार में पाई जाती हैं। 'युष्मद्-तुम' के द्वारा द्योतित होने वाला

---

१. ऐसे सारे शब्दों में, शरीर इत्यादि की भिन्नता में भी स्वरूपगत ऐक्य का भाव ही अन्तर्निहित रहता है।

२. यहाँ पर 'छोड़ने से' सर्वथा छोड़ देने का नहीं, अपितु गौण बनाये जाने का अभिप्राय है।

३. यहाँ नरात्मक प्रथम पुरुषवाची 'पत्थर' यथार्थ मध्यम पुरुष के विषय बन जाने से शक्तिरूप पर पहुँच गये हैं।

४. यहाँ पर नरात्मक प्रथम पुरुषवाची 'सुमेरु' उत्तम पुरुष का विषय बन जाने से शिवरूप पर पहुँच गया है।

५. इसमें भी नरात्मक प्रथम पुरुषवाची 'चैत्र' उत्तम पुरुष का विषय बन जाने से शिवरूप पर आरूढ़ हुआ है।

युष्मदर्थरूपमपि नरात्मकतां भजत एव शाक्तरूपम् उज्झित्वा 'त्वं गतभयधैर्यशक्तिः'—इति अनामन्त्रणयोगेनापि प्रतिपत्तेः। 'भवान्'—इत्यनेन, 'पादाः, गुरवः'—इत्यादिप्रत्ययविशेषैश्च अपरावस्थोचित-नरात्मक-प्रथम-पुरुष-विषयतयापि प्रतीतिसद्भावात्। त्यक्त-शाक्तरूपस्यापि च अहंरूप-शिवात्मकत्वमपि

अर्थ[1] भी कभी-कभार अपने शाक्तरूप को छोड़कर नररूप को धारण कर लेता है। उदाहरणार्थ—'तुम[2] वही हो जिसको भय अथवा धीरज अथवा बल नहीं रहा है'—इस वाक्य में आमन्त्रणरहित (अयथार्थ) मध्यम-पुरुष से भी, अर्थात् 'तुम' से भी पर्यन्ततः प्रथम पुरुष की ही प्रतीति होती है। 'भवान्[3]-आप'—इस मध्यपुरुषवाची शब्द और 'पादाः = आदरणीय, गुरवः = पूज्य गुरु' इत्यादि (मध्यमपुरुषार्थक) प्रत्ययों से अपरा-भाव के अनुकूल नरात्मक प्रथम पुरुष के अर्थ की प्रतीति भी हो जाती है।

कभी-कभार यही मध्यम पुरुष अपने शाक्तरूप को छोड़कर, अहंरूपी शिव-भाव

---

१. यहाँ पर 'युष्मद्' शब्द से आमन्त्रणरहित (अयथार्थ) मध्यम पुरुष का अभिप्राय लेना चाहिये, क्योंकि आमन्त्रण सहित (यथार्थ) मध्यम पुरुष कभी भी अपने शाक्तरूप को नहीं छोड़ता है।

२. इस उद्धरण में अयथार्थ मध्यम पुरुष, अर्थात् शक्तिरूप का द्योतक 'तुम' प्रथम पुरुष का विषय बन जाने से नररूप पर उतर गया है।

३. संस्कृत भाषा में किसी खास व्यक्ति के प्रति अत्यधिक आदर को अभिव्यक्त करने के लिए 'त्वम्' के स्थान पर 'भवान्' शब्द का प्रयोग किया जाता है। यद्यपि यह शब्द मध्यम पुरुष का ही द्योतक है, परन्तु व्याकरण-नियम के अनुसार इसके साथ प्रथम पुरुष की क्रिया का ही प्रयोग किया जाता है। उदाहरणार्थ—'भवान् कथयसि' के स्थान पर 'भवान् कथयति' ही शुद्ध भाषिक प्रयोग माना जाता है। 'पाद' और 'गुरु' ये दो शब्द भी संस्कृत व्याकरण के इसी नियम की रस्सी से बँधे हुए हैं। फलतः यदि यह कहा जाये कि ऐसे शाब्दिक प्रयोगों में परा-भगवती अपने शाक्तरूप को छोड़कर नररूप पर अवरोहात्मक प्रसार करती है, तो ठीक त्रिक परिभाषा के अनुकूल बात होगी।

हिन्दी भाषा में भी 'आप' शब्द का प्रयोग आदर के अर्थ पर किया जाता है और इसके साथ ही प्रथम पुरुषार्थक क्रिया ही लगाई जाती है। उदाहरणार्थ—'आप कहते हो' के स्थान पर—'आप कहते हैं' ही शुद्ध भाषिक प्रयोग है। फलतः 'आप' शब्द स्वयं शक्तिरूपी होकर भी नररूप पर अवरोह कर लेता है।

स्यात्—'वयस्ये, दयिते, त्वमेव अहं भवामि'—इति प्रत्ययात्। शिवस्वरूपमपि च उज्झितचिद्रूपमिव नर-शक्त्यात्मकं वपुर् आविशत्येव—कोऽहम्, एषोऽहम्, अहो अहम्, धिङ् माम्, अहो मह्यम्,'—इत्यादौ हि 'अहम्'—इति गुणीकृत्याविच्छिन्नं स्वातन्त्र्यं, मुख्यतया विच्छिन्नेव इदन्ता प्रतीयते, यत्र भगवत्या अपरांया उदयः। 'हे! अहम्'—इत्यादौ परापरशाक्तस्पन्दस्पर्श एव शिवस्य। किन्तु पूर्वं पूर्वम् अव्यभिचरितमुत्तरत्र, तेन नररूपं स्फुटतयैव प्रतिपत्त्या शाक्त-

---

को ग्रहण कर लेता है। उदाहरणार्थ—'अरी सखी!, अरी प्रिया, 'तू'[1] तो 'मैं' ही हूँ'—इस प्रकार की प्रतीतियाँ भी हैं। शिवरूप भी किन्हीं परिस्थितियों में, अपने चिद्-रूप को मानो भूलकर जैसे, नररूप या शक्तिरूप में प्रवेश कर ही लेता है। उदाहरणार्थ—'मैं कौन ?, यह मैं, हाय मैं, मुझे धिक्कार हो, हाय मुझे' ऐसे ऐसे प्रयोगों में 'अहंभाव' अपने विच्छेदहीन स्वातन्त्र्य को गौण बनाकर, मुख्य रूप में, विच्छेदों से भरा हुआ 'इदंभाव' जैसा[2] ही प्रतीत होता है। ऐसे प्रयोगों में भगवती के अपरा-भाव की ही उदीयमानता समझनी चाहिये। 'हे मैं[3]!' इत्यादि प्रयोगों में शिवरूप को परापर-भाव के साथ सम्बन्धित शाक्त-स्पन्द का स्पर्शमात्र होता हुआ प्रतीत हो रहा है। परन्तु वस्तुस्थिति तो यह है कि (प्रसार की प्रक्रिया में) पहला रूप अगले अगले रूप में अवश्य समा कर

---

१. यहाँ पर शक्त्यात्मक मध्यम पुरुषवाची 'तू' उत्तम पुरुषवाची 'मैं' बन जाने से शिवरूप पर आरोह कर गया है।

२. यहाँ पर मूलग्रन्थ में 'इव = जैसा' शब्द का प्रयोग करने से भगवान् अभिनव ने त्रिक-शास्त्र की इस मान्यता को स्पष्ट किया है कि वास्तव में शिव-भाव परिपूर्ण अहंभाव होने के कारण कभी भी इदं-भाव का विषय नहीं बनता। दरअसल त्रिक के तीनों रूपों में, सदा-सर्वदा, शिवात्मक अहंभाव समान एवं अखण्ड रूप में व्याप्त होकर वर्तमान ही रहता है, परन्तु जीव-भाव में सुलभ अपेक्षा-बुद्धि से ही उसमें मुख्यता या गौणता का आभास होने लगता है।

३. 'मैं' तो सदा उत्तम पुरुषवाची होने के कारण शिवरूपी है। प्रस्तुत उद्धरण में कोई वक्ता अपने आप को ही मध्यम पुरुष बना कर आमन्त्रित कर रहा है। ऐसा करने पर भी उसकी उत्तम-पुरुषता में कोई परिवर्तन नहीं आने पाया है। हाँ केवल कहने-मात्र के लिए मध्यम पुरुष अर्थात् शक्तिरूपी बन गया है। इसी कारण से यहाँ पर कहा गया है कि शिव को शक्ति-भाव का स्पर्शमात्र हो गया है। वास्तव में 'अहम्' की लाख मनौतियाँ की जायें, परन्तु वह शिव-भाव से डिगता नहीं।

शाम्भव-धुरम् आरोढुं शक्नुयादेव, न पुनर्वैपरीत्येन आरोहणं स्फुटप्रतीतिमयम्। अत्यक्तनिजनिजरूपतया त्र्यात्मकत्वाद् एक-द्वि-बहुरूप-भागित्वम् एति। प्रत्येकमेतत् त्रिकम्। उक्तं हि—

ही अवस्थित रहता[1] है और यही कारण है कि नररूप केवल 'स्पष्ट प्रतिपत्ति'—अर्थात् निश्चित आरोहक्रम को अपनाने से ही पहले शाक्त-भूमिका और उपरान्त शाम्भव-भूमिका पर चढ़ सकता है। इसके विपरीत[2] क्रम को अपना कर आरोह करना तो आध्यात्मिक युक्ति के अनुकूल नहीं लगता। इन तीनों में से प्रत्येक रूप अपने मुख्य स्वाभाविक रूप को बनाये रखने के साथ साथ त्र्यात्मक[3] होने के कारण एकवचन[4] (शिव-भाव), द्विवचन (शक्ति-भाव) और बहुवचन (नर-भाव) का भागी भी बन जाता है। इस प्रकार से प्रत्येक रूप भी अपनी अपनी जगह एक एक त्रिक ही है। निश्चित सैद्धान्तिक बात यह कही गई है—

१. शिव-भाव शक्ति-भाव में और शक्ति-भाव नर-भाव में सदा समाया रहता है। फलतः शिव-भाव ही प्रत्येक में समान रूप से व्याप्त रहता हुआ प्रत्येक का मूलाधार भी है।

२. नर-रूप का पहले शक्ति-रूप पर और तदनन्तर शिवरूप पर चढ़ना ही स्पष्ट और सीधा आरोह-क्रम है। बीचवाले शक्तिरूप का परिहार करके सीधा शिवरूप पर चढ़ने का क्रम विपरीत-क्रम कहलाता है।

३. त्रिक के प्रत्येक रूप की त्रिरूपता—

१	शिव-रूप	शिवात्मक	शक्त्यात्मक	नरात्मक
२	शक्ति-रूप	शिवात्मक	शक्त्यात्मक	नरात्मक
३	नर-रूप	शिवात्मक	शक्त्यात्मक	नरात्मक

४. त्रिक-शास्त्रीय मान्यता के अनुसार एकवचन, द्विवचन और बहुवचन में भी क्रमशः शिव, शक्ति और नर रूपों की व्यापकता मानी जाती है। इस विषय में निम्न तालिका पाठकों को लाभ पहुँचा सकती है—

	रूप	पुरुष	एकवचन = शिव	द्विवचन = शक्ति	बहुवचन = नर
१	शिव	उत्तम	अहम् = मैं	आवाम्=हम दो	वयम्=हम सारे
२	शक्ति	मध्यम	त्वम् = तू	युवाम्=तुम दो	यूयम्=तुम सारे
३	नर	प्रथम	सः = वह	तौ=वे दो	ते=वे सारे

'एकं वस्तु द्विधा भूतं द्विधा भूतमनेकधा ।'

इति । एकात्मत्वे हि अप्रतियोगित्वात्-'शिवता', प्रतियोगिसम्भवे-'शाक्तत्वम्', अनेकतायां भेद एव नरात्मभाव एकस्यैव—'घटः, घटौ, घटाः, घटपटपाषाणाः,—इत्यपि हि,' तिष्ठति, तिष्ठतः, तिष्ठन्ति,—इति च ऐक्येनैव । क्रियाशक्तिस्फुरितमेव एतत् । यथोक्तम्—

'अनेकमेकधा कृत्वा को न मुच्येत बन्धनात् ।'

'एकली वस्तु (शिव) पहले दोहरी (शिव-शक्ति) बन गई और उपरान्त यही दोहरी वस्तु अनेकरूपी (नर) बन गई ।'

एक ही वस्तु के, एकला होने की दशा में, कोई जोड़ीदार न होने के कारण 'शिव-भाव', जोड़ीदार होने की दशा में 'शक्ति-भाव' और अनेकता में चतुर्दिक् भेद-भाव की ही व्यापकता होने के कारण (नर-भाव) की व्यापकता रहती है । उदाहरणार्थ—

(क) १. घड़ा→एकवचन→प्रतियोगी का अभाव→शिव-भाव ।
२. दो घड़े→द्विवचन→प्रतियोगी का सद्भाव→शक्ति-भाव ।
३. अनेक घड़े→बहुवचन→अनेकता→नर-भाव ।
(विविध पदार्थों की अनेकता का एकीकरण करके)

(ख) 'घट[1]-पट-पत्थर'—ऐसा भी कहा जाता है (इसमें अनेक घट, अनेक कपड़े और अनेक पत्थर अन्तर्भूत हो जाते हैं) ।
इसी प्रकार क्रियारूपों में भी त्रिकरूपता निहित रहती है—

(ग) १. बैठता है→एकवचन→प्रतियोगी का अभाव→शिव-भाव ।
२. दो बैठते हैं→द्विवचन→प्रतियोगी का सद्भाव→शक्ति-भाव ।
३. सारे बैठते हैं→बहुवचन→अनेकता नर-भाव ।

(इन अनेक क्रियारूपों का भी) एकीकरण करके केवल 'बैठते हैं'—इतना ही कहा जा सकता है, (इस प्रकार के क्रियात्मक एकीकरण में—एक बैठने वाला, दो और अनेक बैठने वाले इकट्ठे ही अन्तर्भूत हो जाते हैं) । वास्तव में यह सारा प्रपञ्च (परमेश्वर की) क्रिया-शक्ति[2] का ही स्पन्दन है । जैसा कि कहा गया है—

'अनेक'—अर्थात् नररूप और शक्तिरूप को 'एक'—अर्थात् शिवरूप बनाकर

---

१. एक ही समस्त-शब्द में तीनों की व्यापकता ।

२. सद्-गुरु महाराज के उपदेशानुसार एकवचन में चित्-रूपता, द्विवचन में ज्ञान-शक्ति और बहुवचन में क्रिया-शक्ति का स्पन्दन निहित होता है ।

इति। अत एव नर-शक्ति-शिवात्मनां युगपदेकत्र परामर्शे उत्तरोत्तर-स्वरूपानुप्रवेश एव, तस्यैव वस्तुतः तत्परमार्थरूपत्वात्। 'स च, त्वं च तिष्ठथः, स च, त्वं च, अहं च तिष्ठामः'—इति प्रतीतिक्रम एव अकृतकसंस्कारसारः शाब्दिकैर्लक्षणैरनुगम्यते। तथा च निजभाषापदेष्वपि, संस्कारस्य यत्र नामापि न अवशिष्यते बौद्धान्ध्रद्रविडादिषु, अयमेव वाचनिकः क्रमः, वचनक्रमश्च हार्दी-

कौन संसार के बन्धन से छूट नहीं जाता ?'

इसलिये नररूप, शक्तिरूप और शिवरूप—तीनों का एकीकरण करके युगपत् परामर्श किये जाने पर (पूर्व-पूर्ववर्ती का) उत्तर[1]-उत्तरवर्ती रूप में पारमार्थिक[2] लयीभाव हो ही जाता है, क्योंकि वह उत्तर-उत्तरवर्ती रूप ही उस पूर्व-पूर्ववर्ती रूप में निहित रहने वाला वास्तविक स्वरूप हुआ करता है—'वह भी और तुम भी बैठते[3] हो; वह भी, तुम भी और मैं भी बैठते[4] हैं'—इस प्रकार के सर्व-साधारण वार्तालापों में भी पाये जाने वाले प्रतीति के क्रम में स्वभावसिद्ध पूर्ण अहंभाव के संस्कार का ही सार भरा रहता है। इसी कारण से व्याकरण के नियमों को भी (विवश होकर) इसी प्रतीति के क्रम का अनुसरण करना पड़ता है। इतना ही नहीं, अपितु बौद्ध, आन्ध्र और द्रविड़ इत्यादि अंचलों की, जहाँ भाषिक-प्रयोगों को व्याकरण से सजाने-संवारने का नाम भी बाकी नहीं है,

१. यहाँ उत्तरोत्तरवर्ती स्वरूप में लय हो जाने से उसी पूर्वोक्त निश्चित आरोह-क्रम का अभिप्राय लिया जाता है। इस दृष्टि से नररूप के पहले शक्तिरूप में, तदनन्तर शिवरूप में लय हो जाने की प्रतीति का क्रम साधारण वार्तालापों में भी पाया जाता है।

२. अभिप्राय यह कि सब से उत्तरवर्ती शिवरूप ही समूची शक्तिरूपिणी और नररूपिणी विश्वमयता के अणु अणु में अन्तर्निहित रहनेवाला मात्र परमार्थ है, उसीमें लय हो जाने को पारमार्थिक लयीभाव कहा जाता है।

३. इतने उद्धरण-भाग में यह दिखाया गया है कि 'बैठते हो' इस क्रियापद के रूप में युगपत् परामर्श करने से 'वह'—अर्थात् नररूप, 'तुम'—अर्थात् शक्तिरूप में लय हो जाता है। अतः ऐसे वाक्यों में मध्यम पुरुषवाची, अर्थात् शक्तिरूप के ही प्रतीक-भूत क्रियापद का प्रयोग किया जाता है।

४. इसमें 'वह' तुम में और उपरान्त दोनों 'मैं' में अनुप्रविष्ट हो जाने से नर का पहले शक्ति में, तदनन्तर दोनों का शिव में लयीभाव हुआ है। अतः ऐसे वाक्यों के साथ 'बैठते हैं' ऐसे उत्तम पुरुषवाची, अर्थात् शिवरूप के प्रतीकभूत क्रियापदों का प्रयोग किया जाता है। यहाँ पर 'बैठते हैं' ऐसे ही क्रियापद के द्वारा तीनों का युगपत् परा-मर्श सम्भव हो जाता है।

मेव प्रतीतिं मूलतोऽनुसरन् तत्प्रतीतिरसरूपतया प्रतीतेरपि एवंरूपत्वम् अनुगमयेत्। यथोक्तं मयैव—

'न हृदयङ्गमगामिनी गीः ?'

इति। तत् सर्वथा अकृतका एव इयं प्रतीतिः। यथोक्तम्—

'न तैर्विना भवेच्छब्दो नार्थो नापि चितेर्गतिः।'

इति। श्रीमालिनीतन्त्रेऽपि—

'एवं सर्वाणुसंघातमधिष्ठाय यथा स्थिता।
तथा ते कथिता शंभोः शक्तिरेकैव शांकरी॥'

इति। श्रीतन्त्रसमुच्चयेऽपि—

अपनी अपनी भाषिक-भाषाओं के शब्दों में भी, ऐसा ही बांचने या बोलने का क्रम असल में हार्दिक-प्रतीति का ही अनुसरण करता रहता है और उस प्रतीति के रस का ही परिचायक होने से इस तथ्य का भी बोध करा देता है कि वास्तव में हार्दिक प्रतीति में भी यही त्रिकरूपता निहित रहती है। जैसा कि मैंने स्वयं ही कहा है—

'क्या वैखरी-वाणी हमेशा हार्दिक-प्रतीति का ही बोध नहीं करती रहती[1] है ?'

फलतः यह प्रतीति हर प्रकार से अकृत्रिम है। जैसा कहा गया है—

कोई भी शब्द, अर्थ और किसी भी ज्ञान का स्पन्दन नर, शक्ति और शिवरूपता से हीन नहीं है।'

श्रीमालिनीतन्त्र में भी कहा गया है—

'जिस प्रकार से भगवान् शंकर की एक ही शक्ति समूचे 'अणुसंघात'—अर्थात् नररूपधारी शिवों के समुदाय में अनुस्यूत होकर वर्तमान है, वह प्रकार मैंने तुझे समझा दिया।'

श्रीतन्त्रसमुच्चय में भी कहा है—

---

१. इस वाक्य में भगवान् अभिनव ने इस तथ्य को समझा दिया है कि प्रत्येक प्रकार के बांचने या बोलने का क्रम, अर्थात् वैखरी-वाणी से उद्भूत शब्दजाल स्वतः स्वतन्त्र रूप में कुछ भी नहीं है। यह तो केवल अंतस् में विद्यमान हार्दिक प्रतीति का ही बाहरी स्पष्ट शाब्दिक रूप है। इसका आधार यह है कि वास्तव में हृदय से उद्भूत होनेवाली प्रतीति ही, पश्यन्ती और मध्यमा वाणियों के मार्ग को लाँघ कर अन्तिम वैखरी वाणी की भूमिका पर स्पष्ट संवादात्मक रूप को धारण कर लेती है।

'नर-शक्ति-शिवावेशि विश्वमेतत्सदा स्थितम् ।
व्यवहारे क्रिमीणाञ्च सर्वज्ञानाञ्च सर्वशः ॥'

इति ।

तदेवं नर-शक्ति-शिवात्मकं स्फुटप्रतिपत्तिसंप्रदायोपदेशेन दर्शितम् । 'नरः, शक्तिः, शिवः'—इति तु सर्वंसहः प्रतिपत्तिक्रमः परमेश्वरेच्छास्वातन्त्र्यसृष्टः । इत्यलं परशक्तिपात-पवित्रित-बहुश्रुत-सहृदय-सोपदेश-कतिपयजन-हृदय-हारिण्या प्रसक्तानुप्रसक्त्या ।

तत् व्याख्यातं 'शृणु देवि !'—इति । 'उत्तरस्यापि'—इति यदुक्तं 'कथम-नुत्तरम्'—इति, तत्र प्रतिवचनम्—'उत्तरस्यापि सन्निहितस्य यद् अनुत्तरम् ।' प्राग् उक्तक्रमेण हि उत्तरमपि अनुत्तरतादात्म्येनैव भवेत्, नान्यथा । अत एव

'कीड़े मकोड़ों से लेकर सर्वज्ञ व्यक्तियों तक के जीवधारियों के प्रतिक्षण चलने वाले व्यवहारों से भरा हुआ यह विश्व 'सदा'—अर्थात् कीड़ों की अज्ञान-दशा और सर्वज्ञों की ज्ञानदशा में भी नर, शक्ति और शिवरूपता से आविष्ट होकर ही वर्तमान रहता है ।'

तो इस प्रकार से 'स्फुटप्रतिपत्ति'—अर्थात् हार्दिक-प्रतीति की स्पष्ट अनुभूति कराने वाले संप्रदाय के उपदेश के द्वारा नरात्मक, शक्त्यात्मक और शिवात्मक त्रिक का स्वरूप दिखाया गया है। 'नर, शक्ति और शिव'—यही एक ऐसा हार्दिक-प्रतीति का क्रम है, जो कि प्रत्येक प्रकार के विश्वमय उतार-चढ़ाव को स्वरूप में समा लेता है और परमेश्वर के इच्छात्मक स्वातन्त्र्य से ही उत्पादित है। अस्तु, अब इस विषय में और अधिक बाल की खाल उतारने का कोई प्रयोजन नहीं, क्योंकि ऐसी बातें कई ऐसे विरले ही व्यक्तियों के हृदयों को आकर्षित कर सकती हैं, जो परमेश्वर के तीव्रतम शक्तिपात के द्वारा पवित्र बने हों, जिन्होंने शास्त्रों का सम्यक्‌रूप में पर्याप्त अध्ययन किया हो, जो इस विषय के रसिक हों और जिनको सद्-गुरुओं से उपदेश मिला हो ।

'उत्तरस्याप्यनुत्तरम्' इस चरण की व्याख्या ।

'शृणु देवि !'—इतने सूत्र-भाग की व्याख्या समाप्त हो गई । अब 'उत्तरस्या-प्यनुत्तरम्'—इस चरण की व्याख्या की जायेगी । देवी ने जो प्रश्न पूछा था कि—'अनुत्तर का स्वरूप कैसा है ?', प्रस्तुत चरण उसी का प्रतिवचन है—

१. उत्तरस्य अपि सन्निहितस्य यद्, अनुत्तरम् ।

प्रतिक्षण हमारे इन्द्रिय-बोध का विषय बनने वाले पूर्वोक्त उत्तर का ही

उत्तरमपि अनादृत्य—'अनादरे षष्ठी'। उत्तरं रूपं हि अनादृततद्भावम् अनुत्तर-रूपमेव। भेदो हि अयम् उत्तररूपो नितरामेव अभेदभुवमधिशय्य तथा भवेत्। यथोक्तम्—

'परव्यवस्थापि परे यावन्नात्मीकृतः परः।
तावन्न शक्यते कर्तुं यतो बुद्धः परः परः॥'

इति।

तथा उत्तरस्यापि ग्रन्थभागस्य 'अनुत्तरम्'—तेनापि उत्तरीतुं न शक्यते।

उत्तरत्व दुतकारने के अन्तर जैसा रूप उपलब्ध हो जाये वही 'अनुत्तर' है।

इसका तात्पर्य यह है कि पूर्वोक्त रीति के अनुसार, अनुत्तर के साथ तादात्म्य होने से ही उत्तर की स्थिति भी संभव हो सकती है, अन्यथा नहीं। यही कारण है कि (मूल-सूत्र में) 'उत्तरस्य'—शब्द के साथ अनादर किये जाने के अर्थ में ही षष्ठी विभक्ति का प्रयोग किया गया है। इसका तात्पर्य यह निकलता है कि वास्तव में उत्तर ही अनुत्तर है, परन्तु यदि वह अपने साथ चिपके हुए उत्तरत्व के भाव को दुतकारे। (पृथिवी-तत्त्व से लेकर अनाश्रित-शिव-तत्त्व तक का) यह समूचा उत्तररूपी भेद-प्रपञ्च प्रतिक्षण अभेद की नींव पर खड़ा रहने से ही उस रूप में बना रह सकता है। जैसा कि कहा गया है—

'पर'—अर्थात् अनाश्रित शिव-तत्त्व से लेकर पृथिवी-तत्त्व तक के भेद-प्रपञ्च को तब तक भेदरूप में भी व्यवस्थित नहीं किया जा सकता, जब तक 'पर'—अर्थात् अनुत्तर-भाव को आत्मरूप[1] न बनाया हो, क्योंकि 'पर'—अर्थात् शेष-विश्व[2] भी तो शिवरूप में पहचान लिए जाने पर अनुत्तर ही है।'

२. उत्तरस्य अपि अनुत्तरम्।

यह एक ऐसा जटिल प्रश्न है, जिसका उत्तर प्रस्तुत ग्रन्थ के ही उत्तर-

---

१. अनुत्तर-तत्त्व ही मात्र ऐसी सत्ता है, जो कि किसी भी पदार्थ को भेद, भेदाभेद या अभेद रूप से व्यवस्थित कर सकती है। कारण यह कि वह स्वयं इस पचड़े से सर्वथा अतिगत और इसका व्यवस्थाता तत्त्व है। फलतः जिस भाग्यशाली ने अनुत्तर-भाव का आत्मरूप में साक्षात्कार किया हो, वही शेष जगत् को अपने मनोनीत रूप में व्यवस्थित कर सकता है।

२. शेष विश्व से नरात्मक विश्व का अभिप्राय है, इसका उल्लेख पहले ही हो चुका है।

पश्यन्त्या अपि पराभट्टारिकायाः प्रथमप्रसरत्वात् उत्तरस्यापि च मदीयस्य एतदेव 'अनुत्तरं' परमार्थः।

'उत्तरस्य'—त्रिशूलप्रेरणादिमयस्य, यद् 'अनुत्तरं'-विश्रान्तिस्थानम्। किं तत्? इत्याह—यतः स्यादयं कौलिको विधिः। 'कौलिकः'—कुलात्मा प्राक् व्याख्यातो, विधीयमानत्वात् 'विधिः'—महासृष्टिरूपो गर्भीकृतानन्तसृष्ट्यादि-

भाग से नहीं दिया जा सकता है। तात्पर्य यह कि पश्यन्ती-वाणी (जिसमें मैं उत्तर दे रहा हूँ) स्वयं भी पराभट्टारिका का प्राथमिक[1] प्रसार ही है, तो उसी में बतलाये जाते हुए मेरे उत्तर का अन्तिम निर्णयात्मक अर्थ, सब कुछ ले दे कर, 'अनुत्तर'—अर्थात् मौन का आश्रय लेना ही होगा।

३. उत्तरस्य यद् अनुत्तरम्।

'उत्तर' शब्द से उस बहिरङ्ग प्रपञ्च का संकेत मिलता है, जिसको (इच्छा-शक्ति, ज्ञान-शक्ति और क्रिया-शक्ति रूपी) त्रिशूल से (क्रमशः इच्छनीय, ज्ञेय और कार्य इन तीन रूपों में अवस्थित रह सकने की) प्रेरणा मिलती रहती है। इस उत्तर की विश्रान्ति का स्थान ही तो 'अनुत्तर' है।

प्रश्न—आखिर वह है क्या?

समाधान—वही, जहाँ से इस कौलिक-विधि का प्रसार होता रहता है। 'कौलिक-विधिः' शब्द 'कौलिक और विधिः' इन दो शब्दों का संयुक्त रूप है। इनमें से 'कौलिक' शब्द उसी पूर्वोक्त कुल एवं अकुल के समरसीभावात्मक अनुत्तर-तत्त्व के और 'विधिः' शब्द शक्तिरूप में बहिर्मुखीन प्रसार की इतिकर्तव्यता के वाचक हैं। विधि वही होती है, जिसका क्रियात्मक आयोजन हो रहा हो।

---

१. पहले बताया जा चुका है कि प्रस्तुत प्रश्नोत्तर की प्रक्रिया में देवी मध्यमा-वाणी पर अवस्थित रहकर प्रश्न पूछती है और पर-भैरव पश्यन्ती-वाणी के स्तर पर उतर कर उसका उत्तर देते हैं। परन्तु वस्तुस्थिति तो यह है कि अनुत्तर का वास्तविक स्वरूप परारूप में ही गम्य है। पश्यन्ती स्वयं परा का प्राथमिक बहिर्मुखीन प्रसार ही है, अतः वह वाणी परा के विषय का यथावत् वर्णन कैसे कर सकती है? परा की भाषा परा से ही गम्य है, परन्तु उस भाव में प्रश्न एवं उत्तर के पार्थक्य का कोई प्रश्न ही नहीं। वहाँ न कोइ गुरु और न कोई चेला है। फलतः प्रस्तुत ग्रन्थ के उत्तरभाग में पर-भैरव के द्वारा पश्यन्तीमय शब्दों में बहुत कुछ समझाये जाने पर भी यह प्रश्न अनुत्तरित ही रह जाता है।

कोटिशतो यस्मात् प्रसृतः, एतदेव तद् 'अनुत्तरम्' । यदुक्तम्—

'............यतः सर्वं............।'

इति । तथाहि—

इदं विश्वं चिच्चित्त-प्राण-देह-सुख-दुःखेन्द्रिय-भूत-घटादिमयम् एकस्यां वा परस्यां परमेश्वर्यां भैरवसंविदि अविभागेनैव बोधात्मकेन रूपेण आस्ते । यद्यपि बोधात्मकं रूपं नास्तमेति जातुचिदपि—तदस्तमये अप्रकाशमानतापत्तेः—तथापि

फलतः इकट्ठा 'कौलिकविधिः' शब्द उस 'महासृष्टि'[1]—अर्थात् अनाश्रित-शिव-तत्त्व से लेकर शुद्धविद्या-तत्त्व तक के शुद्धाध्व की, जो कि अनन्त प्रकार के सैकड़ों-करोड़ों मायीय सृष्टियों को अपने गर्भ में धारण किये हुए ही है, सर्जना का परिचायक है। ऐसी कौलिकविधि जिस उद्गम से निकलकर प्रसार में आई है, वही 'अनुत्तर' है। जैसा कहा गया है—

'....... जहाँ[2] से सारा.......।'

भाव यह कि शून्य, पुर्यष्टक, प्राण और शरीर इन पर अहं-अभिमान रखने वाले प्रमाताओं, सुखों, दुःखों, तेरह इन्द्रियों, पांच महाभूतों और अनन्त प्रकार के घट, पट आदि ज्ञेय पदार्थों से खचाखच भरा हुआ यह सारा इदंरूपी विश्व, एक ही परारूपिणी, परम ऐश्वर्य से परिपूर्ण भैरवीय संवित् में, प्रति समय विभाग से रहित बोधात्मक रूप में वर्तमान ही होता है। यद्यपि वह बोधात्मक रूप

---

१. अनाश्रित-शिव से लेकर शुद्धविद्या तक के पाँच तत्त्वों की सृष्टि का नाम 'महा-सृष्टि' है। यह सृष्टि माया-तत्त्व की परिधि से बाहर की सृष्टि है। शुद्ध-सृष्टि, शुद्धाध्व, शिवविद्यामयी सृष्टि इत्यादि भी इसी के नामान्तर हैं। माया-तत्त्व से लेकर नीचे पृथिवी-तत्त्व तक की सृष्टि 'अवान्तर-सृष्टि' कहलाती है। मायीय-सृष्टि, अशुद्ध-सृष्टि, अशुद्धाध्व इत्यादि इसके पारिभाषिक पर्याय हैं। त्रिक-मान्यता के अनुसार अवान्तर-सृष्टि महासृष्टि के गर्भ में प्रतिसमय निहित ही रहती है। फलतः यह सृष्टि उसी से निकल कर, उसी पर स्थिति पाकर संहार के अवसर पर फिर उसी में लय भी हो जाती है। त्रिक-सन्दर्भ में 'कौलिक-विधि' शब्द से इसी महासृष्टि के प्रसार-संहार का अभिप्राय है। महासृष्टि के प्रसार-संहार के साथ अवान्तर-सृष्टि स्वयं प्रसृत और संहृत हो जाती है।

२. सम्पूर्ण मूल-संस्कृत श्लोक इस प्रकार है—

'यस्मिन् सर्वं यतः सर्वं यः सर्वं सर्वतश्च यः ।
यश्च सर्वमयो नित्यं तस्मै सर्वात्मने नमः ॥'

प्रस्तुत सूत्र-खण्ड की अवशिष्ट व्याख्या में इसी उद्धरण-श्लोक के शब्दों को समन्वित किया गया है।

परस्पराभावात्मको विच्छेदः तत्र नास्ति, विश्वात्मान एव भावाः। तत्र च यदि एषाम् अवस्थितिः न स्यात्, तत् प्रथमानुसंधानादिकमेव अक्षप्रेरणोपयोग्यपि न भवेत्—इति समुचितानुदितेदन्ताकम् अहंपरामर्शमात्राभिन्नमेव भावजातं विगत-भेदकलनं तिष्ठति। न तत्र कश्चिदवच्छेदः। तथा अत्र स्पष्टः सन्नयं विधिः

'कभी भी'—अर्थात् इयत्ताओं से भरी हुई अवान्तर-सृष्टि के रूप में प्रसृत होने के अवसर पर भी, स्वतः अस्त नहीं होता, क्योंकि यदि वह अस्त होता तो उसकी प्रकाशमानता संदेह में पड़ जाती, तो भी (उस मायादशा में) पारस्परिक अभावों[1] से जन्म पाने वाली इयत्तायें उसमें पनप नहीं सकती, क्योंकि प्रत्येक भाव विश्वात्मरूपी ही होता है। यदि उस बोध में ये सारे भाव[2] वर्तमान न होते तो प्रथमाभास या इसी की समकक्ष और भी ज्ञानदशायें भिन्न भिन्न इन्द्रियों को अपने अपने विषयों का ग्रहण करने की प्रेरणा देने के लिए उपयोगी भी नहीं बन पाते। अतः यह स्पष्ट है कि अन्तर्बोध में समूचा भाववर्ग, भेद-भाव की गणना से

१. संसार की भूमिका पर पदार्थों के अभावों से ही उनके स्वरूपों और स्वरूपगत इयत्ताओं का निर्धारण होता रहता है। उदाहरणार्थ यदि किसी प्रमाता के सामने घड़ा हो तो इसका अभिप्राय यह होगा कि उसके सामने घड़े का सद्भाव और उससे इतर सारे पदार्थों का अभाव वर्तमान है। स्वाभाविक रूप में वह प्रमाता घड़े से इतर भावों के अभाव के द्वारा ही इस स्थिति का निर्धारण कर लेता है कि मेरे सामने अथवा मेरे इन्द्रिय-बोध का विषय बना हुआ पदार्थ घड़ा ही है, कपड़ा नहीं। इस प्रकार प्रतिसमय पग पग पर असंख्य अभावात्मक प्रतीतियों के द्वारा आदान-प्रदान का यही क्रम है, परन्तु इसके साथ ही यह बात ध्यान में रखनी परम आवश्यक है कि ये अभावरूपिणी प्रतीतियाँ तो केवल बाहरी इन्द्रिय-बोध तक ही सीमित रहती हैं—अन्तः-संवेदन में तो इनके लिए कोई स्थान नहीं।

२. प्रत्येक चेतन प्रमाता के सामने एक ज्ञान-क्षण पर एक ही पदार्थ का सद्भाव और उससे इतर पदार्थों का पूरा अभाव वर्तमान होता है, क्योंकि एक ज्ञान-क्षण पर केवल वही पदार्थ इन्द्रिय-बोध का विषय बन जाता है, जिसकी ओर उस प्रमाता की उस वेला पर उन्मुखता हो। परन्तु इस अभाव की स्थिति से कदापि यह सिद्ध नहीं हो जाता कि उसी अवसर पर उसी प्रमाता के अन्तः-संवेदन में भी उन्हीं पदार्थों का अभाव वर्तमान होता है। यदि वैसी परिस्थिति होती तो वही प्रमाता उसी ज्ञान-क्षण के अवसर पर आँखों से घट को देखता हुआ मन में पट का चिन्तन कैसे करने पाता? इसके अतिरिक्त किसी एक पदार्थ के साक्षात्कार-क्षण पर उसी प्रमाता के मन में उस पदार्थ से इतर पदार्थों की स्मृति, कल्पना, अनुसंधान इत्यादि कैसे सम्भव हो सकते?

कौलिकः स्थितो विश्रान्ति प्राप्तः,—सर्वम् इदं हि षट्त्रिंशदात्म, ततः सामान्य-स्पन्द-संविदात्मनः शक्तिमतः परशक्तिप्रधानात् शिवात् स्वशक्त्या सृष्टमपि सत्, तत्रैव भैरव-विशेषस्पन्दात्मनि शक्तिप्रधाने स्वस्वरूपे विश्राम्येत्, इति। तदेव स्वभावनिष्ठत्वं भावानाम् । यदुक्तम्—

'यस्मिन् सर्वं............।'

इति।

तदेतत् शिवशक्त्यात्मैव सामान्य-विशेषरूपम् एकात्मकम् अपि, परमेश्वरेणैव

हीन, मात्र अहंपरामर्श के साथ अभिन्न रूप में ही वर्तमान रहता है। इस रूप में इसमें कोई भी इयत्ता नहीं होती। साथ ही यह भी कौलिक-विधि इसी बोध के आधार पर स्पष्टता प्राप्त कर लेती है, स्थित रहती है और विश्रान्ति को भी पा लेती है। यह एक शाश्वतिक यथार्थ है कि छत्तीस तत्त्वों के रूपवाला यह सारा विश्व, सामान्य[1]-स्पन्दमयी संवित् का रूप धारण करने वाले, शक्तिमान् और परा-शक्ति-भाग को ही प्रधानता से युक्त शिव से, उसकी अपनी शक्ति के द्वारा सर्जित होता हुआ भी, विशेष स्पन्दमय शक्तिप्रधान स्वरूप, जो कि इसका (विश्व का) निजी स्वरूप है, पर ही विश्रान्त होकर अवस्थित है। इसी को पदार्थों का स्वभावनिष्ठ होना कहा जाता है। जैसा कहा गया है—

'जिसमें सारा...........।'

तो इस प्रकार से यह सामान्य[2] और विशेष स्पन्दों का रूप धारण करने

फलतः प्रत्येक प्रमाता के अन्तः-संवेदन में प्रत्येक पदार्थ, प्रतिसमय, यहाँ तक कि नित्य अभाव माने जाने वाले आकाशपुष्प इत्यादि भी, भावरूप में ही वर्तमान रहते हैं।

१. विश्व का प्रत्येक पदार्थ अपनी अपनी जगह पर एक एक स्पन्द-स्रोत है। घास का तिनका भी इसका अपवाद नहीं। इन अनन्त प्रकार के स्थूल भावों के रूपों में चलायमान रहने वाले स्पन्दों को विशेष-स्पन्द अथवा त्रिक शब्दों में परभैरव का विशेष-स्पन्दात्मक शक्तिप्रधान रूप कहा जाता है। इन विशेष स्पन्दों की अगणित धारायें एक ही मौलिक स्पन्द-सागर से प्रवहमान होती रहती हैं। इस असीम स्पन्द-सागर को सामान्य-स्पन्द अथवा त्रिक-भाषा में पर-भैरव का सामान्य स्पन्दात्मक शक्तिमत्प्रधान रूप कहा जाता है। विशेष-स्पन्दों के स्रोत सामान्य-स्पन्द से ही निकलते हैं, उसी पर आधारित रहते हैं और अन्ततोगत्वा उसी में लय हो जाते हैं। यही तो त्रिकशास्त्रीय कौलिक-विधि का भी अनादिकालीन रहस्य है।

२. सामान्य-स्पन्द और विशेष-स्पन्द—ये तो वास्तव में एक ही प्रकाश-विमर्शमयी

उपदेशोपायप्रवेशाय पृथक्कृत्य निरूप्यमाणं, वस्तुतः पुनरेकम् एव स्वतन्त्र-चिन्मयम् 'अहम्'—इत्यैश्वर्यसारम् 'अनुत्तरम्'।

कीदृशे स्वरूपे अवस्थितः? 'मम-हृद्-व्योम्नि'—'मम' इति यद् एतद् 'हृदयं'-सर्वभावानां स्थानं प्रतिष्ठाधाम।

वाली 'कौलिक-विधि' शिव-शक्तिमयी ही है और मूलतः एकात्मिका होने पर भी, अधिकारी जनों को उपदेश देने और उपाय के रास्ते पर लगाने के निमित्त परमेश्वर के द्वारा ही अलग[1] अलग करके वर्णन की जा रही है। वस्तुस्थिति तो यह है कि यह 'एक'—अर्थात् मात्र सामान्य स्पन्दमयी है और स्वतन्त्र चिन्मय एवं अहंभावरूपी ऐश्वर्य के सार वाला अनुत्तर-तत्त्व ही इसका निजी स्वरूप है।

अब शंका यह है कि यह 'कौलिक-विधि' किस प्रकार के स्वरूप में अवस्थित है?—

'मम-हृद्-व्योम्नि' शब्दों की व्याख्या।

(श्रीभैरव इस शंका का समाधान प्रस्तुत कर रहे हैं)—यह मेरे हृदयाकाश[2] में अवस्थित है। मेरा हृदय वही है, जो कि प्रत्येक पदार्थ का सच्चा ठिकाना और

सत्ता के असीम एवं ससीम स्पन्दन को अभिव्यक्त करने वाले दो औपचारिक नाम-मात्र हैं। स्पन्द तो स्पन्द है। जहां कहीं या जिस किसी भी अवस्था में वर्तमान हो उसके स्वरूप में कोई भी अन्तर नहीं पड़ता, क्योंकि विमर्शमयी गतिमयता ही उसका मात्र रूप है। स्पन्द तो स्पन्द ही है, चाहे वह लघुतम पदार्थ या सर्वव्यापक शिव में हो। सामान्य और विशेष कहने से उसमें कोई स्वरूपगत भेद परिलक्षित नहीं होता। इनसे तो केवल उसकी क्रमशः अन्तर्मुखीन और बहिर्मुखीन प्रवहमानता का संकेत मिलता है। यही कारण है कि पारमेश्वर स्पन्दन चाहे प्रसारात्मक हो या संहारात्मक, दोनों रूपों में अनुत्तरमय और एक ही है।

१. त्रिक-परिपाटी में 'कौलिक-विधि' से शाक्त-प्रसर का अर्थ लिया जाता है। औपचारिक रूप में इसके प्रसारात्मक और संहारात्मक दो मुख हैं। वास्तविक स्थिति तो यह है कि प्रसार एवं संहार दोनों में एक ही शाक्त-स्पन्दन क्रिया-शील है। उस शाक्त-स्पन्दन को ही त्रिक-शब्दों में 'अहम्' कहा जाता है। 'अहं-भाव' के खण्ड-खण्ड होने की कल्पना करना भी व्यर्थ है, अतः प्रसार एवं संहार वास्तव में एक ही गतिमयता है। प्रस्तुत शास्त्र में भगवान् ने स्वयं ही भक्तों को वास्तविक स्थिति समझाने के अभिप्राय से ही इसके दो रूपों का अलग अलग वर्णन किया है।

२. वास्तव में यहां श्रीभैरव के द्वारा 'हृदयाकाश में' ऐसा कहा जाना भी मात्र

'नीलादीनां हि अन्ततः क्रिमिपर्यन्तं चिदंशानिविष्टानां न किञ्चित् नीलादि-रूपम्,—इति प्रमातुरेव यत् 'मम'—इति अविच्छिन्नचमत्कारांशोपारोहित्वं मम नीलं भातम्'—इति, तदेव नीलादिरूपत्वम्—इति ।

तस्य 'मम'—इत्यस्य नीलाद्यनन्तसर्वभावहृदयस्य यत् 'व्योम', यत्र तत्

पार्यन्तिक विश्रान्ति का परम-धाम है ।

तात्पर्य यह कि नील[1] इत्यादि रूपोंवाले जड़ पदार्थों से लेकर अन्त में कीड़े-मकोड़ों[2] तक के (परिमित चेतनावाले) चेतन पदार्थ यदि चित् अंश[3] पर ही परिनिष्ठित न होते, तो उनकी नीलादिरूपता स्वतः कुछ भी न होती । फलतः प्रस्तुत संदर्भ में (ज्ञान-क्रियामयी चेतना के रूपवाले) प्रमाता के द्वारा, 'मेरा' कहकर जो उन नीलादि पदार्थों को विच्छेदों से रहित परन्तु परिमित अहं-भाव पर चढ़ाना और फिर 'मुझे नीला दीख पड़ा'—ऐसे रूप में अभिव्यक्त करना है, वही तो नील आदि का रूप है—अर्थात् उसी से वे नील आदि रूपों में व्यवस्थित हो जाते हैं ।

'हृद्-व्योम्नि' की प्रसार-क्रम से व्याख्या ।

उसी 'मेरे'—अर्थात् अवच्छेदों से रहित चेतन प्रमाता के, नीला इत्यादि प्रकार के अगणित, परन्तु सारे पदार्थों की प्रतिष्ठा का स्थान बने हुए हृदयाकाश

औपचारिक ही प्रतीत होता है । कारण यह कि अनुत्तर-तत्त्व तो स्वयं ही प्रत्येक पदार्थ का हृदय है, क्योंकि वही तो प्रसार-संहार का अन्तिम स्थान है ।

१. पहले भी कहा जा चुका है कि नील और सुख ये दो शैव शास्त्र के विशेष पारिभाषिक शब्द हैं । इनमें से 'नील' शब्द से बाहरी ज्ञानेन्द्रियों एवं कर्मेन्द्रियों का विषय बनने वाले ठोस घट आदि प्रमेय-पदार्थों और 'सुख' शब्द से केवल अन्तः-करणों के द्वारा अनुभव किये जाने वाले भावनात्मक सुख, दुःख जैसे प्रमेय-पदार्थों का अभिप्राय लिया जाता है । फलतः ये दो शब्द समूचे प्रमेय-विश्व के परि-चायक हैं ।

२. ऐसे जीवित भाव, जिनमें चेतना-अंश अतीव परिमित मात्रा में विद्यमान हो । इनको भी अपनी सत्ता प्राप्त करने के लिए अधिक से अधिक चेतनावाले जीवित भाव पर निर्भर रहना पड़ता है ।

३. ऐसे जीवित भाव, जिनमें ज्ञान-क्रियात्मक चैतन्य की परिधि इतनी विस्तृत हो कि वे अपने से इतर भावों को भी उनके अपने अपने रूपों में व्यवस्थित कर सकें—जैसे मानव ।

ममकारात्मकं विश्वं 'वीतं'—सम्यक् धृतम्, अत एव त्यक्तभिन्ननिजरूपतया शून्यरूपं व्योम, तथा—

'मम'—इत्यस्य भिन्नाभिन्नरूपपरापरसंविदात्मनो यत् 'हृदयं'—पर्यन्त-

में (यह कौलिक विधि अवस्थित है)। यह हृदयाकाश एक ऐसा शून्य[1] है, जिसमें 'ममकार'[2] की इयत्ताओं के रूपवाला सारा विश्व 'उचित ढंग से'—अर्थात् विशेषरूपता के संकर से रहित सामान्य संवेदनात्मक रूप में ही धरा रहता है। इस हृदय को 'व्योम'—अर्थात् शून्यरूपी हृदय इसलिये कहा जाता है कि इसमें इसके अपने बोधरूप को छोड़कर, बाहरी विश्व में दिखाई देनेवाली स्थूल भेद-रूपता का अभाव है। और—

'हृद्-व्योम्नि' शब्द की संहार-क्रम से व्याख्या।

'मेरा'—अर्थात् परस्पर सापेक्ष भेदरूपता से परिपूर्ण अपरसंवित्ति और इससे रहित परसंवित्ति[3] का रूप धारण करने वाले प्रमाता का, 'हृदय'—अर्थात् चरम

१. त्रिक-मान्यता के अनुसार यहाँ पर वर्णित 'हृदयाकाश' शून्यवादियों के द्वारा स्वीकारा हुआ सर्वाभावात्मक शून्य जैसा नहीं है। इसमें तो नानारूपता से युक्त समूचा प्रमेय-विश्व भरा रहता है। भेद केवल इतना है कि बाहरी जगत् में स्थूल रूप वाले अलग अलग प्रमेय-पदार्थों के अलग अलग अटाले देखने में आते हैं, परन्तु हृदयाकाश में वर्तमान रहने वाले प्रमेय-पदार्थ, मोर के अण्डरस की तरह, एकाकार सूक्ष्म संवेदनात्मक रूप में ही अवस्थित रहते हैं। फलतः हृदय में बाहरी स्थूलरूप अथवा कार्यरूप के अभाव की उपलब्धि होने की अपेक्षा से ही इसको 'शून्य' कहते हैं। अतः यह वास्तव में अशून्यात्मक शून्य है।

२. 'ममकार = मेरा-मेरा' शब्द से विशेष देश, काल और आकारों की इयत्ताओं के घेरों में ही सीमित रहनेवाले प्रमेय-पदार्थों के प्रति ममत्व के अभिमान का बोध हो जाता है। पशुओं को युग-युगों तक इस प्रमेय-विश्व के साथ जोंक की तरह चिपके रहने के मूल में यह ममकारात्मिका वासना ही कार्यनिरत होती है। प्रत्येक जीवधारी, जिनमें तुच्छातितुच्छ कीटाणु भी अपवाद नहीं है, अपने अपने क्षेत्र में पग पग पर इन्हीं ममकारों के दलदल में फंसे रहने से ही जन्म-मरण और दूसरे दुःखों का भागी बन जाता है।

३. परसंवित्ति और अपरसंवित्ति दो शास्त्रीय शब्द हैं। इनसे क्रमशः इयत्ताओं से रहित शिवात्मक बोध और इयत्ताओं से भरे हुए नरात्मक बोध का तात्पर्य लिया जाता है। जहाँ तक इन दोनों संवित्तियों का सम्बन्ध है, ये परस्पर सापेक्ष हैं। सापेक्ष होने के कारण इनमें से किसी को भी पूर्ण निरपेक्ष अनुत्तर-बोध का नाम नहीं दिया जा सकता।

प्रतिष्ठाधाम 'अ-ह्-म्'—इति, तस्यापि 'व्योम'—संहाररूपकलनेन 'म-ह्-अ'—इति क्रमेण 'म'—इति नरात्मकं लीनं बिन्द्वात्मशक्तौ कुण्डलिनी'ह्-कला'रूपायां प्रविश्य, परिपूर्णनिरर्गलचमत्कारे, सर्वाविच्छिन्ने 'अ'—इत्यनुप्रविष्टं तथा भवति। एतदेव 'मम-हृद्-व्योम' तस्मिन्।

एवं यत इदं प्रसृतं, यत्र च विश्रान्तं, तदेव नित्यमनावृतस्वभावं, स्वयं प्रथमानम्, अनपह्नवनीयम्, अनन्यापेक्षिप्रथम् 'अनुत्तरम्'। यथोक्तम्—

'यत्र स्थितमिदं सर्वं कार्यं यस्माच्च निर्गतम्।
तस्यानावृतरूपत्वान्न निरोधोऽस्ति कुत्रचित्॥'

इति। आवरकत्वेन निरोधकाभिमतोऽपि हि तदावरणादिस्वातन्त्र्येण

विश्रान्ति का स्थान 'अ-ह-म्' है, परन्तु संहारक्रम को अपनाने पर उस 'अहम्' का भी शून्यरूप 'म-ह-अ' है। इस क्रम के अनुसार 'म' यह नरात्मक रूप बिन्दी (ं) का रूप धारण करके, अपनी ही शक्तिरूपता, जिसका रूप शक्तिकुण्डलिनी-रूपिणी 'ह्-कला= ꣽ ' है, में प्रविष्ट होकर, फिर परिपूर्ण और निर्बाध आनन्द-मयता के रूपवाले और प्रत्येक प्रकार की इयत्ता और आकांक्षा से रहित 'अ-कला'-रूपी अनुत्तर-धाम में विश्रान्त होकर 'म-ह-अ' इस प्रकार की शून्य-अवस्था में लय हो जाता है। ऐसी शून्य भूमिका ही मेरा हृदयाकाश है और उसी में (कौलिक-विधि वर्तमान है)।

निचोड़ केवल इतना कि यह कौलिक-विधि जिससे और जिसमें क्रमशः प्रसृत एवं विश्रान्त हो जाती है, वही नित्य आवरणहीन स्वभाव, स्वयं ही प्रकाशमान, अपलापों का अविषय और परमुखापेक्षिता से रहित बोध के रूपवाला तत्त्व 'अनुत्तर' है। जैसा कहा गया है—

'जिसमें यह समूचा कार्यरूपी विश्व शाश्वतिक रूप में अवस्थित ही है और जिससे इसका निकास हुआ है, उस तत्त्व का रूप 'अनावृत'—अर्थात् देख सकने वाली आंखों के सामने खुला है—इसलिये उसकी प्रसार-संहारमयी गतिविधि में कहीं कोई अड़चन नहीं।'

यदि (किसी माया इत्यादि को) जोर-जबर्दस्ती ढक्कन का नाम देकर

वास्तव में प्रमातृ-भाव की ये दोनों दशायें अन्ततोगत्वा 'अहं-भाव' में ही स्वतः भी लीन हो जाती हैं। अनुत्तरीय अहं-भाव इनके पूर्ण अभाव को नहीं, प्रत्युत समरसी-भाव की भूमिका है और ऐसी ही भूमिका यहां पर वर्णन किया जाने वाला हृदयाकाश है।

प्रकाशमानो दृक्क्रियात्मक एव परमेश्वरः। 'यत्'—इत्ययं निपातः सर्वविभक्त्यर्थवृत्तिः, अपरवाक्यीयसम्बन्धौचित्यात् विशेषे स्यास्नुरत्र पञ्चम्यर्थे सप्तम्यर्थे च वर्तते। अयं हि आञ्जस्येन अर्थः—यदयं कौलिकः सृष्टिप्रसरः, यच्च मम हृद्व्योम्नि अवस्थितः, तदेव 'अनुत्तरम्'।

एवं तस्यैव प्रसरविश्रान्त्युभयस्थानत्वं निरूप्य, प्रसरक्रमस्वरूपं, क्रियाशक्तिस्पन्दविसर्गं निरूपयति—'कथयामि' इत्यादिना।

स्वरूप की गतिमयता में अड़चन डालनेवाली वस्तु मान भी लिया जाये, तो भी स्मरण रहे कि उस रूप में भी ज्ञान-क्रियात्मक परमेश्वर ही उसी आवरण इत्यादि रूपों वाले स्वातन्त्र्य के द्वारा प्रकाशमान[1] होगा। 'यत् = जो' (संस्कृत में) यह निपात प्रायः प्रत्येक विभक्ति के अर्थ पर संगत हो जाता है, इसलिये प्रस्तुत[2] उद्धरण में भी यह पञ्चमी और सप्तमी विभक्तियों के अर्थ को द्योतित कर रहा है, क्योंकि यहां पर दूसरे वाक्यों के अर्थ की उचितता के बल से इसमें भी विशेष प्रकार के अर्थों पर ही संगत हो जाने की प्रवृत्ति परिलक्षित होती है। फलतः इस उद्धरण-वाक्य का समीचीन अर्थ इस प्रकार है—

१. 'जहां से' यह कौलिक-विधि नाम वाला सृष्टिप्रसार होता रहता है—

(पंचमी के अर्थ से द्योतित होनेवाला प्रसर-स्थान।)

२. 'जिस मेरे हृदयाकाश में' यह कौलिक-विधि (शाश्वत रूप में) वर्तमान है—

(सप्तमी के अर्थ से द्योतित होनेवाला विश्रान्ति-स्थान।)

वही 'अनुत्तर' है।

'कथयामि' शब्द की व्याख्या।

इस प्रकार से उस अनुत्तर-पद को ही प्रसार और विश्रान्ति का धाम सिद्ध करने के उपरान्त अब 'कथयामि = कहता हूँ' इत्यादि शब्दों के द्वारा उस प्रसार-क्रम के स्वरूप का वर्णन कर रहे हैं, जिसको (शास्त्रीय शब्दों में) 'क्रियाशक्ति-स्पन्दविसर्ग' कहते हैं। इस शब्द का अभिप्राय परमेश्वर की विमर्शमयी क्रिया-

---

१. त्रिक-परिपाटी के अनुसार तथाकथित आवरक माने जाने वाली माया और तीन प्रकार के मल भी कौलिक-विधि से बाहर नहीं हैं। इनका भी स्वरूप से ही प्रसार और स्वरूप में ही विश्रान्ति का विधान चलता रहता है। फलतः ये न तो स्वरूप से भिन्न और न उसको ढांपने वाले ही माने जा सकते हैं।

२. पूर्वोक्त 'यस्मिन् सर्वं यतः सर्वं' इत्यादि उद्धरण श्लोक में।

तदेव हि रूपम् 'अहम्'—परानुत्तरात्म-परापरादिमय-पश्यन्त्यादि-प्रसर-परिपाट्या अविच्छिन्नैकतापरमार्थः । 'कथयामि'—इति समुचितव्यपदेश्यम्,

---

शक्ति के स्पन्दन का 'विसर्ग'[1]—अर्थात् बहिर्मुखीन प्रवहमानता है।

तात्पर्य यह कि वही रूप, अर्थात् मात्र अनुत्तरीय रूप को धारण करने वाला और पराशक्तिमय 'अहं विमर्श', परापरा इत्यादि रूपों वाली पश्यन्ती इत्यादि वाणियों के द्वारा प्रसार करने के तार को अपना कर बहिर्मुख होता हुआ भी मात्र अखण्डता और एकता के ही सार-सर्वस्व वाला है। इसके प्रसार-क्रम को अभिव्यक्त करने के लिए 'कथयामि[2]'—यही खास क्रियापद ठीक अवसर के

---

१. 'अ' से लेकर 'क्ष' तक का मातृका-समुदाय (सारी वर्णमाला) अथवा 'न' से 'फ' तक का समूचा मालिनी-समुदाय (वर्णमाला का ही दूसरा रूप) ही परमेश्वर की क्रियाशक्ति के स्पन्दन का बहिर्मुखीन प्रसार है। त्रिक-मान्यता के अनुसार विमर्शमयी क्रियाशक्ति का जो और जैसा स्फुरण परा-वाणी से उदित हो जाता है, वही पश्यन्ती और मध्यमा-वाणियों के मार्ग से प्रवाहित होता हुआ अन्तिम वैखरी-वाणी पर स्पष्ट वर्णरूपता में अभिव्यक्त हो जाता है। ये चार वाणियाँ भी बिल्कुल एक दूसरे से भिन्न वाणियाँ नहीं, प्रत्युत सूक्ष्म परा-वाणी की ही क्रमिक स्थूलता के भिन्न-भिन्न स्तर मात्र हैं। अतः परा से लेकर वैखरी तक का वाक्प्रपञ्च भी वास्तव में परा का ही बहिर्मुखीन विश्वमयता का अथवा छत्तीस तत्त्वों का अथवा महासृष्टि एवं अवान्तर-सृष्टि का रहस्य भरा हुआ है। अब आगे चलकर पर-भैरव इसी सृष्टि-प्रसार का बहुत ही सूक्ष्म एवं मार्मिक वणन कर रहे हैं। सारी वर्ण-सृष्टि में 'अ-कला' ही मात्र ऐसा अक्षर है, जो अनुत्तर तत्त्व का प्रतीक एवं अनश्वर है। यह कला शेष सारे वर्णों में स्वभावसिद्ध रूप में ही अवश्य गर्भित रहती है। मानव ध्वनियों में ही नहीं, अपि तु मानवेतर पशु-पक्षी इत्यादि प्राणियों की ध्वनियों में भी इसकी वर्तमानता स्पष्ट रूप में परिलक्षित होती है। फलतः 'आ' से लेकर 'क्ष' तक के—शेष सारे वर्ण इसी कला का प्रसार-मात्र हैं।

२. इस क्रियापद का मूल धातु कथ् है। धातुपाठ के अनुसार इस धातु का अर्थ वाक्य-प्रबन्ध, अर्थात् वैखरी के द्वारा स्पष्ट ध्वनिरूपी एवं सार्थक वाक्यों की निरन्तर झड़ी की अभिव्यक्ति है। इस सम्बन्ध में त्रिक-मान्यता यह है कि—'विखरे भवा वैखरी' इस व्युत्पत्ति के अनुसार वैखरी-वाणी का सम्बन्ध जड़ काया के साथ होने के कारण यह किसी भी प्रकार के शब्द या वाक्य-संरचना का मूल उद्गम-स्थान नहीं हो सकती है। फलतः त्रिक-शास्त्रियों ने अनुभवात्मक अनुसंधान के आधार पर निश्चित करके रखा है कि वास्तव में प्रत्येक प्रकार की भाषिक अभिव्यक्ति का मूल उद्गम-स्थान परा-वाणी ही

अपराभट्टारिकोदयभागिवैखर्यन्तं वाक्यप्रबन्धं शास्त्रीय-लौकिकादिबहुभेदं व्यक्तयामि,--इति। तदुक्तम्

'......... ...सर्वतश्च यः।'

इति।

प्रथम-पर्यन्त-भुवि परा-भट्टारिकात्मनि, तत्प्रसरात्मनि च परापरा-देवतावपुषि, अनुत्तर-ध्रुवपद-विजृम्भैव। तदाहुर्निजविवृतौ श्रीसोमानन्द-पादाः—

'कथयामि = उच्चारयामि उत्कलिकातः... ....।'

इति। तथा—

अनुकूल है। इस क्रिया पद से यह अभिप्राय ध्वनित होता है कि मैं (पर-भैरव) अपरा-शक्ति की उदयकालीन अवस्था का प्रतिनिधित्व करने वाली वैखरी-वाणी तक के वाक्यप्रबन्ध के रूप में मौलिक अहंभाव के प्रसार का ही, शास्त्रीय एवं लोकव्यवहार की विविधता के अनुसार वर्णन कर रहा हूँ। इसी अभिप्राय से कहा गया है—

'.........और जो चारों ओर व्यापक है।'

वस्तुस्थिति इस प्रकार की है कि परा-भट्टारिका रूपी शक्ति-भाव का ही स्वरूप धारण करने वाली पहली परा-वाणी और अन्तिम वैखरी-वाणी की और उसी परा-शक्ति की प्रसारात्मिका एवं परापरा-भाव पर अवस्थित पश्यन्ती और मध्यमा-वाणियों की भूमिकाओं पर केवल उस अनुत्तररूपी स्थिर पद की आनन्द-मयता ही विलसमान होती है। श्रीसोमानन्दपाद ने इसी आशय से अपनी विवृति में कहा है—

'कथयामि' इस क्रियापद का तात्पर्य यह कि मैं (पर-भैरव) निजी आनन्द-मयता की उभाड़ में (आन्तरिक विमर्शमयी स्फुरणा का ही बाहरी वैखरी के रूप में) उच्चारण-मात्र कर रहा हूं।'

और—

है। परा से ही विमर्शमयी स्फुरणा प्रसृत होकर क्रमशः स्थूल होती हुई अन्त में वैखरी-वाणी के स्तर पर स्पष्ट वाक्य-संरचना के रूप में अभिव्यक्त हो जाती है। इस दृष्टि से वैखरी केवल स्थूल अभिव्यक्ति का साधन-मात्र ही है। अतः यह स्पष्ट है कि किसी अलक्ष्य उद्गम से प्रसृत होने वाले विमर्शमय स्पन्दन की वैखरी-वाणी के द्वारा स्थूल शाब्दिक और वाक्य-संरचनात्मक अभिव्यक्ति-मात्र ही 'कथ = कथन', अर्थात् कहना होता है।

'अहमेव सर्वस्य अन्तश्चिद्रूपेण कथयामि।'

इति। तदेवास्माभिः युक्त्युपदेशसंस्कारैः निर्मलय्य हृदयङ्गमीकृतम्।

स्वरूपं चास्य परमेश्वरस्य 'सद्यः'—इति। य एव च परमेश्वरो भैरवात्मा-कुलानुत्तरध्रुवधामतया उक्तः, तदेवेदं सर्वं 'सत्'—कौलिकविधिरूपम्। न हि प्रकाश-विमर्श-शुद्ध-भैरवस्वरूपातिरेकि किञ्चित् भावानां सत्त्वम्। सत्ता-सम्बन्ध-अर्थक्रियाकारित्वादीनां पराभिमतानामपि सत्ताहेतुता-सत्तायोगे तथात्वानुपपत्तेः,

---

'मैं स्वयं ही, प्रत्येक जीवधारी के अन्तस् में 'अहंरूप' में अवस्थित रहकर, निजी चित्-रूपता के द्वारा 'कह रहा हूँ'—अर्थात् स्वरूप की ही अभिव्यक्ति वैखरी के रूप में कर रहा हूँ।'

हमने तो श्रीसोमानन्दपाद के इसी कथन को शास्त्रीय युक्तियों, गुरुओं के उपदेशों और निजी अनुभव के संस्कारों के द्वारा विशद बनाकर (अधिकारी पुरुषों को) अच्छी प्रकार से समझा दिया है।

'सद्यः' शब्द की व्याख्या।

१. सद्यः—सत् यः।

इस परमेश्वर का स्वरूप, 'सद्यः = सत् + य.'—अर्थात् प्रत्येक पदार्थ में अन्तर्निहित रहने वाली शाश्वतिक सत्ता है।

भाव यह कि यहाँ तक के ग्रन्थ-भाग में जिस परमेश्वर का, भैरवीय आत्मा, अकुल, अनुत्तर और अविचल विश्रान्ति-धाम के रूप में वर्णन किया जा चुका है, वही इस सारे इदंरूप में वर्तमान रहनेवाला 'सत्' पदार्थ है और 'कौलिकविधि' ही उसका रूप है। यह बात निश्चित है कि समूचे भाव-वर्ग का, उस प्रकाश-विमर्शमय और मलातीत भैरव-स्वरूप से बढ़कर अपना कोई अलग अस्तित्व ही नहीं है। कथित रूप में 'पर'—अर्थात् स्वरूप से इतर समझे जाने वाले और अन्य दार्शनिकों के द्वारा भी स्वीकारे हुए सत्ता[1], सम्बन्ध और अर्थक्रियाकारिता इत्यादि प्रकार के अल्पकालिक अस्तित्वों के मूल में भी यही महासत्ता कारण बनी हुई है। यदि ऐसा न होता तो दो बाधायें उपस्थित होतीं। पहली यह कि

---

१. इस 'सत्ता' शब्द से संसार के पदार्थों की अल्पकालिक सत्ताओं का अभिप्राय लिया जाता है। अनुत्तरीय सत्ता को छोड़कर शेष सारे जड़-चेतनात्मक भावों की अल्पकालिक सत्ता कुछ समय तक रहकर नष्ट हो जाती है। पर-भैरवमयी सत्ता ही मात्र शाश्वतिक महासत्ता है। वह स्वयं अविचल एवं अनिश्वर होने के साथ साथ इन सारी अल्पकालिक सत्ताओं को भी जीवन देती रहती है।

सत्त्वान्तरार्थक्रियान्तरयोगे चानवस्थापत्तेः। प्रथमत एव तथा विमर्शजीवित-प्रकाशमयत्वमेव 'सत्त्वं' तच्च स्वातन्त्र्य-विमर्शसाराहंभाव-भरितम्--इति भैरवरूपमेव।

यद्वा 'सति' सद्रूपे, 'यस्यति'-यत्नं करोति—क्रियाशक्तिप्राणत्वात्, तत् 'सद्यः'--इति क्विपि नपुंसकनिर्देशः।

'सद्यत्'--इति केचित् गुरवः पठन्ति। तदुक्तं सिद्धसंताने—

'प्रकाशमाना भासैव यद्भूतिस्तत् 'सदेव' हि।'

इति। श्रीस्पन्देऽपि—

'............तदस्ति परमार्थतः।'

ये अल्पकालिक अस्तित्व अपने अपने रूपों में प्रकाशमान ही न होते और दूसरी यह कि एक अल्पकालिक सत्ता या अर्थक्रिया का सम्बन्ध अवश्य उसी प्रकार की दूसरी कारणभूता सत्ता और अर्थक्रिया के साथ मानना पड़ता, उस दूसरी का भी वैसी किसी तीसरी के साथ—फलतः अनवस्था दोष सदा के लिए बिन बुलाया मेहमान बना रहता। शाश्वतिक अस्तित्व तो वही है, जो कि—(१) पहले से ही अर्थात् मौलिक स्वरूप-सत्ता से ही सिद्ध हो और—(२) विमर्श के द्वारा अनुप्राणित प्रकाशमयता का ही पिंड हो। ऐसा अस्तित्व तो स्वातन्त्र्य और विमर्शमयता के सार-सर्वस्वरूपी 'अहंभाव' से परिपूर्ण होने के कारण स्वतः भैरवरूपी ही है।

२. **सद्यः—सति सद्रूपे, यस्यति यत्नं करोति, तत्।**

अथवा दूसरे पक्ष में 'सद्यः' शब्द से उस लोकोत्तर-तत्त्व का बोध हो जाता है, जो कि अपने सत्तारूप में अविचल रहकर ही यत्नशील रहता है, अर्थात् प्रसार-संहार जैसे दुर्घट कृत्य को निष्पन्न करता रहता है, क्योंकि क्रिया-शक्ति ही उसका प्राण है। प्रस्तुत संदर्भ में 'सद्यः' शब्द के साथ 'क्विप्' प्रत्यय लगाकर, इसका निर्देश नपुंसकलिङ्ग में करना अभिप्रेत है।

कई गुरु (सद्यः के स्थान पर) 'सद्+यत्' ऐसा पाठ प्रामाणिक मानते हैं। इस सम्बन्ध में श्रीसिद्धसंतान में कहा गया है—

'विश्व में पाई जानेवाली प्रत्येक विभूति (घट, सुख आदि भाव), वास्तव में, सदा प्रकाशमान चित्ता ही है और निश्चितरूप में वह 'सत्' वस्तु ही है।'

श्रीस्पन्द-शास्त्र में भी कहा गया है—

'............वही तत्त्व यथार्थ रूप में सत्तावान् है।'

श्रीसोमानन्दपादैरपि—

'यत् सत् तत्परमार्थो हि परमार्थस्ततः शिवः ।'

इति स्वरूपम् उक्तम् । तदुक्तम्—

'यः सर्वम्..........।'

इति ।

अस्यैव क्रियाशक्तिप्रसरं निरूपयति—'कौलिकसिद्धिदम्' इति । 'कौलिकं'—यत् व्याख्यातं, तस्य 'सिद्धिः'—तथात्वदार्ढ्यं, तत् यतो भवति ।

तत्र हि परमार्थप्रमातरि सकलं कुलाकुलादि तथा भवति, यत्र प्रतीयमानं सर्वं तथात्वदार्ढ्यं भजते । तदुक्तम्—

'........परात्परतरं त्रिकम्' ।

इति । अन्यत्रापि—

श्रीसोमानन्दपाद ने भी—

'जो शाश्वतिक सत्तावान् वस्तु अर्थात् शिव है, वही परमार्थ है । सारा विश्व उसी परमार्थ से परिपूर्ण है, अतः वह भी शिव ही है ।'

इन शब्दों में स्वरूप का वर्णन किया है । इस आशय से कहा गया है—

'जो सब कुछ है.......।'

'कौलिकसिद्धिदम्' का तात्पर्य ।

मूल-सूत्र में उल्लिखित 'कौलिकसिद्धिदम्' शब्द के द्वारा इसी शाश्वतिक सत्तावान् तत्त्व की क्रिया-शक्ति के फैलाव का निरूपण कर रहे हैं । 'कौलिक' शब्द का तात्पर्य वही है, जो कि पहले ही समझाया जा चुका है । उसको 'सिद्धि' से उस भाव पर (कौलिक-भाव पर) स्थिरता प्राप्त करने का तात्पर्य है । फलतः यह इकट्ठा समस्त-पद उस तत्त्व का बोध कराता है, जिससे इस प्रकार सिद्धि प्राप्त हो जाती है ।

जिस पारमार्थिक प्रमातृभाव की भूमिका में समूचा 'प्रतीयमान'—अर्थात् बहिरंग विश्व में अनुभव का विषय बननेवाला नील, सुख आदि प्रमेयवर्ग, उसी की जैसी एकाकारतारूपिणी दृढ़ता को अपना लेता है, उसमें निश्चयपूर्वक, सारा कुल-अकुल इत्यादि रूपोंवाला प्रपञ्च भी उसी रूप को धारण कर लेता है । जैसा कहा गया है—

'...........त्रिक ही पर से भी उच्चतर है ।'

दूसरे स्थान पर भी कहा गया है—

'वेदाच्छैवं ततो वामं ततो दक्षं ततः कुलम् ।
ततो मतं ततश्चापि त्रिकं सर्वोत्तमं परम् ॥'

इति। श्रीनिशाचारेऽपि—

'वाममार्गाभिषिक्तोऽपि दैशिकः परतत्त्ववित् ।
संस्कार्यो भैरवे सोऽपि कुले कौले त्रिकेऽपि सः ॥'

इति। श्रीसर्वाचारेऽपि—

'वाममार्गाभिषिक्तोऽपि दैशिकः परतत्त्ववित् ।
क्रमाद्भैरवतन्त्रेषु पुनः संस्कारमर्हति ॥'

इति। क्रमश्च एष एव। यथोक्तम्—

'एवं सर्व-लोक-वेद-सिद्धान्त-वाम-दक्षिण-कुल-मतभूमिषु परमार्थप्रमातृभावः ...., इति।'

'वैदिक संप्रदाय से शैव, उससे वामाचार, उससे दक्षिणाचार, उससे कुलाचार और उससे भी कौलाचार बढ़कर हैं, परन्तु इन सबों में से त्रिकाचार ही सर्वोत्तम और मूर्धन्य है।'

श्रीनिशाचार में भी कहा गया है—

'जो व्यक्ति वाम-मार्ग में आचार्य-दीक्षा[1] पाकर गुरुपदवी पर पहुँचा हुआ और (वाममार्गीय प्रथा के अनुसार) परम-तत्त्व का ज्ञानी भी बना हो, उसको भी क्रमशः दक्षिणाचार, कुलाचार, कौलाचार और अन्तिम त्रिकाचार में प्रवेश पाने के लिये नये नये सिरे से दीक्षा देनी चाहिये।'

श्रीसर्वाचार में भी कहा गया है—

'जो व्यक्ति वाममार्ग में आचार्य-दीक्षा पाकर गुरुपदवी पर पहुंचा हो और (वाममार्गीय प्रथा के अनुसार) परम-तत्त्व का ज्ञानी भी बना हो, उसको भी भैरव-तन्त्रों (अद्वैत-तन्त्रों) में अधिकारिता पाने के लिये विशेष क्रम के अनुसार फिर से दीक्षा लेने की आवश्यकता पड़ती है।'

(दीक्षा लेने का) क्रम भी यही है, (जिसका वर्णन इन्हीं उल्लिखित तीन उद्धरण-पद्यों में किया गया है)। जैसा कहा गया है—

'इस प्रकार सारे लोकव्यवहार, वेद, शैवसिद्धान्त, वामाचार, दक्षिणाचार, कुलाचार और कौलाचार की भूमिकाओं पर भी पारमार्थिक प्रमातृभाव (वर्तमान ही होता है)।'

---

१. किसी सम्प्रदाय में गुरुपदवी पर आसीन होने से पहले तदनुकूल दीक्षा लेनी पड़ती है। ऐसी दीक्षा को 'आचार्य-दीक्षा' कहते हैं। प्रत्येक सम्प्रदाय में अपनी मान्यताओं के अनुसार ऐसी दीक्षाओं के शास्त्रीय विधि-विधान पाये जाते हैं।

यथोक्तम्—

'यश्च सर्वमयो नित्यं तस्मै सर्वात्मने नमः ।'

इति, तदेव 'अनुत्तरम्' ।

एतत्सर्वं गर्भीकृत्योक्तं निजविवृतौ सोमानन्दपादैः—

"किं बहुना, सर्वमेव 'अनुत्तरं'-अनुत्तरत्वाद्—इति" ।

अयं तात्पर्यार्थः—

"सअल बहुसंवेअन फुरितमत्त
उजहित हिं चि अजत्तो हितउपफुर ।
इज कुद्रि उस अलभाव
संवेअण रमण णिहाणुइउ ॥

परिआण हुएत्ति अणुतुरुछुत्तुहजसट्ठउसम्मूढ तुणिअच्छहतुह अत्तासिअऊ-उऊ उसुबाहिर बितुरहुं बन्धुण-मोक्खत उइरि अवहु विकुणसिविसग्गुणिम सिद्धउ पुण संहर सिज्जित्ति पविण्णु विरिञ्च रुद्रमअलक्खहिमसरणिरोह चिन्तइ मलक्ख एक्कवा अपरिआणहुअत्ताण उपरमत्थ अण्णुण कोइविआसु बहुइ उस अलउसत्थरथ ।"

इतीदृक् व्याख्यानं त्यक्त्वा यद् अन्यैः व्याख्यातं तत्प्रदर्शनं दूषणम् । यद्यपि

इसी आशय से कहा गया है—

'जो हमेशा सारे रूपों में विराजमान और हर दिशा में परिपूर्ण है, उस सर्वात्मा को प्रणाम[1] हो ।'

इस प्रकार से जिसका वर्णन किया गया, वही 'अनुत्तर' है ।

श्रीसोमानन्द पाद ने इस सारे आशय को अपनी विवृति में अन्तर्निहित रख-कर कहा है—

"और अधिक क्या कहा जाये ? अनुत्तर होने से ही सब कुछ 'अनुत्तर' है" । इसका तात्पर्य यह है—

मूल-सूत्र के दूसरे व्याख्याकारों के प्रति आक्षेप ।

दूसरे टीकाकारों ने ऐसे व्याख्यान की ओर आँखें मींचकर (प्रस्तुत सूत्र की) जो अपनी व्याख्या प्रस्तुत की है, उसका प्रदर्शन करना ठीक नहीं लगता । साथ

---

१. यहाँ पर उल्लिखित—'यस्मिन् सर्वं' इत्यादि उद्धरण-पद्य का विश्लेषण पूरा हो जाता है, जिसका उल्लेख 'उत्तरस्याप्यनुत्तरम्' इस वाक्य की तीसरी व्याख्या के अन्तर्गत टिप्पणी में हो चुका है ।

च पद-वाक्य-संस्कारविहीनैः सह व्रीडावहा गोष्ठी कृता भवति, तथापि सचेत सोऽनुत्तरम् अवबोधयितुं तद् एकवारं तावत् लिख्यते—

'अनुत्तरम्'—इत्यादिना सार्धेन श्लोकेन शिवविषयः प्रश्नः। 'हृदयस्था' —इत्यादिना श्लोकेन शक्तिविषयः। तथा 'शृणु देवि !'—इत्यत्र प्रतिवचन-ग्रन्थे 'उत्तरस्याप्यनुत्तरम्'—इत्यस्य अर्थः—'उत्तरं च शृणु, अनुत्तरं च'—इति। अत्र यदि एषा त्रिकार्थाभिप्रायेण व्याख्या तत् नरविषयतृतीयप्रश्न-प्रसङ्गः। अथ तु यामलाभिप्रायेण, तत्रापि न द्वे वस्तुनी शिव-शक्त्यात्मके 'यामलम्' उच्यते, येन पृथक् प्रश्नविषयतोपपत्तिः। 'अथ' शब्दार्थश्च न सङ्गच्छते। स हि सजातीयनिश्चयानन्तर्यवृत्तिः। उत्तरस्वरूपावधारणमन्तरेण

ही यद्यपि व्याकरण एवं तर्क की जानकारी, गुरु-सम्प्रदाय और आत्मिक अनुभूति से विहीन व्यक्तियों के साथ बातचीत करना भी शर्म की बात है, तो भी आत्मिक चेतनावाले शिष्यों को अनुत्तर-भाव भली-भाँति समझाने के लिये एक बार उस विषय में थोड़ा-बहुत लिखा जा रहा है—

दूसरी व्याख्या की रूपरेखा।

'अनुत्तरम्' इत्यादि डेढ़ श्लोक में शिव-भाव और 'हृदयस्था' इत्यादि एक श्लोक में शक्ति-भाव के विषय में प्रश्न पूछा गया है। इसके अतिरिक्त 'शृणु देवि !' इत्यादि उत्तर-वाक्य में कहे गये 'उत्तरस्याप्यनुत्तरम्' इस वाक्य का तात्पर्य यह है कि तुम 'उत्तर'—अर्थात् शाक्त-स्फार और 'अनुत्तर'—अर्थात् शिव-स्फार का भी वर्णन सुनो।

इस व्याख्या का पर्यालोचन।

विचारणीय यह कि यदि ऐसी व्याख्या त्रिक (शिव, शक्ति और नर) के अभिप्राय को अभिव्यक्त करने के लिए लिखी होती तो इसमें अवश्य नर-भाव के विषय में तीसरा प्रश्न पूछे जाने का कहीं उल्लेख होता। यदि केवल 'यामल' के ही अभिप्राय से लिखी होती तो उस परिस्थिति में भी शिव और शक्ति को दो अलग पदार्थ मानकर 'यामल'[1] नहीं कहा जाता है, ताकि तदनुसार उनको अलग अलग दो प्रश्नों के विषय बनाये जाने की संगति बैठ जाती। इसके अतिरिक्त (अभी आने वाले सूत्र के) 'अथ' शब्द का अर्थ भी संगत नहीं लगता है। 'अथ' शब्द तो दो सजातीय पदार्थों में से एक की निश्चित पूर्ववर्तिता और दूसरे की

---

१. 'यामल' शब्द शिव-भाव और शक्ति-भाव के पूर्वोक्त 'संघट्ट' का द्योतक है। संघट्ट अर्थात् मिलन—प्रकाश और विमर्श का ऐसा मिलन, जैसा अग्नि और उसकी दाहक शक्ति का होता है।

च अनुत्तरविषयस्यैव प्रश्नस्य अनुपपत्तिः। तथाहि—केषुचित् वृद्धपुस्तकेषु ईदृक् श्लोकान्तरं दृश्यते—

'श्रुतं देव महाज्ञानं त्रिकाख्यं परमेश्वर!
उत्तरं च तथा ज्ञानं त्वत्प्रसादावधारितम्॥'

इति। तस्मात् श्रीसोमानन्दपादनिरूपितव्याख्यानुसारेणैव यत् गुरवः समादिक्षन् तदेव सर्वस्य करोति शिवम्।

इत्यसंस्कृतदुर्व्याख्यातामसोन्मूलनव्रतः।
षडर्धशासनापूत - हृदम्बुजविकासकः॥
संस्त्यानानन्तपाशौघविलापनलसद्रुचिः।
दीप्तोऽभिनवगुप्तेन व्याख्याभानुः प्रकाशितः॥

निश्चित अनन्तरवर्तिता के अर्थ को द्योतित करता है। प्रस्तुत प्रसङ्ग में भी (देवी का) 'उत्तर' पदार्थ के बोध को प्राप्त करने के बिना पहले मात्र अनुत्तर के विषय में ही प्रश्न पूछा जाना अस्वाभाविक लगता है। इस विचार की पुष्टि इससे भी हो जाती है कि कई अतिप्राचीन मूल-पुस्तियों में निम्नलिखित अधिक श्लोक देखा जाता है—

'हे देवता स्वरूप परमेश्वर! मैंने आप से 'त्रिक' नाम वाला महान् ज्ञान सुन लिया। इसके अतिरिक्त मुझे आपके अनुग्रह से 'उत्तर' वस्तु का ज्ञान भी समझ में आया।'

अस्तु, ऐसे अंड-बंड विचारों को दृष्टि में रखकर हम यही कहेंगे कि हमारे गुरुओं ने, श्रीसोमानन्दपाद के द्वारा विरचित व्याख्या के अनुसार, हमें जो उपदेश दिया है, उसी से सबों का कल्याण होगा।

प्रकरण का उपसंहार।

इस प्रकार से मुझ अभिनव गुप्त ने जगमगाते हुए 'व्याख्याभानु'[1] (व्याख्या-रूपी सूर्य) का प्रकाशन किया। इसने संस्कारहीन मूढ़जनों के द्वारा रची गई उल्टी व्याख्याओं के अन्धकार को मूल से ही उखाड़ फेंकने का व्रत ले लिया है, यह त्रिक-शास्त्र के पवित्र उपदेशों के अधिकारी जनों के हृदय-कमलों को विकसित करनेवाला है और युग-युगों से जमे हुये अनन्त प्रकार के मायीय पाशों की राशियों को निजी प्रकाशपुञ्ज में ही लयीकरण करने से अत्यधिक रुचिमान् बना हुआ है।

---

१. स्पष्ट है कि भगवान् अभिनव ने यहाँ तक की व्याख्या का नाम 'व्याख्याभानु' रखा है।

एवं यतोऽयं कौलिको विधिः प्रभवति, यत्र च प्रतिष्ठापदवीं भजते, यन्मयं च इदं कौलिकं, तदेव 'अनुत्तरम्'—इत्युक्तम् ॥ ४ ॥

●

तत्र कस्तावत् कौलिको विधिः ? कथञ्च अस्य प्रसरोऽनुत्तरात् ? कथं चात्रैव अस्य प्रतिष्ठा ? कथञ्च अनुत्तरैकरूपत्वम् ? यश्चोक्तम् 'उत्तरस्याप्यनुत्तरम्'—इति, तत् सर्वं युक्त्यागम-स्वसंवेदन-निष्कषण-तत्त्वावबोधावाप्त-विमर्श-निपुणान् शिष्यान् प्रति वितत्य निर्णिनीषुः भगवान् प्रस्तौति ग्रन्थान्तरम् ।

"एतावद्-दृढोपदेश-निर्दलित-भेदाभिमान-विकल्पानल्पसंस्काराणां तु सर्वम्

हमने तो मात्र इतना कह दिया कि—जहाँ से और जिसमें यह कौलिक विधि क्रमशः प्रसृत होती है और पार्यन्तिक प्रतिष्ठा (विश्रान्ति) पा लेती है और जिस स्वरूप की आमूलचूल व्यापकता इसमें वर्तमान है, वही 'अनुत्तर' है ॥४॥

भगवान् अभिनव गुप्त के द्वारा विरचित विवृति से युक्त परात्रिंशिका शास्त्र का 'बिम्ब-भाग' समाप्त ।

●

परात्रिंशिका-शास्त्र का 'प्रतिबिम्ब-भाग' आरम्भ

अगले सूत्रों की अनुक्रमणिका—

अब निम्नलिखित शंकाओं के समाधान प्रस्तुत करने के उपलक्ष्य से—

१. यह 'कौलिक-विधि' कौन सा विधि-विधान है ?

२. अनुत्तर-तत्त्व से इसका प्रसार कैसे होता है ?

३. इसको अनुत्तर-धाम में ही कैसे विश्रान्ति प्राप्त होती है ?

४. इसका अनुत्तर के साथ तादात्म्य (एकाकारता) कैसे है ?

५. जो 'उत्तरस्याप्यनुत्तरम्' यह वाक्य कहा गया है, उसका तात्पर्य क्या है ?

तर्क एवं गुरूपदेश की युक्ति, आगम-शास्त्रों के विधिवत् अध्ययन और व्यक्तिगत संवेदन की कसौटी पर परखने के उपरान्त पाये हुए तात्त्विक-ज्ञान के द्वारा अनुसंधानरूपी विमर्श करने पर पटु शिष्यों को, इन सारी बातों का मर्म समझाने की इच्छा से भगवान् अब ग्रन्थ के उत्तर-भाग को अवतरित कर रहे हैं—

"इतने ही दृढ़ उपदेश के द्वारा भेद-भाव के अभिमान और मानसिक विकल्पों

एतावतैव 'अनुत्तरं कथम्'—इत्यादि-सार्धश्लोकयुगलनिगमितेन प्रश्नेन, 'शृणु देवि !'—इत्यादिना सार्ध-श्लोक-निर्णीतेन चोत्तरेण, अनुत्तरपद-प्राप्तिवशाविष्ट-जीवन्मुक्तभावानां कृतकृत्यता, अतस्तावन्मात्र एव दृढप्रतिपत्ति-पवित्रीकृतैः विश्रमणीयम्—इति उद्भुजाः फूत्कुर्मः ।"

तदनुत्तर-परभैरवपद-विमल-दर्पणान्तर्निविष्ट-कौलिकपद-प्रविविक्तये ग्रन्थान्तरम् अवतरति—

अथाद्यास्तिथयः सर्वे स्वरा बिन्द्ववसानगाः ।
तदन्तः कालयोगेन सोमसूर्यौ प्रकीर्तितौ ।। ५ ।।

के गल जाने से महान् संस्कारों को पानेवाले सत्पुरुषों की सारी मनोकामना, ग्रन्थ का इतना ही भाग पढ़ने से पूरी हो सकती है। कहने का तात्पर्य यह कि ऐसे महापुरुष 'अनुत्तरं कथम्'—इत्यादि ढाई श्लोकों में निरूपित प्रश्न और 'शृणु देवि !'—इत्यादि डेढ़ श्लोक में निरूपित उत्तर का अनुसंधान करने से ही, अनुत्तर-पद पर पहुँचने के बल से जीवन्मुक्त बनकर कृत-कृत्य हो जाते हैं। अतः हम अपने हाथ ऊपर करके फुफकार रहे हैं कि दृढ़ आत्मिक उपलब्धि के द्वारा पवित्र बने हुए महापुरुषों को उतने पर ही विश्राम करना चाहिये।"

अस्तु, अब भगवान्, उस पर-भैरवीय धाम के निर्मल दर्पण में प्रतिबिम्ब[1] रूप में वर्तमान रहने वाले कौलिक-पद को स्पष्टतर रूप में समझाने के अभिप्राय से अगले ग्रन्थ की अवतारणा कर रहे हैं—

मूल-सूत्र

शाश्वत अनुत्तर-भाव[2] पर रहने वाली 'अ-कला' स्वभावतः सृष्टिरूपिणी ही

---

१. सद्-गुरुओं के कथनानुसार परात्रिंशिका-शास्त्र के यहाँ तक के भाग को 'बिम्ब-ग्रन्थ' और यहाँ से आगे के भाग को 'प्रतिबिम्ब-ग्रन्थ' कहते हैं। कारण यह कि यहाँ तक के ग्रन्थ-भाग में अनुत्तर-तत्त्व के स्वरूप का उपदेशात्मक वर्णन किया गया है और अब आगे के भाग में उसके बहिर्मुखीन प्रसार-क्रम का वर्णन किया जा रहा है। त्रिक-मान्यता के सन्दर्भ में अनुत्तर-स्वरूप को संहार-क्रम में स्वयं बिम्बस्थानीय, प्रसार-क्रम में प्रतिबिम्बस्थानीय और स्वयं अपने ही प्रतिबिम्ब को धारण करनेवाला स्वच्छातिस्वच्छ दर्पण भी स्वीकार किया जाता है।

२. मूल-सूत्र के 'अथ' शब्द से अनन्तरवृत्तिता का अर्थ न लेकर उल्लिखित प्रकार के दो अर्थ ही गुरु-क्रम के अनुकूल हैं।

है। अनुत्तर 'अकार[१]' से लेकर 'बिन्दु'—अर्थात् 'अंकार' के अन्ततक की सारी 'तिथियां[२]'—अर्थात् पन्द्रह स्वर, अन्तःप्रवेशरूपी प्रसार के प्रतीक हैं। इनके अन्त पर 'अः-कार[३]' की दो बिन्दियों में से ऊपरवाली बिन्दी में काल-कलना के शाश्वतिक योग के परिचायक और प्रवेशरूपिणी क्रिया-शक्ति[४] के स्पन्दन के सूचक चन्द्रमा

---

१. त्रिक-मान्यता के अनुसार समूचे शब्द-ब्रह्म का मूलाधार बनी हुई अ-कला अनुत्तररूपिणी ही है। यह सर्वव्यापक एवं अविनश्वर है। 'अं' तक के पन्द्रह स्वर इसी कला का प्रवेशात्मक-प्रसार माना जाता है। तात्पर्य यह कि अकार से लेकर अंकार तक संहारमयी 'महअ'-रूपिणी अनुत्तरकला की ही व्यापकता होने के कारण इन पन्द्रह स्वरों में परिपूर्ण शिव-भाव ही गर्भित है। यहाँ तक की सृष्टि में केवल अन्तर्मुखी अहं-भाव की ही मात्र व्यापकता होने के कारण बहिरंग विश्व की अवस्थिति इदं-रूप में भासमान नहीं है। यद्यपि अ-कला समूचे शब्द-ब्रह्म में सदा और सर्वत्र व्याप्त ही रहती है, तो भी इन पन्द्रह स्वरों में इसकी व्यापकता स्पष्टतर रूप में परिलक्षित होती है। यही कारण है कि इनमें से किसी का भी उच्चारण करते समय पहले अ-ध्वनि ही प्रधानतया सुनाई देती है। उदाहरणार्थ 'आ' का उच्चारण करते समय 'अ+आ' जैसी, 'इ' का उच्चारण करते समय 'अ+इ' जैसी ध्वनि कानों में पड़ती है। इसी प्रकार अन्य स्वरों के विषय में भी समझना चाहिये। ऋ, ॠ, ऌ, ॡ के विषय में स्थिति आगे चलकर स्वयं ही स्पष्ट हो जायेगी।

२. प्रस्तुत आगम में 'अ' से लेकर 'अं' तक के पन्द्रह स्वरों को तिथियों की संज्ञा दी गई है। प्रतिपदा से लेकर अमावस्या या पूर्णिमा तक पन्द्रह तिथियाँ होती हैं। उल्लिखित स्वरों की संख्या भी उतनी ही है। अतः तान्त्रिक प्रक्रिया के अनुसार इनको तिथि शब्द से सूचित करके तान्त्रिक-कूटता का यथावत् पालन किया गया है।

३. अन्तिम स्वर विसर्ग (:) है। पहले कहा जा चुका है कि अनुत्तर-प्रक्रिया में विसर्ग शब्द से प्रसार का अभिप्राय लिया जाता है। प्रसार के दो मुख हैं—(१) संहारात्मक, अर्थात् स्वरूप में प्रवेशात्मक और (२) सृष्ट्यात्मक, अर्थात् स्वरूप से निकलकर जगत्रूप में प्रसारात्मक। विसर्ग (:) की दो बिन्दियाँ प्रसार के इन्हीं दो रूपों की प्रतीक हैं। इनमें से ऊपरवाली प्रवेशरूपी प्रसार और नीचेवाली निर्गमरूपी प्रसार का संकेत देती हैं।

४. अन्तः-बहिः समान और शाश्वत रूप में प्रकाशमान रहनेवाली ज्ञान-शक्ति जब अपने स्वातन्त्र्य से स्वयं उत्पादित काल-क्रम को अपनाती है, तब क्रिया-शक्ति कहलाती है। क्रिया-शक्ति के दो रूप हैं—(१) शिववर्तिनी क्रिया-शक्ति और (२) पशुवर्तिनी स्थूल-क्रिया। प्रस्तुत लेखक के स्पन्द-कारिका भाषानुवाद में इन दोनों रूपों पर प्रकाश डाला गया है, अतः वहीं से द्रष्टव्य है। प्रस्तुत प्रसङ्ग में ठीक शिववर्तिनी

पृथिव्यादीनि तत्त्वानि पुरुषान्तानि पञ्चसु ।
क्रमात् कादिषु वर्गेषु मकारान्तेषु सुव्रते ! ।। ६ ।।

और नीचे वाली बिन्दी में उसी काल-कलना के परिचायक और निर्गमरूपिणी क्रिया-शक्ति के सूचक सूर्य[1] की अवस्थिति बताई गई है। इस 'अ' से लेकर 'अः' तक की समूची वर्ण-सृष्टि की वर्तमानता बिल्कुल उस अकुल के स्वरूप में समझनी चाहिये ।।५।।

हे पवित्र व्रतवाली देवी ! 'क' से लेकर 'म' तक पाँच[2] वर्गों के अक्षरों में, क्रमहीनता[3] में ही क्रमशः, पृथिवी-तत्त्व[4] से लेकर पुरुष-तत्त्व के पचीस तत्त्वों के बहिर्मुखीन प्रसार का रहस्य भरा हुआ है ।।६।।

क्रिया-शक्ति का ही अभिप्राय है। इसका रूप भगवान् की स्वरूपमयी विमर्श-शक्ति होने के कारण शास्त्रीय शब्दों में इस प्रकार कहा जा सकता है—प्रकाशमानता का प्राण बनी हुई विमर्शमयता ही परमेश्वर की क्रिया-शक्ति है। भगवान् अनुत्तर की समूची प्रसार-संहारात्मिका क्रिया-शक्ति का रूप मात्र विमर्शमय स्पन्दन ही है।

१. विसर्ग (:) की ऊपरवाली बिन्दी को शास्त्रीय शब्दों में चन्द्रकला और नीचेवाली को सूर्यकला कहा जाता है। चन्द्रकला प्रवेशरूपिणी और सूर्यकला निर्गम-रूपिणी क्रिया-शक्ति को सूचित करती है। इसके अतिरिक्त चन्द्रकला और सूर्यकला का योगिक अभ्यास-क्रम के साथ विशेष सम्बन्ध है, जोकि आगे चलकर आचार्य जी स्वयं ही स्पष्ट करेंगे। विशेष जानकारी गुरुओं के वचनामृत का पान करने से ही प्राप्त होती है।

२. 'ककार' से बहिरंग सृष्टि-प्रसार आरम्भ होता है। यह 'क्षकार' पर पहुँचकर पूरा हो जाता है। 'क' से 'म' तक के २५ व्यंजन पाँच वर्गों में विभक्त हैं। व्याकरण की परिभाषा में इन पाँच वर्गों को कु, चु, टु, तु, पु अर्थात् कवर्ग इत्यादि कहते हैं। ये पृथिवी-तत्त्व से लेकर पुरुष-तत्त्व तक के २५ तत्त्वों के प्रतीक हैं।

३. क्रमात् शब्द के दो अर्थ हैं—(१) क्रम+अद्, अर्थात् क्रमिकता को खाकर; किसी भी क्रम के बिना और (२) क्रमात् शब्द को क्रम शब्द का पञ्चमी विभक्ति एकवचन मानकर—क्रम के अनुसार। फलतः इस शब्द के द्वारा कूटरूप में इस अभि-प्राय को अभिव्यक्त किया गया है कि परमेश्वर की बहिर्मुखीन प्रसाररूपिणी सृष्टि में जो यह क्रमिकता—जैसे पृथिवी के अनन्तर जल, उसके अनन्तर तेज इत्यादि—पाई जाती है, वह तो जीवभाव की अपेक्षा से कथित क्रमिकता है। परमेश्वर की सृष्टि-प्रक्रिया में कोई निश्चित क्रम नहीं—हाँ यह तो केवल अक्रम में क्रम का आभासमात्र है।

४. साधारण रूप में समझे जाने वाले बहिर्मुखीन प्रसार-क्रम में स्वर-वर्ग में विशुद्ध

वाय्वग्निसलिलेन्द्राणां धारणानां चतुष्टयम् ।
तदूर्ध्वं शादि विख्यातं पुरस्ताद् ब्रह्मपञ्चकम् ॥ ७ ॥

'वायु[१]'—अर्थात् 'य', 'अग्नि'—अर्थात् 'र', 'सलिल'—अर्थात् 'ल' और 'इन्द्र'—अर्थात् 'व', ये चार अन्तस्थ[२] क्रमशः चार प्रकार के धारण-

शिव-तत्त्व की व्यापकता के सिद्धान्त को स्थापित करने के अनन्तर 'ककार' में शक्ति-तत्त्व की व्यापकता का निर्देश किया हुआ होना चाहिये था। इसी तार को आगे बढ़ाते बढ़ाते वर्णमाला के अन्तिम वर्ण 'क्षकार' में पृथिवी-तत्त्व की व्यापकता भी बताई हुई होनी चाहिये थी। परन्तु यहाँ पर इसके विपरीत-क्रम का अनुसरण करके 'ककार' में पहले पृथिवी-तत्त्व की व्यापकता का निर्देश करके अन्तिम 'क्षकार' में शक्ति-तत्त्व की व्यापकता मानी गई है। त्रिक-पद्धति में तत्त्व-प्रसार के इस विलोम-क्रम को अपनाये जाने का एक विशेष कारण है, जो कि आगे चलकर स्वयं ही स्पष्ट हो जायेगा।

१. वायु, अग्नि, सलिल और इन्द्र ये चार शब्द त्रिक-परिपाटी में क्रमशः 'य, र, ल, व' इन चार अन्तस्थों के सूचक कूट शब्द (बीज मंत्र) माने जाते हैं।

२. भारतीय परम्परा के अनुसार संस्कृत व्याकरण के मूल-भूत चौदह सूत्रों (समूचे स्वर-व्यंजन-समुदाय) की उद्भूति भी भगवान् भूतनाथ के डमरु से हुई है। शायद यही कारण है कि व्याकरण की प्रत्येक परिभाषा के मूल में किसी न किसी रूप में शैव-मान्यताओं की आधारिता दृष्टिगोचर होती है। महान् शैव आचार्य पाणिनि ने 'य, र, ल, व' इन चार वर्णों को 'अन्तस्थ' यह नाम दे रखा है। इसके मूल में भी यही भावना प्रेरणादायक तत्त्व के रूप में कार्यनिरत रही है। 'अन्तस्थ' शब्द का अर्थ—'अन्तः'—अर्थात् आन्तरिक बोध पर, 'स्थ'—अर्थात् प्रतिसमय रहने वाला, आवरण है। त्रिक-परिपाटी के अनुसार इन चार वर्णों में क्रमशः—'राग-नियति,' 'विद्या,' 'कला-काल' और 'माया' इन छः तत्त्वों की व्यापकता मानी जाती है। इन्हीं छः तत्त्वों को शास्त्रीय शब्दों में 'माया-परिवार' अथवा 'षट्कञ्चुक'—अर्थात् पशुभाव में पड़े हुए संसारी प्रमाताओं के आन्तरिक बोध पर प्रतिसमय छाया रहनेवाला, 'अन्तरङ्ग-आवरण' कहा जाता है। इनको अन्तरङ्ग-आवरण इसलिये कहा जाता है कि यद्यपि ये आन्तरिक बोध पर प्रतिसमय चिपके रहते हैं, तो भी बाहरी कायिक आकार-प्रकार से इनका कहीं आभास-मात्र भी मिलने नहीं पाता। यही कारण है कि व्याकरण की प्रक्रिया में इन चार वर्णों को 'अन्तस्थ-वर्ण' कहते हैं।

इस सम्बन्ध में यह बात ध्यान में रखनी अतीव आवश्यक है कि त्रिक-शास्त्र के अनुसार 'राग और नियति' तथा 'कला और काल' ये चार तत्त्व वास्तव में 'राग और कला' नामी दो ही तत्त्व हैं। त्रिक-शास्त्रियों का मन्तव्य यह है कि राग और नियति

रूपी[1] तत्त्वों—१ राग-नियति-तत्त्व, २ विद्या-तत्त्व, ३ कला-काल-तत्त्व और माया-तत्त्व के प्रसार के प्रतीक हैं। इनके ऊर्ध्ववर्ती (आरोह-क्रम से) 'शकार' से लेकर 'क्षकार' तक के पाँच वर्णों में 'ब्रह्मपञ्चक[2]—अर्थात् महामाया, शुद्ध-

---

दोनों तत्त्व पशुओं के मन में उनको अपनी अपनी रुचि के अनुसार प्रिय लगने वाली वस्तुओं के प्रति अभिष्वङ्ग (लगाव) के रूप में अवस्थित रहते हैं। भेद केवल इतना है कि जहाँ प्रत्येक वस्तु के प्रति सामान्य अभिष्वङ्ग राग कहलाता है, वहाँ किसी विशेष एवं निश्चित वस्तु के प्रति लगाव नियति कहलाता है। जहाँ तक आकृष्टि का प्रश्न है वह तो दोनों में समान ही है। अतः इनको दो अलग तत्त्व न मानकर केवल एक राग-तत्त्व मानना ही युक्तियुक्त है। इसीप्रकार कला-तत्त्व वास्तव में पारमेश्वरी क्रिया-शक्ति का मायीय रूपान्तर है। क्रिया-शक्ति स्वयं मूलतः ज्ञान-शक्ति है। पारमेश्वरी ज्ञान-शक्ति बहिर्मुखीन प्रसार में स्वयं उत्पादित काल-क्रम को अपने ऊपर थोपने से ही साधारण-ज्ञान एवं क्रिया का रूप धारण कर लेती है। इस दृष्टि से तथाकथित काल-क्रम वास्तव में भगवान् की स्वतन्त्र क्रियात्मकता के वैविध्य के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। इस दृष्टि से कला और काल ये दो तत्त्व भी वास्तव में एक ही कला-तत्त्व हैं। फलतः जहाँ अन्य शैव-ग्रन्थों में 'माया-परिवार' का निर्माण करने वाले छः तत्त्व माने गये हैं, वहाँ प्रस्तुत त्रिक-शास्त्र में नियति का राग में और काल का कला में अन्तर्भाव करके चार ही तत्त्व स्वीकारे गये हैं। यही कारण है कि जहाँ त्रिकेतर शैव-ग्रन्थों में बहिरङ्ग विश्वमयता को ३६ तत्त्वों में पूरा किया गया है, वहाँ त्रिक-शास्त्रों में ३४ तत्त्वों में ही इसकी सम्पन्नता का सिद्धान्त प्रस्तुत किया गया है।

१. त्रिक-सन्दर्भ में चार अन्तस्थ वर्णों को 'धारण' कहते हैं। इस नामकरण में भी एक विशेष अभिप्राय निहित है। 'धारण' शब्द से, साधारण रूप में, किसी वस्तु को किसी विशेष रूप या अवस्था में, हठपूर्वक, धारण किये रहने की क्रिया के भाव का अभिप्राय लिया जाता है। प्रस्तुत प्रसङ्ग में ये उल्लिखित कञ्चुकरूपी तत्त्व, अर्थात् अन्तरङ्ग आवरण पशुजनों के आन्तरिक सद्-बोध पर घना कुहासा जैसे छाये रहकर, उनको हठपूर्वक युग-युगों तक पशुभाव की अवस्था में ही टिकाये रखते हैं। इस कारण से ये कञ्चुकरूपी तत्त्व ही 'धारण तत्त्व' हैं। इन्हीं के प्रतीक होने के कारण अन्तस्थों के समुदाय को भी मूल-सूत्र में यही संज्ञा प्रदान की गयी है।

२. ब्रह्म-पञ्चक से शास्त्र में शुद्धाध्व के पाँच तत्त्वों का अभिप्राय है। मूल-सूत्र में यह उल्लेख किया गया है कि 'श, ष, स, ह, क्ष' इन पाँच वर्णों में इन्हीं पाँच तत्त्वों की व्यापकता रहती है, परन्तु इन तत्त्वों को केवल ब्रह्मपञ्चक शब्द से निर्देश करके इनके अलग-अलग नाम नहीं बताये गये हैं। वास्तव में 'ब्रह्मपञ्चक' के विषय में त्रिक-प्रक्रिया और त्रिकेतर-प्रक्रिया में थोड़ा सा मतभेद पाया जाता है। त्रिकेतर तंत्रों की

अ-मूला तत्क्रमाज्ज्ञेया क्षान्ता सृष्टिरुदाहृता ।
सर्वेषामेव मन्त्राणां विद्यानाञ्च यशस्विनि ! ॥ ८ ॥
इयं योनिः समाख्याता सर्वतन्त्रेषु सर्वदा । ॥ ८½ ॥

तत्र अकुलम् अनुत्तरमेव 'कौलिकसृष्टिरूपम्'—इति निर्णीयते । अथ तत्सृष्टिरिति सम्बन्धः । तदेव अनुत्तर-पदं 'सृष्टिः'—इत्यर्थः ।

विद्या, ईश्वर, सदाशिव और शक्ति इन पाँच तत्त्वरूपी पांच ब्रह्मों की व्यापकता, अति स्पष्टरूप में, वर्तमान है ॥७॥

अनुत्तररूपिणी 'अ-कला' के मूलवाली और अन्तिम 'क्षकार' तक प्रसार में आने वाली सृष्टि, इसी अक्रम में ही क्रम के अनुसार समझनी चाहिये। वास्तव में इस प्रकार के अनुत्तरीय-विमर्श को ही सृष्टि की संज्ञा दी गई है ॥७½॥

हे यशस्विनी ! सारे तन्त्रों में इसी (आदि-क्षान्त[1]-रूपिणी) सृष्टि का, समूचे मन्त्रों और विद्याओं की शाश्वत योनि के रूप में, वर्णन किया गया है ॥८½॥

तत्त्व-विवेक

अब आगे इस बात का निर्णय किया जा रहा है कि अकुलरूपी अनुत्तर-तत्त्व का निजी वास्तविक रूप ही 'कौलिक-सृष्टि' है। (सूत्राङ्क ५ में) उल्लिखित 'अथ' शब्द का सम्बन्ध (सूत्राङ्क ८) में उल्लिखित 'तत्सृष्टिः' इन शब्दों के साथ जोड़ देना चाहिये। ऐसा करने से यह तात्पर्य निकलता है कि वह अनुत्तर-पद स्वयं ही 'सृष्टि' है।

प्रक्रिया के अनुसार श, ष, स, ह, क्ष इन पांच वर्णों में क्रमशः शुद्धविद्या, ईश्वर, सदाशिव, शक्ति और अनाश्रित-शिव इन पाँच तत्त्वों की व्यापकता मानी जाती है। प्रस्तुत ग्रन्थ में अन्तिम अनाश्रित-शिव को छोड़कर शुद्धविद्या-तत्त्व से पहले महामाया-तत्त्व की कल्पना करके संख्या पूरी की गई है। इस कल्पना का आधार क्या है? यह बात आचार्य जी आगे टीका में स्वयं ही स्पष्ट करेंगे। कई आचार्यों के मतानुसार इन पाँच वर्णों में क्रमशः 'ईशान, तत्पुरुष, अघोर, वामदेव, सद्योजात' इन पाँच भैरव वक्त्रों की व्यापकता है। अस्तु, यह सारा विषय आगे चलकर स्पष्ट हो जायेगा।

१. शास्त्रीय प्रक्रिया में 'अकार' से लेकर 'क्षकार' तक की वर्णसृष्टि को 'अक्ष-माला' भी कहते हैं।

पर-संवित्ति

त्रिक-प्रक्रिया में वर्ण-सृष्टि

अभिन्न योनि मातृका-क्रम

अ से लेकर क्ष तक

विश्वोत्तीर्ण	→	अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ	अवर्ग
अनुत्तर	→	ऌ ॡ ए ऐ ओ औ अं अः	शिव-भाव

विश्वमयता

संख्या	वर्ण	तत्त्व	टिप्पणी	संख्या	वर्ण	तत्त्व	टिप्पणी
१	क	पृथिवी	कवर्ग	१८	द	नेत्र	तवर्ग
२	ख	जल		१९	ध	त्वक्	
३	ग	तेज	पाँच महाभूत	२०	न	श्रोत्र	पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ
४	घ	वायु		२१	प	मनस्	प से म तक पवर्ग
५	ङ	आकाश		२२	फ	अहंकार	तीन अन्तःकरण
६	च	गन्ध	चवर्ग	२३	ब	बुद्धि	
७	छ	रस		२४	भ	प्रकृति	समूचा जड़-भाग
८	ज	रूप		२५	म	पुरुष	चेतन-भाग (जीव)
९	झ	स्पर्श	पाँच तन्मात्र	२६	य	नियतिगर्भित राग	अन्तस्थ
१०	ञ	शब्द		२७	र	विद्या	माया-परिवार
११	ट	पाद	टवर्ग	२८	ल	कालगर्भित कला	षट्-कञ्चुक
१२	ठ	पाणि		२९	व	माया	
१३	ड	पायु		३०	श	महामाया	ऊष्म
१४	ढ	उपस्थ	पाँच कर्मेन्द्रियाँ	३१	ष	शुद्धविद्या	
१५	ण	वाक्		३२	स	ईश्वर	ब्रह्म-पञ्चक
१६	त	घ्राण		३३	ह	सदाशिव	
[illegible]	[illegible]	[illegible]		३४	क्ष	शक्ति	

यद्यपि च सृष्टावपि प्राक्तननयेन कालापेक्षि पौर्वापर्यं न स्यात्, तथापि उपदेश्योपदेशभाव-लक्षणो भेदो यावत् स्वात्मनि स्वातन्त्र्यात् परमेश्वरेण भास्यते तावत् पौर्वापर्यमपि,—इति तदपेक्षया 'अथ'-शब्देन आनन्तर्यम्— 'अनन्तरम् अकुलम् एव सृष्टिरूपम्'—इति यावत्। न तु प्रश्नप्रतिज्ञाभ्याम् आनन्तर्यम् 'अथ'-शब्देनोक्तम्—एक-प्रघट्टक-गत-सजातीय-प्रमेयापेक्ष-क्रम-तात्पर्य-

'अथ' शब्द की संगति।

यद्यपि पूर्वोक्त नीति के अनुसार सृष्टि-क्रम में भी काल-क्रम[1] की अपेक्षा से जनित पूर्वकालिकता और अपरकालिकता जैसा कोई प्रश्न नहीं है, तो भी जब तक परमेश्वर अपने स्वातन्त्र्य के द्वारा, स्वरूप में ही, उपदेश्य[2] और उपदेश इन दो भेदों को अवभासित करते हैं, तब तक पूर्वता और अपरता का क्रम भी वर्तमान है ही। प्रस्तुत प्रसङ्ग में इसी काल-क्रम की अपेक्षा से 'अथ' शब्द से अनन्तरवृत्तिता का अर्थ लेकर यह तात्पर्य निकाला जाता है कि—'जो ही अकुल है, वही अकुल होने के अनन्तर सृष्टिरूपी है।' इसके प्रतिकूल यहाँ पर 'अथ' शब्द से (देवी के) प्रश्न पूछे जाने और (भैरव की उत्तर देने की) प्रतिज्ञा किये जाने की अनन्तरवृत्तिता का अर्थ द्योतित नहीं होता है, क्योंकि प्रस्तुत प्रसङ्ग में तो यह शब्द एक ही सिद्धान्त[3] की सीमा के अन्तर्वर्ती दो सजातीय[4] प्रमेयों की

१. 'आज, कल' इत्यादि रूपोंवाले काल-क्रम के अव्यवस्थित होने का सिद्धान्त ग्रन्थकार ने पहले ही प्रस्तुत करके रखा है।

२. 'उपदेश्य' शब्द से उपदेश के विषय और 'उपदेश' शब्द से उपदेश दिये जाने के अवसर पर इन दोनों में से किसी प्रकार की पूर्वता या परता का क्रम परिलक्षित नहीं होता है। उपदेशक जो उपदेश दे रहा हो वही उसका विषय, उपदेश की क्रिया और उपदेश-काल भी होता है। हाँ, इन दोनों में सूक्ष्मातिसूक्ष्म वैचारिक पूर्वापरता के क्रम का आभास-मात्र जैसा प्रतीत होता है। इसी प्रकार प्रस्तुत प्रसङ्ग में भी जो ही अनुत्तर-तत्त्व है, वही सृष्टि-प्रसार भी है। ऐसी परिस्थिति में यहाँ पर भी 'अथ' शब्द से उसी उपदेश्य-उपदेश-भाव की जैसी पूर्वकालिकता और अपरकालिकता का क्रम द्योतित हो जाता है। तात्त्विक दृष्टि से देखने पर अनुत्तर, उसका प्रसार और प्रसार-काल इनमें कोई पूर्ववर्तिता या अनन्तरवर्तिता का क्रम नहीं, क्योंकि परमेश्वर की विमर्शमयी क्रिया-शक्ति का स्पन्द तो एक त्रिकालाबाधित सत्ता है।

३. देवी के प्रश्न और भैरव के उत्तर दोनों से स्वरूप-विमर्श ही अभिप्रेत है, अतः दोनों एक ही सिद्धान्त के अन्तर्वर्ती सजातीय पदार्थ हैं।

४. अनुत्तर-स्वरूप और अनुत्तर का स्वरूप-प्रसार, इस प्रकार के दो सजातीय प्रमेय।

प्रतीति-प्रवणत्वादस्य। अन्यथा तूष्णींभावादेर् अनन्तरम् इदम्,—इत्यपि सर्वत्र तत्प्रयोगावकाशः। अस्तु, क इव अत्रभवतः खेदः? इति चेत्—न किञ्चित्, ऋते प्रतीति-बाधात्।

"यत्तु श्रीसोमानन्दपादाः—

'अकारः शिव इत्युक्तस्थकारः शक्तिरुच्यते।'

इत्यागमप्रदर्शनेन 'अथ—इत्येतावदेवानुत्तरम्'—इति व्याचचक्षिरे,—थकार-हकार-समव्याप्तिकताभिप्रायेण सर्वत्र प्रथमोल्लासे प्रसरदनन्तानन्त-

---

अपेक्षा से जनित काल-क्रम के अभिप्राय का बोध करा देता है। यदि ऐसा न होता तो हर जगह इस शब्द को—'कुछ[1] समय तक चुप रहने के अनन्तर अमुक बात कही गई' जैसे अर्थ पर ही प्रयोग में लाया जाता। यदि कोई पूछे—'इस शब्द को ऐसा ही अनन्तरवर्तिता के अर्थ पर प्रयुक्त करने में हमें कौन सा कष्ट हो रहा है'? तो हम यही उत्तर देंगे कि इससे बढ़कर और कोई तकलीफ नहीं कि हमारे आत्मिक-अनुभव के साथ ऐसा अर्थ मेल नहीं खाता।

श्रीसोमानन्दपाद के मत का उल्लेख।

श्रीसोमानन्दपाद ने—

'अथ शब्द के अकार को शिव और थकार को शक्ति कहा गया है।'

इस आगम-वाक्य को प्रमाणरूप में प्रस्तुत करके 'अथ' शब्द से यह तात्पर्य निकाला है कि इस एक ही शब्द में परिपूर्ण अनुत्तर-भाव का रहस्य भरा हुआ है। उन्होंने अपने इस विचार की पुष्टि में दो प्रमाण प्रस्तुत किये हैं। एक यह कि प्रत्येक स्थान पर थकार और हकार में समव्याप्तिकता[2] पाई जाती है, अर्थात्

---

१. असल में बात यह है कि प्रस्तुत प्रसङ्ग में भगवान् अभिनव 'अथ' शब्द से लोकोत्तर अनन्तरता का तात्पर्य सिद्ध कर रहे हैं। लोकोत्तर अनन्तरता का वैसा ही रूप नहीं होता, जैसा कि लोक-भूमिका पर समझा जाता है। यदि वैसा होता तो श्री भैरव 'शृणु देवि!' इत्यादि वाक्यों में देवी के प्रश्न का उत्तर देने की प्रतिज्ञा करने के उपरान्त कुछ समय तक मौन रहकर फिर उत्तर-ग्रन्थ का उच्चारण करने लगते। तभी जाकर 'अथ' शब्द से प्रश्न एवं प्रतिज्ञा-वाक्यों की अनन्तरता का लोक-मान्य अभिप्राय स्पष्ट हो जाता। परन्तु यहाँ पर तो परिस्थिति ही भिन्न है, अतः अनन्तरता का रूप भी बिल्कुल भिन्न ही है।

२. 'समव्याप्तिकता' शब्द से किन्हीं दो या अधिक पदार्थों में किसी एक ही प्रकार के भाव की व्यापकता का अभिप्राय लिया जाता है। जो भी पदार्थ आपस में सम-

वस्तुसृष्टिशक्त्यभेदरूपत्वात्, सर्वभूतस्थ-जीवनरूप-परनादावलम्बनरूपत्वाच्च 'अथ'—शब्दार्थस्य। तन् नास्माभिः वितत्य विवेचितम्—तादृशस्य आगमस्य

इन दोनों वर्णों में समानरूप से शक्ति-भाव की व्यापकता है। इसी अभिप्राय से समूचे 'अथ' शब्द का अर्थ, अनुत्तर के 'पहले ही विकास[1]', अर्थात् आकार के रूप में प्रसार में आने वाले अनेकानेक भावों की सर्जना-शक्ति[2] के साथ अभिन्न मानना युक्ति संगत है। दूसरा यह कि इस शब्द का अर्थ, प्रत्येक जीवधारी के अन्तस् में, जोवन-तत्त्व के रूप में अवस्थित रहने वाले 'परनाद'—अर्थात् अहं-भाव का पृष्ठपोषक[3] है। हमने उनके इस विचार की विस्तारपूर्वक विवेचना

व्याप्तिक हों, वे वास्तव में स्वरूपतः अभिन्न ही हुआ करते हैं। उल्लिखित प्रमाण-वाक्य के आधार पर श्रीसोमानन्द पाद ने 'अथ' शब्द के 'थकार' में वैसी ही शक्ति-भाव की व्यापकता को स्वीकारा है, जैसी कि 'अहं' परामर्श के 'हकार' में सर्वसम्मति से स्वीकारी जाती है। इसप्रकार उन्होंने समव्याप्तिकता के सिद्धान्त के आधार पर 'अथ' और 'अहं' को परस्पर अभिन्न एवं शिव-शक्ति-संघट्टरूपी अनुत्तर का वाचक सिद्ध कर दिया है। 'अकार' तो दोनों में शिव-वाचक है। ऐसा करके उन्होंने दो बातें सिद्ध की हैं—(१) जिस प्रकार 'अहं' अनुत्तर का वाचक है, उसी प्रकार 'अथ' भी है, (२) जिस प्रकार 'अहं' में परिपूर्ण अनुत्तर-भाव की व्यापकता है, उसी प्रकार 'अथ' में भी है। फलतः ये दोनों शब्द समव्याप्तिक होने के कारण एक ही लोकोत्तर अनुत्तर के वाचक हैं।

१. बहिर्मुखीन प्रसार की प्रक्रिया में अनुत्तर 'अ-कला' का पहला विकास 'आ-कला' मानी जाती हैं, क्योंकि अ + अ = आ बन जाता है। यह 'आ-कला' परमेश्वर की आनन्द-शक्ति की परिचायिका है और चित्-रूपता का पहला प्रसार आनन्द-शक्ति के रूप में ही होता है। यह आनन्द-शक्ति वह शक्ति है, जिसके द्वारा अनन्त एवं विचित्र रूपों वाले जड़-चेतन-समुदाय से भरी हुई विश्वमयता का सर्वतोमुखी विकास संभव हो जाता है।

२. जिस प्रकार 'अहं' परामर्श ही बहिर्मुखीन सृष्टि-शक्ति का वास्तविक रूप है, उसी प्रकार 'अथ' परामर्श भी सर्जना-शक्ति के साथ अभिन्न है। दोनों इसी 'आ-कला'-रूपिणी आनन्द-शक्ति के परिचायक हैं, क्योंकि आनन्द-शक्ति ही दूसरे शब्दों में सृष्टि-शक्ति है।

३. जब सोमानन्द पाद के कथनानुसार 'अथ' शब्द 'अहं' का समकोटिक शब्द होने के कारण स्वयं भी स्वरूपतः अनुत्तर ही है, तो इस शब्द से द्योतित होने वाला अनुत्तरीय अहं-भाव सर्वसाधारण प्राणियों की पाञ्चभौतिक कायाओं में अन्तर्निहित रहनेवाले 'अहं'—अंश का पृष्टपोषक अवश्य है।

यतो न साक्षात् वयमभिज्ञाः। तैस्तु तथाविधागम-साक्षात्कारिभिद् अनेक-युक्तिशत-सहिष्णुता सूत्रग्रन्थस्य सूत्रितैव। धूलिभेद-प्रदर्शनमपि तेनैवाभिप्रायेण तैरितश्च अमुतश्च विततम्। वयं तु तच्छासनपवित्रितास् तद्ग्रन्थ-ग्रन्थि-निर्दलनाभिलषित-स्वात्मपवित्रभावाः, तैः निर्णीतेषु एवमादिषु अर्थेषु उदासीना एव। धूलिभेदादिना च कल्पित-सामयिक-लिप्यपेक्षणं भवेदपि कस्यचिदुपायाय, न तु तत् सकल-देशकालगत-शिष्यविषयम्,—इति नास्माभिः वितत्य विपञ्चितम्। एतदनुभवयुक्त्यनुप्रविष्टानां च तदकार्यकरं, स्वकल्पनाभिश्च सुकल्प्यम्, अनवास्थतं च, अन्येषाञ्च एतदुपदेशानभिज्ञानां तदुपदेशनमपि

नहीं की, क्योंकि हमें वैसे किसी आगम-शास्त्र की साक्षात् जानकारी नहीं है। उन्होंने तो साक्षात् रूप में वैसे आगम-शास्त्र का अध्ययन किया था, जिसके फल-स्वरूप उन्होंने यह एक आवश्यक सिद्धान्त प्रस्तुत किया कि 'सूत्र-ग्रन्थ बहुत गम्भीर हुआ करते हैं, अतः उनकी व्याख्या सैकड़ों युक्तियों से की जा सकती है।' उन्होंने इसी सिद्धान्त के आधार पर, प्रस्तुत परात्रिंशिका और दूसरे तन्त्र-ग्रन्थों के शब्दों से, (दीक्षाओं के यज्ञीय कृत्यों में काम आने वाले पत्थर इत्यादि के) चूर्ण[1] के भेदों अथवा (विभिन्न सांकेतिक लिपियों में लिखे जाने वाले) मन्त्र-भेदों के अर्थ भी विस्तारपूर्वक निकाल लिये हैं। हम तो स्वयं उन्हीं की सीख से पवित्र हुये हैं और उनकी विवृति में कहीं-कहीं पर पाई जाने वाली गाँठों को खोलने से ही अपनी आत्मिक-शुद्धि भी चाहते हैं, अतः उनके द्वारा बताये गये ऐसे अर्थों के विषय में तटस्थ रहना हो अपने लिए श्रेयस्कर समझते हैं। हो सकता है कि भिन्न भिन्न प्रकार के चूर्णों के द्वारा किन्हीं कपोल-कल्पित और उनकी सम-सामयिक अथवा विशेष सांकेतिकता से युक्त लिपियों के लिखने की आवश्यकता, किसी विशेष व्यक्ति को लाभान्वित करने का उपाय बन सके, परन्तु वह प्रत्येक देश एवं काल के साथ सम्बन्ध रखनेवाले शिष्यों के लिए उपयोगी नहीं बन सकती, अतः हमने उस विषय का विस्तारपूर्वक परीक्षण नहीं किया। ऐसा करने में कोई सार भी नहीं, क्योंकि—(१) जो व्यक्ति आत्मिक-अनुभूति की युक्ति में पैठ गये हों, उनके लिए ऐसे पचड़े किसी काम के नहीं हैं, (२) निजी कपोल-कल्पनाओं से ऐसी बातों की कल्पनायें करना प्रत्येक व्यक्ति के लिए अति सुगम है, (३) ये बातें बिल्कुल अंड-बंड हैं, (४) त्रिक-संप्रदाय के बाहर के शिष्य त्रिक-

१. यहाँ पर मूल 'धूलिभेद' शब्द का ठीक तात्पर्य इस समय शायद ही कोई व्यक्ति बता सके, क्योंकि तत्कालीन पद्धतियाँ आजकल बिल्कुल लुप्त हैं। उल्लिखित दो अर्थ गुरु-संप्रदाय पर ही आधारित हैं। किसी किसी स्थान पर इस शब्द से न्यास के भेदों का अभिप्राय भी लिया जाता है।

अकिञ्चित्करम्,—इत्यलमनेन प्रकृतविघ्नविधायिना। प्रस्तुतमनुसरामः—

'अ' आद्यो येषां स्वराणाम्। यदि वा थकारेण सुखोच्चारणार्थेन सह 'अथ्' आद्यो येषाम्, इति। 'आद्य'—शब्दः च अत्र न व्यवस्थामात्रे, नापि

उपदेशों से बिल्कुल कोरे हैं, अतः उनको ऐसी बातों का उपदेश देने से भी कोई लाभ नहीं पहुँच सकता। अस्तु, इस विषय को यहीं पर समाप्त करके प्रकृत-विषय का तार पकड़ना ही ठीक रहेगा, नहीं तो इसमें गतिरोध[1] उत्पन्न होने की आशंका है॥

'अथाद्याः' शब्द की व्याख्या।

१. **अथ + आद्याः = 'अ' आद्यो येषाम्। (अथ + अ + आद्याः)**

इसमें 'आद्याः' शब्द उस स्वर-समुदाय की ओर संकेत कर रहा है, जिसका पहला अक्षर 'अ' है।

अथवा

२. **अथाद्याः—'अथ्' आद्यो येषाम्। (अथ् + आद्याः)**

यदि 'अथ्[2]' शब्द में 'अ' कार के साथ हलन्त थकार को उच्चारण की सुगमता के लिए मिलाया हुआ मान लिया जाय, तो भी इकट्ठे 'अथाद्याः' शब्द से उसी 'अ' आदि वाले स्वर-समुदाय का बोध हो जाता है। 'आद्य' शब्द का

---

१. श्रीसोमानन्दपाद के द्वारा लिखी गई 'परात्रिशिकाविवृति', जिसकी गाँठों को खोलने के लिए ही अभिनव गुप्त जी को प्रस्तुत व्याख्या लिखनी पड़ी है, इस समय अप्राप्य है। उसमें वर्णित बातों के विषय में तब तक स्वतन्त्र रूप में कुछ नहीं कहा जा सकता, जब तक उसकी मूल-पुस्ती कहीं से हस्तगत न हो। साथ ही यह भी ज्ञात नहीं कि श्रीसोमानन्द के समय में वे कौन से आगम थे, जिनसे उन्होंने अपनी व्याख्या के लिए सामग्री का चयन किया था। अभिनव गुप्त जी के लिखने से ऐसा प्रतीत होता है कि वे आगम स्वयं अभिनव गुप्त जी के समय तक ही लुप्त हो गये थे।

२. यहाँ पर आचार्य जी ने 'अथाद्याः' शब्द का—'अथ् + आद्याः' ऐसा सन्धिच्छेद करके विवाद की जड़ को ही मूल से उखाड़ फैंका है। उन्होंने 'अथ' शब्द के स्थान पर अर्धमातृक थकारान्त 'अथ्' शब्द को स्थानापन्न किया है और अकार के साथ हलन्त थकार के प्रयोग का अभिप्राय सूत्रात्मक भाषा में अकार के उच्चारण को सुगम बनाना ही स्वीकारा है। इस दृष्टि से 'अथ्' और 'अ' में कोई अर्थभेद नहीं रहने दिया है और फलतः 'अथ् + आद्याः' का अर्थ अकार आदि वाले (स्वर) लगा दिया है।

सामीप्यादौ, अपि तु 'आदौ भव आद्यः'। तथाहि—

अमीषां वर्णानां परावाग्भूमिरियमिह निर्णीयते यत्रैव एषाम् असामयिकं, नित्यम्, अकृत्रिमं, संविन्मयमेव रूपम्। संविन्मये च वपुषि सर्वसर्वात्मकता सततोदितैव। सा च परमेश्वरी परा-भट्टारिका तथाविधनिरतिशयाभेद-भागिन्यपि, पश्यन्त्यादिकाः पराभट्टारिकादिस्फाररूपा अन्तःकृत्य, तत्तद-

---

प्रयोग यहाँ पर 'अकार' को शेष स्वरों की अपेक्षा मुख्यता की व्यवस्था प्रदान करने या इसकी शेष स्वरों के साथ समीपता इत्यादि द्योतित करने के अर्थ पर नहीं, अपितु 'आदौ भव आद्यः' इस विग्रह के आधार पर परा-वाणी की आदि-सिद्धिता को द्योतित करने के अभिप्राय पर ही हुआ है। इस बात को नीचे स्पष्ट किया जा रहा है—

अब आगे इस सारे वर्ण-सामाम्नाय की उस मूल भूमि पर परा-वाणी का निरूपण किया जा रहा है, जिसमें इन सारे वर्णों का रूप असांकेतिक, शाश्वतिक, अकृत्रिम और संवित्-मय ही होता है। उस संवित्-मय रूप में सर्वसर्वात्मकता भी हमेशा उदीयमान अवस्था में ही होती है। यद्यपि वह परमेश्वरी परा-भट्टारिका उस अवर्णनीय और अतिशयहीन अभेद के ही स्वभाववाली है, तो भी परापरा[1] और अपरा भट्टारिकाओं (पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी) के रूपवाले

---

१. वाच्य-वाचकमय विश्व की चार वाणियों के स्तरों पर अवस्थिति—

वाणियाँ	वाच्य और वाचक की स्थिति	शास्त्रीय न्याय का सादृश्य	शक्ति का रूप	दशा
परा	वाच्य और वाचक की संविन्मयी एकाकारता	मोर के अंडे में द्रव-रूप में ही वर्तमान मोर और उसका बहु-रंगापन	परा	भेद की पूर्ण अस्फुटता
पश्यन्ती	एकाकारता में ही भेद का आसूत्रण	बरगद के छोटे से बीज में वर्तमान रहने वाला बड़ा वृक्ष	परापरा प्रारम्भिक अवस्था	भेद स्फुटता के अभिमुख
मध्यमा	दोनों का अलगाव परन्तु अन्तःकरण का एक ही आधार	मटर की फली, जिसमें दाने अलग अलग होते हैं, परन्तु दिखाई नहीं देते हैं	परापरा पूर्ण अवस्था	भेद अन्तः-करण में ही तनिक स्फुट
वैखरी	पूरा स्पष्ट भेद वाचक मुख में वाच्य-काया से बाहर	मटर की फली को तोड़ कर निकाले हुए अलग अलग दाने	अपरा	भेद पूर्ण स्फुट

नन्तवैचित्र्यगर्भमयी। नहि—'तत्र यन्नास्ति तत् क्वाप्यस्ति'—इति न्याय्यम्। परामृशत च प्रथमां प्रतिभाभिधां सङ्कोच-कलङ्क-कालुष्य-लेशशून्यां भगवतीं संविदम्। तथाहि—

यत्किञ्चित् चरमचरं च तत् पारमार्थिकेन अनपायिना रूपेण, वीर्यमात्र-सारात्मना तदुद्भविष्यद्-ईषदस्फुटतम-ईषदस्फुटतर-ईषदस्फुटादि-वस्तुशत-

---

अपने ही रूपविस्तार को भी स्वरूप में ही धारण करने के हेतु से अनन्त प्रकार की विश्वमयी विचित्रताओं को भी अपने गर्भ में ही लिए हुए भी वर्तमान है। यह कहना कि—'जो कुछ परा-भाव में नहीं है, वह और कहीं (परापरा-भाव या अपरा-भाव में) होगा' कतई ठीक नहीं है।

श्रेय एवं प्रेय पाने के लिए अभिनव का सुझाव

इस प्राथमिक-प्रतिभा के नाम वाली और सङ्कोच के दाग की धुँधलाई के न्यूनतम अंश से भी विहीन भगवती परा-संवित् का अनुसन्धान करते रहिये। कहने का तात्पर्य यह कि—

जो कुछ भी चेतन या जड़रूप में वर्तमान है, वह सारा भगवान् भैरव-भट्टारक के ही स्वरूपवाली परासंवित् में, पारमार्थिक, अविनश्वर, मात्र अहंवीर्य के ही सार वाले और सर्जना का विषय बननेवाले सैकड़ों पदार्थों के तनिक[1]

---

१. यहाँ पर तनिक अस्फुटतम इत्यादि तीन शब्दों से किसी पदार्थ या ज्ञान के स्पष्ट बहिरङ्ग रूप में अंकुरित होने तक की पूर्ववर्तिनी तीन अवस्थाओं का अभिप्राय लिया जाता है। किसी भी पदार्थ या ज्ञान को संवित्-भाव से अलग होकर स्थूल बहिरङ्ग रूप में अंकुरित होने तक विकास की इन तीन अवस्थाओं को पार करना पड़ता है। स्थूल रूप में अंकुरित होने के अनन्तर भी स्फुटता के अभिमुख, तनिक स्फुट और पूर्ण स्फुट इन तीन अवस्थाओं को पार करने के उपरान्त ही वह स्पष्ट आकार-प्रकार वाले बहिरङ्ग स्थूल रूप में विकसित हो जाता है। संहार के अवसर पर भी इन्हीं छः अवस्थाओं को विलोम रीति से पार करने के उपरान्त ही अपने मौलिक संवित्-भाव में पुनः विश्रान्त हो जाता है। इन छः अवस्थाओं के युग्मों के अन्तरालवर्ती संधि-क्षणों में उस पदार्थ या ज्ञान की मौलिक संवित्-रूपता स्पष्ट रूप में प्रकाशमान होती है। साधारण जीव-व्यवहार में जब तक तीव्रतम अवधानात्मक अन्तर्बोध विकसित न हुआ हो तब तक न तो इन अन्तरालवर्ती संधि-क्षणों और न इनमें विशुद्ध रूप में प्रकाशमान रहनेवाली संवित्-रूपता का आभास-मात्र ही मिलने पाता है। सद्-गुरुओं के द्वारा बताई गई युक्ति से तीव्रतम अवधान का अभ्यास हो जाने पर प्रत्येक पदार्थ को सृष्टि और

सृष्टिकाल-उपलक्ष्यमाण-तत्तदनन्त-वैचित्र्य-प्रथा-उन्नीयमान-तथाभावेन संविदि भगवद्भैरवभट्टारकात्मनि तिष्ठत्येव। तथावधानातिशतरूढैः सहसैव सा सर्वज्ञताभूमिरसंकुचितपरमार्था, अकृत्रिमतद्रूपा अधिशय्यत एव परानुग्रह-पवित्रितैः, अभ्यासक्रम-शाण-निघर्ष-निष्पेषित-तत्तदप्रत्ययरूप-कम्पाद्यनन्तापर-पर्याय-विचिकित्सामलैः। सविचिकित्सैरपि प्रतिभात-क्रियन्मात्र-वस्तु-सत्यता-

---

अस्फुटतम, तनिक अस्फुटतर और तनिक अस्फुट इन रूपों वाले सृष्टि-विकास के क्रमिक स्तरों के अवसरों पर, उन पदार्थों की अनन्त प्रकारों वाली विचित्रता की उपलब्धि हो जाने से हो (अकस्मात्) उनके मौलिक संवित्-रूप पर पहुँचाने वाले रूप में वर्तमान ही है। संवित् की प्रकाशमानता के इन क्षणों को निभालने में तीव्रतम मनोयोग को बरतने के अभ्यासी व्यक्तियों को, वह सङ्कोचों से रहित परमार्थ का रूप धारण करनेवाली सर्वज्ञता की भूमिका, अपने असली रूप में सहसा पकड़ में आ जाती है। कारण यह कि एक ओर ऐसे जनों के अन्तःकरण परा-शक्ति के तीव्रतम शक्तिपात से पवित्र हुए होते हैं और दूसरी ओर उन्होंने आत्मिक अविश्वास के रूप में प्रकट होने वाले और 'कम्प' इत्यादि अनेक शास्त्रीय नामों से पुकारे जाने वाले शंकारूपी मलों को, अभ्यास-क्रम के सान पर घिस घिस कर पीस दिया है। दूसरी ओर जिन व्यक्तियों के अन्तःकरणों पर अभी सन्देहों के मल की परतें जमी ही हों, उनको भी (किन्हीं[1] विशेष अवसरों पर और विशेष परिस्थितियों में) इस सर्वज्ञता की भूमिका का साक्षात्कार तो होता रहता है, परन्तु मौलिक अकृत्रिम रूप में नहीं, अपितु आये दिन अनुभव

संहार के साथ सम्बन्धित इन्हीं अवस्थाओं के अंतरालों में मौलिक संवित्-भाव का साक्षात्कार आसानी से हो सकता है।

१. कोष्ठक में रखे हुए शब्द अपने नहीं, बल्कि श्री सद्-गुरु महाराज के मुखार-विन्द से प्रस्तुत प्रकरण पर व्याख्यान देने के समय अकस्मात् निकल पड़े हैं। उनके कथनानुसार इन विशेष अवसरों का वर्णन श्रीविज्ञानभैरव, श्रीयोगवासिष्ठ इत्यादि पुनीत ग्रन्थों में विस्तारपूर्वक किया गया है। श्रीविज्ञानभैरव के ७५वें श्लोक में वर्णित एक धारणा इसका ज्वलन्त उदाहरण है। इस धारणा के अनुसार यदि कोई व्यक्ति रात को सो जाने पर अभी पूरी तरह नींद के वश में न पड़ा हो, परन्तु उसकी ज्ञानेन्द्रियों का शब्द इत्यादि विषयों के साथ सम्बन्ध विच्छेद हुआ हो, ऐसे सन्धि-काल में उसके मन में जिस अवस्था का उदय हो जाये, उसी को पूरी सावधानी और अभ्यास के द्वारा पक्की कर लेने पर वह संवित्-भाव में प्रकाशित हो सकती है। श्रीयोगवाशिष्ठ के एक पद्य में भी ऐसा ही वर्णन मिलता है—

वलोकनेन कियन्मात्रदत्तसङ्कोचा, न तु अकृत्रिमा । यदाहुः श्रीकल्लटपादाः—

'त्रुटिपाते सर्वज्ञत्व-सर्वकर्तृत्व-लाभः ।'

इति ।

एवमेष स्वप्रकाशैकरूपोऽपि अर्थो युक्त्या प्रदर्श्यते—

यत् स्वसामर्थ्योद्भूत—उत्तरकालिक-अर्थक्रिया-योग्यतादिवश-निःशेष्यमाण-सत्यतावश-अवाप्त-अविचलसंवादं विरोधावभासिसम्मत-क्रमिक-विकल्प्यमान-नीलादि-निष्ठ-विकल्प-पूर्वभावि निर्विकल्प-संविद्रूपं, तत् विकल्पनीय-विरुद्धा-

---

में आने वाले भाव-समुदाय के अन्तर्वर्ती सत्य-तत्त्व को सीमित मात्रा में ही देख सकने के कारण, कुछ मात्रा तक सङ्कुचित रूप में ही। इस सम्बन्ध में श्री कल्लट पाद का यह कथन है—

'(प्राण एवं अपान की गति में) एक एक त्रुटि कम करते करते अन्त में सर्वज्ञता और सर्वकर्तृता की उपलब्धि हो जाती है।'

इस कथन के अनुसार यद्यपि यह उपरोक्त विषय स्वयं ही प्रकाशमान है, (अर्थात् परमेश्वर का अनुग्रह होने पर किसी के समझाने के बिना अपने ही विशुद्ध संवेदन के द्वारा स्वयं ही अनुभव में आ जाता है), तो भी (अन्वय[1] और व्यतिरेक[2] नामी) आनुमानिक युक्तियों के द्वारा इसका पूरा स्पष्टीकरण किया जा रहा है—

अन्वय-व्याप्ति ।

परा-संवित् का जो भी कोई,—(१) निर्विकल्प-भाव का प्रतिद्वन्द्वी समझे जाने वाले, क्रम सहित और विकल्पों का विषय बनने वाले नील इत्यादि पर ही

'निद्रादौ जागरस्यान्ते यो भाव उपजायते ।
तं भावं भावयन् साक्षादक्षयानन्दमश्नुते ।।

विशेष परिस्थितियों से सद्-गुरु महाराज का अभिप्राय यह है कि जब तक कोई व्यक्ति संयम, भक्ति और श्रद्धा के द्वारा हृदय को निर्मल बनाने पर तत्पर न हो, तब तक ऐसे सुअवसर यों ही नहीं आ सकते ।

१. किसी एक बात या अवस्था की निश्चित वर्तमानता से, उसी के साथ सम्बन्धित किसी दूसरी बात या अवस्था की निश्चित वर्तमानता का अनुमान लगाने को अन्वय-युक्ति कहते हैं ।

२. किसी एक बात या अवस्था के निश्चित अभाव से, उसी के साथ सम्बन्धित किसी दूसरी बात या अवस्था के निश्चित अभाव का अनुमान लगाने को व्यतिरेक-युक्ति कहते हैं ।

भिमत-नीलपीताद्याभास-विभागि भवति,—यथा चित्रज्ञान-शिखरस्थ-संविन्—

परिनिष्ठित रहने वाले सविकल्प-भाव का पूर्ववर्ती और स्वरूप-सत्ता[1] के सामर्थ्य से ही (घट, पट इत्यादि रूपों में) उद्भूत होने और उत्तर-कालिक अर्थ-क्रिया को सम्पन्न करने को योग्यता पर पहुँच जाने से प्रमेय रूप की उपयोगिता समाप्त हो जाने पर फिर अपनी संवादात्मकता[2] के साथ उसी मौलिक अविचल-भाव में विश्रान्त हो जाने वाला निर्विकल्प रूप है, निश्चय से वही रूप विकल्पों का विषय बनने वाले, निर्विकल्प-भाव का प्रतिद्वन्द्वी समझे जाने वाले और नीला, पीला इत्यादि प्रकार के आभास में अर्थात् सविकल्प-आभास में (नीर-क्षीर की

---

१. सविकल्प का पूर्ववर्ती निर्विकल्प-भाव स्वरूप की सत्ता के सामर्थ्य से ही विकल्पात्मक घट, पट आदि भावों के रूपों में उद्भूत हो जाता है। इसके दो तात्पर्य हैं। एक यह कि वास्तव में सारे प्रमेय पदार्थ और स्वरूप-सत्ता दो भिन्न पदार्थ नहीं हैं। स्वरूप-सत्ता भी मूलतः पारमेश्वरी स्वातन्त्र्य-शक्ति ही है। अतः सारे प्रमेय पदार्थ स्वरूप-सत्ता के सर्व-स्वतन्त्र सामर्थ्य से ही, स्वयं अपने मौलिक निर्विकल्प रूप को छोड़कर, प्रतिद्वन्द्वी सविकल्प रूप में उद्भूत होते रहते हैं। इस दृष्टि से निर्विकल्प-संवित् का सविकल्प प्रमेय रूप में विकसित हो जाना एक स्वाभाविक प्रक्रिया है। दूसरा यह कि प्रत्येक प्रमेय-पदार्थ में, अपने यथावत् प्रमेय रूप में प्रकाशित हो जाने का सामर्थ्य; स्वभावसिद्ध रूप में निहित ही होता है। इस सामर्थ्य को शास्त्रीय शब्दों में वेद्यता कहते हैं। प्रत्येक प्रमेय पदार्थ में यह एक ऐसा सामर्थ्य होता है कि वह अपने निश्चित नाम-रूपादि के अतिरिक्त और किसो नाम-रूपता का विषय बन जाना कदापि सहन नहीं करता। उदाहरणार्थ घट किसी के लाख चाहने पर भी अपने को पट कहा जाना या घट के अतिरिक्त और किसी पदार्थ की अर्थ-क्रिया करना कदापि स्वीकार नहीं करता। फलतः परा-शक्ति अथवा दूसरे शब्दों में स्वरूप-सत्ता ही प्रत्येक पदार्थ में वेद्यता के ही रूप में प्रतिसमय अवस्थित ही होती है और उसीका स्वतन्त्र सामर्थ्य उसके सृष्टि-संहार को सम्पन्न कर लेता है।

२. जब तक कोई भाव सविकल्प रूप में अवस्थित रहता है, तब तक उसके साथ तद्विषयक संवादात्मकता भी अवश्य साथ ही बनी रहती है। जब वही प्रमेय पदार्थ उस सविकल्प रूप में अपनी अर्थक्रिया को पूरी करने से चरितार्थ होकर पुनः अपने ही मौलिक निर्विकल्प रूप में विश्रान्त हो जाता है, तब उसके साथ तद्विषयक संवादात्मकता भी स्वयं ही विश्रान्त हो जाती है, क्योंकि एक तो उस भाव के विषय में सारी अपेक्षायें और सारे कुतूहल शान्त हुए होते हैं और दूसरा निर्विकल्पभाव में संवादात्मकता के लिए कोई स्थान हा नहीं होता।

मेचकबोधादि ।

तरह) घुल-मिल[1] कर वर्तमान ही रहता है। चित्र-ज्ञान,[2] शिखरस्थ[3]-ज्ञान और मेचक[4]-बोध इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं ।

१. त्रिक मान्यता के अनुसार प्रत्येक भाव के उद्भूत होने से पहले और विश्रान्त हो जाने के अनन्तर, अर्थात् निर्विकल्पमयी आदि-कोटि और अन्त-कोटि पर, उसकी स्थिति निश्चितरूप से चित्-रसरूपिणी ही होती है। ऐसी परिस्थिति में उसी भाव की मध्यकोटि, अर्थात् अर्थ-क्रिया के योग्य सविकल्प रूप, चित्-रस-रूपता से रहित कैसे हो सकती है ? वस्तुस्थिति तो यह है कि प्रत्येक भाव स्वरूप-सत्ता से ही मध्यकोटि पर व्यक्त एवं ससंवाद नाम-रूपात्मक सविकल्परूप को धारण करने से चित्-रस-सागर में उठने वाले बुलबुले की स्थिति को अपना लेता है । समुद्र का पानी और बुलबुला दो अलग पदार्थ हो ही नहीं सकते । इसी प्रकार कोई भी पदार्थ और चित्-रस दो भिन्न पदार्थ हो ही नहीं सकते । फलतः आनुमानिक युक्ति से यह सिद्ध हो जाता है कि समूचा प्रमेय विश्व तीनों ही कोटियों पर चित्-रस-रूपी है—'आदावन्ते चिद्रसरूपता—मध्ये चिद्रसबुद्बुदरूपता' ।

२. किसी चित्र को देखने के प्राथमिक क्षण पर चित्रगत रेखाओं, रंगों और आकार के वैविध्य में भी उत्पन्न होनेवाली विभागहीन और विशुद्ध अथवा विकल्पहीन चित्ररूपिणी प्रतीति को 'चित्रज्ञान' कहते हैं। यदि भगवान् शंकर के चित्र पर अकस्मात् दृष्टि पड़े तो नजर पड़ने के प्राथमिक क्षण पर, मन में, भगवान् के विभागहीन एवं सामान्याकार शंकररूप की ही प्रतीति उत्पन्न हो पाती है, यद्यपि उसी क्षण पर उसी चित्र में अनेक प्रकारवाली रेखाओं, रंगों और आकार-प्रकार की विशेषतायें भी विद्यमान ही होती हैं। तात्पर्य यह कि चित्र-ज्ञान में विभागात्मकता और विभागराहित्य का एक नीरक्षीरात्मक संमिश्रण प्रतिसमय वर्तमान ही होता है। ठीक इसी प्रकार प्रत्येक पदार्थ के मौलिक निर्विकल्प रूप में ही उसके सविकल्प और सविकल्प में ही निर्विकल्प का नीरक्षीरात्मक सम्मिश्रण प्रतिसमय वर्तमान ही होता है ।

३. यदि कोई व्यक्ति ऊँचे पहाड़ की चोटी पर खड़ा होकर सामने के नगर पर सहसा दृष्टि डाले, तो देखने के प्राथमिक क्षण पर उसके मन में, नगर में विद्यमान मकानों, वृक्षों, सड़कों या नदियों इत्यादि के वैविध्य में भी, विभागहीन एवं सामान्याकार नगर की संवित्ति उत्पन्न हो जाती है। इस संवित्ति को 'शिखरस्थ-ज्ञान' कहते हैं।

४. मोर के पिच्छ को देखने के प्राथमिक क्षण पर, उसमें विद्यमान इन्द्रधनुष के जैसे रागात्मक वैविध्य में भी, मन में उदित होनेवाले विभागहीन एवं सामान्याकार पिच्छरूपिणी संवित्ति को 'मेचक-बोध' कहते हैं। इन तीनों ज्ञानों में पाया जाने वाला सामान्य एवं विशेष का नीरक्षीरात्मक सम्मिश्रण कदापि अलगाया जाना सम्भव ही नहीं

यत्तु तद्विरुद्धरूप-नीलपीताद्याभासाविभक्तं न भवति, तद् अनन्त-स्वसामर्थ्योद्भूत-नीलपीताद्याभास-विकल्प-पूर्वभाग्यपि न भवति,—यथा नीलैकसाक्षात्कारि ज्ञानम्। भवति च इदम् अस्तमित-उदेष्यद्-उभय-विकल्पज्ञान-अन्तरालवर्ति उन्मेष-प्रतिभादि. शब्दागमगीतं, निर्विकल्पकं, ससंवाद-विरुद्धाभिमत-नीलादि-विकल्प-पूर्वभावि, तस्मात् तत्तद्-अनन्तावभास-अविभागमयम् एव—इति। उभयोश्च ज्ञानयोरन्तरालम्-अनपह्नवनीयं,—

व्यतिरेक व्याप्ति।

इसके प्रतिकूल जो कोई भी रूप, निर्विकल्प के प्रतिकूल रूप वाले और नीला, पीला इत्यादि प्रकार के सविकल्पक-आभास में घुल-मिलकर वर्तमान न रहता हो, निश्चय से वह रूप, स्वरूप-सत्ता के सामर्थ्य से ही उद्भूत होने वाले एवं अनगिनत नीला, पीला इत्यादि रूपों वाले सविकल्पक-आभास के पूर्वकाल में भी अस्तित्व में ही नहीं होता है। 'नील[1] के, मात्र नीलेपन का साक्षात्कार करानेवाला ज्ञान'—इसका उदाहरण बन सकता है।

वस्तुस्थिति तो यही है भी कि विश्रान्त होने वाले और उदित होने वाले ज्ञान-युग्म के अन्तरालवर्ती सन्धि-क्षण में प्रकाशमान रहनेवाली और प्रक्रिया-शास्त्रों में 'उन्मेष-संवित्', 'प्रातिभ-संवित्', इत्यादि नामों के द्वारा वर्णन की गई यह निर्विकल्प-संवित्, अवश्य ही, अभिलापात्मकता से युक्त, निर्विकल्प-भाव की पूर्ववर्तिनी (उसीका पूर्वरूप) होती है, इसलिए भिन्न भिन्न आकार-प्रकारों वाले अनगिनत (सविकल्पक) आभासों में, स्वयं विभागहीन रूप में व्याप्त होकर ही रहती है। दो ज्ञानों के मध्यवर्ती अन्तराल को तो मिथ्यावाद ठहराया

है। यही बात निर्विकल्प और सविकल्प के घोल पर भी लागू हो जाती है।

१. इस उदाहरण पर गम्भीर विचार करने के फलस्वरूप ऐसा लगता है कि शायद भगवान् अभिनव को ज्ञान का कोई ऐसा रूप अनुभव में ही नहीं आया होगा, जिसका सविकल्प-रूप में अस्तित्व तो हो परन्तु आदि-कोटि और अन्त-कोटि निर्विकल्प न हो। ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने केवल ऐसा उदाहरण प्रस्तुत करने के अभिप्राय से ही इस उद्धरण-वाक्य की कल्पना की है। उदाहरण का अध्ययन करने पर यह बात स्वयं ही स्पष्ट हो जाती है कि ऐसे किसी ज्ञान को ज्ञान का नाम देना ही असंगत है, जोकि नीलेपन का साक्षात्कार तो कराये, परन्तु साथ ही पीला, लाल इत्यादि को जानने में असमर्थ हो। ऐसा ज्ञान न तो सविकल्प रूप में और न निर्विकल्प रूप में ही वर्तमान हो सकता है।

ज्ञानयोर्भेदादेव। तच्च संविदात्मकमेव, अन्यथा तेनैव संवित्संस्कारोच्छेदे स्मरणाद्यनुसन्धानाद्ययोगः—इति प्रतिभाख्यस्य धर्मिणः सर्ववादिनः प्रति अविवाद एव, इति न असिद्धिः। संकेत-व्युत्पत्तिकालानवलम्बनाच् च अस्य अविकल्पकत्वमेव। सहजासामयिकतया परामर्शयोगो हि जड-विलक्षण-संविद्रूप-नान्तरीयको न विकल्पत्वं—भेदानुल्लासात्। भेदसारतालब्धतया तु अर्थभावं कुर्यात्। विकल्पानां च अविकल्पं विना नोदयः, अस्वातन्त्र्यात्, अस्वातन्त्र्यं च संकेतादिस्मरणोपायत्वात्, संकेतादिस्मरणं च तथा अनुभवं विना कुतः?

नहीं जा सकता, क्योंकि (विश्रान्त एवं उदित होने वाले) दो ज्ञान आपस में अवश्य भिन्न होते हैं। वह अन्तराल भी संवित्-मय ही होता है, क्योंकि यदि वैसा न होता तो उस सर्वशून्यरूपी अन्तराल की खाई में ही पूर्वकालिक ज्ञान के संस्कारों का[1] उच्छेद हो जाता और परिणामतः उसकी अपरकालिक स्मृति या अनुसन्धान इत्यादि संभव ही नहीं होता। इसी कारण से (बौद्धों के बिना अन्य) सारे मत-वादी एकमत होकर प्रतिभा नाम वाले धर्मी को स्वीकारते हैं, अतः उसको असिद्ध माना नहीं जा सकता। इस प्रातिभ-ज्ञान का रूप केवल विशुद्ध निर्वि-कल्प भाव ही होता है, क्योंकि यह सांकेतिकता, शाब्दिक व्युत्पत्ति और किसी प्रकार के काल-क्रम पर निर्भर होता ही नहीं। यह भी निश्चित है कि स्वा-भाविक एवं असांकेतिक होने के कारण पारमेश्वर विमर्श के साथ जुड़ा हुआ होना ही इसको जड़-भाव से अलग कर देता है और संवित्-रूपता के साथ अभिन्न ठहराता है। फलतः इसको विकल्प का नाम दिया ही नहीं जा सकता, क्योंकि इसमें भेद-भाव का उल्लास ही नहीं होने पाता। हाँ (निजी स्वातन्त्र्य से ही) भेद-भाव के सार को अङ्गीकार करने पर तो (सविकल्प) अर्थ-क्रिया को भी सम्पन्न कर लेता है। विकल्प भी तो निर्विकल्प-भाव की आधारिता के बिना उठ नहीं सकते, क्योंकि ऐसा करने में वे स्वतन्त्र नहीं हैं—अस्वतन्त्र भी इस लिये हैं कि सांकेतिकता इत्यादि का स्मरण ही तो उनके उद्भव का मात्र

१. पूर्वकालिक ज्ञानों के संस्कार अपरकालिक स्मृतियों या अनुसंधानों को जन्म देते रहते हैं। उनको अपरकाल पर पहुँचने तक ज्ञानयुग्मों के मध्यवर्ती न जाने कितने अन्तरालों को पार करना होता है। वे तो स्वतः जड़ होने के कारण स्वयं ऐसा नहीं कर सकते। अतः यह निश्चित है कि इन अन्तरालों में प्रकाशमान रहनेवाली कोई चेतना-शक्ति ही उनको अपरकाल के साथ संयुक्त करा लेती है। यदि अन्तराल को संवित्-मय न माना जाकर एक सर्वशून्य दरार जैसा ही मान लिया जाये, तो वे जड़ संस्कार उसी में पूर्ण रूप से उच्छिन्न होकर अपर-काल तक पहुँचने ही नहीं पायेंगे और

संविदश्च प्रागुक्तन्यायेन कालादिपरिच्छेदाभावः,—इति एकैव सा पारमेश्वरी प्रतिभा अस्मदुक्तिमाहात्म्यकल्पिता एवंविधा-अपरिच्छिन्न-स्वभावापि सर्वात्मैव। मध्येऽपि वर्तमान-भूत-भविष्यद्रूप-विकल्पान्तर-प्रसवभूरेव। तथा च विवेक-कुशलैर् 'आलयविज्ञानम्' एवोपगतमेवम्। ससंवादत्वञ्च तदनन्तरभाविनां

उपाय है, सांकेतिकता इत्यादि का स्मरण भी तब तक कैसे संभव हो सकता है, जब तक उसके मूल में साक्षात् अनुभव[1]-ज्ञान की प्रेरणा न हो ? संवित् के स्वरूप में भी, पूर्वोक्त नीति के अनुसार, काल इत्यादि से कोई इयत्ता उत्पन्न नहीं होने पाती, अतः केवल वह एक ही पारमेश्वरी प्रतिभा (परा-वाक्), जिसका स्वरूप हमारे वर्णन की महिमा से स्पष्ट हो गया है, ऐसी इयत्ताओं से रहित स्वभाववाली[2] होने पर भी सर्वात्ममयी[3] ही है। 'मध्य'—अर्थात् सविकल्प दशा में भी वर्तमान, भूत और आगामी रूपों वाले विकल्पों और उनसे जनित दूसरे विकल्पों के उपज की भूमिका भी वह स्वयं[4] ही है। इसी कारण से

फल यह होगा कि स्मृतियों और अनुसंधानों को जन्म ही नहीं मिलेगा।

१. किसी भी पदार्थ का पहली बार साक्षात्कार हो जाने को प्राथमिक अनुभव कहते हैं। प्राथमिक अनुभव से ही प्रमाता के संवेदन में साङ्केतिकता का उदय हो जाता है। संसार में आये दिन जितने भी विकल्पमय आदान-प्रदान होते रहते हैं, उनके मूल में इन्हीं प्राथमिक अनुभवों से जन्य अपरकालिक स्मृतियाँ ही कार्यनिरत होती हैं। किसी भी प्राथमिक अनुभव के पहले ही क्षण पर अनुभव का विषय बनने वाले पदार्थ का साक्षात्कार बिल्कुल नाम-रूपादि से रहित विशुद्ध निर्विकल्प रूप में ही हो पाता है। दूसरे क्षण पर वही निर्विकल्प अनुभव सविकल्प-ज्ञान में परिणत हो जाता है और अनुभावी के संवेदन में उसी पदार्थ के साथ सम्बन्धित नाम-रूपात्मकता, अर्थात् विकल्पात्मकता का उदय हो जाता है। फलतः विकल्पात्मकता के मूल में सांकेतिकता की स्मृति और उसके भी मूल में प्राथमिक विकल्पहीन अनुभव-ज्ञान जब तक क्रियाशील न हो, तब तक न तो संकेत की स्मृति और न अपरकालिक विकल्पज्ञान का ही उदय हो सकता है।

२. मूल 'एवंविधापरिच्छिन्नस्वभावापि' शब्दों में प्रातिभ-संवित् के विश्वोत्तीर्ण रूप का संकेत भरा हुआ है।

३. मूल 'सर्वात्ममयी' शब्द प्रातिभ-संवित् के विश्वमय रूप का परिचायक है। प्रातिभ-संवित् अथवा परा भगवती ही तो विश्व के प्रत्येक पदार्थ में आत्मा बनकर अवस्थित है।

४. त्रिक मान्यता के अनुसार परा भगवती को केवल निर्विकल्प-भावमयी समझना

विकल्पानां दर्शितमेव, इति नासिद्धो हेतुः साध्यधर्मिणि। न च एकावभासि-विकल्पसंविभागकारिणि अविकल्पके, अविपक्षे सदा वा कदाचिदपि वा वर्तते। न च ततोऽस्य व्यावृत्तिः संदिग्धा–इति न विरुद्धो, नानैकान्तिको न संदिग्ध-

तात्त्विक-ज्ञान की विवेचना करने में पटु लोगों ने दरअसल 'आलय-विज्ञान' के सिद्धान्त को इसी रूप में स्वीकारा है। इस तथ्य की विवेचना पहले ही की गई है कि आलय-विज्ञान रूपी निर्विकल्प-ज्ञान के अनन्तर उद्भूत होनेवाले विकल्पों का अभिलाप के साथ आवश्यक योग होता है। इन कारणों से '[1]साध्यधर्मी'—अर्थात् प्रातिभ-संवित् को (आनुमानिक युक्ति के द्वारा) सिद्ध करने के लिए प्रस्तुत किया गया हेतु किसी भी प्रकार से 'असिद्ध-हेतु' नहीं है। इस कथन में भी कोई सार नहीं कि यह प्रतिभा-ज्ञान, सदा एक ही रूप में प्रकाशमान रहनेवाले, स्वरूप में ही विकल्पात्मक विभाग को उपजाने वाले और विरोधी न समझे जाने वाले निर्विकल्प-भाव पर हमेशा टिका रहता है, अथवा (अधिकांश सविकल्प-भाव पर अवस्थित रहता हुआ) कभी[2]-कभार ही इस निर्विकल्प स्थिति को अपना लेता है। साथ ही इसका, सविकल्प-भाव से [3]निवृत्त होना भी संशयास्पद नहीं है, अतः प्रस्तुत किया गया हेतु किसी भी प्रकार से विरुद्ध[4], अनैकान्तिक और

सरासर भूल है। वास्तव में वह तभी निर्विकल्प है, जब कि स्वयं ही सविकल्प भी है। इसकी सविकल्प अवस्था भी तभी सम्भव हो सकती है, जब कि स्वयं निर्विकल्प रूप में अवस्थित रहकर उसको सत्ता प्रदान करती है। अतः यह स्वयं निर्विकल्प एवं सविकल्प भी है। इसका यह भी अभिप्राय निकलता है कि यह इन दोनों अवस्थाओं से उत्तीर्ण एक 'अनाख्य सत्ता' ही है।

१. आनुमानिक युक्ति के द्वारा जिस पदार्थ की सिद्धि करना अभिप्रेत हो, उसको न्याय-शास्त्र के पारिभाषिक शब्दों में साध्यधर्मी अथवा केवल साध्य कहते हैं।

२. ज्ञान भी मात्र निर्विकल्प ही नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वैसी अवस्था में जब ज्ञान निर्विकल्पता से सविकल्पता की दशा पर प्रसार ही न करे तो विश्वमयता सिद्ध ही कैसे हो सकती है? परन्तु विश्वमयता और इसमें चलनेवाला सविकल्प व्यवहार तो प्रत्यक्ष है। इसको झुठलाया भी कैसे जा सकता है? अतः ज्ञान युगपत् ही निर्विकल्प एवं सविकल्प भी है।

३. एक अवस्था से दूसरी अवस्था में प्रसार करके फिर अपनी मौलिक अवस्था में प्रत्यावृत्त होना। प्रातिभ-ज्ञान के सन्दर्भ में इस प्रकार भी कहा जाता है—निर्विकल्प एवं सविकल्प दोनों भावों से निवृत्त होकर केवल इन दोनों की समरसता की स्थिति को अपनाना।

४. विरुद्ध इत्यादि न्याय-शास्त्र के पारिभाषिक शब्द हैं। इनसे किसी साध्य को सिद्ध करने के लिए प्रस्तुत किये जानेवाले हेतुओं में पाये जाने वाले दोषों का अभिप्राय है। दुष्ट हेतु को वहाँ के शास्त्रीय शब्दों में हेत्वाभास कहते हैं।

विपक्षव्यावृत्तिः। दृष्टान्तधर्मिणि अपि चित्र-ज्ञानादौ हेतोरेवमसिद्धतादिदोषाः परिहृता भवन्त्येव। हेतुदोषेषु परिहृतेषु दोषा निरवकाशा एव, इत्यादि बहु निर्णीतम् अपरैरेव,—इति किं तदनुभाषणक्लेशेन ? सिद्धं हि तावदेतत्—

यत्प्रातिभं निखिलवैषयिकावबोध-
पूर्वापरान्तरचरं निखिलात्मकं तत्।
तस्यां प्रलीनवपुषः परशक्तिभासि
ग्लानिर्घटेत, किमभाववशोपक्लृप्त्या ? ॥
शरीरप्राणादौ परघनसुखास्वादपटल-
मनालोच्य स्वस्मिन् स्पृशति हृदये ग्लानिमसमाम्।
प्रविष्टा चेदन्तर्निखिलजगतीसूतिसरसा
परा देवी हन्त, प्रविलसति पूर्णाहुतिरिव ॥

संदिग्धविपक्षव्यावृत्ति भी नहीं ठहराया जा सकता है। पूर्वोक्त दृष्टान्तों के चित्र-ज्ञान इत्यादि धर्मियों के हेतु-दोषों का निराकरण भी इसी आनुमानिक युक्ति के द्वारा हो जाता है, क्योंकि प्रधान हेतु-दोषों का एक बार निराकरण हो जाने पर, प्रस्तुत किये जानेवाले दृष्टान्तों में उन्हीं दोषों के लिए अवकाश ही कहाँ हो सकता है ? अस्तु नैयायिक लोगों ने तो इस प्रकार की बहुत सी बातों का निर्णय स्वयं ही किया है, अतः उन बातों को फिर से दोहराने की जहमत लेने का लाभ ही क्या ? यह बात तो सिद्ध ही है—

'सारे शब्द, स्पर्श इत्यादि विषयों के साथ सम्बन्धित सविकल्प ज्ञानों की पूर्वकोटि, मध्यकोटि और अन्तकोटि में समान रूप से प्रसार करने के स्वभाव-वाला प्रतिभा-ज्ञान ही सर्वसर्वात्मक रूप में विकस्वर है। उस पराशक्तिरूपी आलोक-पुञ्ज में सर्वभाव से लीन होनेवाले व्यक्ति की मानसिक ग्लानि भी स्वयं ही नष्ट हो जाती है। अतः [1]अभाव की भावना करते-करते तन-मन सुखाने का लाभ ही क्या है' ?

'अज्ञानी पुरुष शरीर, प्राण इत्यादि रूपोंवाले मित-प्रमातृभाव में ही पार-मार्थिक वैभव से जनित रसमयता का छककर आस्वाद लेना भूलकर, अपने हृदय में अतिशय ग्लानि का बोझ ढोते रहते हैं। यदि सारी 'जगती'—अर्थात् जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और शून्य इन चार जगतों की (अथवा भव, अभव और अतिभव इन तीन लोकों की) सर्जना करने की आनन्दमयता से परिपूर्ण परा-देवी, किसी भाग्यशाली के हृदय में एक बार प्रवेश कर गई, तो हर्ष की बात यह है कि वह उस मानसिक ग्लानि की पूर्णाहुति जैसी बनकर विलास करती रहती है। इसी

१. यह अभाव-ब्रह्मवाद के प्रति कटाक्ष है।

तदुक्तं स्पन्दे—

'ग्लानिर्विलुण्ठिका देहे तस्याश्चाज्ञानतः सृतिः ।
तदुन्मेषविलुप्तं चेत् कुतः सा स्यादहेतुका ? ॥'

इति,

'एकचिन्ताप्रसक्तस्य यतः स्यादपरोदयः ।
उन्मेषः स तु विज्ञेयः स्वयं तमुपलक्षयेत् ॥'

इति च ।

मायीय-कार्म-मलमूलमुशन्ति तावद्-
आज्ञाननाम मलमाणवमेव भद्राः !
बीजं तदेव भवजीर्णतरोः परस्मिन्
संविन्निशातदहने दहते क्षणेन ॥

तथ्य को स्पन्द-शास्त्र में—

'ग्लानि तो काया के अन्दर रहकर ही अन्दर के सार-सर्वस्व को लूटती रहती है । वह स्वयं अज्ञान की प्रसूति है । यदि उन्मेष-संवित्ति (प्रातिभ-ज्ञान) के द्वारा अज्ञान को ही मटियामेट किया जाये तो वह कहाँ से प्रसृत हो सकती है ? क्योंकि उस दशा में उसके उत्पन्न होने का कोई कारण ही अवशिष्ट नहीं रहता ।'

और—

'किसी एक चिन्ता में डूबे हुए व्यक्ति के मन में जिस अलक्षित आत्मबल से, सहसा, कोई दूसरी चिन्ता उभर आती है, उसको 'उन्मेष-संवित्ति'—अर्थात् प्रातिभ-ज्ञान समझना चाहिये । उसकी टोह, निजी अनुसन्धान के द्वारा, अपने ही अन्तस् में लगानी चाहिये ।'

भद्र पुरुषों की मान्यता के अनुसार अज्ञान नामवाला आणव मल ही मायीय और कार्म नामवाले मलों का एकमात्र मूल कारण है । साथ ही यही वह मल है, जो कि (पहुँचे हुए महात्माओं में भी) संसारभाव के जीर्ण[1]-वृक्ष का बीज बनकर अवस्थित रहता है । यह मल केवल परा-संवित् रूपी प्रचण्ड आग की लपट में पड़कर ही क्षणमात्र में जलकर राख हो जाता है ।

---

१. सद्-गुरु महाराज के कथनानुसार यहाँ पर संसार को एक जीर्ण-वृक्ष का नाम ऐसे व्यक्तियों की अपेक्षा से दिया गया है, जिन्होंने साधना के बल से मायीय एवं कार्म इन दो मलों का नाश किया हो । जब तक मन में तीनों मल अवस्थित हों, तब तक न तो संसार-वृक्ष जीर्ण हो सकता है और न इसको वैसा नाम ही दिया जा सकता है । मायीय

यथाहुः—

'मलमज्ञानमिच्छन्ति संसाराङ्कुरकारणम् ।'

इति, तदेवोक्तम्—

'तदुन्मेषविलुप्तं चेत्'……।'

इत्यादिना, एवमेव च व्याख्यातम् । अतोऽन्यथा ग्लानेः विलोपकत्वम्, अस्याश्च अज्ञानतः सरणम्, अज्ञानस्य च उन्मेषेण विलोपः,—इति किं केन संश्लिष्टम् ? इति 'नृ……प' निरूपणप्रायमेव भवेत् ।

'सइ परिउण्णपमरु उत्ताण
उतहु गहि अबुण भज्जि अणिज्जइ ।
अजाणि अविहड्इ अञ्जाण
उजम्पु सु अच्छइ पूरि अकज्ज

जैसा कि (भगवान् शिव ने मालिनी में) कहा है—

'स्वरूप की वास्तविक निर्विकल्प स्थिति के अज्ञान को ही दूसरे शब्दों में 'मल'-अर्थात् आणव-मल कहते हैं। यह 'संसार'-अर्थात् मायीय-मल और उसके 'अंकुर'-अर्थात् कार्म-मल दोनों का मूल-कारण है।'

इसी मल को हटाये जाने के उद्देश्य से—

'यदि उन्मेष-संवित्ति के द्वारा उसको मटियामेट किया जाये……।'

इत्यादि सूत्रों में समझाया गया है और इसी रीति से इसकी व्याख्या भी की गई है। यदि वस्तुस्थिति इससे उल्टी होती तो ग्लानि में तहस-नहस करने के स्वभाव का होना[1], अज्ञान से इसका प्रसार में आना और उन्मेष-संवित्ति के द्वारा अज्ञान का गल जाना—इन बातों में से कौन किसके साथ मेल खाती ? फलतः यह सारा व्याख्यान 'नृ…[2]…प' इस प्रकार के बेसिर-पैर वर्ण-जाल की तरह बतबाती-मात्र होता।

एवं कार्म मलों के नष्ट हो जाने से ही इसके मूल उखड़ने लगते हैं और यह जीर्ण होने लगता है। आणव मल इसका बीज है। उसका नाश मनुष्य के प्रयत्नों से हो नहीं सकता। भगवती की अपार करुणा से ही उसकी निवृत्ति हो सकती है। वह तो संवित्-रूपी आग में जल जाने पर ही पुनः अङ्कुरित नहीं होने पाता।

१. त्रिक शास्त्रियों के मंतव्य का अभिप्राय यह कि स्वरूप का अज्ञान और उससे जन्य मानसिक ग्लानि भी अपने-अपने क्रियान्वयन में तभी सक्षम होते हैं, जब कि इनमें भी परा-शक्ति ही अज्ञान अथवा ग्लानि के रूप में ही अन्तर्निहित रहती है। अन्यथा ये दोनों स्वयं सत्ताहीन होते हुए चेतन के धर्म को कैसे निभा सकते ?

२. इसमें पूर्व 'शृणु' शब्द की व्याख्या में भी 'नृ……प' इन वर्णों का उल्लेख हो चुका है। इसका तात्पर्य यह कि 'नृ' और 'प' इन दो वर्णों का उच्चारण यदि एक

तदेवं भगवती परावाग्भूमिः, गर्भीकृत-स्वस्वातन्त्र्यसत्तोद्भविष्यत्-पश्यन्त्या-दिविनिविष्ट-परापराभट्टारिकादि-प्रसरा, तद्गर्भीकारवशाविवाद-घटित-सकल-भूत-भुवन-भावादि-प्रपञ्च-प्रबाधैक्य-चमत्कारसारा, परमेश्वर-भैरवभट्टारका-विर्भाव-प्रथित-तथाविधाद्भुत-भूत-परमार्थ-स्वरूपा, स्वात्म-विमल-दर्पण-निर्भासितानन्तसृष्टि-स्थिति-संहारैक्यमय-महासृष्टि -शक्तिर्—'आदिक्षान्तरूपा', 'अथाद्या'-इत्यादिना ग्रन्थेन निःशेषं भगवता निर्णीयते—इति स्थितम्। तदेवं ग्रन्थार्थो निर्णीयते—

फलतः वस्तुस्थिति इस प्रकार की है कि भगवान् (अनुत्तर-भैरव) 'अथाद्याः' इत्यादि सूत्रों में उसी भगवती परा वाणी की भूमिका का निरूपण कर रहे हैं, जो कि—

१. परापरा और अपरा भट्टारिकाओं, अर्थात् शक्तियों के रूपों वाले अपने बहिर्मुखीन प्रसार को, निजी स्वातन्त्र्य की सत्ता से ही उद्भूत होने वाली पश्यन्ती इत्यादि वाणियों के स्तरों पर उचित ढंग से ठहराने पर भी वास्तव में अपने ही गर्भ में धारण करने वाली,

२. इन शक्तिरूपों के प्रसार को अपने गर्भ में धारण करने के सामर्थ्य से ही सारे भूतों, भुवनों और नानाप्रकार के भावों इत्यादि के प्रपञ्च को, निर्विवाद रूप में, स्वयं सत्ता देकर, स्वयं ही इस अनेकाकारता में ज्ञानमयी एकाकारता के रस का आस्वाद लेने वाली,

३. अपने शक्तिरूप में ही भैरव-भट्टारक का आविर्भाव होने के कारण उसी के तुल्य अवर्णनीय, विस्मयावह, यथार्थ एवं पारमार्थिक स्वरूप को प्रकट करने वाली, और—

४. स्वरूप के ही अतिनिर्मल दर्पण में, अनगिनत सृष्टियों, स्थितियों और संहारों को (प्रतिबिम्ब रूप में) अवभासित करने पर, उस अनेकाकारता को भी एकाकारता के सूत्र में पिरोने वाली 'महासृष्टि-शक्ति' बनकर 'अकार' से लेकर 'क्षकार' तक के मातृका-समुदाय का रूप धारण करके अवस्थित है।

अतः ऐसी वस्तुस्थिति होने पर अब आगे सूत्र-ग्रन्थ का अर्थ बतलाया जा रहा है—

ही समय पर इकट्ठा किया जाये तो परस्पर सम्बन्धित होने से इनसे राजा का अर्थ बोध में आ जाता है। इसके प्रतिकूल यदि 'न्' वर्ण का उच्चारण किसी एक देश एवं काल में और 'प' वर्ण का उच्चारण किसी दूसरे देश-काल में किया जाये तो दोनों परस्पर असम्बद्ध होने के कारण किसी अर्थ को द्योतित नहीं कर सकते। फलतः ये दोनों निरर्थक वर्णमात्र होने के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं होंगे।

अकारादि-विसर्गान्तं शिवतत्त्वम्, कादि-ङान्तं धरादि नभोऽन्तं भूतपञ्चकम्, चादि-ञान्तं गन्धादि शब्दान्तं तन्मात्रपञ्चकम्, टादि-णान्तं पादादि वागन्तं कर्माक्षपञ्चकम्, तादि-नान्तं घ्राणादि श्रोत्रान्तं बुद्धिकरणपञ्चकम्, पादि-मान्तं मनोऽहंकारबुद्धिप्रकृतिपुरुषाख्यं पञ्चकम्, वाय्वादिशब्दवाच्या यादयो वकारान्ता रागविद्या-कला-मायाख्यानि तत्त्वानि ।

"धारयन्ति-पृथग्भूततया अभिमानयन्ति—इति धारणानि । द्वौ अत्र णिचौ

स्वर-व्यञ्जन समुदाय में ३६ तत्त्वों की व्यापकता ।

'अकार' से लेकर 'विसर्ग' तक का समूचा स्वर-समुदाय विशुद्ध शिव-तत्त्व का प्रतीक है । 'ककार' से लेकर 'ङकार' तक के पाँच वर्णों में क्रमशः पृथिवी से लेकर आकाश तक के पाँच महाभूत, 'चकार' से लेकर 'ञकार' तक के पाँच वर्णों में क्रमशः गंध से लेकर शब्द तक के पाँच तन्मात्र, 'टकार' से लेकर 'णकार' तक के पाँच वर्णों में क्रमशः पादों से लेकर वाणी तक की पाँच कर्मेन्द्रियाँ, 'तकार' से लेकर 'नकार' तक के पाँच वर्णों में क्रमशः नासिका से लेकर कानों तक की पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, 'पकार' से लेकर 'मकार' तक के पाँच वर्णों में क्रमशः मनस्, अहंकार, बुद्धि, प्रकृति और पुरुष ये पाँच तत्त्व और वायु, अग्नि, सलिल एव इन्द्र इन चार बीजमन्त्रों के द्वारा वाच्य 'य, र, ल, व' इन चार अन्तस्थ वर्णों में क्रमशः राग, विद्या, कला और माया ये चार तत्त्व व्यापक रूप में वर्तमान हैं ।

अन्तस्थों को धारण कहे जाने का आधार ।

धारणानि—धारयन्ति इति धारणानि ।

[1]धारण तत्त्व वे हैं, जो कि (पशुभाव में पड़े हुए शिव को ही आग्रहपूर्वक) अपनी पृथक्-सत्ता (जीव भाव) का झूठा अहंभाव धारण करने पर विवश बना देते हैं । इस शब्द में दो णिच् प्रत्यय लगाये गये हैं, क्योंकि इसमें प्रयोज्य[2]-प्रयो-

---

१. त्रिक-प्रक्रिया के अनुसार कला, विद्या इत्यादि कञ्चुकरूपी तत्त्व वास्तव में भगवान् की स्वतन्त्र शक्तियों के ही संसार-भाव के अनुकूल संकुचित रूपान्तर हैं । अतः ये उस रूप में जड़ नहीं, जिस रूप में प्रायः समझा जाता है । असल में यदि यह कहा जाये कि ये जड़-भाव का लबादा पहने हुए चेतना-पिंड ही हैं, तो कोई मिथ्यावाद भी नहीं है । यही कारण है कि ये जीवभाव में उतरे हुए शिव को ही जीवभाव में युगयुगों तक टिकाये रखने की क्षमता रखते हैं और इनमें पाई जाने वाली ऐसी क्षमता ही इनको 'धारण' कहे जाने का आधार है ।

२. जो कोई चेतनपिंड किसी दूसरे को कोई काम करवाने पर स्वतन्त्रता से विवश करे, उसको 'प्रयोजक' और जिसको विवश करे, उसको 'प्रयोज्य' कहते हैं । इन दोनों के

प्रयोज्य-प्रयोजक-भाव-द्वैरूप्यात्। तथाहि—

जक-भाव नामी सम्बन्ध की द्विरूपता पाई जाती है। जैसा कि स्पष्ट किया जा रहा है—

पारस्परिक सम्वन्ध को प्रयोज्य-प्रयोजक-भाव कहते हैं। संस्कृत व्याकरण के अनुसार प्रयोज्य-प्रयोजकरूपी अर्थ को अभिव्यक्त करने के लिये क्रिया के साथ प्रेरणार्थक 'णिच्' प्रत्यय का प्रयोग किया जाता है। भगवान् अभिनव का मत है कि प्रस्तुत प्रसङ्ग में भी 'धारणानि' शब्द के साथ दो प्रेरणार्थक 'णिचों' का प्रयोग किया गया है, क्योंकि यहाँ पर इस शब्द में प्रयोज्य-प्रयोजक-भाव की द्विरूपता पाई जाती है। वह द्विरूपता निम्नलिखित प्रकार से है—

(I) पहली अवस्था में भगवान् भैरव-भट्टारक अपने स्वातन्त्र्य से अपने ही असीम चित्, निर्वृत्ति, इच्छा, ज्ञान, एवं क्रिया इन पाँच शक्तिमुखों और स्वतः स्वातन्त्र्य-शक्ति को भी क्रमशः विद्या (अविद्यारूपिणी विद्या), कला, राग, काल, नियति और माया ये छः प्रकार के सङ्कुचित तत्त्वरूप धारण करने पर विवश करके, इन्हें इसी रूप में हठपूर्वक धारण करते हैं (अर्थात् टिकाये रखते हैं)। फलतः इस अवस्था में भगवान् अनुत्तर स्वयं प्रयोजक-सत्ता और ये कला इत्यादि तत्त्व प्रयोज्य-सत्ता की भूमिका निभाते रहते हैं।

(II) दूसरी अवस्था में भगवान् स्वयं, निजी स्वातन्त्र्य से ही; स्वरूप पर इन्हीं कला इत्यादि कञ्चुकरूपी छः तत्त्वों का लबादा डालकर संकुचित जीव का रूप भी धारण किये हुए हैं। इस पशुभाव (जीवभाव) की अवस्था में उनके ये अपने ही संकुचित शक्तिरूप षट्-कञ्चुक बन कर उनको (शिव को) ही युग-युगों तक जीव-भाव में ही टिके रहने पर, हठपूर्वक, विवश करते हैं। फलतः इस अवस्था में ये धारण-तत्त्व ही, प्रयोजक-सत्ता और पशुभाव की परवशता में पड़े हुए शिव ही प्रयोज्य-सत्ता की भूमिका निभाते हैं।

कहने का तात्पर्य यह कि पहली अवस्था में प्रयोजक पदवी पर अवस्थित अनुत्तर-भट्टारक अपनी प्रयोज्य शक्तियों के स्वतन्त्र अधिपति और दूसरी अवस्था में प्रयोज्य-पदवी पर अवस्थित शिव-पशु अपने ही प्रयोजक धारण-तत्त्वों के परवश दास बनकर अवस्थित हैं। इस षट्-कञ्चुक को शास्त्रीय शब्दों में अन्तरङ्ग-आवरण कहते हैं, क्योंकि यह जीव (पशु-आत्मा) को चारों ओर से घेरकर इस प्रकार चिपका रहता है कि बाहरी काया को देखने पर इसका कहीं आभास भी नहीं मिल पाता है। यही कारण है कि कोई भी जीवधारी अन्दर से ठीक वैसा ही नहीं होता, जैसा कि बाहरी आकार-प्रकार से दिखाई देता है।

ध्रियन्ते स्वात्मनि एव सर्वे भावाः प्रकाशात्मनि परमपरिपूर्णे पदे, भैरवात्मनि, सर्वात्मनि । यथोक्तं शिवदृष्टौ—

'आत्मैव सर्वभावेषु स्फुरन्निर्वृतचिद्वपुः ।
अनिरुद्धेच्छाप्रसरः प्रसरद्दृक्क्रियः शिवः ॥'

इति । यथोक्तं स्पन्दे—

'यत्र स्थितमिदं सर्वं……।'

इति । एवं स्वात्मन्येव प्रभास्वरे प्रकाशनेन ध्रियमाणान् भावान् धारयति स्व-

---

पहले 'णिच्' के प्रयोग की सार्थकता ।

तात्पर्य यह है कि वास्तव में सारे (कञ्चुकरूपी) भाव, उसी प्रकाशमयी आत्म-सत्ता का रूप धारण करने वाली, परम परिपूर्ण और सर्वमयी भैरवीय-भूमिका में धरे हुए ही हैं । जैसा कि शिवदृष्टि में कहा गया है—

'नित्यतृप्त एवं परिपूर्ण, केवल चित्ता के रूप वाले, स्वयं प्रकाशमान एवं सर्वव्यापक, इच्छा-शक्ति के निर्बाध प्रसार वाले और परा, परापरा एवं अपरा अवस्थाओं में समानरूप से ज्ञातृता और कर्तृता की प्रवहमानता से युक्त शिव (स्वात्म-महेश्वर), विश्व के प्रत्येक पदार्थ की आत्मा ही हैं ।'
जैसा कि स्पन्द-शास्त्र में भी कहा गया है—

'जिसमें यह समूचा कार्यरूपी प्रपञ्च धरा ही पड़ा है……।'

इस प्रकार से परमेश्वर, स्वयंसिद्ध आभा की छटा से छविमान स्वरूप में ही, प्रकाशित किये जाने के रूप में ही धारण किये जाने वाले भावों को, अप्रकाश-

---

प्रयोज्य-प्रयोजक-भाव की द्विरूपता

अनुत्तर-भाव

स्वातन्त्र्य-शक्ति

(I)	चित्	निर्वृति	इच्छा	ज्ञान	क्रिया
	सर्वज्ञता	सर्वकर्तृता	पूर्णता	नित्यता	व्यापकता
	प्रयोजक-सत्ता शिव……		………………	प्रयोज्य-सत्ता	शक्ति-परिवार

पशु-भाव

माया-तत्त्व

(II)	विद्या	कला	राग	काल	नियति
	अल्पज्ञता	अल्पकर्तृता	अपूर्णता	अनित्यता	अव्यापकता
	प्रयोजक-सत्ता षट्कञ्चुक……		………………	प्रयोज्य सत्ता	शिव-पशु

यमप्रकाशीभावेन--जडतास्वभाव-इदंभावास्पदता-प्रापणेन प्रकाशयति परमेश्वर एव, पुनरपि अहंभावेनैव आच्छादति। तदियं भगवत्सदाशिवेशदशा शुद्धविद्यामयी एकेन णिचा ध्वनिता।

तत्रापि च यद् इदन्ताया अहंतया आच्छादनं, तद् आच्छादनीयेदन्तोपपत्तौ उपपद्यते। न च शुद्ध-परमेश्वर-चिन्मय-रूपापेक्षं भिन्नप्रथात्मकम् इदन्ताख्यं रूपम् उपपद्यते,—इति आच्छादनीयोपपत्तौ तद्वशेन तदाच्छादकतापि अहं-

---

मानता के रूप में भी स्वयं ही धारणा किये हुए हैं। भाव यह है कि परमेश्वर उन (प्रकाशमय) भावों को, जड़ता के स्वभाव वाले इदं-भाव की पदवी पर लुढ़का कर, उस रूप में भी स्वयं ही प्रकाशित तो करते हैं, परन्तु तो भी उन पर अहं-[1]भाव का ही छाजन धरा रखते हैं। इस प्रकार एक 'णिच्' प्रत्यय के द्वारा भगवान् की शुद्धविद्यामयी सदाशिव[2]-दशा और ईश्वर-दशा अभिव्यक्त की गई है।

दूसरे 'णिच्' के प्रयोग की सार्थकता।

ऐसी वस्तुस्थिति होने पर भी यह बात विचारणीय है कि अहं-भाव का इदं-भाव को आच्छादित करके अवस्थित रहने ही बात भी तभी सिद्ध हो सकती है, जब कि इससे पहले ढाँपे जाने के योग्य इदं-भाव की ही सिद्धि की जाये। यदि परमेश्वर के निर्मल एवं चिन्मय रूप की अपेक्षा से सोचा जाय तो भेद-भाव के ही स्वरूप वाला इदंरूप स्वप्न में भी सिद्ध नहीं हो सकेगा। ऐसी परिस्थिति में जब ढाँपे जाने के उपयुक्त विषय की ही सिद्धि न होने पाये तो स्वभावतः अहं-भाव की आच्छादकता भी काहे से सिद्ध होगी? फलतः उस प्रकार के स्वभाव[3] वाले ईश्वरीय बोध की सिद्धि भी संशय में पड़ जायेगी। ईश्वरीय बोध

---

१. घट, पट रूपों वाले सारे जड़ वेद्य-पदार्थों का अपने अपने रूप में प्रकाशित होना तभी संभव हो सकता है, जब कि उनपर अहं-भाव की ही छत्र-छाया धरी हुई हो। उदाहरणार्थ 'पुस्तक' नामी जड़ पदार्थ की पुस्तक रूप में सत्ता तभी सिद्ध हो पाती है, जब कि किसी चेतन प्रमाता के द्वारा—'अमुक पुस्तक मेरी है' ऐसा कहे जाने पर अहं-भाव उसको अपने पर विश्रान्त कर देता है।

२. अहंभाव की अन्दर की ओर निमेष-दशा को सदाशिव-तत्त्व और बाहर की ओर उन्मेष-दशा को ईश्वर-तत्त्व कहते हैं। सदाशिव और ईश्वर इन दो अवस्थाओं के द्योतक शास्त्रीय शब्द हैं।

३. स्वरूप-स्वातन्त्र्य से स्वरूप को ही इदं-भाव के रूप में अलग सत्ता देकर, फिर उसको, स्वरूपमय अहं-भाव के ही द्वारा आच्छादित करके अवस्थित रहने के स्वभाव वाला।

भावस्य नोपपन्ना,—इति तथाविधेश्वरबोधानुपपत्तिः। तदनुपपत्तौ च न किञ्चिद्भासेत, कारणाभावात्,—इत्युक्तमसकृत्।

भासते च इदं—तद्भासाव्यतिरेकरहितमपि, परमेश्वर-शक्तित एव बहिः प्रथते, कारणान्तरासंभवात्, स्वसंविदि च संविद एव सर्वमयत्वप्रथनात्। तदेवं स्वात्मरूपं जगत्, भेदेन भासमानं, प्रकाशात्मन्येव अहमात्मनि भासते सामानाधिकरण्येन इति। इयता एतावद् अवश्यमेवाक्षिप्तं—यद् ईश्वर एव कस्यापि वेदितुर्भिन्नान् वेद्यान् अहंतया पश्यति। यश्चासौ कोऽपि वेदयिता सोऽपि भासनात् स्वात्ममय एव,—इति स्वात्मनि तथाविधाः शक्तीरधिशेते याभिरसौ तदैव भिन्न-वेद्यवेदकीभावम् उपाश्नुवीत। रागादिभिरेव च तथाविधत्वमस्य—

के सिद्ध न होने की दशा में कोई भी पदार्थ प्रकाशित ही नहीं होगा, क्योंकि उसका कोई कारण ही नहीं होगा—यह तथ्य बार बार दोहराया जा चुका है।

परन्तु यह (इदं भाव) तो उस ईश्वरीय प्रकाशमानता के साथ एकाकारता के बिना भी भासमान है—अतः निःसंशय यह परमेश्वर की शक्ति से ही बहिरङ्ग रूप में भासमान है, क्योंकि एक तो उसका कोई दूसरा कारण संभव नहीं हो सकता और निजी संवेदन भी इसी बात की साक्षी दे रहा है कि केवल ईश्वरीय संविद् ही सर्वमय रूप में प्रकाशमान है। अतः इस तर्क के अनुसार यह सिद्ध तथ्य है कि एक ओर से स्वात्म-संवित्ति के साथ बिल्कुल एकाकार रूप में (विश्वोत्तीर्ण) और दूसरी ओर इससे भिन्न रूप में (विश्वमय) भासमान रहता हुआ यह इदं-भाव केवल प्रकाशमय अहंभाव की आधारिता पर ही 'समानाधिकरणता'[1] से भासमान है। इतनी मीमांसा से अवश्य ध्वनित होता है कि ईश्वर ही 'किसी'—अर्थात् स्वरूप को ही भिन्नरूप में व्यवस्थापित किए हुए मित-प्रमाता के, तथाकथित भिन्न रूप में प्रतीत होने वाले 'वेद्य-विषयों'—अर्थात् इन्हीं कला, विद्या इत्यादि कञ्चुकरूपी भावों को, 'अहंरूप'—अर्थात् निजी अभिन्न शक्तियों के रूप में ही अनुभव करते हैं। अब जो यह कोई दूसरा अनुभावी है, वह भी तो भासमान होने के कारण स्वरूपमय ही है—अतः वह भी अपने आप में, 'वैसी ही'—अर्थात् पशुभाव के ही अनुकूल कञ्चुकरूप पर पहुँची हुई शक्तियों पर ही आश्रित रहता है, जिनके द्वारा वह उस पशुदशा में प्रमेय-भाव और प्रमातृ-भाव के अलगाव का ही अनुभव करता रहता है। राग इत्यादि के

---

१. अगर दो भाव एक ही आधार पर आधारित हों तो उनको 'समानाधिकरण' कहा जाता है। प्रस्तुत प्रसङ्ग में भी विश्वोत्तीर्ण रूप एवं विश्वमय रूप एक अहंभाव के ही आधार पर आधारित हैं, अतः आपस में समानाधिकरण हैं।

इति रागादय एव आध्रियमाणान् भावान् उक्तन्यायेन ईश्वरं प्रति प्रयोजकतां गच्छन्ति, अतस्तस्यैव पुंस्त्व-व्यपदेश-कारणैकभूता द्वितीये णिचि उत्पन्ने धारणाशब्दवाच्याः। णिजुत्पत्तावपि सर्वत्रैव प्रकृत्यर्थान्वयानपायो ध्रियमाणतया प्रकाशमानस्यैव धार्यमाणता प्रकाशनासंज्ञा उपपद्यते। यदुक्तं मयैव शिवदृष्ट्यालोचने—

'प्रैषोऽपि स भवेद्यस्य शश्वतता नाम विद्यते'।

इति। भर्तृहरिरपि—

'अप्रवृत्तस्य हि प्रैषे प्रच्छादेर्लिङ् विधीयते।
प्रवृत्तस्य यदा प्रैषस्तदा स विषयो णिचः' ॥'

इति।

द्वारा ही इसकी (शिव-पशु की) यह गत बनी है, अतः ये राग इत्यादि ही, पूर्वोक्त रीति के अनुसार, प्रत्येक भाव को निजी स्वतन्त्र शक्तियों के रूप में धारण करने वाले ईश्वर के ही प्रति प्रयोजक बन जाते हैं। इस प्रकार से यह बात स्पष्ट हो जातो है कि 'धारण' शब्द के साथ दूसरा 'णिच्' लगाये जाने पर, इस शब्द के द्वारा, इन राग इत्यादिकों का ही अभिप्राय अभिव्यक्त होता है, क्योंकि ये ही तत्त्व, उस ईश्वर को ही 'पशु भाव' के बुरे नाम का भागी बनाने के प्रति मात्र कारण बने हुए हैं। किसी धातु के साथ 'णिच्' प्रत्यय लगा दिये जाने पर भी, उस धातु का अपनी प्रकृति (मूलरूप) के अर्थ के साथ कभी भी सम्बन्ध छूटता नहीं है। इस नियम के अनुसार इस शब्द के द्वारा, वस्तुतः निजी शक्तियों को स्वतन्त्रता पूर्वक धारण करने के रूप में सदा प्रकाशमान रहनेवाले प्रयोजक-तत्त्व का ही, (उन्हीं शक्तियों के द्वारा) धारण किये जाने के रूप में प्रकाशित किये जाने का, अर्थात् प्रयोज्य-तत्त्व यह नाम द्योतित होता है। जैसे कि मैंने स्वयं ही शिवदृष्ट्यालोचन में कहा है—

'प्रेरणा दिये जाने का उपयुक्त पात्र वही बन सकता है, जिसमें तत्समर्थाचरण—अर्थात् किसी कार्य को सम्पन्न करने की शक्ति का संचार किये जाने की योग्यता, निश्चित रूप में, वर्तमान हो'।

भर्तृहरि ने भी कहा है—

'जिस प्रयोज्य में कार्य को अवश्य सम्पन्न करने की प्रवृत्ति ही न हो, उसको प्रेरणा दिये जाने के अर्थ पर 'पृच्छ' आदि धातुओं के साथ साधारण 'लोट्' लकार का प्रयोग किया जाता है। जिस प्रयोज्य में कार्य को अवश्य करने को प्रवृत्ति हो, उसको प्रेरणा दिये जाने का अर्थ 'णिच्' प्रत्यय का विषय होता है।'

तदेवं धारणशब्देन अपरशास्त्रेषु कञ्चुकनामधेयप्रसिद्धान्येव तत्त्वानि इह निरूपितानि । यदुक्तं श्रीतन्त्रसारे—

'धारयन्ति पशोः पाशान् भावान् स्वात्ममयांस्तथा ।
विद्या-माया-नियत्याद्याः शोध्यास्तेन प्रयत्नतः' ॥

इति ।

यत्तु श्रीसोमानन्दपादैः धारणशब्देन अङ्गानि निरूपितानि पक्षान्तराश्रयणेन, तत्र परपक्षसर्वदृश्यत्वप्रथनं स्वात्मन्यभिप्रायः । तेषां हि ईदृशी शैली—

'स्वपक्षान् परपक्षांश्च निःशेषेण न वेद यः ।
स्वयं स संशयाम्भोधौ निमज्जंस्तारयेत्कथम् ?' ॥

इति ।

फलतः दूसरे शास्त्रों[1] में जो तत्त्व 'कञ्चुक' नाम से प्रसिद्ध हैं, उन्हीं का निरूपण, प्रस्तुत शास्त्र में, 'धारण' शब्द से किया गया है ।' इस सम्बन्ध में श्री तन्त्रसार में कहा गया है—

'सारे भाव वास्तव में आत्मरूप ही हैं, परन्तु तो भी विद्या, माया और नियति इत्यादि तत्त्व, पशुओं को फँसाने के लिए, उन्हीं के (भावों के) फंदे बनाकर धारण करते रहते हैं । अतः इन तत्त्वों को बड़े प्रयत्न से शुद्ध[2] करना चाहिये ।'

'धारण' शब्द के विषय में श्री सोमानन्द के दृष्टिकोण का विवेचन

अब जो श्री सोमानन्दपाद ने परपक्षीय मन्तव्य को अपनाकर 'धारण' शब्द से अङ्गों का तात्पर्य निकाला है, वह तो उन्होंने केवल इस अभिप्राय को जताने के लिए किया है कि अपने पक्ष के लोगों को परपक्ष की सारी बातों का ज्ञान अवश्य प्राप्त करना चाहिये । निःसंशय उनकी निजी शैली यही रही है—

'जिस व्यक्ति को स्वपक्ष और परपक्ष के साथ सम्बन्ध रखने वाले सारे मन्तव्यों की पूरी जानकारी न हो, वह तो स्वयं ही सन्देहों के सागर में डूबता हुआ दूसरों को क्या खाक पार उतार सकता है ?'

---

१. गुरुओं के कथनानुसार यहाँ पर दूसरे शास्त्रों से द्वैताद्वैत प्रधान रुद्रतन्त्रों और द्वैतप्रधान शिवतन्त्रों का अभिप्राय है । प्रस्तुत शास्त्र जैसे भैरवतन्त्र तो विशुद्ध अद्वैत-प्रधान होने के कारण इनसे भिन्न हैं ।

२. प्रत्येक तत्त्व को आन्तरिक अनुसन्धान के द्वारा अनुत्तर-भाव में लय करके अनुत्तरमय ही बना देना शुद्ध करना कहा जाता है ।

शादि-क्षान्तं महामाया-विद्या-ईश्वर-सदाशिव-शक्त्याख्यं तत्त्वपञ्चकम्। तथाहि--

"मायातत्त्वस्य उपरि विद्यातत्त्वाधश्च अवश्यं तत्त्वान्तरेण भवितव्यं—यत्र विज्ञानाकलानां स्थितिः। यथोक्तम्—

'मायोर्ध्वे शुद्धविद्याधः सन्ति विज्ञानकेवलाः'

इति। तथाहि महामायाभावे मायापदे प्रलयकेवलानाम् अवस्थितिः, विद्यापदे च विद्येश्वरादीनाम्—इति किमिव तत् विज्ञानकेवलास्पदं स्यात्? अत एव विद्यापदप्रच्युतानामपि एषां, भेदमय-भावराशिगत-भिन्नवेद्य-प्रथानुदयाद् मायीयाभिधान-मलानुल्लासे,—'तत्र विज्ञानकेवलो मलैकयुक्तः'—इति

'तदूर्ध्वं शादिविख्यातं पुरस्ताद् ब्रह्मपञ्चकम्'

इन दो चरणों की व्याख्या।

'शकार' से लेकर 'क्षकार' तक के पाँच वर्णों में क्रमशः महामाया, शुद्धविद्या, ईश्वर, सदाशिव और शक्ति इन पाँच तत्त्वों की व्यापकता है। इस कथन को आगे स्पष्ट किया जा रहा है—

'माया-तत्त्व' के उपरितनवर्ती और 'शुद्धविद्या-तत्त्व' के निम्नतनवर्ती अन्तराल में अवश्य ही किसी ऐसे दूसरे तत्त्व की वर्तमानता होनी चाहिये, जो कि विज्ञानाकल स्तर के प्रमाताओं का ठौर-ठिकाना होगा। जैसा कहा गया है—

'माया-तत्त्व के उपरीले और शुद्धविद्या-तत्त्व के निचले अवकाश में विज्ञानाकल नामी प्रमाता अवस्थित हैं।'

इस सन्दर्भ में विचारणीय तत्त्व यह है कि यदि (इस उल्लिखित अवकाश में) महामाया-तत्त्व का सद्भाव न होता तो माया-तत्त्व के स्तर पर प्रलयकेवली और शुद्धविद्या-तत्त्व के स्तर पर विद्येश्वर नामी प्रमाताओं की वर्तमानता होने के फलस्वरूप, इन विज्ञानाकलों के लिए कौन सा ठौर-ठिकाना अवशिष्ट रह जाता? इसी शंका का समाधान करने के अभिप्राय से श्रीपूर्व-शास्त्र (मालिनीविजयोत्तर) में—'उनमें से विज्ञानाकल[1] प्रमाता वह है, जिसमें केवल एक ही

[1] भगवान् शिव ने स्वयं मालिनीविजयोत्तर-तंत्र (१-२२-२३) में इस बात का स्पष्टीकरण किया है कि विज्ञानाकल स्तर के प्रमाता में केवल 'आणव-मल' ही अभी अवशिष्ट रहा होता है। इस प्रमाता ने साधना के बल से कार्म एवं मायीय नामी मलों से अपना पिंड छुड़ाया होता है। यही कारण है कि ऐसा प्रमाता, निश्चित रूप में, आरोह-क्रम पर ही आगे बढ़ता हुआ धीरे-धीरे शुद्धविद्या इत्यादि उत्तरोत्तरवर्ती तत्त्वों को लांघ कर शिव-भाव पर ही आरूढ़ हो जाता है। इसको किसी भी अवस्था

अज्ञानात्मकाणवमलावलम्बित्वं श्रीपूर्व-शास्त्रे कथितम्। त एव शुद्धविद्या-पदानुग्रहात् बोधिता मन्त्र-तदीशादि-भावभागिनो भवन्ति—इति तत्रैवोक्तम्—

मल (आणव-मल) अवशिष्ट रहा हो', इस सूत्र में स्पष्ट किया गया है कि विज्ञानाकल प्रमाता में केवल अपूर्ण ज्ञानात्मक 'आणव-मल' ही अवशिष्ट रहा होता है, क्योंकि यद्यपि यह शुद्ध विद्या-तत्त्व की निम्नतर भूमिका पर ही अवस्थित होता है, परन्तु तो भी इसमें, भेद-भाव से ही भरे हुए भाववर्ग के प्रति स्वरूप से इतर वेद्यरूपता की अनुभूति का उदय न होने के कारण मायीय नामी मल का विकास ही नहीं होने पाता है। विज्ञानाकल प्रमाता ही 'शुद्धविद्यापद'—अर्थात् शुद्धविद्या-भूमिका के अधिष्ठाता देवता भगवान् अनन्त[1]-भट्टारक के अनुग्रह से चेते जाकर क्रमशः मन्त्र, मन्त्रेश्वर इत्यादि उत्तरोत्तरवर्ती भावों के भागी बन जाते हैं। इस परिप्रेक्ष्य में वहीं (श्री पूर्वशास्त्र में ही)—

में, अवरोह के चक्कर में पड़ कर फिर से माया-तत्त्व या, उससे भी निम्नवर्ती तत्त्वों पर फिसल जाने का भय नहीं होता। हाँ इस प्रमाता के विषय में यह समझना अतीव आवश्यक है कि एक ओर से इसमें आणव-मल अभी अवशिष्ट होने के कारण न तो शुद्धविद्या-तत्त्व और दूसरी ओर कार्म एवं मायीय मलों का पूरा अभाव होने के कारण न माया-तत्त्व ही इसका ठौर-ठिकाना बन सकते हैं। अब यदि इन दो तत्त्वों के अन्तरालवर्ती महामाया-तत्त्व को अङ्गीकार न किया जाये तो इस प्रमाता के अवस्थित रहने का स्थान कहाँ होगा ?

१. शुद्धविद्या-तत्त्व के निम्नवर्ती माया-तत्त्व से लेकर अन्तिम पृथिवी-तत्त्व तक अशुद्ध संसार का क्षेत्र माना जाता है। यह समूचा क्षेत्र आमूल-चूल मायीय भेद-भाव से ही भरा है, अतः भगवान् शिव अपने पूर्ण अभेदमय रूप से इसका संचालन नहीं करते, अपि तु भेदाभेददशा पर अवस्थित रहनेवाले 'अनन्त-भट्टारक' नामी अपने ही रूपान्तर से। यदि पूर्ण अभेदमय रूप से ही इसका संचालन किया जाता तो या तो यह विश्व ही नहीं होता या इसका रूप ही भिन्न होता, क्योंकि पूर्ण अभेदमय शिव के हस्तक्षेप के सामने भेदाभेद या पूर्ण भेद ठहर नहीं सकता। इधर से विश्वमयता का व्यवहार भेद-भाव के बिना चल ही नहीं सकता। अतः भगवान् को पूर्ण भेद-भाव के क्षेत्र का संचालन करने के लिए स्वरूपतः एक स्तर नीचे उतर कर भेदाभेद पदवी पर अवस्थित अनन्त-भट्टारक का रूप धारण करना पड़ा है। अनन्त-भट्टारक स्वयं शुद्धविद्या पद पर अवस्थित रहकर अपने निम्नवर्ती मायीय क्षेत्र का संचालन करते हैं।

'विज्ञानकेवलानष्टौ बोधयामास पुद्गलान्' ।

इत्यादिना,

'मन्त्रमहेश्वरेशत्वे सन्नियोज्य……।'

इत्यादिना च ।

केषुचित्तु शास्त्रेषु सा महामाया भेदमलाभावोपचारात् विद्यातत्त्वशेषतयैव निर्णीयते । क्वचित् पुनरज्ञानमलसद्भावोपरोधाद् मायातत्त्वपुच्छतया—यथा केषुचित् शास्त्रेषु 'रागतत्त्वं पुंस्येव लग्नम्'—इति पृथक् न परामृष्टम् । यथा वा इहैव श्रीत्रिकागमेषु नियति-कालौ न पृथक् निरूपितौ । अत्र मते विद्याद्यनाश्रितशिवान्तं ब्रह्मपञ्चकम् । निर्णेष्यते च एतत् ।

'(भगवान् अनन्त-भट्टारक ने जगत् की सर्जना करने के अवसर पर अपनी इच्छाशक्ति के द्वारा सबसे पहले—) विज्ञानाकल स्तर पर पहुँचे हुए आठ जीवरूपी रुद्रों को जगा दिया ।'

इत्यादि सूत्र में और—

'फिर उनको शुद्धविद्या-भाव, ईश्वर-भाव और सदाशिव-भाव के साथ संयुक्त करके……।'

इत्यादि सूत्र में इनका ब्यौरेवार वर्णन किया गया है ।

'महामाया' को एक अलग तत्त्व मानने के विषय में त्रिकेतर दृष्टिकोण ।

कई (त्रिकेतर) शास्त्रों में महामाया-तत्त्व को शुद्धविद्या-तत्त्व के ही परिशिष्ट के रूप में निर्णीत किया गया है, क्योंकि उनकी मान्यता के अनुसार इसमें मायीय भेद-भाव एवं मलों का औपचारिक रूप में अभाव ही होता है । कई शास्त्रों में इसको माया-तत्त्व का ही पुच्छला[1] (लम्बी दुम) स्वीकारा गया है, क्योंकि उनके मतानुसार इसमें अभी स्वरूप पर अपूर्ण ज्ञान के रूपवाले 'आणव-मल' की आड़ मौजूद ही होती है । ये सारी मान्यतायें ठीक वैसी ही हैं, जैसी कि कई शास्त्रों में राग-तत्त्व को पुरुष-तत्त्व के साथ ही चिपका हुआ मानकर इसका अलग परामर्श न किये जाने की मान्यता है, अथवा जिस प्रकार प्रस्तुत त्रिकागमों में ही नियति और काल का अलग अलग तत्त्वों के रूप में परामर्श नहीं किया गया है । ऐसे शास्त्रों के मतानुसार ब्रह्मपञ्चक की संज्ञा (महामाया को छोड़कर) शुद्धविद्या, ईश्वर, सदाशिव, शक्ति और अनाश्रित-शिव इन पाँच तत्त्वों को दी जाती है । इसका निर्णय आगे किया जायेगा ।

---

१. इन विचारकों की मान्यता यह है कि महामाया स्तर पर पहुँचा हुआ प्रमाता यद्यपि माया-तत्त्व के चंगुल से उन्मुक्त हुआ होता है, तो भी उसके अन्तस् में अभी कुछ मात्रा तक वे पूर्वकालीन मायीय संस्कार अवशिष्ट ही होते हैं, अतः इस स्तर को एक अलग तत्त्व मानने की अपेक्षा माया-तत्त्व की पूँछ मानना युक्तिसंगत है ।

एषाञ्च तत्त्वानां बृहत्त्वं बृंहकत्वञ्च प्रायो भेद-समुत्तीर्णत्वात्, संसार-सूतिकर्तृत्वाच्च। एवमेतानि चतुस्त्रिंशत्तत्त्वानि प्रक्रियात्मना स्थितानि 'अकारम्' एव आदिरूपतया भजन्ते।

तत्र इदं विचार्यते—प्रथमतः शिवतत्त्वम् 'अवर्गे', ततो भूतानि इत्यादि, यावदन्ते शक्ति-तत्त्वम्—इति कोऽयं सृष्टि-संहार-ज्ञप्ति-स्थित्यवतारक्रमाणां मध्यात् क्रमः? सर्वत्र च श्रीमालिनीविजयोत्तर-सिद्धातन्त्र-स्वच्छन्दादि-

---

इन पांच तत्त्वों को ब्रह्मपञ्चक नाम देने का आधार।

इन तत्त्वों में पाया जाने वाला' '[1]बृहत्त्व'—अर्थात् व्यापकता का उत्तरोत्तर विस्तार और 'बृंहकत्व'—सारे जड़-चेतन समुदाय को पुष्टि प्रदान करने का सामर्थ्य, प्रायः दो बातों पर आधारित है। एक यह कि ये तत्त्व स्वयं भेद-भाव के क्षेत्र से बाहर हैं और दूसरी यह कि ये भेद-भाव से पूर्ण अशुद्ध संसार की सर्जना करते हैं। इस प्रकार ये चौंतीस तत्त्व त्रिक-प्रक्रिया के अनुसार उल्लिखित वर्ण रूप में अवस्थित रहकर 'अकार' को ही अपने मूल उद्गम-स्थान के रूप में धारण किये हुए हैं।

त्रिक सम्प्रदाय के तत्त्वक्रम में विरोध का परिहार।

इस विषय में अब यह विचारणीय है कि (प्रस्तुत-शास्त्र में) सबसे पहले 'अवर्ग' में शिव-तत्त्व का, फिर 'क वर्ग' में पांच महाभूतों का, इत्यादि क्रम को आगे बढ़ाकर अन्त पर 'क्षकार' में शक्ति-तत्त्व का अवतार स्वीकार किया गया है, तो यह समझ में नहीं आता कि (क्रिया[2]-प्रधान) सृष्टि-क्रम, (इच्छा-प्रधान) संहार-प्रधान और ज्ञान-प्रधान स्थिति-क्रम इन तीन प्रकार के मन्त्रावतार के क्रमों में से यह कौन-सा क्रम अपनाया गया है? श्री मालिनीविजयोत्तर-तन्त्र,

---

१. स्पष्ट है कि त्रिक-मान्यता के अनुसार इन पाँच तत्त्वों को बृहत् एवं बृंहक होने के कारण 'ब्रह्म' और पाँच होने के कारण 'पञ्चक' कहा जाता है।

२. त्रिक-शास्त्र में तीन प्रकार के मन्त्रावतार-क्रम स्वीकारे जाते हैं। निम्न तालिका में इनके क्रम को दिखाया जा रहा है—

मन्त्रों का त्रिविध अवतार-क्रम

१	इच्छाप्रधान	संहार-क्रम	परा	मन्त्रावतार-क्रम
२	ज्ञानप्रधान	स्थिति-क्रम	परापरा	मन्त्रावतार-क्रम
३	क्रियाप्रधान	सृष्टि-क्रम	अपरा	मन्त्रावतार-क्रम

शास्त्रेषु 'क्षकारात्' प्रभृति 'अवर्गान्तं' पार्थिवादीनां शिवान्तानां तत्त्वानां निवेश उक्तः—

'आद्यं धारिकया व्याप्तं तत्रैकं तत्त्वमिष्यते ।
एकमेकं पृथक् क्षार्णं पदार्णमनुषु स्मरेत् ॥'

इत्यादिना ।

तत्रैव च पुनर् भिन्नयोनि-मालिनीभट्टारिका-अनुसारेण 'फकारादीनाम्', अभिन्न-योनि मातृका-निवेशावाप्त-तत्त्वान्तरस्थितीनामपि—

सिद्धा-तन्त्र और श्रीस्वच्छन्द-तन्त्र इत्यादि शास्त्रों में तो 'क्षकार' से ही आरम्भ करके 'अवर्ग' तक के अक्षरों में 'पृथिवी' इत्यादि तत्त्वों से आरम्भ करके शिव-तत्त्व तक के तत्त्वों की व्यापकता का सिद्धान्त—

'पहले—अर्थात् पृथिवी अण्ड में धारिका-कला की व्यापकता है । इस कला में केवल एक ही पृथिवी-तत्त्व अन्तर्गत है । इसमें वर्ण, पद और मन्त्र इन तीन क्रमों का अनुसंधान करते समय अलग-अलग रूपों में एक हो क्ष-वर्ण, क्ष-पद और क्ष-मन्त्र का स्मरण करना चाहिये' ।

इत्यादि सूत्रों में स्थापित किया गया है ।

इसके अतिरिक्त वहीं (मालिनीविजयोत्तर-तन्त्र में ही)—

'फकार में पृथिवी-तत्त्व की व्यापकता बताई गई है । 'दकार' से लेकर 'झकार' तक के तेईस वर्णों में क्रमशः जल इत्यादि तेईस तत्त्व व्याप्त होकर अवस्थित हैं ।'

---

१. शास्त्रीय परिभाषा में धारिका-कला आधार शक्ति, अर्थात् पृथिवी-तत्त्व की परिचायिका है । इस उद्धरण-पद्य का तात्पर्य केवल यह दिखाना है कि त्रिकेतर आगमों में 'क्ष-वर्ण' में पृथिवी-तत्त्व की व्यापकता मानी जाती है, जब कि त्रिकागम में इस वर्ण में शक्ति-तत्त्व की व्यापकता बताई गई है ।

२. शास्त्रीय परिभाषा में किसी भी वर्ण को 'अर्ण' या 'मन्त्र' कहते हैं । मन्त्र एवं वर्ण का सामञ्जस्य सिद्ध करने के विषय में शास्त्रीय सिद्धान्त यह है कि 'मन्त्र' शब्द स्वतः मननात्मकता और त्राणात्मकता का द्योतक है । प्रत्येक वर्ण या अर्ण अपने मूल-रूप में केवल सवेदन रूपी होने के कारण स्वभावतः मननात्मक हो है. क्योंकि मनन एवं संवेदन वास्तव में एक ही प्रकार की विमर्शात्मकता के परिचायक हैं । जिसका मनन किया जाये, उससे अभीष्ट-सिद्धि होने के रूप में त्राण भी होता है । वर्णों से ये दोनों कार्य सिद्ध हो जाते हैं । वर्णों से ही सांसारिक आदान-प्रदान इत्यादि सिद्ध हो जाने के रूप में भी त्राण होता रहता है । अतः प्रत्येक वर्ण अपने स्थान पर मनन एवं त्राणात्मक मन्त्र ही है ।

'फे धरातत्त्वमुद्दिष्टं दादि-क्षान्तेऽनुपूर्वशः
त्रयोविंशत्यवादीनि .... ॥'

इत्यादिना पार्थिवादि-तत्त्व-योजना निरूपिता ।

इस सूत्र में भिन्नयोनि[1]रूपिणी मालिनी-[2]भट्टारिका नामक वर्ण-क्रम में भी अन्तिम 'फ-वर्ण' से ही आरम्भ करके पृथिवी इत्यादि तत्त्वों की योजना की गई।

१. 'आदि-क्षान्ता मातृका, नादि-फान्ता मालिनी'—इस तान्त्रिक शैवमत की परिभाषा में 'अकार' से लेकर 'क्षकार' तक के वर्ण-क्रम का नाम 'मातृका' और रूप 'अभिन्न-योनि' तथा 'नकार' से लेकर 'फकार' तक के वर्ण-क्रम का नाम 'मालिनी' और रूप 'भिन्न-योनि' माना जाता है। 'अभिन्न-योनि' शब्द से उस वर्ण-क्रम का अभिप्राय लिया जाता है, जिसमें स्वर-वर्ग ने व्यञ्जन-वर्ग के बीच-बीच में घुसपैठ न की हो—अर्थात् बीजाक्षरों ने योनि-अक्षरों का भेदन कर के बीजयोनि-संघर्ष उत्पन्न न किया हो—न भिन्ना स्वरैर्भेदिता योनिः कादिलक्षणा यस्याः सा (अभिन्नयोनिर्मातृका)। इसी कारण से मातृका वर्ण-क्रम में स्वर-वर्ग और व्यञ्जन-वर्ग को बिल्कुल अलग-अलग रखा गया है। बीजयोनिसंघर्ष ही परापरसंवित्ति एवं विशेष रूप में अपरसंवित्ति के स्तरों पर पाये जाने वाले वेद्य-वेदकरूपी संघर्ष का परिचायक है। मातृका वर्ण-क्रम में ऐसा संघर्ष न होने के कारण यह परसंवित्ति का ही प्रतीक है। इसके प्रतिकूल 'भिन्नयोनि' शब्द से उस वर्ण-क्रम का अभिप्राय लिया जाता है, जिसमें स्वर-वर्ग ने व्यञ्जन-वर्ग का भेदन करके, अर्थात् बीच-बीच में घुस-पैठ करके बीजयोनिसंघर्ष उत्पन्न किया हो—भिन्ना स्वरैर्भेदिता योनिः कादिलक्षणा यस्याः सा (भिन्नयोनिर्मालिनी)। मालिनी स्पष्ट रूप में ऐसा वर्ण-क्रम है, जिसमें स्वर् एवं व्यञ्जन सम्मिश्रित रूप में रखे गये हैं। वास्तव में परापरसंवित्ति के स्तर पर ही बीजयोनिसंघर्ष से जन्य नानारूपता का और वाच्य-वाचक तथा वेद्य-वेदक की भिन्नता का आसूत्रण होने लगता है, अतः मालिनी-वर्ण-क्रम परापर-संवित्ति का परिचायक है। इसी कारण से मातृका-क्रम में शिव-भाव की और मालिनी-क्रम में शक्ति-भाव की प्रतीकात्मकता भी स्वीकारी गई है। शक्तिमान् का वाचक मातृकामन्त्र इस प्रकार है—'ह्रीं अक्ष ह्रीं' और शक्ति का वाचक मालिनी-मन्त्र इस प्रकार है—'ह्रीं नफ ह्रीं।'

२. 'अ' से लेकर 'क्ष' तक का वर्ण-क्रम आज भी प्रचलित है। भगवान् त्रिशूल-पाणि ने 'मालिनीविजयोत्तर' में संस्कृत वर्णमाला को 'भिन्नयोनि मालिनी' क्रम में ही रखा है। यह प्रचलित मातृका-क्रम से बिल्कुल भिन्न और 'नकार' से आरम्भ होकर 'फकार' में अन्त हो जाता है। यह वर्ण-क्रम निम्न प्रकार का है—

न, ॠ, ऋ, ॡ, ऌ, थ, च, ध, ई ण, उ, ऊ, ब, क, ख, ग, घ, ङ, इ, अ, व, भ, य, ड, ढ, ठ, झ, ञ, ज, र, ट, प, छ, ल, आ, स, अः, ह, ष, क्ष, म, श, अं, त, ए, ऐ, ओ, औ, द, फ।

पुनरपि च तत्रैव श्रीविद्यात्रयानुसारेण—

'निष्कले पदमेकार्णं त्र्यर्णेकार्णद्वयं द्वये ।'

इति परापराभट्टारिकानुसारेण—'ओंकारं'-शिव-तत्त्वम्, 'अघोरे'-शक्ति-तत्त्वम् इत्यादिक्रमेण तत्त्वयोजना ।

है—चाहे अभिन्नयोनिरूपिणी मातृका नामक वर्ण-क्रम में, उन्ही वर्णों में, [1]दूसरे प्रकार के तत्त्वों की व्यापकता भी मौजूद है ।

फिर भी उसी तन्त्र में (परा, परापरा और अपरा) इन तीन विद्याओं के अनुसार—

'निष्कल—अर्थात् विशुद्ध शिव-तत्त्व की भूमिका में वाचक-पद [2]एकाक्षरी और शिव-तत्त्व एवं सदाशिव-तत्त्वों की भूमिकाओं में वाचक-पद क्रमशः त्र्यक्षरी एवं एकाक्षरी हैं ।'

इस सूत्र में वर्णन की गई परापरा-विद्या के अनुसार '[3]ओंकार' में शिव-तत्त्व की और 'अघोरे' पद में शक्ति-तत्त्व की, इसी क्रम के अनुसार आगे बढ़ते-

---

यहाँ पर प्रस्तुत विषय यह है कि इस मालिनी वर्ण-क्रम में भी अन्तिम 'फ' में शक्ति-तत्त्व के स्थान पर पृथिवी-तत्त्व की ही व्यापकता मानी जाती है, तो फिर त्रिकागम में ही वर्णित क्रम भिन्न क्यों है ?

१. इस कथन का अभिप्राय यह है कि मालिनी-क्रम में जिन वर्णों में जिन तत्त्वों की व्यापकता स्वीकारी गई है, मातृका-क्रम में भी ठीक उन्ही वर्णों में, निश्चित रूप से, उन्ही तत्त्वों की व्यापकता नहीं है । केवल इतना निश्चित है कि दोनों क्रमों में समान रूप से अन्तिम अक्षर में पृथिवी-तत्त्व ही व्याप्त है । केवल त्रिकमत में समूचे स्वरवर्ग को शिव-तत्त्व का नाम देने के अनन्तर पहले ही व्यञ्जन 'क' में पृथिवी-तत्त्व और अन्तिम व्यंजन 'क्ष' में शक्ति-तत्त्व की व्यापकता को अङ्गीकार किया गया है, अतः यह एक निराला ही तत्त्व-क्रम प्रतीत हो रहा है ।

२. पहले कहा गया है कि तन्त्र-शास्त्रों में 'अर्ण' अक्षर को कहते हैं । अतः यहाँ पर मूल 'एकार्ण' इत्यादि शब्दों का 'एकाक्षरी' इत्यादि भाषानुवाद किया गया है। इस विषय में यह समझना आवश्यक है कि किसी भी मन्त्र के अन्तर्गत पदों में से जिस पद में जितने स्वर या सस्वर व्यञ्जन हों, उसको उतने ही अर्णों वाला पद और जिसमें एक स्वर या सस्वर व्यञ्जन के साथ एक स्वरहीन व्यंजन हो, उसको डेढ़ अर्णोंवाला पद कहा जाता है । उदाहरण आगे स्वयं ही आयेंगे ।

३. यहाँ पर भगवान् अभिनव ने 'ओंकार' इत्यादि पदों के द्वारा जिस मन्त्र की ओर संकेत किया है, वह इस प्रकार है—

बढ़ते सारे तत्त्वों की योजना की गई है।

'ओं अघोरे ह्रीः परमघोरे हुं घोररूपे हः घोरमुखि भीमे भीषणे वम पिब हे रु रु र र फट् हुं हः फट्'

(तं० ३०, १८-२४)

इस मन्त्र में 'ओं' एकार्ण (एकाक्षरी), 'अघोरे' त्र्यर्ण (त्र्यक्षरी), 'ह्रीः' एकार्ण (एकाक्षरी), 'परमघोरे' पञ्चार्ण (पञ्चाक्षरी) इत्यादि क्रम के अनुसार अन्तिम 'फट्' शब्द सार्ध (डेढ़ अक्षरी) पद हैं। मन्त्र-शास्त्रों में किसी भी मन्त्र के पदों का उल्लेख इसी एकार्ण, द्व्यर्ण, त्र्यर्ण इत्यादि रूपों वाली कूट रीति में ही पाया जाता है।

१. कहने का तात्पर्य यह कि इस परापरा-विद्या के मन्त्र में भी 'ओं' इस एकार्ण पद में शिव-तत्त्व की व्यापकता का उल्लेख करने के उपरान्त दूसरे 'अघोरे' त्र्यर्ण पद में शक्ति-तत्त्व की योजना की गई है। इसी क्रम के अनुसार आगे बढ़ते-बढ़ते अन्तिम 'हुं हः फट्' इन दो एकार्णों और एक सार्ध में पृथिवी-तत्त्व की योजना करने के द्वारा प्रचलित क्रम, अर्थात् शिव-तत्त्व के अनन्तर शक्ति-तत्त्व की योजना के क्रम का ही पालन किया गया है।

परापर-संवित्ति

श्री मालिनीविजयोत्तर-तन्त्र के आधार पर भिन्नयोनि मालिनी में तत्त्वों की व्यापकता—

न से फ तक

न, ॠ, ॠ, ऌ, ॡ, थ, च, ध, ई, ण उ, ऊ, ब, क, ख, ग।	पहले सोलह अक्षर	शिव-शक्ति तत्त्व

संख्या	वर्ण/अर्ण	तत्त्व	संख्या	वर्ण/अर्ण	तत्त्व
१	घ	सदाशिव	१३	ज	अहंकार
२	ङ	ईश्वर	१४	र	मन
३	इ	शुद्धविद्या	१५	ट	श्रोत्र
४	अ	माया	१६	प	त्वक्
५	व	नियति	१७	छ	चक्षु
६	भ	काल	१८	ल	रसना
७	य	राग	१९	आ	घ्राण
८	ड	विद्या	२०	स	वाक्
९	ढ	कला	२१	अः	पाणि
१०	ठ	पुरुष	२२	ह	पाद
११	झ	प्रकृति	२३	ष	उपस्थ
१२	ञ	बुद्धि	२४	क्ष	पायु

२५	म	शब्द	३०	ऐ	आकाश
२६	श	स्पर्श	३१	ओ	वायु
२७	अं	रूप	३२	औ	तेज
२८	त	रस	३३	द	जल
२९	ए	गन्ध	३४	फ	पृथिवी

त्रिकेतर आगमों के आधार पर अभिन्नयोनि मातृका-समुदाय में तत्त्वों की व्यापकता का क्रम—

अ से क्ष तक

अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ	अवर्ग	विशुद्ध
ऌ, ॡ, ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः।		शिव-तत्त्व

संख्या	वर्ण	तत्त्व	संख्या	वर्ण	तत्त्व
१	क	शक्ति	१८	द	रसना
२	ख	सदाशिव	१९	ध	घ्राण
३	ग	ईश्वर	२०	न	वाक्
४	घ	शुद्धविद्या	२१	प	उपस्थ
५	ङ	महामाया	२२	फ	पायु
६	च	माया	२३	ब	पाणि
७	छ	कला	२४	भ	पाद
८	ज	विद्या	२५	म	शब्द
९	झ	राग	२६	य	स्पर्श
१०	ञ	पुरुष	२७	र	रूप
११	ट	प्रकृति	२८	ल	रस
१२	ठ	बुद्धि	२९	व	गन्ध
१३	ड	अहंकार	३०	श	आकाश
१४	ढ	मन	३१	ष	वायु
१५	ण	श्रोत्र	३२	स	अग्नि
१६	त	त्वक्	३३	ह	जल
१७	थ	चक्षु	३४	क्ष	पृथिवी

पाठकों के ध्यान में यह बात पहले ही आ चुकी है कि त्रिकेतर आगमों में शक्ति से लेकर महामाया तक के ब्रह्मपञ्चक में मतभेद पाया जाता है। उनके मतानुसार पहले पाँच तत्त्व—अनाश्रित शिव, शक्ति, सदाशिव, ईश्वर और शुद्धविद्या हैं।

श्रीमदपराभट्टारिकाभिप्रायेण च—

'सार्धेनाण्डद्वयं व्याप्तं एकैकेन पृथग् द्वयम् ।
अपरायाः समाख्याता व्याप्तिरेषा विलोमतः ॥'

इत्यादिना 'फट्-कारे' पार्थिव-प्राकृततो द्वयम्, 'हुं-कारे' मायीयं, 'ह्रीं-कारे' च शाक्तम् अण्डम्—इति तत्त्वनिवेशः ।

श्रीपराभट्टारिकाव्याप्तिनिरूपणे च—

श्री अपरा[1]भट्टारिका(अपरा विद्या) के अभिप्राय से—

'अपरा विद्या में तत्त्वों की व्यापकता विलोम[2]-क्रम के अनुसार बताई गई है। वह क्रम इस प्रकार है—डेढ अक्षरी पद ने दो अंडों अर्थात् पृथिवी अंड और प्रकृति-अंड को, दो एकाक्षरी पदों ने अलग अलग माया और [3]शक्ति इन दो अंडों को व्याप्त कर रखा है।' इस सूत्र में वर्णित रीति के अनुसार 'फट्' इस डेढ अक्षरी पद में पृथिवी-अंड और प्रकृति-अंड इन दो अंडों का, 'हुं' इस एकाक्षरी पद में माया-अंड का और 'ह्रीं' इस एकाक्षरी पद में शक्ति-अंड का [4]समावेश किया गया।

श्रीपरा [5]भट्टारिका (परा विद्या) की व्यापकता का वर्णन करने के प्रसंग में—

---

१. श्री अपरा विद्या का मंत्र = 'ह्रीं हुं फट्' (तं० ३०, २६)

२. अर्थात् इस उल्लिखित अपरा विद्या मंत्र में अन्तिम डेढ अक्षरी पद 'फट्' से ही तत्त्वों की योजना की गई है।

३. शैव-सिद्धान्त के अनुसार शक्ति-तत्त्व से लेकर पृथिवी-तत्त्व तक के समूचे तत्त्व-समुदाय अर्थात् पूरी विश्वमयता को 'शक्ति, माया, प्रकृति, पृथिवी' इन चार अंडों में विभक्त किया गया है। यह अंड-चतुष्टय चतुर्दिक् अनुत्तर पर ही आधारित, अनुत्तर के ही गर्भ में और आदि से अन्त तक अनुत्तर से ही व्याप्त है। क्रम यह है—अनुत्तर में शक्ति-अंड का, शक्ति में माया-अंड का, माया में प्रकृति-अंड का और प्रकृति में पृथिवी-अंड का विकास ही विश्व है। अंड-चतुष्टय से सम्बन्धित बातों का ब्यौरा मानचित्र में दिया गया है। (देखें पृ० १९२)

४. स्पष्ट है कि इस मन्त्र में विलोम-भाव से ही तत्त्वों की योजना करने पर भी पहले पद में शक्ति का और अन्तिम पद में पृथिवी का समावेश किया गया है।

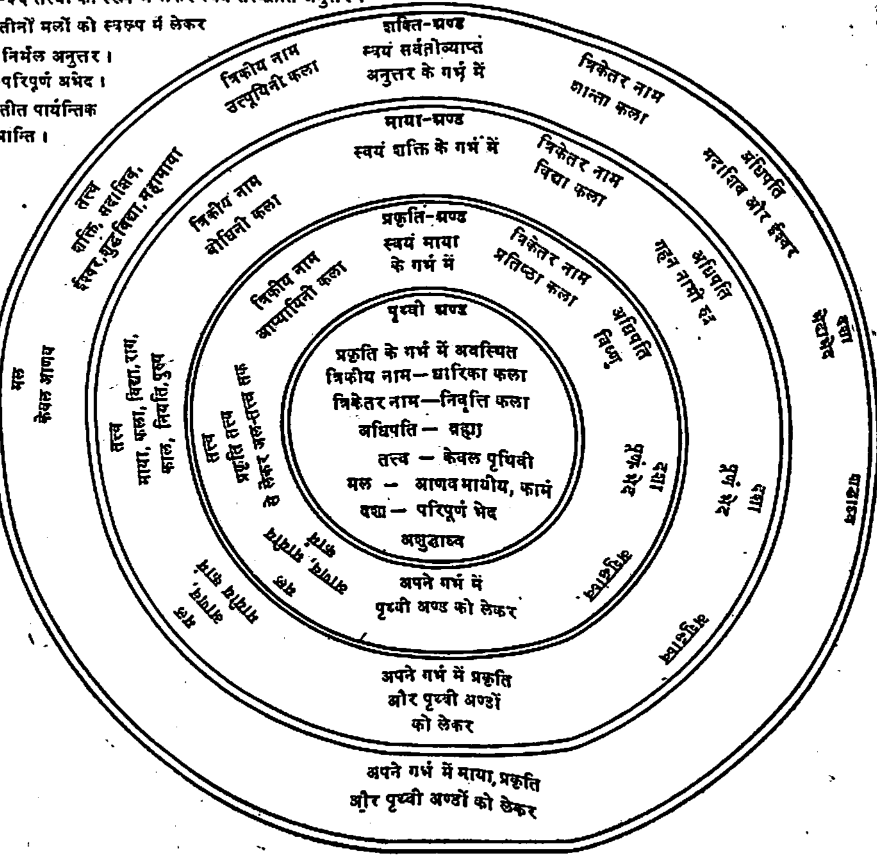
५. श्रीपराविद्या का मन्त्र—'सौः' है। त्रिक-सम्प्रदाय में मात्र यही मन्त्र सर्वोत्कृष्ट माना जाता है। इसका दूसरा नाम अमृत बीज भी है। इसके अतिरिक्त आगे और भी शब्दों में इसका उल्लेख किया गया है। इसके 'स्' में पहले तीन, 'औ' में चौथे अंड का और विसर्ग में अनुत्तर का समावेश होने के कारण इसमें विश्वमयता और विश्वोत्तीर्णता दोनों समायी हुई हैं।

चतुर्दिक अनुत्तर के गर्भ में

अण्ड-चौका

चतुर्दिक अनुत्तर

त्रिकीय नाम—अवकाशदा कला।
त्रिकेतर नाम—शान्तातीता कला।
अधिपति—केवल अनुत्तर।
तत्त्व—३६ तत्त्वों को स्वरूप में लेकर स्वयं तत्त्वातीत अनुत्तर।
मल—तीनों मलों को स्वरूप में लेकर निर्मल अनुत्तर।
दशा—परिपूर्ण अभेद।
अध्वातीत पार्यन्तिक विश्रान्ति।



'सार्णेन त्रितयं व्याप्तं त्रिशूलेन चतुर्थकम् ।
सर्वातीतं विसर्गेण पराव्याप्तिरुदाहृता ॥'

इति अन्यथैव प्रक्रियायोजनं निरूपितम् ।

पुनरपि मातृसद्भाव-रतिशेखर-कुलेश्वरादि-मन्त्रभट्टारिकाद्यभिप्रायेण अन्यथा अन्यथा च । अपरतन्त्रेष्वपि एवमेव विपर्यस्तप्रायं बहु बहुशो निरूपितम् । तत् पुनरिह सर्वमेव अन्यथा परिदृश्यते,—इति महानयम् आगमविदः स्वकटकक्षोभ इव सर्वविनाशकः समुद्भूतः ।

'सार्ण अर्थात् 'स्' अक्षर ने तीन, अर्थात् पृथिवी, प्रकृति और माया नामवाले अंडों को, 'त्रिशूल' अर्थात् 'औ' अक्षर ने चौथे अर्थात् शक्ति नामी अंड को और विसर्ग (:) ने सर्वातीत अर्थात् विश्वोत्तीर्ण अनुत्तर-भाव को व्याप्त किया है। इस प्रकार की व्यापकता को 'परा-व्याप्ति' का नाम दिया गया है।'

इस सूत्र के अनुसार बिल्कुल दूसरे ही प्रकार से प्रक्रिया की योजना (तत्त्व-योजना) का वर्णन किया गया है।

इसके अतिरिक्त मातृ(का[1])सद्भाव, [2]रतिशेखर और कुलेश्वर[3] इत्यादि पवित्र मन्त्रों के अभिप्रायों के आधार पर अन्यान्य प्रकारों के वर्णन भी प्राप्य हैं। अपर[4]-तन्त्रों में भी इसी प्रकार के प्रायः अस्त-व्यस्त रूपवाले अनेक प्रकार के क्रमों का वर्णन किया गया है। प्रस्तुत त्रिक-शास्त्र में तो इन सारी बातों के प्रतिकूल, सारा गड़बड़झाला ही दिखाई दे रहा है। फलतः यह स्वयं आगमों के ज्ञाता भगवान् शिव के अपने ही सिद्धान्तों में एक इस प्रकार का विनाशकारी विप्लव जैसा उत्पन्न हुआ लगता है, जिस प्रकार किसी रमणी की सारी चूड़ियाँ[5] कभी अपने ही टकराव से चूर चूर हो जाती हैं।

१. इसको मातृसद्भाव और मातृकासद्भाव भी कहते हैं। मन्त्र = 'ह् स् ह् फ्रें' (तं० ३०, ४७-४९)

२. रतिशेखर मन्त्र = 'र् य् ल् वूं' (तं० ३०, १०)

३. कुलेश्वर मन्त्र = 'झ् क्ष् हूं' (तं० ३०, १६)

तन्त्र ग्रन्थों में इस प्रकार के अनेकानेक मन्त्रों में भिन्न भिन्न प्रकार से तत्त्वयोजना के क्रमों के वर्णन मिलते हैं, परन्तु सब में शक्ति-तत्त्व की प्राथमिकता और पृथिवी-तत्त्व की अन्तिमता का क्रम अक्षुण्ण रखा गया है।

४. भेदाभेदप्रधान रुद्रतन्त्र और भेदप्रधान शिवतन्त्र ।

५. 'स्वकटकक्षोभ' यह एक प्रसिद्ध संस्कृत मुहावरा है। यद्यपि हमारे कई विद्या-गुरुओं ने इसका अभिप्राय—अपनी ही फौजी छावनी में किसी कारण से भगदड़ मचना और उससे अपने पक्ष के सैनिकों का नाश होना—भी समझा दिया है, परन्तु तो भी प्रस्तुत प्रसङ्ग में गुरु-परम्परा से ही चले आते हुए उल्लिखित अर्थ को मान्यता दी गई है। संस्कृत कोशों के अनुसार 'कटक' शब्द के फौजी छावनी और चूड़ियाँ दो अर्थ हैं, अतः कोई विरोध नहीं है।

न च साङ्केतिकमिदं येन पुरुषेच्छावशोपकल्पितेन रूपेण च अन्यथा अन्यथा निरूप्यमाणं इह संगतं भवेत्—यथा दाक्षिणात्याः चौरशब्देन ओदनं व्यपदिशन्ति, सैन्धवास्तु तेनैव दस्युम्, ओदनं तु क्रूरश्रुत्या, तया तु काश्मीरिका वितुषितयवगोधूमतण्डुलान्, इति। साङ्केतिकत्वे हि अनवस्थितत्वाद्, अपारमार्थिकत्वाच्च शोध्य-शोधक-भावाद्यनुपयोगाद् अनिरूपणीयत्वम्—एव स्यात्।

यह सैद्धान्तिक मतभेद साङ्केतिक[1] भी नहीं है, ताँकि इसको साधारण पुरुषों के द्वारा अपनी रुचि के अनुसार, कपोल-कल्पित रूपों में भिन्न प्रकार से निरूपण किया गया ही मानकर, प्रस्तुत सन्दर्भ में संगत ठहराया जाता। उदाहरण के तौर पर दक्षिण भारत के निवासी 'चौर' शब्द से भात का अर्थ लेते हैं। सिन्ध के निवासी इसी शब्द से 'दस्यु' का और 'क्रूर' शब्द से भात का अर्थ लेते हैं। कश्मीरी तो उसी 'क्रूर' शब्द से कूटे हुए जौ, गेहूँ और चावलों का अर्थ लेते हैं[2]। यदि आगमों की बातें भी इसी रूप में साङ्केतिक मान ली जायें, तो वे अनवस्थित एवं अपारमार्थिक होने के कारण, शोध्य[3]-शोधक-भाव जैसे विषयों के लिए अनुपयोगी बन जाने से निरूपणीय ही नहीं होंगी।

१. सांसारिक लेन-देन के साथ सम्बन्धित शब्दों के सांकेतिक अर्थ भिन्न भिन्न देशों, वातावरणों, समयों और भाषाओं के साथ सम्बन्धित पुरुषों के द्वारा अपनी-अपनी अपेक्षाओं के अनुसार पारस्परिक आदान-प्रदानात्मक व्यवहारों को चलाने के लिए स्वयं-कल्पित होने के कारण सार्वदेशिक एवं सार्वकालिक नहीं हुआ करते हैं। सार्वदेशिक एवं सार्वकालिक न होने के कारण उनका अपारमार्थिक एवं अव्यवस्थित होना भी स्वाभाविक ही है। हाँ केवल सांसारिक लेन-देन में उनको काम-चलाऊ रूप में संगत मानकर उनसे सीमित व्यवहार चलाये जाते हैं। इसके प्रतिकूल आगम-शास्त्रों में वर्णित बातें स्वयं भगवान् के मुखारविन्द से निकली हुई होने के कारण कभी भी कल्पित, अव्यवस्थित और अपारमार्थिक हो ही नहीं सकतीं। साथ ही सार्वकालिक एवं सार्वजनीन होने के कारण सीमित रूप में सांकेतिक भी नहीं मानी जा सकती। अब जो प्रस्तुत स्थल पर इनमें कुछ असंगति जैसी प्रतीत होती है, उस दोष का परिहार आगे चलकर आचार्य जी स्वयं ही कर रहे हैं।

२. इन उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि सांकेतिकता का रूप प्रत्येक देश एवं काल में समान नहीं होता। दक्षिण भारत में प्रयोग में लाये जाने वाले साङ्केतिक अर्थ सिन्ध के निवासी के लिए और सिन्ध में प्रयुक्त किये जाने वाले, दाक्षिणात्यों और कश्मीरियों के लिए बिल्कुल असंगत हैं। फलतः मानव कल्पित सांकेतिकता सार्वदेशिक या सार्वजनीन रूप में संगत नहीं हो सकती।

३. तत्त्वों की शुद्धि के विषय में पहले भी संकेत दिया जा चुका है। 'शोध्य' शब्द से परिष्कृत किये जाने वाले और 'शोधक' शब्द से परिष्कार करने वाले पदार्थ का

संकेतस्यापि परमार्थसत्तैव। नहि संकेतो नाम अन्यः कश्चिद्, ऋते परमेश्वरेच्छातः। प्रसिद्धो हि संकेतो भगवदिच्छाप्रकल्पितः—तन्नामाक्षर-लिप्यादिगताप्यायनादि-कर्मविधि-जनित-तच्छान्तिकादि-फलसंपत्तेः।

आशंका—

साङ्केतिकता भी लोकोत्तर सत्ता पर ही आधारित है। निश्चय से संकेत परमेश्वर की स्वतन्त्र इच्छा से बढ़ कर और कोई पदार्थ नहीं है। लोक-प्रसिद्ध साङ्केतिक अर्थ भगवान् की इच्छा से ही कल्पित हैं, क्योंकि संकेत के ही आधार पर यदि किसी व्यक्ति के नामाक्षरों की लिखावट के साथ सम्बन्ध जोड़ कर किन्हीं आप्यायन[1] इत्यादि कर्मकाण्डीय विधियों का पालन किया जाता है, तो उनसे उत्पन्न होने वाले शान्ति[2] इत्यादि फल उसको अवश्य मिल जाते हैं।

पदार्थ का अभिप्राय लिया जाता है। इन दोनों के पारस्परिक सम्बन्ध को शोध्य-शोधक-भाव कहते हैं। प्रस्तुत संदर्भ में अनुत्तर-भाव से उद्भूत होकर अलग होने वाले सारे तत्त्व शोध्य, आगम-ग्रन्थों में वर्णित मन्त्रों के जप इत्यादि शोधनोपाय और स्वयं भगवान् अनुत्तर ही शोधक हैं। तत्त्वों की शुद्धि करने का प्रकार यह है कि साधक लोग सद्गुरुओं की दया से पाये हुए मन्त्रों का नियमित अभ्यास करने से, अपनी ही काया में विद्यमान पृथिवी इत्यादि उत्तर तत्त्वों को अपने-अपने पूर्ववर्ती तत्त्वों में लय करने की धारावाहिक युक्ति का अनुसरण करते हुए, अन्त में अपने को सर्वाङ्ग रूप में अनुत्तर-भाव में ही लय कर देते हैं।

१. आगम-शास्त्रों में मानसिक शान्ति, शारीरिक पुष्टि अथवा धातुओं की वृद्धि इत्यादि फलों को वितरण करने वाले, विभिन्न प्रकार के यज्ञीय अथवा ध्यान इत्यादि से सम्बन्धित विधि-विधानों के वर्णन मिलते हैं। इनको आप्यायनादि कर्म कहते हैं। उदाहरणार्थ—दधि का होम करने से शरीर पुष्ट होता है—'दधिहोमात्परा पुष्टिः', शाहगिलोई की आहुति से बल बढ़ता है अथवा दूध और घी का होम करने से बीज की पुष्टि हो जाती है—'आमृतेयमिदं क्षीरमिदं सर्पिर्बलावहम्' इत्यादि।

२. कहने का तात्पर्य यह है कि शास्त्रों में वर्णित इन आप्यायन आदि कर्मों के सांकेतिक अर्थ वे शान्ति इत्यादि फल ही हैं। फलों का वितरण करना केवल ईश्वर की इच्छा के ही अधीन है। वह ईश्वरीय इच्छा भी निश्चित कर्मों के निश्चित सांकेतिक फलों को ही वितरण करती है और उसी निश्चित व्यक्ति को ही वितरण करती है, जिसके नाम के साथ उस यज्ञीय विधि-विधान का सम्बन्ध जोड़ा गया हो। स्पष्ट है कि ईश्वरेच्छा शब्दों के निश्चित संकेतों के अनुसार काम करती है, अतः संकेत वास्तव में उसी के द्वारा कल्पित हैं। यदि ऐसा न होता तो ऐसे सांकेतिक अर्थ मानव-कल्पना की उपज होने के कारण पूरे होते या न भी होते।

इति चेत्—तर्हि एकेनैव संकेतेन सर्ववस्तुसंपत्तौ किं संकेतान्तराश्रयणेन? तदाश्रयणे वा स्वशास्त्रित-शास्त्रान्तरीय-लौकिक-पार्षद-दैशिकगणकृत-प्रतिपुरुष-नियत्याद्यनन्त-सङ्केतनिवेशनपूर्वकम्, तदपि निरूप्यमेव। 'न तावद्भिरुपयोगः, एतावतैव कार्यसिद्धिः'—इत्यपि निरक्षरकुक्षिकुहरैर् उच्यमानं श्रूयमाणं च शोभत एव।

'अविकला भगवदिच्छा, न विचारपदवीमधिशेते'—इति चेत्? अलं ग्रन्थधारण-वाचन-व्याख्यान-विचारणादि-मिथ्यायासेन। परित्याज्य एवायं गुरुभारः। तूष्णींभाव-शरणैरेव स्थेयम्। भगवदिच्छैव उत्तरणीयम् उत्तारयेत्।

समाधान—

इस आशंका के उत्तर में हम यह कह रहे हैं कि यदि ऐसी ही परिस्थिति होती तो एक[1] ही प्रकार के सङ्केत के द्वारा सार्वदेशिक, सार्वकालिक और सार्वजनीन व्यवहार सिद्ध हो जाते और (विभिन्न देशों, कालों और वातावरणों में) अन्यान्य प्रकार के सङ्केतों का आश्रय ही क्यों लेना पड़ता? अब यदि आग्रहपूर्वक उसका आश्रय लिया ही जाता तो पहले स्वपक्षीय शास्त्रों, परपक्षीय शास्त्रों, लौकिक व्यवहारों, सभासदों, गुरुओं के समुदायों, जनसाधारण और प्राकृतिक नियमों के द्वारा निश्चित किये गये अनेक प्रकार के सङ्केतों की घुसपैठ को अनिवार्य रूप में स्वीकारना पड़ता और उसके उपरान्त उनका विवेचन भी करना पड़ता[2]। इस सम्बन्ध में कई लोगों का यह भी दावा है कि चलो उतने झमेले में पड़ने की उपयोगिता ही क्या? हमारा काम तो इतनी ही साङ्केतिकता से चलने का है, परन्तु पेट की धानी में एक भी अखर न ढोने वाले भट्टाचार्यों के द्वारा, कही और सुनी जानेवाली ऐसी बातें, उनको ही खूब फबती हैं।

आशंका—

इस सम्बन्ध में यदि कोई यह दावा करे कि भगवान् की इच्छा अविकल है, अतः उसके अनुष्ठान साधारण मानवीय विवेक के विषय नहीं बन सकते, तो—

१. यदि ऐसी ही परिस्थिति होती तो समूचे विश्व में एक ही भाषा और उसके शब्दों के एक ही बार निश्चित साङ्केतिक अर्थ भी होते। ऐसी परिस्थिति में ईश्वर को क्या पड़ी थी कि उसी ने भिन्न भिन्न देशों, कालों और वातावरणों के लिए भिन्न भिन्न भाषायें और प्रत्येक भाषिक भाषा के शब्दों के अलग अलग साङ्केतिक अर्थ बना डाले? अतः सारे सङ्केत मानव मस्तिष्क की ही उपज हैं। इसमें ईश्वरेच्छा को घसीटना व्यर्थ है।

२. फल यह होता कि अभीष्ट एवं प्रस्तुत शोध्य-शोधक भाव के विषय को ठंडाई में डालकर पहले विश्वभर के सङ्केतों का विवेचन करने के ही भूत से निबटना पड़ता।

तदिच्छैव अनुग्रहात्मा एवं विचारणायां पर्यवसाययति—न खलु पाद-प्रसारिकयैव सुखं शयानैः, भुञ्जानैश्च स्वयम् अविमृशद्भिः, स्वापेक्ष-तीव्रतरादि-परमेश्वरानुग्रहोत्पन्न-अधिकाधिकसूक्ष्मतमविमर्शकुशल- धिषणापरिशीलनपराङ्-मुखैर् वा स्थातव्यम्,—इति ।

तत् सर्वथा विमृश्यम् इदं वर्तते—इति एतावन्न जहीमः । तदत्र अवधार्यं स्थीयतां यावत् परिहरामः । यद्यपि सर्वमिदं, किंचिन् न, वस्तुतः चोद्यजातं परमेश्वर्यां परावाग्भुवि, अनुत्तर-दुर्घटकारितात्मक-निरपेक्ष-स्वातन्त्र्य-सारायां, पारतन्त्र्यांश-लेशमात्र-परमाणुनापि अनुपरक्तायाम्—इति प्रायः प्रागेव प्रति-

---

समाधान—

ऐसा कहनेवालों को हम यह परामर्श दे रहे हैं कि तो फिर वे लोग पोथी-पत्रों का बोझ ढोने, उनको बांचने, भाषण झाड़ने, विवेचन करने अथवा और भी उसी प्रकार के व्यर्थ आयासों के पीछे पड़े रहना एकदम छोड़ दें । उनको यह सारा भार नीचे पटक देना चाहिए—अथवा—उनको गुरुजनों की टहल-टकोरी करने का जुवा ही कंधों से उतार फेंकना चाहिए । ऐसे व्यक्तियों के लिए जबान पर ताला लगाकर पड़े रहने में ही भलाई है । भगवान् की इच्छा पार उतरने के योग्य जन का बेड़ा स्वयं ही पार लगा देगी ।

अरे ! यह तो भूलना न होगा कि वास्तव में भगवान् की इच्छा ही अनुग्रह-मयी होने के कारण मानव-विवेक को इस परिणति पर पहुँचा देती है कि श्रेयस्काम व्यक्तियों के लिए, स्वयं किसी बात का विमर्श करने के बिना और आत्मिक अपेक्षा से ही पाये जानेवाले तीव्रतर और तीव्रतम परमेश्वर के अनुग्रह से विकसित होनेवाली अधिकाधिक एवं सूक्ष्मातिसूक्ष्म विमर्श करने में पटु प्रतिभा के द्वारा तथ्यातथ्य का परीक्षण करने से मुँह मोड़कर, केवल पैर पसार कर नींद भर सोते और मनों भोजन उदर की भट्ठी में झोंकते ही पड़े रहना ठीक नहीं ।

यही कारण है कि हमें इस विषय की तह तक जाने की धुन सवार हो गई है और हम इस पूर्वाग्रह को छोड़ने वाले नहीं । अतः इस दिशा में तब तक सावधान रहिये जबतक हम इस सारे मतिभेद को साफ न कर लें । यद्यपि पहले ही यह समाधान लगभग प्रस्तुत किया जा चुका है कि वास्तव में यह समूची—अधूरी नहीं—प्रश्नप्रतिवचनात्मकता उस महान् ऐश्वर्यशालिनी, अतीव दुर्दाम कार्यों को सम्पन्न करने के रूपवाली एवं अपेक्षा से रहित स्वातन्त्र्य के सारवाली और परतन्त्रता के छोटे से छोटे अंश के अणु-मात्र से भी उपरक्त न होनेवाली

समाहितम् अदः, तथापि विस्तरतः परिह्रियते—

यत् तावदुक्तं—'शिवतत्त्वं, ततः पृथिवी' इत्यादि कोऽयं क्रमः ?—इति, तन् न कश्चित् क्रमः—इति ब्रूमः। अक्रमं यदेतत् परं पारमेश्वरं विचित्रं गर्भीकृतानन्तवैचित्र्यं स्वातन्त्र्यं त्रिकार्थरूपं—तदेव एतत्। तथाहि—

परा-वाणी की भूमिका में धरी ही पड़ी है, तो भी विस्तारपूर्वक इस मतिभेद को दूर किया जा रहा है—

मूल आशंका का समाधान

यह जो शंका उठाई गई है कि—'शिव-तत्त्व के अनन्तर पृथिवी इत्यादि तत्त्वों की ही व्यापकता दिखाकर यह (तत्त्व-क्रम का) कौन सा निराला ही क्रम अपनाया गया है ? इसके प्रत्युत्तर में हम डंके की चोट यह कह रहे हैं कि यह किसी निश्चित क्रम को अनुसरण किये जाने की परतन्त्रता नहीं, अपितु परमेश्वर का सबसे उत्कृष्ट, विचित्र, अपने गर्भ में अनगिनत विचित्रताओं को धारण करने वाला और त्रिकशास्त्र का अर्थरूपी जो 'अक्रम[1]-स्वातन्त्र्य' है, यह तो बिलकुल वही है। तात्पर्य आगे स्पष्ट किया जा रहा है—

---

१. अब यहाँ से आगे के ग्रन्थ में परभैरव के पराशक्तिरूपी 'अक्रम-स्वातन्त्र्य' का वर्णन किया जा रहा है। पराभट्टारिका या परा-शक्ति ही भगवान् अनुत्तर-भैरव का 'अक्रम-स्वातन्त्र्य' अर्थात् किसी क्रम की परवशता से रहित स्वातन्त्र्य-शक्ति है। मूल-ग्रन्थ में इस प्रकरण का वास्तविक मर्म समझने के इच्छुक पाठकों को अपना मानसिक संवेदन एकदम लोकसामान्य और साङ्केतिकता इत्यादि रूपों वाली क्रमबद्ध भूमिका से हटाकर, लोकोत्तर एवं क्रमहीन पराभट्टारिका रूपी स्वातन्त्र्य के मुक्तावकाश की ओर उन्मुख बनाकर ही इसका अध्ययन करना चाहिये। इसके साथ इस प्रकरण के स्पष्टी-करण के लिए पहले त्रिक-शास्त्रियों के प्रसिद्ध मन्तव्य बिम्ब-प्रतिबिम्ब-वाद की मुख्य बातें भी ध्यान में रखी जानी परम आवश्यक हैं। पृथिवी-तत्त्व से लेकर शक्ति-तत्त्व तक का सारा तत्त्व-विस्तार दो रूपों में विलसमान है—(१) बिम्ब रूप में, और (२) प्रति-बिम्ब रूप में। परा-भूमिका ही इन सारे बिम्बों एवं प्रतिबिम्बों का मूलभूत आधार है। संसार का प्रत्येक पदार्थ, चाहे वह घास के तिनके के बराबर तुच्छातितुच्छ ही क्यों न हो, अपने स्थान पर एक ऐसा प्रतिबिम्ब है, जिसका मौलिक बिम्बरूप, निश्चितरूप में, परा-भूमिका में परारूप में ही विद्यमान है। जो भी पदार्थ उस भूमिका में बिम्बरूप में वर्तमान न हो, उसका कहीं पर प्रतिबिम्ब रूप में भी अस्तित्व संभव हो ही नहीं सकता—'यत्तत्र नहि विश्रान्तं तन्नभःकुसुमायते।' इस मान्यता के अनुसार लोकसामान्य भूमिका पर सुनी, देखी और समझी जाने वाली जिन पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी

येयमपरा, परापरा, पराभट्टारिका पारमेश्वरी भैरवीया सत्ता, सा सदाशिव-तत्त्व-अनाश्रितशिवतत्त्वस्यापि उपरिवृत्तिः—तदन्तस्यापि आसनपक्षीकृतत्वात् । तथाहि—

'ईश्वरं च महाप्रेतं प्रहसन्तं 'सचेतनम्/अचेतनम् ।'

अपरा, परापरा और परा इन तीन रूपों वाली और महान् ऐश्वर्य से पूर्ण, जिस परभैरवीय सत्ता का उल्लेख किया गया, उसका आसन सदाशिव और अनाश्रितशिव नामी तत्त्वों से भी उपरितनवर्ती है, क्योंकि अनाश्रित-शिवभाव के आयाम की अन्तिम कोटि तक भी इसका (पराभट्टारिका का) आसनपक्ष ही स्वीकारा जा चुका है । जैसा कि श्रीपूर्व-शास्त्र (मालिनी) में—

'महान्[1] प्रेत का रूप धारण किये हुए, हास्य की मुद्रा में अवस्थित, युगपत् ही अचेतन एवं सचेतन 'ईश्वर'—अर्थात् सदाशिव की भी (भगवती के आसन के रूप में भावना करनी चाहिये) ।' (मा० वि० ८, ६८)

वाणियों का उल्लेख साधारण रूप में किया जाता है, वे तो वास्तव में स्वतः भी प्रतिबिम्ब-रूपिणी ही हैं । उनके भी वास्तविक एवं मौलिक बिम्बरूप किसी अज्ञात-लोक में वर्तमान हैं । परा-भूमिका तो स्वयं प्रत्येक पदार्थ की बिम्बरूपिणी ही है । शेष तीन वाणियों के बिम्ब भी क्रमशः परा-पश्यन्ती, परा-मध्यमा, परा-वैखरी इन तीन रूपों में विद्यमान हैं । इन तीन बिम्बरूपिणी वाणियों का स्थान सदाशिव-तत्त्व के उपरि है और स्वयं परा-भट्टारिका का स्थान इन तीन परारूपिणी वाणी-देवियों से भी उपरितनवर्ती है । यहाँ पर मूल-ग्रन्थ में श्रीपूर्व-शास्त्र से उद्धृत किये गये सूत्रों के द्वारा इसी तथ्य को समझाया गया है । इन सूत्रों में सदाशिव-तत्त्व के अन्त तक का सारा विस्तार परा-भट्टारिका का साधारण आसन और सदाशिव-तत्त्व की नाभि से निकले हुए शक्तिरूपी त्रिशूल के तीन शृंगों पर विद्यमान तीन श्वेत कमलों पर विराजमान रहने वाली तीन देवियों अर्थात् परा-पश्यन्ती, परा-मध्यमा और परा-वैखरी को परम आसन माना गया है । इन बातों का तात्पर्य यह कि सारे विश्वात्मक विस्तार की एक मात्र बिम्बरूपिणी परा-शक्ति से ऊपर और कोई वस्तु नहीं है और यही परा-शक्ति अनुत्तरीय 'अक्रम-स्वातन्त्र्य' है । यहाँ से आगे जिन नामों के साथ पर या परा शब्द लगे हों, उनको बिम्ब-रूपी समझना चाहिये ।

१. श्रीमालिनीविजयोत्तर-तन्त्र के इस सूत्र में सदाशिव-तत्त्व को परा-भट्टारिका के साधारण आसन, अर्थात् उल्लिखित टिप्पणी में बताये गये विशेष आसन के निम्नवर्ती आधार के रूप में प्रस्तुत किया गया है । गुरु-परम्परा के अनुसार इस सूत्रांश के शब्दों से निम्नलिखित अभिप्राय लिये जाते हैं—

इत्यनेन सदाशिवान्तमासनं नादान्तपक्षनिविष्टं श्रीपूर्वशास्त्रोपसंहृतम् ।

इन शब्दों में, नादान्त पक्ष पर परिनिष्ठित रहनेवाले सदाशिव-तत्त्व की अन्तिम कोटि तक विस्तृत आसन का वर्णन करने के उपरान्त—

ईश्वरम् = सदाशिव तत्त्व को। सदाशिव-तत्त्व ही समूची बहिरंग विश्वमयता की सबसे ऊपर वाली सीमा माना जाता है। परा देवियों का स्थान इससे भी ऊपर है। फलतः यह भगवान् के मुख-कमल से निकला हुआ ईश्वर शब्द ईश्वर-तत्त्व का नहीं, प्रत्युत सदाशिव-तत्त्व का वाचक है।

महाप्रेतम् = बड़े से बड़े प्रेत का रूप धारण करने वाले। संस्कृत में 'प्रेत' ऐसी आत्मा को कहते हैं, जो कि देहत्याग करने के उपरान्त दूसरे लोक में चली गई हो। सर्वसाधारण पशुभाव पर अवस्थित आत्मा तो दूसरे लोक में चली जाने पर भी भेद-पूर्ण संसार की सीमा से बाहर नहीं जाती। अतः उसको साधारण प्रेत समझा जाता है। इसके प्रतिकूल सदाशिव भेदपूर्ण अशुद्धाध्व को पूर्णतया लांघकर अभेद लोक में पहुँचा हुआ होने की अपेक्षा से 'महाप्रेत' कहलाता है।

प्रहसन्तम् = हास्य की मुद्रा में अवस्थित। जिस किसी को भी भगवती परा-भट्टारिका का आसन बन जाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ हो, उसके हर्षोल्लास के आयाम का कहना ही क्या? ऐसी भाग्यशालिनी आत्मा हास्य की मुद्रा में नहीं तो और किसमें होगी?

सचेतनम् (अचेतनम्)—युगपत् ही सचेतन और अचेतन। गुरुओं का कथन है कि सदाशिव अपने उपरितनवर्ती परारूपी पूर्ण-अभेदभाव की अपेक्षा से सचेतन और तत्काल ही अपने निम्नवर्ती संसार रूपी भेद-विमर्श की अपेक्षा से अचेतन है। त्रिक-मान्यता यह है कि संसार के प्रत्येक पदार्थ में, भेद-भाव की दीवारों को तोड़कर पुनः अपने मौलिक अभेद लोक में विश्रान्त होने की प्रवृत्ति स्वभावतः, अलक्षित रूप में निहित ही होती है। इस दृष्टि से जब प्रत्येक पदार्थ अभेद-भाव की अपेक्षा से सचेतन है, तो सदाशिव के विषय में कहना ही क्या? K. S. S. द्वारा छपायी गई परात्रिंशिका में केवल 'अचेतनम्' और इसी कार्यालय के द्वारा छपाये गये 'मालिनीविजय' में केवल 'सचेतनम्' ऐसे पाठ मिलते हैं। परन्तु परात्रिंशिका की मूल शारदा पुस्तियों में दोनों प्रकार के पाठ मिलते हैं। गुरु-सम्प्रदाय इसी पाठ को संगत एवं शुद्ध मानता है, जो कि प्रस्तुत अनुवाद में प्रयोग में लाया गया है।

१. 'नादान्त' शब्द प्रणव की आठवीं मात्रा का वाचक शास्त्रीय शब्द है। अकार, उकार, मकार, बिन्दु, अर्धचन्द्र, निरोधी, नाद, नादान्त, शक्ति, व्यापिनी और समना ये प्रणव की ग्यारह मात्रायें हैं। इनमें से आठवीं नादान्त नाम वाली मात्रा सदाशिव-भाव की अवस्था है। इन मात्राओं के अतिरिक्त प्रणव की 'उन्मना' नाम वाली बारहवीं

'........इत्येतत्सर्वमासनम् ।'

इत्युक्त्वा—

'तस्य नाभ्युत्थितं शक्तिशूलशृङ्गत्रयं स्मरेत् ।'

इति शक्ति-व्यापिनी-समनान्तक-शृङ्गत्रयम् उक्तम् । तत्रापि उन्मनसोर्ध्व-कुण्डलिकापद-परमधाम-सितकमलत्रय-रूपतया निरूपितम्—

'..........इत्येतत्परमासनम् ।'

परापर्यन्तत्वाद्—इति । तदुपरि च देवीनां स्थितिः—इति । तदेतत् परं

'यह सारा (परा भगवती का साधारण) आसन है ।'

इन शब्दों में इस आसन पक्ष के वर्णन का उपसंहार किया गया है । यह कहने के उपरान्त—

'उस सदाशिव की नाभि से निकले हुए त्रिशूल के तीन शूलों का (अलग अलग) स्मरण करना चाहिये ।'

इन शब्दों में (उस सदाशिव के उपरितनवर्ती) शक्ति, व्यापिनी और समना इन तीन शक्तिरूपी 'शृङ्गों'—अर्थात् त्रिशूल के तीन फलों का वर्णन किया गया है । उन तीन फलों के उपरीले सिरों पर भी 'उन्मना' नामवाली ऊर्ध्वकुण्डलिका की पदवी का, जिसको आगम-शास्त्रों में परम-धाम माना जाता है, तीन सफेद रंग के [1]कमलों के रूप में वर्णन किया गया है और इसी को—

'....यही [2]विशेष आसन है ।' (मा० वि० ८, ७०) इस श्लोक में विशेष[3] आसन का नाम दिया गया है, क्योंकि इसकी व्यापकता का आयाम बिल्कुल

मात्रा भी है, परन्तु सद्-गुरु महाराज के कथनानुसार योगी में इसकी अभिव्यक्ति अव्यक्त ओंकार के रूप में केवल तब हो पाती है, जब कि वह पहली ग्यारह मात्राओं को चिदाकाश में पूर्णतया लय करने में सफल हुआ हो । इस उन्मना अवस्था को दूसरे शास्त्रीय शब्दों में 'ऊर्ध्वकुण्डलिनीपद' कहते हैं । यही वह विशेष आसन है, जिस पर माता परा-भट्टारिका (वह अलौकिक करुणा एवं सौन्दर्य की प्रतिमा) स्वयं विराजमान है ।

१. गुरुओं के कथनानुसार यहाँ पर श्वेतकमलों के प्रतीक से सृष्टि-संहार या सङ्कोच-विकास या उन्मेष-निमेष का संकेत दिया गया है । सङ्कोच-विकास तो कमल की ही अकाट्य विशेषता है ।

२. सम्पूर्ण मूलसूत्र इस प्रकार है—

'चिन्तयेत्तस्य शृङ्गेषु शाक्तं पद्मत्रयं ततः ।
सर्वाधिष्ठायकं शुक्लमित्येतत् परमासनम् ॥' (मा० वि० ८, ७०)

३. शास्त्रों की मान्यता के अनुसार भगवती परा-भट्टारिका ऊर्ध्वकुण्डलिनी के ऊपर अपने वास्तविक शक्तिमय रूप में शोभायमान है, अतः इसका नाम विशेष आसन रखा गया है ।

पश्यन्त्याख्यं ज्ञानशक्तेरेव पर्यन्तधाम नादाख्यं रूपम् अतिक्रमणीयत्वेनैव स्थितम् । यथोक्तं शिवदृष्टौ—

'अथास्माकं ज्ञानशक्तिर्या सदाशिवरूपता ।
वैयाकरणसाधूनां सा पश्यन्ती परा स्थितिः ।।'

परा-भूमिका तक विस्तृत है । इन तीन श्वेतकमलों पर तीन [1]देवियाँ आसीन हैं । यहाँ पर वर्णित यह परा-पश्यन्ती की भूमिका यद्यपि ज्ञानशक्ति की ही वह पार्यन्तिक[2] कोटि है, जिसको (शास्त्रीय शब्दों में) 'नाद का रूप'—अर्थात् पर-सदाशिव-भाव की अवस्था कहा जाता है, परन्तु तो भी यह भूमिका भी उल्लङ्घन करने के योग्य ही है, अर्थात् परा-भूमिकारूपी अन्तिम लक्ष्य तो इस भूमिका से भी उत्कृष्ट धाम है । जैसा कि शिवदृष्टि में कहा गया है—

'अब इस बात का विवेचन करना है कि हमारे सम्प्रदाय की मान्यता के अनुसार जो (औपचारिक रूप में ही) ज्ञान-शक्ति कही जाने वाली, परन्तु वास्तव में, सदाशिव-भाव को द्योतित करनेवाली परा-पश्यन्ती की भूमिका है, व्याकरण

---

१. यहां पर देवियों से उन्हीं पूर्वोक्त बिम्बरूपिणी परा-पश्यन्ती, परा-मध्यमा और परा-वैखरी का अभिप्राय है । शास्त्रों में इनका अपने-अपने आसन पर विराजमान रहने का क्रम इस प्रकार से कहा गया है कि परा देवी बीच वाले, परापरा देवी दाहिने और अपरा देवी बायें कमल पर आसीन हैं —

'तन्मध्ये तु परादेवी दक्षिणे च परापरा ।
अपरा वामशृङ्गे तु.............................।।'

२. वैयाकरण लोग इस परा-पश्यन्ती भूमिका को ही पार्यन्तिक विश्रान्ति का परमधाम मानते हैं । शैव-सिद्धान्त उनके इस विचार के साथ सहमत नहीं है । इस विषय में भगवान् उत्पलदेव ने शिवदृष्टि के दूसरे आह्निक के पहले ही सूत्र की वृत्ति में यह स्पष्टीकरण प्रस्तुत किया है कि यद्यपि परा-पश्यन्ती स्वरूपतः ज्ञानशक्ति ही है, तो भी अपने नादरूप में विश्व का विमर्श करने के स्वभाववाली होने के कारण क्रियाशक्तिरूपिणी भी है । तात्पर्य यह कि उसको केवल ज्ञानशक्तिरूपिणी मानना सरासर भूल है । हाँ केवल ज्ञानप्रधान होने के कारण से ही औपचारिक रूप में ज्ञानशक्तिरूपिणी कही जाती है । वैयाकरण लोग इस भूमिका को ज्ञानशक्तिमयी पार्यन्तिक भूमिका का नाम देते हैं, परन्तु वास्तव में यह सदाशिव-भाव की ही भूमिका होने के कारण पार्यन्तिक नहीं मानी जा सकती । यह तो केवल भेदाभेद की ही अवस्था है, पूर्ण अभेद की नहीं । सदाशिव-भाव पूर्ण अहंभाव की अवस्था नहीं, अपितु अहं भाव से परिवलित इदं-भाव की ही अवस्था है । अतः इस परा-पश्यन्ती भूमिका को केवल ज्ञानशक्तिरूपिणी नहीं, प्रत्युत ज्ञान-क्रियारूपिणी कहना ही युक्ति-युक्त है ।

इति। प्रत्यगात्मनि हि बुद्धिः पश्यन्ती रुद्रदेवता पर-सदाशिव-ज्ञानशक्तावेव अनाश्रितशिव-शक्त्यात्मनि विश्राम्यति। मनोऽहंकारयोः ब्रह्म-विष्णु-देवतयोः, वैखरी-मध्यमापदे पत्योर्, ईशसदाशिवक्रियाशक्तिपदमेव परा प्रतिष्ठाभूः,—इति तावद् आगमसिद्धं स्वसंवेदनबृंहितं च। तत् पश्यन्त्युपरि पराभूमिर्भगवती —यत्र सर्वमभेदेनैव भाति विमृश्यते च। यद्यपि हि विद्यापदे मायापदेऽपि अभेदेन भासना स्थितापि, तत्र विमर्शोऽन्यथा। विद्यापदे हि 'इदम्'—इति

के पारङ्गत 'साधु'—अर्थात् निरक्षर-भट्टाचार्य उसी को परम-धाम मान रहे हैं।'

आत्मरूपता के अभिमुख बनी हुई 'बुद्धि'—अर्थात् ऋतम्भरा प्रज्ञा ही परा-पश्यन्ती की भूमिका है। इसके अधिष्ठाता देवता भगवान 'रुद्र'—अर्थात् पर-सदाशिव देवता हैं। इस कारण से यह भूमिका उस ज्ञानशक्ति पर ही विश्रान्त हो जाती है, जिसको (शास्त्रीय शब्दों में) पर-सदाशिव अवस्था कहते हैं और यह पर-सदाशिव अवस्था अनाश्रित-शिव की शक्तिरूपिणी है। इसी प्रकार आत्मा के अभिमुख मन और अहंकार की भूमिकाओं के अधिष्ठाता देवता क्रमशः भगवान् पर-ब्रह्मा और पर-विष्णु हैं। इनकी संचालकता का क्षेत्र क्रमशः परावैखरी और परा-मध्यमा तक ही सीमित है। इसलिए इनकी पार्यन्तिक प्रतिष्ठा की भूमिकायें क्रमशः पर-ईश्वर-भाव और पर-सदाशिव भाव के साथ सम्बन्धित क्रिया-शक्ति ही है। इसी सिद्धान्त को आगम-शास्त्रों में मान्यता दी गई है और निजी संवेदन के द्वारा भी इसी बात की पुष्टि हो जाती है। फलतः यह सिद्ध हो जाता है कि भगवती परा-भट्टारिकामयी भूमिका परा-पश्यन्ती से ऊपरितनवर्तिनी है और इसमें सब कुछ अभेद रूप में ही प्रकाशमान होता हुआ अभेदरूप में ही विमर्श का भी विषय बन जाता है। यद्यपि शुद्धविद्या और 'माया'—अर्थात् माया और

---

१. बिम्बरूपिणी तीन वाणियों के स्तर

संख्या	आत्माभिमुख अन्तःकरण	बिम्बरूपिणी वाणियां	अधिष्ठाता देवता	अवस्था
१.	बुद्धि, ऋतम्भरा प्रज्ञा	परा-पश्यन्ती	पर-सदा-शिव	पर-सदाशिव अवस्था ज्ञानशक्तिरूपिणी
२.	अहंकार	परा-मध्यमा	पर-विष्णु	पर-सदाशिव अवस्था क्रियाशक्तिरूपिणी
३.	मन	परा-वैखरी	पर-ब्रह्मा	पर-ईश्वर अवस्था क्रियाशक्तिरूपिणी

प्रमातृप्रमेयजातम् एकत 'अहमात्मनि' सङ्क्रामेत्—तदाच्छादितं विमृश्यते 'अहम्-इदम्'—इति। तद् एतत् समाने चिदात्मनि अधिकरणे उभयं प्रतिबिम्बितम् अभेदेनैव अवभासमानं सामानाधिकरण्यमुक्तम्। अत एव ईश्वरावस्थायां

प्रलयाकल अवस्थाओं में भी 'अहं-इदं-रूपी' प्रकाश-विमर्श-सत्ता की अभेदरूप में ही भासमानता वर्तमान है, तो भी वहाँ पर इदंरूपी विमर्श का रूप दूसरे प्रकार का है। शुद्धविद्या की पदवी में सारे प्रमाता और प्रमेयरूपी पदार्थ, एक ही साधारण अहंभाव में संक्रान्त होकर, 'अहम्-इदम् = मैं-यह' ऐसे अहं-भाव से आवृत इदंभाव के रूप में ही विमर्श के विषय बन जाते हैं। फलतः इस पदवी में, अहंभाव और उसके द्वारा आच्छादित इदंभाव, दोनों एक ही 'चिदात्मारूपी'—अर्थात् बिम्बरूपी पर[1]-अहं-भाव के अधिकरण में प्रतिबिम्बित होकर केवल अभेदरूप में ही प्रकाशमान रहते हैं। यही कारण है कि शुद्धविद्या को '[2]सामानाधिकरण्य' की अवस्था माना गया है। साथ ही यही कारण है कि 'इदम्-अहम् = यह—मैं' ऐसे रूपवाली [3]ईश्वर पदवी में प्रमेय[4] पदार्थों की दशा

---

१. इस तथ्य का स्पष्टीकरण पहले हो किया जा चुका है कि पराभट्टारिकारूपी बिम्ब-भूमिका में प्रत्येक पदार्थ का बिम्बरूप अवश्य वर्तमान ही है। इस सिद्धान्त के अनुसार बहिरङ्ग प्रतिबिम्ब जगत् में पाये जाने वाले साधारण अहं-भाव और इदं-भाव के बिम्बरूप भी वहां मौजूद हैं। उनके शास्त्रीय नाम पर-अहंभाव और पर-इदं-भाव हैं। इतनी बात तो अवश्य है कि उस चिन्मात्ररूपिणी बिम्बभूमिका में ये दोनों आपस में नीर-क्षीर बनकर चिन्मात्ररूप में ही प्रकाशमान रहते हैं। फलतः यहां पर ऐसी ही पर-अहंभावात्मक प्रकाशमानता का तात्पर्य है।

२. सदाशिव-भाव की पदवी पर भी परामर्श का रूप 'अहम्-इदम्=मैं-यह' इस प्रकार से अहंभाव के द्वारा परिवलित इदंभाव है। यहाँ पर ग्रन्थकार ने शुद्धविद्या की पदवी पर वर्तमान परामर्श का रूप भी वैसा ही बता दिया। तात्पर्य यह हुआ कि दोनों ही अवस्थाओं में साधारण अहं-भाव और इदं-भाव का एक ही पर-अहं-भावात्मक आधार होने के कारण दोनों समान अधिकरण की अवस्थायें हैं। ऐसी परिस्थिति में दोनों में अन्तर क्या है? गुरु लोग इस शंका का समाधान यह बताते हैं कि सदाशिव-भाव के साथ सम्बन्धित समानाधिकरणात्मकता बिम्बरूपिणी और शुद्धविद्या के साथ सम्बन्धित समानाधिकरणात्मकता उसकी अपेक्षा से प्रतिबिम्बरूपिणी है।

३. ईश्वर-अवस्था में परामर्श का रूप 'इदम्-अहम्=यह-मैं' इस प्रकार इदं-भाव से परिवलित अहंभाव है।

४. यहाँ पर प्रमेय-पदार्थों की परापर दशा कहने का तात्पर्य यह कि ईश्वर-अवस्था पर वर्तमान ईश्वर रूपी प्रमाता स्वयं परापररूपी दशा-भेद का विषय नहीं बनते, अपितु वे जिस प्रकार के वेद्य-जगत् का संचालन करते हैं, उसका रूप परापर है।

परापरात्मिकां दशां भावा भजन्ते, यथैव मायाध्वनि अपराम्,—न तु सैव परापराशक्तिर् अपरा वा,—इति। अत एव यदीश्वर-तत्त्वं प्रति अभिहितं श्रीमदुत्पल-देवपादैः, तत् प्रदर्शितागम-विपर्यास-शङ्कायुक्तम्—इति न मन्तव्यम्।

परापरात्मिका माया तथा प्रलयाकल अवस्थाओं में केवल अपरात्मिका होती है, परन्तु यहां पर इस मतिभेद में नहीं पड़ना चाहिये कि ईश्वर-अवस्था और माया-अवस्था स्वयं ही क्रमशः परापरा-शक्ति और अपरा-शक्ति हैं। इसी कारण से, भगवान् उत्पलदेव पाद[२] ने ईश्वर-तत्त्व के उपलक्ष्य में जो कुछ भी कहा है, उसमें और यहाँ पर दिखाये गये आगम में किसी पारस्परिक सैद्धान्तिक मतभेद की धारणा निश्चित नहीं करनी चाहिये।

१. कहने का तात्पर्य यह है कि यहाँ वर्णित परापर-दशा, अर्थात् भेदाभेद-दशा और अपरा-दशा अर्थात् भेद-दशा से क्रमशः ईश्वर-भाव और माया-भाव की भूमिकाओं पर चलते हुए व्यवहार का विषय बनने वाले प्रमेय-जगत् की ही दशाओं का तात्पर्य लेना चाहिये। यह नहीं कि ईश्वर-भाव या माया-भाव स्वयं ही क्रमशः पूर्वोक्त परापरा एवं अपरा रूपवाली शक्तियों के प्रतीक हैं।

२. भगवान् उत्पलदेव ने ईश्वरप्रत्यभिज्ञा की निम्नलिखित कारिका में ईश्वर-तत्त्व और शुद्धविद्या-तत्त्व के पारस्परिक अन्तर को स्पष्ट कर रखा है—

'अत्रापरत्वं भावानामनात्मत्वेन भासनात्।
परताहन्तयाच्छादात् परापरदशा हि सा॥' (ई० प्र० ३, १, ५)

कई लोग इस कारिका को सरसरी तौर पर पढ़कर यह अर्थ लगाते हैं कि ईश्वर-अवस्था के प्रमाता (ईश्वर-प्रमाता) स्वयं ही परापर-दशा (भेदाभेद) पर अवस्थित हैं। यहाँ पर भगवान् अभिनव ने स्पष्ट शब्दों में इस मतिभ्रम को दूर कर दिया है। वास्तव में इस कारिका का तात्पर्य यह है कि ईश्वर-तत्त्व के स्तर पर, प्रमेय-जगत् के ही अंशतः अहंरूप में और अंशतः इदंरूप में भासमान रहने की अपेक्षा से ही, परा-परत्व की व्यवस्था वर्तमान है। जहाँ तक इस क्षेत्र के अधिपति स्वयं ईश्वर-प्रमाता का सम्बन्ध है, उसके स्वरूप पर परापरत्व या और किसी दशाविशेष से कोई असर नहीं पड़ता। फलतः इस कारिका का सूक्ष्म अध्ययन करने से यह निष्कर्ष निकलता है कि ईश्वर-तत्त्व की पदवी पर अनुभव में आनेवाली अपरता और परता दो बातों पर निर्भर होती है। एक यह कि इस स्तर पर सारा प्रमेय-वर्ग अनात्मरूप में भासमान होने के कारण इसमें अपरता का अंश विद्यमान है। दूसरी यह कि इदं-विमर्श के वर्तमान होने पर भी उस पर अहं-विमर्श का ही आवरण लिपटा रहता है, अतः इसमें परता का अंश भी विद्यमान है। फलतः यह स्तर दोनों के सम्मिश्रित रूप परापरभाव की अवस्था है।

मन्त्रमहेशादिषु तु रूपं बोधैकपरमार्थमपि अपरबोधैकपरमार्थाद् अन्यद्—'अहम्'। इदं पुनरिदमेव—इति संवित्। विज्ञानाकलानां तु बोधैकपरमार्थेनापि रूपेण 'अहं' न 'इदम्'—इति संवित्। अप्रबोधाद् 'अहम्' इत्येव तत्र प्रबुद्धम्। प्रलयकेवलिनाम् 'इदम्-अहम्' इत्यप्रबुद्धमेव।

अत्र च मायापदे तन्निर्विकल्पकताभासेन यद्यपि अस्ति तथाविध एव प्राणभूतो विमर्शः, तथापि तद्रूपव्यवहारकस्य, तत्प्रसादासादितसत्ताकस्यापि, तद-

---

मन्त्रमहेश्वर इत्यादि[1] अवस्थाओं पर परामर्श का रूप वह 'अहं-भाव' है, जो कि स्वरूपतः बोधमय परमार्थ होने पर भी, अपरबोधरूपी परमार्थ, अर्थात् ईश्वर एवं शुद्धविद्या नामी अवस्थाओं में पायी जाने वाली बोधात्मकता से नितरां भिन्न है—(तात्पर्य यह कि अपने में परता के उत्तरोत्तर अतिशय को लिये हुये है)। हमारा निजी अनुभव यही कह रहा है कि 'यह', अर्थात् ईश्वर और शुद्धविद्या तत्त्वों पर पाया जाने वाला अपरबोधरूपी अहंभाव तो 'यही', अर्थात् सदाशिव, शक्ति और शिव तत्त्वों के साथ सम्बन्धित उत्तरोत्तर अतिशयशाली अहंभाव से निम्न कोटि का ही है। विज्ञानाकल स्तर पर अवस्थित प्रमाताओं के विषय में भी हमारा निजी अनुभव कह रहा है कि उनमें ज्ञानपक्ष की प्रधानता से युक्त अहं-भाव उजागर और विमर्शपक्ष की प्रधानता से युक्त इदं-भाव बिल्कुल अवसुप्त अवस्था में ही वर्तमान होता है। इन प्रमाताओं में (विशुद्ध प्रकाशमानता की प्रधानता की अपेक्षा से नहीं, बल्कि—) केवल इदं-विमर्शरूपी बोध के अभाव की ही अपेक्षा से अहंभाव को उजागर माना जाता है। प्रलयकेवली[2] प्रमाताओं में तो अहंभाव और इदंभाव दोनों ही प्रसुप्त अवस्था में होते हैं—(तात्पर्य यह कि वे स्वरूपतः दोनों का ही साक्षात्कार करने में समर्थ नहीं होते)।

यद्यपि इस प्रलयाकल अवस्था और 'माया[3]-पद'—अर्थात् शून्यप्रमातृभाव

---

१. यहाँ पर 'मन्त्रमहेश्वर इत्यादि' से उत्तरोत्तर अतिशयशाली सदाशिव, शक्ति और शिव स्तरों को ग्रहण करना चाहिये।

२. ये प्रमाता अर्धचेतन अवस्था में सोये पड़े अजगरों की भांति मोहावस्था में इतने जड़ बने होते हैं कि उनको अहंभाव या इदंभाव की चेतना ही नहीं होती।

३. गुरुपरम्परा में यहाँ पर 'माया-पद' से शून्यप्रमातृभाव का अर्थ लिया जाता है, क्योंकि आध्यात्मिक परिप्रेक्ष्य में ये दोनों समानार्थक हैं।

व्यतिरिक्तस्यापि वा पश्चात्तनस्य विमर्शस्य 'इदं शरीरादि, अहमहम्, योऽसौ ज्ञाता, इदं घटादिकम्, इदं यत्—तत् ज्ञेयम्,'—इति भेदेनैव विमर्शरूपतया व्यवहारो विकल्पात्मैव। तत्र तु तथाविधत्वे कारणान्तरासंवेदना। कल्प्यमानेऽपि च

की अवस्थाओं का भी मूलाधार वही विकल्पहीन अहं-आभास होने के कारण, इन दोनों में उसीके अनुरूप विकल्पहीन विमर्श ही प्राण बनकर अवस्थित रहता है, तो भी इन दोनों अवस्थाओं में पड़े हुए प्रमाता[1] जिस अवसर पर इनसे निकल कर व्युत्थान[2] में आ जाते हैं, उस अवसर पर उनका सारा व्यवहार विकल्पमय ही होता है। इसका कारण यह है कि यद्यपि उनके उस पश्चात्कालीन विमर्श को मौलिक विकल्पहीन विमर्श से ही सत्ता प्राप्त हुई होती है और वह उससे कतई भिन्न भी नहीं होता, तो भी उस व्युत्थानकाल पर उसका रूप—'यह मेरा शरीर इत्यादि है, मैं तो बिल्कुल मैं ही हूँ, जो यह जाननेवाला है, ये घड़ा इत्यादि पदार्थ हैं, यह जो सामने है—वह एक ज्ञेय पदार्थ है' इन इन प्रकारों का होने के कारण विकल्पमय[3] ही होता है। इन दोनों अवस्थाओं के

१. प्रलयाकल और शून्यनामी प्रमातृ-भाव ऐसी अवस्थायें हैं, जिनमें आत्मा लम्बी अवधि तक मोहमयी सुषुप्ति मे बेसुध होकर पडी रहती है। अतः इन दोनों अवस्थाओं में, गुरुओं के कथनानुसार केवल इतना अन्तर होता है कि शून्य-प्रमाता की प्राणापानगति इस अचेत पड़े रहने की अवधि तक सूक्ष्मरूप में चलती रहती है, परन्तु प्रलयाकल-प्रमाता की प्राणापानगति इस अवधि में बिल्कुल बन्द रहती है। इस अचेतनता की अवधि में दोनों प्रकार के प्रमाताओं के संचित कर्मों का नाश नहीं होता, बल्कि वे संस्कारों का रूप धारण करके वर्तमान ही रहते हैं।

२. प्रलयाकलभाव और शून्यभाव में बेसुध पड़े हुए प्रमाता इन अवस्थाओं की निश्चित अवधि बीत जाने पर भगवान् अनन्त-भट्टारक के द्वारा चेताये जाकर, संचित कर्मों के संस्कारों के अनुसार भिन्न-भिन्न योनियों में फिर से धकेले जाते हैं। इस प्रकार से ये प्रमाता व्युत्थान में आते ही नये सिरे से जीव-व्यवहार का विकल्पमय ताना-बाना बुनने के क्षोभ में उलझ जाते हैं।

३. इन दोनों अवस्थाओं की बेसुधी की अवधि में किसी भी प्रकार की हलचल न रहने को ही क्षोभहीनता समझकर इनको पूर्ण अभेद की भूमिकायें समझना सरासर भूल है। आध्यात्मिक अनुसन्धान के अभ्यासी व्यक्तियों को ऐसे मतिभ्रम से बचाने के लिए ही आचार्यपाद ने यहाँ पर इस तथ्य का स्पष्टीकरण किया है कि इन दोनों अवस्थाओं में अनुभव की जाने वाली बेसुधी की अवधी में विकल्पमयी हलचल वास्तव में शान्त नहीं हुई होती, अपितु कुछ समय के लिए दबी हुई पड़ी रहती है। इसका ज्वलन्त प्रमाण यही है कि इन अवस्थाओं से निकलने के बाद तत्काल ही प्रमाता के मन में विकल्पपूर्ण विमर्श की सक्रियता फिर भी जागरूक हो उठती है।

कारणे पुनरपि तथाविधबोधाविनिर्भागमात्रपर्यवसानात् तस्यैव अविकल्प-संविदात्मनः तथा सामर्थ्यम् । तथा सामर्थ्ययोगादेव च तदनन्तवैचित्र्यात्मकत्वम्, इति ऐश्वर्यमनपायि सिद्ध्येत् । अस्यां च सत्तायामैश्वर्यमनपेतं—यतो वैखर्यात्मनि एवं मायीये वेद्येऽपि वा मध्यमामये धाम्नि भासनातिरेकी न संभाव्य एवं-विमर्शः ।

अत्र तु परसंविदि यथैव भासा तथैव व्यवहारमयोऽपि विमर्शः । तेन जल इव जलं, ज्वालायामिव ज्वाला, सर्वथा अभेदमया एव भावा भासन्ते, न तु प्रतिबिम्बकल्पेन अपि । केवलं यावद् एषापि परमेश्वरी उपदेशाय निरूप्यते तावद् अधरसत्ताक्लृप्त्या तथा भवति ।

वैसा रूप (प्रलयाकल एवं शून्य) पाने में (निर्विकल्प अहंबोध के अतिरिक्त) और कोई मूलभूत कारण अनुभव में नहीं आता । अगर आग्रहपूर्वक और किसी (बोधहीनता इत्यादि) दूसरे हेतु की कल्पना की जाये तो भी आखिर में इन दोनों का पर्यवसान केवल उसी अहंबोध की एकाकारता में हो जाने से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि इनको अपने-अपने रूप में सत्ता प्राप्त करवाने की क्षमता उस विकल्पहीन संवित् का रूप धारण करने वाले अहंबोध में ही है । ऐसी क्षमता के साथ शाश्वतिक एका होने से ही इस अहंबोध में हमेशा वर्तमान रहनेवाले ऐसे अविनाशी ऐश्वर्य की सिद्धि भी हो जाती है, जिसका प्रत्यक्ष साक्षात्कार अनन्त प्रकार की विचित्रताओं से भरपूर विश्वमयता में हो जाता है। वास्तव में इस मौलिक सत्ता के सार्वभौमिक साम्राज्य में ऐश्वर्य कहीं दूर भी नहीं है, क्योंकि वैखरी-भूमिका, माया के अन्तर्वर्ती प्रमेय-जगत् और स्वयं मध्यमा-धाम की भूमिका पर भी, इस अहंबोध की भासमानता के अतिरिक्त और किसी स्वतन्त्र भेद-[1]विमर्श के भासमान हो सकने की कोई सम्भावना ही नहीं है

जहाँ तक स्वयं भगवती परा-संवित् का प्रश्न है, उस भूमिका में जिस रूप में प्रकाशमानता वर्तमान है, उसी रूपवाले व्यवहार को सम्पन्न करनेवाला विमर्श भी है । अतः वहाँ पर सारे भाव—'जल में जल के ही समान अथवा लपट में लपट के ही समान', विशुद्ध बिम्बात्मक अभेदरूप में ही इस प्रकार से भासमान हैं कि प्रतिबिम्बात्मकता का नगण्य स्पर्श भी उनको होने नहीं पाता । हाँ इतना तो है कि जिस अवसर पर शिष्यों को उपदेश देने के अभिप्राय से इस (बिम्बमयी)

---

१. कहने का तात्पर्य यह कि मध्यमा और वैखरी वाणियों के स्तर पर चलता रहनेवाला भेदविमर्श भी वास्तव में मूलभूत अहंबोध की ही प्रकाशमानता है ।

एवं च भासात्मकं भैरवरूपं स्वतःसिद्धम्, अनादि, प्रथमं, सर्वतश्चरमं, सर्वतश्च वर्तमानम्,—इति किमपरं तत्र उच्यताम्।

तत्त्व-भाव-विकासमयम् आत्मैक्येन स्वप्रकाशं प्रकाशयति, तथैव च विमृशति—अनपेततथाचमत्कारत्वेऽपि। यच्चैतत् तथा-विमर्शनं, तद्भाविमायीयानन्त-सृष्टि-संहार-लक्ष-कोटचर्बुद-परार्ध-साक्षात्कारिणि भासने भवत्

परमेश्वरी का निरूपण करने लगते हैं, उस अवसर पर, दूसरी अवर[1]-सत्ताओं की आड़ में से ही उस स्वरूप को आँकने से वैसा किया जाना संभव हो सकता है।

फलतः केवल आलोकमय भैरवीय रूप ही, स्वयंसिद्ध, अनादि, सबका 'प्रथम'—अर्थात् उद्गम का स्थान, सबका 'चरम'—अर्थात् पार्यन्तिक विश्रान्ति का धाम और सबका 'वर्तमान'—अर्थात् चालू मंझोला प्रसाररूप है, अतः उसके विषय में कहा ही क्या जाये ?

वह निजी प्रकाशमय स्वरूप को छत्तीस तत्त्वों और अनन्त प्रकार के भावों की विकसमानता का इदं-भावात्मक रूप प्रदान करने पर भी, स्वरूप-सत्ता के साथ एका के रूप में ही उसका प्रकाशन और अहं-बोध की आनन्दमयता को स्वरूप से बिलगाने के बिना, उसी रूप में (अहं[2]चमत्कार के ही रूप में) उसका विमर्शन भी करता है। अब जो यह विमर्शन है, उसको भी, आगे आगे विकास में आनेवाले लाखों, करोड़ों, अर्बुदों, परार्धों अर्थात् अनगिनत मायीय सृष्टियों

१. अनुभवी महात्माओं का कथन है कि भगवती भट्टारिका का अपने असली अनिर्वचनीय रूप में साक्षात्कार हो सकना किसी भी उपाय के द्वारा संभव नहीं है। केवल कभी कोई विरला ही अनुग्रहशाली और पुण्यकर्मों वाला व्यक्ति, दूसरी अवर-सत्ताओं की आड़ में से, उस दिव्य आभा का उसी प्रकार साक्षात्कार पा सकता है, जिस प्रकार रंगीन शीशे के बीच में से देखने पर ही मध्याह्न के प्रखर एवं चुंधियानेवाले सौरमण्डल को आसानी से देखा जा सकता है।

२. तात्पर्य यह कि परमेश्वर प्रत्येक पदार्थ का विमर्शन, अहंभावमयी स्वरूप-सत्ता के साथ अभिन्न इदं-भावात्मक रूप में करते रहते हैं। वास्तव में यहाँ पर मूल संस्कृत-वाक्य का यह तात्पर्य निकलता है कि पर-भैरवीय प्रकाशमानता में अहंबोध और इदं-बोध दोनों उजागर हैं और इसीलिए पर-भैरवीय सत्ता स्वरूप में परिपूर्ण है। यदि यह कहा जाये कि उसमें केवल अहं-भाव ही वर्तमान है तो उसकी पूर्णता अवश्य खंडित हो जायेगी, क्योंकि वैसी दशा में इदं-भाव का ठौर-ठिकाना ही कहाँ रहेगा ? असल में ये दोनों भाव उस सत्ता में संवित् रूप में ही वर्तमान हैं और उनका विकास-क्रम केवल प्रकाशन का प्राण हुए विमर्शन से ही संभव हो सकता है।

तथारूपमेव भवति। तथाभवच्च तद् यदि सृष्टौ प्राथमिकं माध्यमिकं वा पदं भासनान्न विमृशेत्, तत्र पूर्वस्य तदुत्तर-व्यभिचारणा-शंका-संभावनातपगमाद् अपरिपूर्ण-प्रथितेतर-भावराशि-खण्डिताभेद-कथम्, अनिर्व्यूढ-परभैरव-

---

और संहारों का साक्षात्कार करने वाले स्वरूप[1]-आभास में हमेशा वर्तमान रहने से ही उसी के अनुकूल (प्रकाशन के अनुकूल) रूप प्राप्त हो जाता है, (तात्पर्य यह कि मौलिक प्रकाशमानता ही विमर्श को भी सत्ता देती है)। वैसा रूप प्राप्त करने पर भी यदि वह निरन्तर चलने वाली दृष्टिधारा में एक [2]सुव्यवस्थित ढंग के अनुसार 'पहले'—अर्थात् उद्गमरूपी और 'मंझले' अर्थात् प्रसाररूपी स्तरों का, प्रकाशमानता पर आधारित रहकर ही विमर्श न कर लेता तो—

१ 'पूर्ववर्ती'—अर्थात् भैरवीय बोध के, 'उत्तरवर्ती'—अर्थात् प्रसाररूपी और विश्रान्तिरूपी स्तरों तक संचार न करने या व्यतिक्रम से करने की शंका हमेशा बनी ही रहने के फलस्वरूप, संसार के सारे भावों की राशियाँ अधूरी एवं अज्ञात ही रहती, जिससे पूर्ण-अभेद-सम्बन्धी बातों की खण्डना से युक्त, और—

---

१. यहाँ पर अनगिनत सृष्टि-संहारों का साक्षात्कार करने से यह तात्पर्य लिया जाता है कि स्वरूपभूत प्रकाशसत्ता वास्तव में स्वयं ही इन अनगिनत सृष्टि-संहारों के रूप में विकसित होती रहती है और स्वयं स्वरूप-विकास का आनन्द लेने के रूप में इनका साक्षात्कार भी करती रहती है।

२. सृष्टिधारा एक सुव्यवस्थित तार के अनुसार आगे आगे अविराम गति में बढ़ती जाती है और विश्वात्मक विमर्श ही उस तार को निश्चित व्यवस्था प्रदान कर देता है। प्रत्येक प्रकार की सर्जना को उद्गम, प्रसार और विश्रान्ति इन तीन अवस्थाओं में से गुजरना होता है। इन तीनों को यहाँ पर ग्रन्थकार ने क्रमशः पहला, मंझला और अन्तिम पद नाम दिया है। हरेक सृष्टि उद्गम से पहले और विश्रान्ति के अनन्तर अहं-बोध के रूप में और इन दोनों के अन्तरालवर्ती प्रसर-पद में इदं-बोध के रूप में अवस्थित रहती है। विमर्श ही सुव्यवस्थित ढंग के अनुसार उद्गम से लेकर विश्रान्ति तक संचार कर सकने से सृष्टि-प्रक्रिया के इन तीनों पदों का तार टूटने नहीं देता। फलतः पर-भैरवीय बोध ही ऐसा है कि युगपत् ही उन्मेष-निमेषमय स्पन्द के रूप में सृष्टि-प्रक्रिया के आदि से अंत तक और अन्त से आदि तक स्वतन्त्रता से संचरणशील है। यदि इस सारी विश्वात्मिका क्रियाशीलता के पीछे इस भैरवीय विमर्श जैसी महान्, चेतन एवं सर्वस्वतन्त्र शक्ति ही कार्यनिरत न होती तो सम्भवतः किसी भी पदार्थ की सृष्टि या तो होने ही नहीं पाती या होकर भी अधूरी रह जाती। साथ ही वैसी परिस्थिति में आदि से अंत तक चलती रहने वाली बोधमयी एकाकारता का तार ही टूट जाता और फलतः इन तीनों स्तरों में कोई पारस्परिक सम्बन्ध और अनुक्रम न रहने के कारण वह बोधमयी प्रकाशमानता भी निबिड अन्धकार के अतिरिक्त और कुछ न होती।

महाधाम-समाश्रिताधस्तन-पश्यन्त्यादिनिष्ठ-भेदासूत्रणात्मकं, तथाविध-वस्त्व-पोषणवश-नाममात्रीभूतं पराभट्टारिकारूपं भवेत्। एतादृश-धारारोहणाभावे च न किञ्चिद् विजृम्भमाणं भासेत, विजृम्भेत वा—इति। न च— 'व्रजतु अपूर्णताम् अप्रतिष्ठिता भावराशिः, अभेदकथा खण्डचतां, मा निर्वाक्षीत् भैरवता आश्रयतां, भेदकलङ्कम् उद्वहतु नामधेयमात्रेण परत्वम्'—इति वक्तुं

२. महान् पर-भैरवीय धाम के ही सिद्ध न हो पाने की दशा में, उस पर निर्भर रहनेवाली निचली पश्यन्ती इत्यादि वाणियों में भी, पारस्परिक अलगाव की ही आसूत्रणा[1] से युक्त—

पराभट्टारिका का रूप, उन उन प्रकारों की अनपेक्षित एवं अनोखी परि-स्थितियों को पुष्टि मिल जाने के कारण केवल नाम का ही रह जाता। निष्कर्ष यह कि यदि भैरवीय प्रकाशमानता स्वभाव से ही ऐसे विमर्श की धार पर आरूढ़ न होती, तो इदंरूप में विकसित होनेवाला विश्व न तो प्रकाशित होने पाता और न विकास का विषय ही बनने पाता। इस सम्बन्ध में यह कहना भी— 'चलो संसार के पदार्थों की राशियाँ किसी ठोस आधार पर प्रतिष्ठित न रहकर अधकचरी ही बनी रहें, अभेद की बतबाती आई-गई हो जाये, भैरव-भाव पदार्थों का आश्रय बनने के स्वभाव का पालन न करे और भेद-वाद का धब्बा परता को नाम की ही बना कर रख दे'—युक्तियुक्त नहीं है। फलतः केवल एक ही यह स्थिति—'भैरवीय प्रकाशमानता अपने बहिर्मुखीन प्रसारात्मक स्पन्दन की पहली कोटि पर ही, सबसे अन्तिम पृथिवी-तत्त्व को ही [2]लक्ष्यबद्ध

---

१. परा से लेकर वैखरी तक के वाणी-प्रपञ्च में भी ऊपर से नीचे तक ऐसा स्वा-भाविक और सुव्यवस्थित विमर्शमय तार बंधा है कि परा-वाणी में जिस बात का स्पन्दन होने लगता है, ठीक वही—तिलमात्र का भी अन्तर पड़ने के बिना—वैखरी के स्तर पर पहुंच कर स्पष्ट अभिलाप के रूप में अभिव्यक्त हो जाता है। अतः यह स्पष्ट है कि भैरवीय-बोध ही विमर्शमय स्पन्द के रूप में, इस वाणी-प्रपञ्च में भी ऊपर से नीचे और नीचे से ऊपर तक संचार करता रहता है। यदि ऐसा न होता तो शायद कोई भी व्यक्ति अपने आन्तरिक सङ्कल्प को शब्दों में अभिव्यक्त ही न कर पाता और परिणामतः संसार के सारे आदान-प्रदानात्मक व्यवहार ही ठप हो जाते।

२. पाठक शायद इस तथ्य को भूले न होंगे कि भैरवीय प्रकाश के बहिर्मुखीन प्रसार अथवा अवरोह का रूप केवल विमर्शात्मक स्पन्द है। यह अवरोह-प्रक्रिया केवल विश्वात्मक विमर्श की गतिमयता के अतिरिक्त और कोई अतिस्वनिक जेट विमान या सुपर फास्ट रेलगाड़ी में बैठकर दौड़ लगाने का प्रश्न नहीं, अपितु केवल विश्वात्मक

युक्तम्। तद् एतदेव भवति सङ्गच्छते च—यदि प्रथमतरं सर्वचरम एव आभासा पतन्ती तत्रैव विमर्शनापि पदं बन्धयेत्।

करके, निजी विमर्श के द्वारा केवल उसी की ओर अवरोहात्मक डग भरने लगती है'—संभव है और अत्यधिक संगत भी लगती है।

महान् संकल्पमयी गतिमयता ही है। इस अवरोहमयी यात्रा की आखरी मंजिल पृथिवी-तत्त्व है। यहाँ पर ग्रन्थकार ने अपने खास वैचारिक लहजे में इतनी लम्बी-चौड़ी भूमिका बाँधकर इस विमर्शात्मक व्यापार का सही एवं स्वाभाविक रूप स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। यह विमर्श-व्यापार चाहे साक्षात् शिव-भाव पर या पशु-भाव पर अवस्थित हो, इसकी क्रियाशीलता में कोई अन्तर नहीं, क्योंकि चित्-शक्ति के स्फुरण का प्रत्येक स्तर पर समान ही रूप है। त्रिक-संप्रदाय ने शायद पहली बार, विमर्श-व्यापार की स्वाभाविक क्रियाशीलता के रूप को, अन्य दार्शनिकों की अपेक्षा अधिक सही एवं सम्भाव्य ढंग से समझा था और इसी कारण से मूलसूत्र में बहिर्मुखीन सृष्टिप्रक्रिया के रूप को प्रस्तुत करते समय, शिव-तत्त्व के अनन्तर सबसे पहले पृथिवी-तत्त्व के ही विकास का उल्लेख कर डाला। त्रिक-सम्प्रदाय के इस मन्तव्य का सही स्पष्टीकरण एक लौकिक उदाहरण से हो सकता है। यदि किसी व्यक्ति को अचानक कार्यवश कश्मीर से दिल्ली जाना पड़े, तो ऐसी यात्रा का वैचारिक स्फुरण होने पर तत्काल ही, उसके विमर्श-मय नयन को, कश्मीर से दिल्ली तक के सारे मध्यवर्ती स्थानों को छोड़कर, मुख्य रूप में दिल्ली ही दिखाई देने लगेगी, क्योंकि वही उसका अन्तिम गन्तव्य स्थान है। अगरचे कश्मीर से प्रस्थान करने के अनन्तर उसकी यात्रा का पहला पड़ाव जम्मू होने के कारण पहले उसके विमर्श पर उसी का प्रतिबिम्ब पड़ना चाहिये था, किन्तु ऐसा होता नहीं, क्योंकि विमर्श-व्यापार का स्वाभाविक ढंग तो पहले प्रकार का ही है। इतना ही नहीं, बल्कि उसके विमर्श में अंकित दिल्ली की प्रतिच्छवि तब तक हटने या मन्द होने नहींपाती जब तक वह साक्षात्-रूप में वहाँ न पहुँचे, चाहे वह इस यात्रा के कितने ही मध्यवर्ती स्तरों पर कितने ही दिनों तक बैठा रहकर कितने ही दूसरे काम भी क्यों न कर बैठे। ठीक इसी प्रकार भैरवीय प्रकाश के बहिर्मुखीन प्रसार की ओर उन्मुख होने पर तत्काल ही, उस विश्वात्मक स्तर पर चलने वाले विमर्श में सबसे पहले पृथिवी-तत्त्व की ही प्रतिच्छवि अंकित हो पाती है, क्योंकि वही तो इस यात्रा की अन्तिम सीमा है। फलतः वह पारमेश्वर प्रकाश भी निजी अवरोह-प्रक्रिया में शक्ति से जल तक के तत्त्वों के रूपों में अवभासित होता हुआ भी, निजी विमर्श में प्रत्येक स्तर पर मुख्यतया पृथिवी-तत्त्व पर ही एकाग्रता से लक्ष्यबद्ध रहता है। यदि शक्ति से लेकर जल तक के तत्त्वों में चलने वाले विमर्श-व्यापार का भी सूक्ष्मातिसूक्ष्म अनुसन्धान किया जाये, तो वे भी निःसंशय पृथिवी को ही लक्ष्य बना कर अवरोह की दौड़ में ही निरत प्रतीत होंगे। इस प्रकार से

स हि चरमो भागः तथा तावत् स्वात्मरूपं बिभ्रत् तत्स्वात्मरूप-नान्तरीयकता-स्वीकृत-तदनन्त-निजपूर्व-पूर्वतरादि-भागान्तरो भासमानो विमृश्यमानश्च

सर्वसर्वात्मकता सिद्धान्त के अनुसार सारे तत्त्वों में परिपूर्णता का आभास।

वह 'अन्तिम भाग'—अर्थात् पृथिवी-तत्त्व, स्वयं पृथिवीरूप में अवस्थित रहता हुआ ही, जल तत्त्व से लेकर शिव-तत्त्व तक के अपने पूर्ववर्ती [1]भागों को भी अविनाभाविता से स्वरूप में घोलकर धारण कर रहा है और इसी रूप में प्रकाशमान होने और विमर्श भी किये जाने के कारण अपने आप में परिपूर्ण[2] ही है। उसका 'पूर्ववर्ती भाग'—अर्थात् जल-तत्त्व भी जहाँ एक ओर, अपने 'उत्तर-

---

जब तक भैरवीय प्रकाश अन्तिम स्थूलातिस्थूल पृथिवी-तत्त्व के रूप में अवभासित नहीं हो जाता, तब तक ऐसा विमर्श उसका पिंड नहीं छोड़ता।

भैरवीय प्रकाश, अवरोह की प्रक्रिया के आरम्भ होने पर तत्काल ही मुख्यतया पृथिवी-तत्त्व को ही अपने अवरोह का प्रधान लक्ष्य क्यों बना लेता है? भगवान् अभिनव ने शिखरस्थ-ज्ञान का दृष्टान्त देकर इस शंका का समाधान पहले ही प्रस्तुत करके रखा है। यह तो सर्वसाधारण अनुभव की बात है कि यदि किसी ऊँचे पर्वत-शिखर पर खड़ा व्यक्ति सामने के विस्तीर्ण अंचल का निरीक्षण करने के लिए सहसा दृष्टि डाले तो अवश्य ही सबसे पहले उसकी नजर उसके अन्तिम छोर पर ही पड़ेगी। उसी प्रकार भगवान् भैरव-भट्टारक भी स्वरूप-विस्तार के अवसर पर अपने विमर्शमय नेत्रों के द्वारा जब छत्तीस तत्त्वों के असीम अंचल की ओर सहसा पारमेश्वर सङ्कल्पात्मक दृष्टिपात करते हैं, तो सबसे पहले उनकी वह दृष्टि पृथिवी-तत्त्व रूपी अन्तिम छोर पर ही जा टिकती है।

भगवान् अभिनव यहाँ पर प्रस्तुत किये गये दृष्टिकोण के अतिरिक्त आगे चलकर वैज्ञानिक तथ्यों के द्वारा भी अपने मन्तव्य की पुष्टि करेंगे। उस मीमांसा का आधार शैव-दर्शन का प्रसिद्ध बिम्ब-प्रतिबिम्ब नियम होगा। अभी उस मीमांसा को आरम्भ करने से पहले पूर्वोक्त सर्वसर्वात्मकता सिद्धान्त के आधार पर यह तर्क प्रस्तुत कर रहे हैं कि प्रत्येक तत्त्व अपने अपने स्थान पर सर्वसर्वात्मक अर्थात् ३६ तत्त्वों का ही पिंड होने के नाते स्वरूपतः परिपूर्ण है। इस दृष्टि से पृथिवी और शक्ति अथवा और किसी भी तत्त्व में केवल नाम मात्र के अतिरिक्त कोई भी स्वरूपगत भेद ही नहीं है, अतः इस विषय में किसी भी प्रकार की औपचारिकता का कोई प्रश्न ही नहीं उठता।

१. प्रस्तुत परिप्रेक्ष्य में 'भाग' शब्द से एक एक तत्त्व का अभिप्राय लेना चाहिये।

२. पृथिवी-तत्त्व का कोई भी उत्तरवर्ती भाग नहीं है, क्योंकि यह स्वरूप-विभाग का अन्तिम भाग है। अतः इसमें केवल अपने पूर्ववर्ती, अर्थात् जल से लेकर शिव-तत्त्व तक के ही भाग व्याप्त हैं। तात्पर्य यह कि पृथिवी-तत्त्व पूर्वोक्त सर्वसर्वात्मकता के सिद्धान्त के

पूर्ण एव । तत्पूर्वोऽपि भागः तदुत्तरभागपृष्ठपाति, वृत्तपूर्व-परिपूर्ण-भासासार-विमर्श-तादात्म्यात् तदुत्तररूप-परिपूर्णताम् अजहत्, स्वयं च स्वरूप-नान्तरीयकता-हठाकृष्ट-स्वपूर्वपूर्वतरादि-भागान्तराभोगो भासमानो, विमृश्यमानश्च तथैव अखण्डितः—इति । एवं तत्पूर्वपूर्वगता भासा तत्तद्-द्वित्र्यादि-निजनिजोत्तर-भाग-

---

वर्ती भाग'—अर्थात् पृथिवी-तत्त्व का [1]अनन्तरित (जिसके बीच में कोई आड़ न हो) अनुगामी होने के नाते, उस [2]उत्तरवर्ती भाग में पहले से ही चली आती हुई प्रकाशमानता और उसके भी सारभूत विमर्श के साथ तादात्म्य होने के कारण, उसमें व्याप्त रहनेवाली परिपूर्णता को अपने से पृथक् नहीं होने देता, वहां दूसरी ओर, अपने पूर्वपूर्ववर्ती इतर तत्त्वों के पूरे विस्तार को भी अविनाभाविता के बल से आकर्षित करके अपने में धारण कर रहा है और फलतः इसी रूप में प्रकाशमान और विमृश्यमान होने के कारण पृथिवी की तरह ही अपने आप में अखण्ड है । इसी रीति से हरेक पूरेक पूर्वपूर्ववर्ती भाग में व्याप्त रहने वाली प्रकाशमानता, एक ओर दो-दो तीन-तीन अथवा जितने भी हों, उतने

अनुसार स्वरूप में अपने से इतर अन्य सारे तत्त्वों को भी अविनाभाव से धारण करने वाला पिंड होने के कारण अपने आप में वैसा ही परिपूर्ण है, जैसा कि सारे तत्त्व-प्रपञ्च को स्वरूप में धारण करता हुआ साक्षात् शिव-तत्त्व ।

१. त्रिक-प्रक्रिया के अनुसार 'ककार' के अनन्तरित अनुगामी 'खकार' में जल-तत्त्व की व्यापकता होने के कारण जल-तत्त्व पृथिवी-तत्त्व का अनन्तरित अनुगामी है ।

२. अग्नि से लेकर शिव-तत्त्व तक के सारे तत्त्व जल-तत्त्व के पूर्वपूर्ववर्ती और पृथिवी-तत्त्व इसका उत्तरवर्ती भाग है । यह तथ्य भी ध्यान में रखना आवश्यक है कि जिस प्रकार पृथिवी-तत्त्व का कोई उत्तरवर्ती भाग नहीं है, उसी प्रकार अनुत्तर-तत्त्व का कोई पूर्ववर्ती भाग नहीं है । अतः इन दो तत्त्वों के मध्यवर्ती तत्त्वों के ही दो-दो भाग हैं ।

३. इससे पहले आचार्य जी ने पृथिवी-तत्त्व की परिपूर्णता इस प्रकार से सिद्ध की है कि वह स्वरूप में अपने पूर्ववर्ती पैंतीस तत्त्वों को समाकर अवस्थित है, अतः उसमें स्वरूप (उसका अपना पृथिवीरूप) के समेत पूरे ३६ तत्त्वों का समावेश होने के कारण वह अपने में परिपूर्ण है । इस सम्बन्ध में यह शंका स्वाभाविक रूप में उत्पन्न हो सकती थी कि पृथिवी का कोई भी उत्तरवर्ती भाग नहीं है, अतः वह अपने पूर्ववर्ती भागों को स्वरूप में धारण करने से परिपूर्ण हो सकती है । परन्तु यह नियम दूसरे ऐसे तत्त्वों पर, जिनके उत्तरवर्ती भाग भी हैं, कैसे लागू हो सकता, क्योंकि ऐसे तत्त्व तो निःसंशय पृथिवी की तरह अपने पूर्ववर्ती भागों को स्वरूप में धारण करते होंगे, परन्तु उत्तरवर्ती भाग तो उनमें व्याप्त न रहकर अलग-थलग ही पड़े रहते होंगे । फलतः ऐसे तत्त्व अपने में पूर्ण

भासाविभागे लब्ध-भैरवभावस्वभाव-अव्यभिचारानुरोधबल-स्वीकृत-स्वस्वपूर्व-भाग-चमत्कारा एकैकमपि परं पूर्णा भवति, यावत् स्वप्रकाश-निज-भैरवाभिमत-निकटतर-वर्ति रूपं, तदेव स्वेच्छाविश्रान्ति-धामतया भैरवाख्यं वपुः। स्वयमेव तद्विमर्शकुशला भवत प्रसंख्यानपराः। ह्रद-गिरि-तरुप्रभृत्युपाधिसंकोचेन रहिते, तद्वत्यपि वा अरण्यानीप्रदेशे दूरादखण्डिता दृष्टिर् एवमेव अखण्डित-तामुपाश्नुवाना, भैरवबोधानुप्रवेशं प्रति संप्रदायतामासादयेत्—

उतने उत्तरवर्ती भागों में व्याप्त रहनेवाली प्रकाशमानता के साथ निर्विभाग रूप में वर्तमान रहती हुई, दूसरी ओर अपने आप में स्वयंसिद्ध रूप में ही व्याप्त रहनेवाले भैरव-भाव नामी स्वभाव में कोई भी अन्यथा भाव न होने के अनुरोध के बल से ही अपने पूर्वपूर्ववर्ती भागों की चमत्कारिता को भी स्वीकारती हुई, अलग-अलग रूपों में विभक्त होने पर भी हरेक रूप में परिपूर्ण ही है। (इसी पद्धति से उत्तरोत्तर तत्त्वों का विश्लेषण करते-करते) आखिर में वह अपना मनोनीत और स्वयं-प्रकाशमान भैरव नामी स्वरूप अतीव निकटवर्ती बन जाता है और वह स्वरूप निजी इच्छा से ही पार्यन्तिक विश्रान्ति देनेवाला परमधाम होने के कारण से 'भैरव' इस नाम से सम्बोधित किया जाता है।

प्रत्येक तत्त्व में शिव-भाव को निभालने का उपाय।

उस स्वरूप का विमर्श करने पर पटु व्यक्तियों को स्वयं ही लगातार प्रत्येक तत्त्व में उसको निभालने पर तत्पर बन जाना चाहिये। तालाब, ऊँचे पहाड़, वृक्षों के झुरमुट इत्यादि प्रकार की उपाधियों से रहित—अर्थात् खुले एवं सपाट, अथवा इनके सहित ही सही, पहाड़ी अंचल पर दूर से नजर डालने पर दृष्टि में अखण्डता आ जाती है और इसी तरह देखते रहने से वह (दृष्टि) धीरे-धीरे पूर्ण अखण्डता को प्राप्त होती हुई, आखिरकार, भैरवीय बोध में प्रवेश पाने के लिए पथप्रदर्शिका बन जाती है।

नहीं हो सकते और सर्वसर्वात्मकता सिद्धान्त की व्यापकता भी संशय में ही पड़ जाती है। इसी शंका का समाधान करने के अभिप्राय से यहाँ पर ग्रन्थकार को जल-तत्त्व का विश्लेषण करना पड़ा है। इस विश्लेषण से यह तथ्य सामने आता है कि दो-दो भागों वाले तत्त्व भी दोनों ओर की चमत्कारिता को स्वरूप में समाकर अवस्थित हैं, अतः वे भी अपने आप में परिपूर्ण हैं। हाँ केवल इतना है कि ऐसा प्रत्येक तत्त्व अपने पूर्वपूर्ववर्ती भागों को नीरक्षीर-न्याय से और अपने उत्तरोत्तर भागों को वट-बीज में अवस्थित वृक्ष के न्याय से धारण करता हुआ ही विकसित हुआ है। अतः सर्वसर्वात्मकता में कोई भी दोष नहीं है।

'निर्वृक्षगिरिभित्त्यादौ देशे दृष्टिं विनिक्षिपेत् ।'

इत्यादि । अन्यथा भागशः पाते प्रथमभागाद् आरभ्य यदि वा निरवयवमेव एतत्, तत्क इव अपरसंवेदनेभ्योऽपूर्णाभिमतेभ्यो विशेषः ? विशेषस्तु गर्भीकृत-अनन्त-वैचित्र्य-चमत्कारकृत एव अपूर्णसंविदन्तरेभ्यः पूर्णाभिमतसंवेदनस्य— इति स्वयमेव जानन्तु सोपदेशाः पारमेश्वराः । परमेश-शक्तिपात-किरणाविक-

'[1]वृक्षों से रहित पहाड़ी प्रदेशों अथवा सपाट दीवार इत्यादि की ओर अपलक दृष्टि से देखते रहना चाहिये ।'

प्रस्तुत सन्दर्भ में ऐसे बहुतेरे उपाय बताये गये हैं । इसके प्रतिकूल यदि दृष्टि को अलग-अलग भूमिभागों[2] पर ही डाला जाये और उसके फलस्वरूप पहले ही भाग से लेकर संवेदन साङ्गोपाङ्ग न बनने पाये, तो इसमें (योगिसंवेदन में), दूसरे अव्यापक माने जानेवाले संवेदनों (साधारण जीवों के संवेदनों) की अपेक्षा अन्तर ही कौन सा रहेगा ? सद्गुरुओं के उपदेशों का पात्र बने हुए और नित्य-युक्त रूप में परमेश्वर-भाव में परिनिष्ठित रहनेवाले महानुभावों को स्वयं इस तथ्य का मूल्याङ्कन करना चाहिये कि इस परिपूर्ण माने जानेवाले संवेदन में, दूसरे अपूर्ण माने जानेवाले संवेदनों की अपेक्षा, अपने गर्भ में अनन्त प्रकार के विश्ववैचित्र्य को एकाकार अहंरूप में धारण करने के चमत्कार का ही अतिशय

१. शैव योगक्रम में यह एक प्रसिद्ध धारणा है । इसका शास्त्रीय नाम 'दृष्टि-बन्धन' है । श्री विज्ञानभैरव (श्लोक ६०) में इसका ब्यौरा दिया गया है । इसके अनुसार अनुसन्धान और अखण्ड एकाग्रता के साथ दूर-दूर तक सपाट प्रदेश की ओर अपलक दृष्टि को बांधकर देखते रहने का अभ्यास डालने से धीरे-धीरे चित्त में 'वृत्तिक्षीणता' की दशा का उदय हो जाता है । बहिर्मुखीन वृत्तियों के शान्त हो जाने पर संवेदन की व्यापकता का विस्तार स्वयं ही बढ़ जाता है और यदि परमेश्वर का अनुग्रह हो तो आन्तरिक प्रकाश-मण्डल में प्रवेश भी मिल सकता है ।

२. तात्पर्य यह कि यदि किसी एक तत्त्व को परिपूर्ण न मानकर उसकी अपनी ही परिधि तक सीमित रूप में उसका अनुसन्धान किया जाये तो संवेदन कभी भी पूर्णता, व्यापकता एवं अखण्डता को प्राप्त नहीं कर सकता । इसके खण्डित अनुसंधान की परिपाटी को अपनाकर यदि साक्षात् शिवभाव का ही अनुसन्धान किया जाये तो भी उसका कोई मनोनीत एवं वाञ्छित परिणाम नहीं निकल सकता और न संवेदनगत एकदेशीयता ही कभी दूर हो सकती है । असल में तो प्रत्येक दशा में प्रत्येक स्थान पर, अणु-अणु में भी, ३६ तत्त्वों की अखण्ड व्यापकता का अनुसन्धान करते रहने से ही संकुचित संवेदन व्यापक बनकर विश्वात्मसंवेदन के रूप में विकसित हो जाता है ।

सिते तु पशुजन-हृदय-कुशेशये न अस्मदीयैर् वचनशतैरपि, अतितीक्ष्णाभिधेय-सूचिभिरपि, संभेदोऽथ, विकासोऽथ वितरीतुं शक्यः।

घटेऽपि एवमेव परिपूर्णो दृष्टिपातः। तत्रापि हि अविकल्पा संविज् झगिति चरमभाग एव निपतति। ततस्तु क्रमात् विकल्पसंविद आयान्त्य आ चरम-

---

पाया जाता है। पशुजनों के हृदयकमल तो परमेश्वर के अनुग्रह की किरणों से खिले हुये नहीं होते, अतः हमारे सौ सौ उपदेश दिये जाने अथवा जोरदार बातों की सूईयाँ चुभाये जाने से भी उनको न तो विकसित किया जा सकता है और न छेदा ही जा सकता है।

इसी रीति के अनुसार 'घट' जैसे साधारण पदार्थ पर भी परिपूर्ण (विश्वात्म-रूपिणी) दृष्टि पड़ जाती है। तात्पर्य यह कि घट को देखने के अवसर पर, निर्विकल्प-संवित् विद्युत्[1]-गति से पहले उसके अन्तिम भाग, अर्थात् मुटाई-गोलाई इत्यादि प्रकार के आकार वाले पृथिवी-भाग पर ही सीधा अवरोह कर लेती है। इसके उपरान्त क्रमशः अनगिनत विकल्प ज्ञानों के रूप में विकसित

---

१. त्रिक-संप्रदाय की मान्यता यह है कि किसी साधारण से साधारण पदार्थ का भी साक्षात्कार हो जाने के अवसर पर जितने अलक्षित एवं सूक्ष्मातिसूक्ष्म काल-खण्ड में वह साक्षात्कार की प्रक्रिया पूर्ण हो जाती है, उतने ही में निर्विकल्प-संवित् का एक प्रसार-संहारमय चक्र पूरा हो जाता है। इस प्रक्रिया का रूप यह है कि उस वस्तु का साक्षात्कार होने के ठीक तत्काल ही निर्विकल्प-संवित् बहिर्मुख होकर अलक्ष्य वेग में शिवभाव से पृथिवी-भाव की ओर छत्तीस तत्वों की क्रमिक सरणि से अवरोह करके, उस वस्तु के साथ सम्बन्धित देश काल एवं आकार की परिधियों में संकुचित और गुण, क्रिया एवं नाम-रूप की विकल्पमयी उपाधियों से विशिष्ट अन्तिम पार्थिव-भाव पर जा पहुँचती है। इस अपने बहिर्मुखीन प्रसार की अन्तिम कोटि तक पहुँचते-पहुँचते संवित् स्वयं भी स्वतन्त्रतापूर्वक निजी निर्विकल्पात्मकता का तिरोधान करके सविकल्पक रूप धारण कर लेती है। फिर इस पदार्थ-साक्षात्कार की अन्तिम कोटि का स्पर्श करने के ठीक तत्काल बाद उसी तीव्रतम वेग से अन्तर्मुख होकर, उसी छत्तीस तत्वों की क्रमिक सरणि से पृथिवी-भाव से शिव-भाव की ओर आरोह करके, पर्यन्ततः उसी मौलिक निर्विकल्प रूप में विश्रान्त हो जाती है। इस प्रकार से उस साक्षात्कार का विषय बनने वाले पदार्थ के साथ सम्बन्ध रखने वाला एक ज्ञान चरम परिणति के बिन्दु पर पहुँच जाता है

निकटभागाद् अन्तस्तराम् अन्तस्तमां च अनुप्रविशन्ति—इति किमन्येन? तदेवमेव इहापि शिव-तत्त्वं सदा अविकल्पमेव, विकल्पसूतिस्वातन्त्र्यरसम्, अनादि, सर्वादिभूतं सिद्धम्—अत्र तावन् न विमतिः। तत्तु परिपूर्णं तथा भवति यदि सर्वचरमां पार्थिवीमेव भुवम् अधिशेते। धरासंवित् हि तथा धरां विषयतयापि अभेदेन आभासयेत्, विमृशेच् च, यदि तत्स्वरूप-सर्वस्वाभास-विमर्शयोः व्याप्रियेत।

हो जाती है और वे विकल्पज्ञान भी उस अपने निकटतरवर्ती अन्तिम-भाग से ऊपर की ओर (हृदय-मण्डल की ओर) आरोह करते हुए फिर भी 'अन्तस्तर और अन्तरतम' में प्रविष्ट हो जाते हैं—अर्थात् पार्यन्तिक विश्रान्तिधाम में ही निलीन होकर फिर भी निर्विकल्प संवित्-भाव में विश्रान्त हो जाते हैं। अतः इस विषय में और अवान्तर प्रसङ्गों को छेड़ने का प्रयोजन ही क्या है? ठीक इसीप्रकार प्रस्तुत प्रसङ्ग में भी शिव-तत्त्व एकमात्र स्वयंसिद्ध सत्ता होने के कारण 'हमेशा' अर्थात् पृथिवी-भाव में भी सर्वथा निर्विकल्प-भाव पर ही प्रतिष्ठित रहकर विकल्पमयता को उपजाने के स्वातन्त्र्य की रसमयता से भरपूर और स्वयं अनादि होकर भा सबका आदि कारण बनकर वर्तमान है—इस सम्बन्ध में किसी को कोई भी मतभेद नहीं। वह (शिव-भाव) केवल उसी सूरत में परिपूर्ण हो सकता है, जब कि वह अपने समूचे प्रसार की अन्तिम कोटि पृथिवी-तत्त्व की भूमिका पर ही प्रतिष्ठित रहे। यह भी निश्चित है कि 'धरा[1]-संवित्' अर्थात् पृथिवी में ही परिपूर्णता का आभास करा देनेवाली प्रतिभा भी केवल उसी सूरत में पृथिवी को वेद्यरूपिणी होने पर भी स्वरूप के साथ अभिन्नरूप में आभासित कर सकती और उसी रूप में उसका विमर्श भी कर सकती है जब कि वह उस पृथिवीस्वरूप में अन्तर्निहित रहनेवाले 'सर्वस्व'-अर्थात् ३६ तत्त्वों की व्यापकतारूपिणी परिपूर्णता का प्रकाशन एवं विमर्शन करने में सक्षम हो।

इसका शास्त्रीय नाम 'प्रमिति' है। यदि संसार के सारे पदार्थों का साक्षात्कार हो जाने के अवसरों पर निर्विकल्प-संवित् का यह प्रसार-संकोचात्मक चक्र पूरा न हो जाता तो कोई भी ज्ञान पूरा न हो जाने के कारण वास्तव में ज्ञान हो नहीं कहलाता और सम्भावना यह होती कि घट, पट आदि पदार्थ अनजाने ही रह जाते। संवित्-शक्ति का यह अवरोह-आरोहात्मक चक्र इतनी तीव्रतम एवं अलक्ष्य गति में पूरा हो जाता है कि साधारण इन्द्रिय-बोध इसको किसी भी प्रकार से ग्रहण नहीं कर सकता। केवल योगिजनों के मानसपटल में उदित प्रातिभ-उन्मेष ही इस शाक्त-स्पन्द का अनुभव करने में सक्षम होता है।

१. प्रसार की प्रक्रिया में अन्तिम पृथिवी-तत्त्व पर ही लक्ष्यबद्ध रहकर धारावाही एकाग्रभाव से केवल उसी में परिपूर्णता का विमर्श एवं अनुभव करा देनेवाली संवित्।

स्वरूपसतत्त्वं च अस्याः—

I—"परिपूर्ण-प्रसर-तत्स्वातन्त्र्यक्लृप्ताप्ररूढाभेद-तत्पूर्वकैकरसभेद-अवभास-तद्वशोदित-संकुचित-चित्स्वातन्त्र्यसत्तामय-माया-ग्राहक—

'वमनयुक्ति' के अनुसार पृथिवी की परिपूर्णता ।

I—(वमन[1] युक्ति के अनुसार) इस पृथिवी-तत्त्व में व्याप्त रहनेवाली स्वरूपसत्तामयी परिपूर्णता को इसका —

१ अहं-भाव और इदं-भाव की समरसतामयी परिपूर्णता = शिव-तत्त्व ।

२ शिव का ही 'अ-ह-म्' रूप में प्रसार = शक्ति-तत्त्व ।

३ शक्तिमय स्वातन्त्र्य से ही उभरी हुई अभेद में क्षति, जिसके प्रभाव से अभेद-भाव की मुख्यता रहने नहीं पाती । (अहं में ही इदं की उद्भूति) = सदाशिव-तत्त्व ।

४ अभेद की खण्डना से जन्य एकरस भेद-भाव का सूक्ष्मातिसूक्ष्म सूत्रपात = ईश्वर-तत्त्व ।

५ अभेद में ही भेद की स्पष्ट भासमानता = शुद्धविद्या-तत्त्व ।

---

१. स्वरूप-सत्ता में आदिसिद्ध रूप में ही वर्तमान रहनेवाली विश्वमयता का स्वभाव से ही बहिरङ्ग स्थूलरूप में ३६ तत्त्वों के क्रमिक विकास के रूप में प्रसृत होना ही 'वमन-युक्ति' कहलाती है । यह युक्ति शिव-तत्त्व से आरम्भ होकर पृथिवी-तत्त्व में समाप्त हो जाती है । यह बहिरङ्ग रूप में किसी नये तत्त्व के नये सिरे से उत्पन्न होने की नहीं, प्रत्युत अन्तरङ्ग तत्त्व के ही स्वयं बहिरङ्ग नानारूपता में विस्तार प्राप्त करने की युक्ति है । इस युक्ति के अनुसार जब यह कहा जाये कि शिव-तत्त्व का विकास हुआ तो सोचना यह होगा कि अवश्य ही शक्ति-भाव शिव-भाव में पहले से ही विद्यमान था, क्योंकि प्रसार अथवा विकास उसी वस्तु का हो सकता है, जो पहले से ही, चाहे बीजरूप में ही सही, विद्यमान हो । वटबीज से वटवृक्ष का प्रसार इसका ज्वलन्त उदाहरण है । इस प्रकार प्रत्येक उत्तरवर्ती तत्त्व अपने पूर्ववर्ती कारणतत्त्व में पहले से ही विद्यमान होता है । फलतः पृथिवी-तत्त्व तक के सारे तत्त्व अपने-अपने कारण-तत्त्व में समाकर सबके मूलकारण शिव-तत्त्व में आदिसिद्ध रूप में वर्तमान ही हैं । तभी जाकर उनका 'वमन' बहिःप्रसार सम्भव हो पाता है । यही कारण है कि इस वमन-युक्ति के अनुसार शिव-भाव और पृथिवी-भाव की परिपूर्णता में कोई अन्तर नहीं है ।

तद्ग्राह्यचक्र—अविभेदात्मकप्रधान—तद्विकारधीतत्त्व-तत्परिणामात्मकाहंकार-तन्मूलकरण — पूर्वकतन्मात्रवर्ग —प्रसृतखादिजलान्तभूतवर्ग—अधरवृत्तितया, अवस्थानं धरायाः ।"

---

६ चितिमयी स्वातन्त्र्य-सत्ता का वह रूप, जो कि भेद-भाव की भासमानता से ही उपजाये हुए संकोच में पड़ जाने के अभिमुख हो	= महामाया-तत्त्व।
७ परिपूर्ण भेद-भाव एवं संकोच का पुतला	= माया-तत्त्व।
८ माया के स्तर पर अवस्थित परिमित प्रमाता	= पुरुष-तत्त्व।
९ मायीय परिवार का वह चक्र, जिसका वह मितप्रमाता 'ग्राह्य'-अर्थात् वशवर्ती बना होता है	= कला-तत्त्व, विद्या-तत्त्व, राग-तत्त्व, काल-तत्त्व और नियति-तत्त्व।
१० सत्त्व-गुण, रजोगुण और तमोगुण इन तीन की साम्यात्मिका अवस्था	= प्रकृति-तत्त्व।
११ उस प्रकृति-तत्त्व (मूलप्रकृति) की सब से पहली विकृति	= बुद्धि-तत्त्व।
१२ उस विकृति के दो परिणाम	= मनस्-तत्त्व और अहंकार-तत्त्व।
१३ अहंकार पर ही आधारित रहनेवाली दो प्रकार की इन्द्रियों का समुदाय	I श्रोत्र-तत्त्व, त्वक्-तत्त्व, नेत्र-तत्त्व, रसना-तत्त्व और घ्राण-तत्त्व (पाँच ज्ञानेन्द्रियां) II वाक्-तत्त्व, हस्त-तत्त्व, पाद-तत्त्व, पायु-तत्त्व और उपस्थ-तत्त्व। (पाँच कर्मेन्द्रियां)
१४ पांच ज्ञानेन्द्रियों के अपने अपने अनुकूल सामान्य रूपवाले ग्राह्य-विषय—तन्मात्रों का समुदाय।	= शब्द-तत्त्व, स्पर्श-तत्त्व, रूप-तत्त्व, रस-तत्त्व और गन्ध-तत्त्व। (सामान्य तन्मात्रों के रूपवाले)
१५ इन पांच तन्मात्रों से ही प्रसार में आने वाले, वास्तव में इनके ही स्थूलरूप, आकाश से लेकर जल तक के महाभूतों का समुदाय। और—	= आकाश-तत्त्व, वायु-तत्त्व, तेजस्-तत्त्व और जल-तत्त्व।

II—"सा हि यावद् आक्षेपेणैव वर्तमाना तावत् स्वरूपसतत्त्वैव। यावदेव पञ्चगुणत्वात् तन्मात्राणि आक्षिपेत् तावत् तानि आक्षिप्यमाणानि निजस्वरूपो-

१६ इस समूचे तत्त्वविस्तार की
सब से निचली या अन्तिम सीमा[1] = पृथिवी-तत्त्व।
इस सारे तत्त्व-समुदाय के आधार के रूप में अवस्थित रहना ही चरितार्थ बना देता है।

'ग्रसन युक्ति के अनुसार पृथिवी की परिपूर्णता।

II—(ग्रसन[2]-युक्ति के अनुसार) जब तक वह (पृथिवी) 'आक्षेप', अर्थात् जल-तत्त्व से लेकर शिव-तत्त्व तक के सारे पूर्ववर्ती तत्त्वों की शृंखला को स्वरूप में समाकर सामान्यरूप में अवस्थित हो, तब तक उसको स्वरूप-सत्ता पर

१. संहार-क्रम में सब तत्त्वों के संहार की अन्तिम कोटि शिव-तत्त्व और प्रसार-क्रम में सब तत्त्वों के प्रसार की अन्तिम कोटि पृथिवी-तत्त्व को माना जाता है। जिस प्रकार शिव-तत्त्व अपने स्थान पर प्रत्येक तत्त्व की ऊपरी सीमा होने के कारण सबका मूलाधार समझा जाता है, उसी प्रकार पृथिवी-तत्त्व भी अपने स्थान पर प्रत्येक तत्त्व की निचली सीमा होने के कारण सबका आधार समझा जाता है। विश्व के जिस किसी भी स्थान पर पृथिवी-तत्त्व ही प्रत्येक पदार्थ का आधार है। यही कारण है कि इसी तत्त्व को आधार-शक्ति की संज्ञा दी गई है। इस दृष्टि के अनुसार भी दोनों प्रकार के आधारों में कोई स्वरूपगत भेद हो ही नहीं सकता।

२. उत्तरोत्तरवर्ती कार्य-तत्त्व का अपने-अपने पूर्वपूर्ववर्ती कारण-तत्त्व में लयीभवन के क्रम से, अन्ततोगत्वा, सारे तत्त्व-प्रपञ्च का अपने आदिसिद्ध मूलकारण (शिव-भाव) में लय हो जाने को 'ग्रसन-युक्ति' कहते हैं। यह युक्ति पृथिवी-भाव से प्रारम्भ होकर शिव-भाव में समाप्त हो जाती है। इस युक्ति के सम्बन्ध में यह तथ्य दृष्टि में रखना आवश्यक है कि कोई भी कार्यसत्ता केवल उसी कारणसत्ता में लय हो सकती है, जो कि पहले से ही सिद्ध हो। यदि यह कहा जाये कि पृथिवी-तत्त्व जल-तत्त्व में लय हो जाता है तो अवश्य जल-तत्त्व पहले से ही सिद्ध कारण-सत्ता के रूप में विद्यमान ही होगा, जिसमें पृथिवीरूपी कार्यसत्ता लीन होगी। यहाँ तक तो ठीक है, परन्तु जल-तत्त्व की सिद्धि भी तभी सम्भव हो सकती है, जब कि उसकी कोई अपनी कारण-सत्ता विद्यमान हो। इसी क्रम पर अनुसन्धान करने से यह निष्कर्ष निकलता है कि वास्तव में किसी स्वयंसिद्ध मूलकारण-सत्ता की अदेशकालकलित और शाश्वतिक विद्यमानता ही इस सारी समस्या का मात्र समाधान है। वह मूलकारण-सत्ता ही स्वतन्त्रता से कभी कारण-सत्ता और कभी कार्य-सत्ता का रूप धारण कर लेती है। ऐसी ही मूल कारण-सत्ता को शैव आगमों में शिव कहा जाता है।

पक्लृप्तये समाक्षिप्त-प्राक्तन-प्रातिष्ठिक-मूलान्तर-परम्परानुबन्धि-स्वकपूर्वक-मूलान्येव। नहि—'उपादानाभिमत-कारणस्वरूपानन्वयः कार्यसत्तायां स्याद्'-इति न्याय्यम्। 'निमित्तकारणादीनि कथंचिन् न अन्वीयुर्'—इति उच्येतापि

प्रतिष्ठित ही समझना चाहिये। (विशेष रूप में) ज्यों ही वह स्वयं पाँचों[1] गुणों से युक्त होने के कारण उनके (गुणों के) कारण बने हुए पाँच तन्मात्रों का आक्षेप[2] करने लगे, त्यों ही आक्षेप के विषय बनने वाले वे तन्मात्र भी, अपने स्वरूप को निश्चित बनाने के लिए प्रतिष्ठा प्रदान करने वाले पूर्वपूर्ववर्ती अपर मूलकारणों की परम्परा का निरन्तर अनुसरण करते हुए, उस कारण परम्परा को भी स्वत्व[3] के साथ लेकर ही उस आक्षेप का विषय बन जाते हैं। इसका कारण यह है कि—'कार्यसत्ता में अपने उपादानकारण की सत्ता संयुक्त न हो'—यह बात कभी भी तर्कसंगत नहीं हो सकती। हाँ, अगर दूसरे निमित्तकारण इत्यादि किन्हीं परिस्थितियों में अपनी कार्यसत्ता का अनुसरण न भी करें, उतना तो मान्य हो सकता

---

१. पृथिवी में शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध ये पाँचों गुण विद्यमान हैं। इन पाँच गुणों के मूलकारण पाँच तन्मात्र हैं।

२. 'आक्षेप' करने का अभिप्राय—'ग्रसन-युक्ति' में अन्तिम कोटि और सारे प्रपञ्च के स्वयंसिद्ध मूलकारण शिव-भाव में ही लय हो जाने की अपेक्षा से जल-तत्त्व से लेकर शिव-तत्त्व तक के सारे पूर्व-पूर्ववर्ती तत्त्वों की परम्परा को खींच कर स्वरूप में ही घोल देना है।

३. प्रस्तुत प्रसार-संकोच की प्रक्रिया किसी निश्चित देश, काल एवं आकार की क्रमिकता पर आधारित न होकर मात्र एक यौगपदिक प्रक्रिया है। एक तत्त्व के प्रसार-संकोच में ही सारे तत्त्व समुदाय के प्रसार-सङ्कोच का रहस्य निहित रहता है। पारमेश्वर विमर्श में स्वरूप-प्रसार की ओर उन्मुखता हो जाने पर तत्काल ही धरा-तत्त्व तक की समूची विश्वमयता का विकास और स्वरूप-संहार की ओर उन्मुखता हो जाने पर तत्काल ही धरा-तत्त्व से लेकर अनाश्रित शिव-तत्त्व तक की समूची विश्वमयता का संहार (अन्तः लयीभवन) हो जाता है। यह द्विमुखी उन्मुखता युगपत् और प्रतिक्षण चलती ही रहती है। इसके अतिरिक्त इस प्रसार-संहारमयी क्रियाशीलता में यह भी कोई क्रम नहीं है कि पहले प्रसार और तदुपरान्त संहार हो। यह तो प्रसार में ही संहार और संहार में ही प्रसार का स्पन्दन है। यही एक स्वाभाविक, शाश्वतिक, अटल एवं अनादि सत्य है। ध्वंस के अनन्तर निर्माण और निर्माण के अनन्तर ध्वंस जैसी कल्पना का कहीं अस्तित्व नहीं, अपितु ध्वंस में ही निर्माण और निर्माण में ही ध्वंस का कौलिक-विधान पारमेश्वरी क्रिया-शक्ति का यथार्थ रहस्य है।

कदाचित्। एतच्च प्रकृतविघातकम्, अन्यत्र तदभिधानप्रवणे शास्त्रे निष्कुष्य निष्कु षितमस्माभिरेव—इति न इह विततम्।

तदेवं प्रथमं तावद् धरा. ततोऽपि जलं तथैव स्वरूप-साकल्येन भासमानं, विमृश्यमानञ्च, तद्भासा-विमर्श-चमत्कारम् अन्तःकृत्य तथाविध-धरणितत्त्व-संस्कारसत्ताकं पूरयेदेव—इति यावत्। अन्ते सैव पूर्णसंविद्भगवती शिवात्मैव। तद् अनेनैव उपदेशयुक्तिनयेन—'प्रदेशमात्रमपि ब्रह्मणः सर्वरूपम्, एकैकत्रापि च

है। अस्तु, इन बातों को हम यहाँ पर अधिक तूल नहीं दे रहे हैं, क्योंकि एक तो वैसा करने से प्रस्तुत विषय ही ठप हो जायेगा और दूसरा हमने अन्य इसी विषय की मीमांसा करने वाले शास्त्र में पहले ही इसकी बाल की खाल उतार कर रख दी है।

ग्रसन-युक्ति का निष्कर्ष

इस प्रकार (ग्रसन-युक्ति के अनुसार भी) पहले धरा-तत्त्व ही अपनी जगह परिपूर्ण है। इसके अनन्तर जल-तत्त्व भी उसी प्रकार धरा के साथ सारे इतर तत्त्वों को स्वरूप में समाकर परिपूर्णरूप में प्रकाशमान और विमृश्यमान होने के कारण पृथिवी-तत्त्व में वर्तमान रहनेवाले प्रकाश-विमर्शमय चमत्कार को स्वरूप में ही निहित रखकर, अवश्य उस परिपूर्ण पृथिवी[1]-तत्त्व से संक्रान्त होनेवाले संस्कार से ही सत्ता को पानेवाली परिपूर्णता को अपने अणु अणु में समा लेता है—यही उपर्युक्त मीमांसा का निष्कर्ष है। (इसी प्रकार सारे तत्त्वों का विश्लेषण करते करते) अन्त में केवल यही निष्कर्ष उपलब्ध हो पाता है कि वास्तव में वह धरा ही परिपूर्ण [2]संवित्-भगवती होने के नाते शिवत्व की आत्मा ही है।

---

१. यहाँ पर भगवान् अभिनव के इस मूल वाक्यखण्ड से यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि अन्य तत्त्वों की अपेक्षा धरा-तत्त्व में ही परिपूर्ण शिव-भाव का प्रत्यक्ष साक्षात्कार हो सकता है। अब जो धरा से इतर तत्त्वों में भी परिपूर्ण स्वरूप-सत्ता अनुभव में आ जाती है, वह तो उनमें भी व्याप्त रहनेवाले धरा अंश से लगनेवाले संस्कारों से ही संक्रान्त हुई है। इस विचार की पुष्टि अग्रिम वाक्य से हो जाती है, जिसमें उन्होंने धरा को ही परिपूर्ण भगवती संवित्-शक्ति उद्घोषित किया है।

२. इस वाक्य में भगवान् अभिनव ने धरा को ही भगवान् की अभिन्न संवित्-शक्ति उद्घोषित किया है। यह तो शिवत्व की आत्मा ही है। भगवान् की शक्ति-रूपिणी होने के कारण स्वभाव से ही यह भी स्वरूपतः वैसी ही परिपूर्ण है, जैसे कि स्वयं अनुत्तर-भट्टारक हैं।

तत्त्वे षट्त्रिंशत्तत्त्वमयत्वं'—इति शास्त्रेषु निरूपितम्। एवञ्च श्रीस्पन्दशास्त्रोपदेशः—

'दिदृक्षयेव सर्वार्थान् यदा व्याप्यावतिष्ठते।
तदा किं बहुनोक्तेन स्वयमेवावभोत्स्यते ॥'

इत्यर्थं हृदयङ्गमीकर्तव्यः। चरमेण पादेन एतदेव अत्र सूचितम्—इति किमन्येन ?"

यच्च येन विना न भवति तत् तस्य स्वरूपं—यथा शिंशपात्वं वृक्षत्वस्वरूपम्।

फलतः यहाँ पर प्रस्तुत किये गये उपदेश की पद्धति के ही अनुसार सारे शास्त्रों में यह निरूपण किया गया है कि—

'छोटे से छोटा प्रदेश भी परब्रह्म की विश्वरूपता और एक एक तत्त्व भी छत्तीस तत्त्वमयी सर्वाङ्गीणता का परिचायक है।'

इन बातों को दृष्टि में रखकर श्रीस्पन्दशास्त्र के उपदेश—

'जब कोई योगी संसार के प्रत्येक पदार्थ में निहित रहनेवाली सर्वरूपता का साक्षात्कार कर लेने के तीव्रतम संकल्प को लेकर, उनमें स्वरूपतः व्याप्त होकर अवस्थित रहे, तब और अधिक कुछ कहने की कोई आवश्यकता नहीं, वह तो निजी संवेदन के द्वारा स्वयं ही सब कुछ जान लेता है'।

इस स्पन्द-सूत्र के अन्तिम चरण के द्वारा यहाँ पर समझाये गये इसी उपदेश की सूचना दी गई है, अतः इस परिप्रेक्ष्य में और कुछ कहने का लाभ ही क्या ?

तार्किक युक्ति के द्वारा, सारे तत्त्वों की शिव-तत्त्व पर निर्भरता के सिद्धान्त की स्थापना।

नियम—

जो पदार्थ जिस पदार्थ के बिना स्वरूपतः ठहर न सकता हो, वह उसका स्वरूप ही होता है, जैसे—शीशम के भाव का स्वरूप वृक्षत्व[1] ही होता है।

---

१. शीशम का भाव वृक्षत्व को छोड़कर स्वरूपतः सम्भव हो ही नहीं सकता; अतः वृक्षत्व अवश्य ही शीशमत्व का स्वरूप है।

"पारमेश-स्वातन्त्र्य-तिरोहित-नियतिविजृम्भायां यत्तु यस्य स्वरूपं न भवति तत् तेन विना भवत्येव—यथा वृक्षत्वम् ऋते अपि शिंशपात्वात्—अपवादः" ।

[1]अपवाद—

"(विशेष परिस्थितियों में) परमेश्वर के स्वातन्त्र्य के द्वारा प्राकृतिक विधान का स्थगन हो जाने की परिस्थिति में यदि कोई पदार्थ किसी दूसरे पदार्थ का स्वरूप न भी हो, वह उसके बिना अवश्य ठहर सकता है—वृक्षत्व शीशम होने के बिना भी स्वतन्त्र रूप में संभव होता है । प्रस्तुत प्रकरण के लिए यह एक अपवाद है ।"

---

१. आदरणीय सद्-गुरु महाराज के कथनानुसार इस अपवाद-भाग का प्रस्तुत प्रकरण के साथ कोई भी ताल-मेल नहीं बैठता । उनका विचार है कि यह भाग बाद के किसी लिखारी ने प्रमादवश कहीं से लाकर मूलपाठ में ठूँस दिया होगा । परन्तु दूसरी ओर परात्रिंशिका की प्रत्येक शारदा मूल-पुस्ती में यह भाग इसी रूप में मिलता है । अतः मूल-पाठ से इसका पूर्ण बहिष्कार करने की अपेक्षा इसको और इसके अनुवाद को अलग टाइप में रखना ही उचित प्रतीत हुआ । भगवान् अभिनव ने इस शिंशपा-वृक्षत्व न्याय की मीमांसा ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी (अ० २ आ० ४ का० ११) में विस्तारपूर्वक प्रस्तुत की है । तात्पर्य यह कि योगिजनों का स्वतन्त्र निर्माण तो कभी-कभार अवश्य प्राकृतिक विधान का उल्लंघन कर सकने के कारण इसका अपवाद बन जाता है । योगिजन किन्हीं विशेष परिस्थितियों में निश्चित बीजादि रूपवाली कारण-सामग्री के बिना ही अंकुरादि का निर्माण कर लेते हैं । परन्तु ऐसी बातें न तो सर्व-साधारण और न सार्वकालिक ही होती हैं, क्योंकि पहुँचे हुए योगी अपनी आध्यात्मिक शक्तियों का दुरुपयोग करके प्राकृतिक नियमों के साथ आसानी से छेड़-खानी नहीं करते हैं । योगियों के परिवेश में मदारियों की बात तो अलग है । हाँ इतना तो अवश्य है कि उच्चकोटि के योगिजनों के सामने यदि कभी कोई महान् जन-कल्याण या राष्ट्र-कल्याण जैसा प्रश्न आजाये और उसको हल करने के प्रति उनकी उन्मुखता होजाये तो कभी-कभार वे नियति के नियमों का उल्लंघन करके अनोखे चमत्कार भी दिखा लेते हैं । अस्तु, जो भी हो, यहाँ पर इस अपवाद भाग का चलते हुए प्रकरण के साथ कोई अनावश्यक सङ्गति बिठाने का दुराग्रह भी युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता ।

आगे भी ऐसे बहुत से स्थल हैं, जिनको सद्-गुरु महाराज प्रामाणिक नहीं मानते हैं, परन्तु मूल-पुस्तियों में उनका उल्लेख मिलता है—अतः मूल-पाठ से उनका पूर्ण बहिष्कार करने की अपेक्षा उनको अलग टाइप में रखा गया है, ताकि आगे भी यदि कोई व्यक्ति प्रस्तुत ग्रन्थ पर कोई काम करना चाहे तो उसको किसी भी प्रकार की अड़चन से दो-चार होना न पड़े ।

न भवन्ति च धरादीनि उत्तरोत्तरतत्त्वानि जलादिपूर्वपूर्वं विना,—इति तावत् स्वरूपाण्येव। धरा हि न जलं विना भवेद्—धृतेरेव काठिन्यदर्शनात्। इत्येवं क्रमेण भूतानि तन्मात्रैर्विना कथम्? तान्यपि इन्द्रियजृम्भया विना? इन्द्रियाण्यपि तत्तथाविधाध्यवसायेन विना? सर्वाणि चैतदाद्याविभक्तान्वित-सूक्ष्मरूपमूलकारणविनाकृतानि न भवन्ति, मूलप्रकृतिरपि भोग्या भोक्तारं विना। तद्भोग्यविभाग-भागित्वादेव सङ्कुचितं, सङ्कोचवशादेव च स्वात्मा-

पृथिवी[1] इत्यादि अगले अगले तत्त्व भी जल इत्यादि पहले पहले तत्त्वों की पूर्ववर्तमानता के बिना स्वरूपतः ठहर ही नहीं सकते, अतः वे पूर्वपूर्व तत्त्व उत्तरोत्तर तत्त्वों के स्वरूप ही हैं। पृथिवी-तत्त्व निश्चितरूप में जल-तत्त्व की पूर्ववर्तिता के बिना ठहर नहीं सकता, क्योंकि धारण करने वाले पदार्थ में अवश्य कठिनता[2] होती है (और पृथिवी में कठिनता जल की वर्तमानता से ही पैदा हो पाती है)। इसी क्रम के अनुसार पाँच महाभूत तन्मात्रों के बिना, तन्मात्र ज्ञानेन्द्रियों की पाँच प्रकार की चेतना के बिना, इन्द्रियाँ भी उस इन्द्रिय चेतना के 'अध्यवसाय'—अर्थात् निश्चयात्मक, अभिमानात्मक और सङ्कल्पात्मक बुद्धि, अहंकार और मनस् इन तीन अन्तःकरणों के बिना कैसे स्वरूप-सिद्धि को पा सकते हैं? वे अन्तःकरण अपने पूर्ववर्ती विभागहीन, आपस में मिश्रित और सूक्ष्म त्रिगुण[3] का रूप धारण करने वाले मूलकारण (मूलप्रकृति) से अलगाये जाने पर स्वरूपतः कुछ हैं ही नहीं। वह मूलप्रकृति भी स्वयं भोग्या होने के कारण किसी पूर्ववर्ती 'भोक्ता' अर्थात् सुख, दुःख आदि का उपभोग करने वाले चेतन-पुरुष (मित-प्रमाता) के बिना कैसे सत्ता प्राप्त कर सकती है? उस मूलप्रकृति में पाये जाने वाले 'भोग्यविभाग' अर्थात् सुखात्मकता, दुःखात्मकता और मोहात्मकता के विभाग का भागी बनने से ही संकोच में पड़ा हुआ वह मित-

१. हरेक उत्तरवर्ती तत्त्व अपने पूर्ववर्ती तत्त्व की पूर्ववर्तिता के बिना स्वरूपतः सिद्ध हो ही नहीं सकता, अतः प्रत्येक पूर्ववर्ती अपने उत्तरवर्ती का स्वरूप ही है। पृथिवी-तत्त्व सबका उत्तरवर्ती होने के कारण सारे पूर्ववर्ती तत्त्वों की आवश्यक पूर्ववर्तिता से ही स्वरूपतः सिद्ध होने पाया है। शिव-तत्त्व सबका पूर्ववर्ती होने के कारण सारे तत्त्वों के स्वरूप-लाभ प्राप्त कर सकने का आवश्यक कारण है।

२. प्रस्तुत प्रकरण के परिप्रेक्ष्य में मूल 'काठिन्य' शब्द से परमाणुओं के पारस्परिक दृढ़ एवं सघन सटाव का अभिप्राय लिया जाता है। धरा में यह सटाव पार्थिव एवं जलीय परमाणुओं के पारस्परिक संयोग से ही उत्पन्न हो पाता है। इस सटाव से ही पृथिवी सब कुछ अपने ऊपर वहन कर सकती है और इसी हेतु इसका नाम भी 'धरा' है।

३. तीन गुणों की विभागहीन साम्यावस्था ही मूलप्रकृति कहलाती है।

रोहित-कालकलादि-पाशजालं संविदात्मकं चान्तरेण कथम् ? संविदश्चाखण्ड-रूपायाः कथं सङ्कोच-कारण-स्वातन्त्र्यं परं मायापरपर्यायं विना ? सङ्कुचितत्व-

---

प्रमाता[1] (पुरुष) भी, संकोच में पड़ जाने से ही स्वयं अपने पर उपाधि के रूप में थोपे हुए काल, कला इत्यादि रूपोंवाले, परन्तु मूलतः संवेदनमय कञ्चुक की पूर्ववर्तिता के बिना भोक्ता ही कैसे बन सकता है ? संवित् का रूप तो केवल अखण्ड है, अतः उसका महान् स्वातन्त्र्य भी संकोच को उपजाने का हेतु तब तक कैसे बन सकता है, जब तक उसको माया[2] का नाम न मिला हो। वह संकोच को उपजाने वाला स्वातन्त्र्य अर्थात् माया-तत्त्व भी, संकोच को उपजाने की क्रिया

---

१. तात्पर्य यह कि मितप्रमाता (जीव) में पाया जाने वाला संकोच तो उसका स्वभाव नहीं, प्रत्युत प्राकृतिक स्तर पर निश्चित विधान के अनुसार सुख, दुःख इत्यादि भोगों का उपभोग करने की अपेक्षा से जनित उपाधि-मात्र है। यह उपाधि ही उसके अखण्ड स्वभाव को मित बना देती है।

२. माया-तत्त्व और उसके परिवाररूपी कला, विद्या, काल, राग और नियति के विषय में यह पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है कि ये पारमेश्वरी स्वातन्त्र्य-शक्ति और उसके पाँच मुखों के ही सङ्कुचित रूपान्तरमात्र हैं, अतः इनका रूप संकुचित-संवेदन ही है। इस परिप्रेक्ष्य में यह शंका हो सकती है कि जब संवित् किसी भी अवस्था में संकुचित है ही नहीं, तो कला इत्यादि के सन्दर्भ में संवेदन और संकुचित कहने का तालमेल कैसे बैठ सकता है ? इसका समाधान इस प्रकार से किया जाता है कि यह संवित् के संकुचित हो जाने का प्रश्न नहीं है, बल्कि संवित्-शक्ति वास्तव में असीम स्वातन्त्र्य से परिपूर्ण होने के कारण से ही स्वयं संकोच को उपजाने और उसको स्वेच्छा से अपने ऊपर थोप कर स्वरूप को ही तथाकथित संकुचित बनाने में भी समर्थ है। पूर्णस्वतन्त्र तो वही हो सकता है जो स्वरूप को संकुचित, असंकुचित एवं दोनों से रहित रूप देने में समर्थ हो। स्वरूप को संकुचित बनाते समय वह अपने में संवित्-भाव का तिरोधान करके माया-शक्ति का रूप धरण कर लेती है। यह माया-शक्तिरूपी स्वातन्त्र्य ही, अन्ततोगत्वा, माया-तत्त्वरूपी आवरण बनकर स्वतः संवेदन को ही चारों ओर से इस प्रकार से घेर लेता है कि वह संकोचहीन होने पर भी संकुचित कंचुक के रूप में प्रकट हो जाता है। यही कारण है कि शैव मान्यता के अनुसार माया कोई अविद्या जैसा अलग पदार्थ नहीं, बल्कि संकोच को उपजाने वाला स्वातन्त्र्य ही है। इस दृष्टि से स्वयं संकोच भी साक्षात् शिवत्व से ही प्रसूत होता है, अतः वह भी वास्तव में शिवमय ही है।

स्वातन्त्र्यं च सङ्कोचेऽसङ्कुचिततासार-तारतम्यापेक्षि भवद् ईषदसङ्कुचित-असङ्कुचित-ईषद्विकासि-विकस्वररूपं विरहय्य नैव भवेत् । सर्वमेव चेदं प्रथमानं स्वातन्त्र्यपरिपूर्णप्रथासारभैरवं विना न किञ्चिदेव,—इति स्वसंवित्तिसिद्धोऽयं तत्त्वक्रमः । श्रुतिरपि—

'जलात्मिका काठिन्यं विना क्व ? इति धरापि सलिलपूर्विका अस्तु ।'

इत्यादि कथ्यमानमपि किं नः छेदयेत्, प्रत्युत परिपूर्ण-सर्वात्मक-भैरव-भट्टारकात्मक-परासंवित्-परिपोषणायैव स्यात् ।

सर्वश्चायं परापराभट्टारिकादिरूप-पश्यन्त्यादिसत्तासमयोद्भविष्यद्-ईषत्स्फुट-

---

शीलता में असंकोच के ही तारतम्य[1] पर निर्भर रहता हुआ—अंशतः संकोचहीन अर्थात् 'शुद्धविद्या-तत्त्व', संकोचहीन अर्थात् 'ईश्वर-तत्त्व', अंशतः विकसित अर्थात् 'सदाशिव-तत्त्व' और विकसित अर्थात् 'शक्ति-तत्त्व'—इनकी पूर्ववर्तिता के बिना स्वरूपतः सिद्ध नहीं हो सकता । तात्पर्य यह कि बहिरंग रूप में प्रकाशमान रहने वाला समूचा इदं-भाव ही, स्वातन्त्र्य और परिपूर्ण बोध के ही सारवाली भैरवीय सत्ता की आधारिता के बिना कुछ भी नहीं है, अतः यह उल्लिखित तत्त्व-क्रम निजी संवेदन की साक्षी से ही सिद्ध है । श्रुति में भी—

'(पृथिवी) जलमयी है, क्योंकि उसका कौन सा प्रदेश कठिनता से रहित है ? इस कारण से पृथिवी भी जल की पूर्ववर्तिता से युक्त स्वीकारी जाये ।'

इत्यादि प्रकारों में कही जानेवाली बातों से भी हमारा कुछ नहीं बिगड़ने का, बल्कि इनसे परिपूर्ण, विश्वरूपिणी और भैरवभट्टारक का ही रूप धारण करनेवाली परासंवित् की वर्तमानता के सिद्धान्त को पुष्टि ही मिल जाती है ।

पराभट्टारिकारूपी बिम्बक्षेत्र में कालत्रय का रूप ।

परापरा और अपरा रूपों को धारण करनेवाली [2]पश्यन्ती इत्यादि वाणियों को सत्ता हो जाने के अवसरों पर, अर्थात् भविष्यत् और भूत कालों पर क्रमशः—

---

१. त्रिक मान्यता के अनुसार 'संकोच' का अर्थ असंकोच का सर्वतोमुखी अभाव नहीं, प्रत्युत उसी की न्यूनाधिकता के तारतम्य से जनित अहंभाव की न्यूनाधिकता ही है । शिव पूर्णरूप में असंकुचित है, परन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि पशु में असंकोच का पूरा अभाव ही है । पशु भी अपने पाशविक संवेदन के अनुपात से अपने पशु क्षेत्र में वैसा ही असंकुचित है, जैसा कि शिव समूचे विश्वमय और विश्वोत्तीर्ण क्षेत्र में। तात्पर्य यह कि शिव और पशु के असंकोच में केवल मात्रा का ही अन्तर है । अतः त्रिक मान्यता में संकोच भी असंकोच का ही रूपान्तर मात्र है ।

२. यहाँ पर निर्देश की जानेवाली पश्यन्ती इत्यादि वाणियों को साधारण प्रतिबिम्बरूपिणी समझना चाहिये । परावाणी पराभाव पर, पश्यन्ती और मध्यमा परापरा-

स्फुटतरादि-तत्त्वभेदानुसारेण पराभट्टारिकामहसि तदुचितेनैव वपुषा विराजते।

अंशतः स्पष्ट, स्पष्टतर और स्पष्टतम—इन तीन प्रकार के तत्त्वभेदों के अनुसार, तीन रूपों में विकसित होनेवाला यह सारा कालप्रपञ्च, उस पराभट्टारिका-रूपिणी प्रकाशमयता में परा-भाव के ही अनुकूल रूप में प्रकाशमान[1] है।

भाव पर और वैखरी अपराभाव पर अवस्थित हैं। इनमें से परा का रूप सदा वर्तमान, परापरा का भविष्यत् और अपरा का भूत माना जाता है।

१. पराभाव के ही उचित रूप में प्रकाशमान रहने का अभिप्राय इस प्रकार है—उस प्रकाशमय बिम्बक्षेत्र में भविष्यत्-काल और भूतकाल भी अवश्य बिम्बरूप में वर्तमान हैं। यदि वैसा न होता तो प्रतिबिम्ब जगत् में भी इनकी कल्पना का अस्तित्व ही नहीं होता। भेद केवल इतना है कि उस पराभट्टारिकारूपी बिम्बजगत् में इन दो कालों की वर्तमानता भी परा के ही उचित रूप में, अर्थात् शाश्वतिक वर्तमान-काल के ही रूप में है। कारण यह है कि वहाँ इनका रूप साधारण प्रतिबिम्ब जगत् में पाई जानेवाली अपेक्षा-बुद्धि पर आधारित रहनेवाले भविष्यत् और भूतकाल के समान नहीं है। इस सन्दर्भ में श्री सद्-गुरु महाराज के मुखारविन्द से निकले हुए निम्नलिखित शब्द स्मरणीय हैं—

'अपरः षोडशो यावत् कालः सप्तदशः परः।
परापरस्तु यः कालः स प्रियेऽष्टादशः स्मृतः॥'

तात्पर्य यह कि अपरा-भाव के स्तर पर प्रमेय-कला की सोलह कलाओं वाला, परा-भाव के स्तर पर 'प्रमिति-कला' अर्थात् प्रमाण एवं प्रमेय की उपाधि से अनुपरक्त प्रमातृ-भाव की सत्रह कलाओं वाला और परापरा-भाव के स्तर पर—(१) प्रमेयकला सोलह, (२) प्रमाणकला की एक, (३) प्रमेय की उपाधि से अनुरक्त प्रमातृकला की एक (कुल मिलाकर अठारह) कलाओं वाला कालविभाग कार्यनिरत है। इनमें से परा-भाव के साथ सम्बन्धित सत्रह कलाओं वाला काल-विभाग ही तीनों ही भावों के स्तरों पर व्यापक रहता है, क्योंकि वही तो इन तीनों कालविभागों के कुल जमा का मध्यमान है। भाव यह कि तीनों प्रकार के कालविभाग की कलाओं का कुल योग = १६ + १७ + १८ = ५१ और मध्यमान ५१ ÷ ३=१७ है। फलतः पराभाव के उचित काल-विभाग का रूप १७ कलाएँ हैं। इस कालविभाग में ऐसे शाश्वतिक वर्तमान का रहस्य निहित है, जिसमें भविष्यत् एवं भूत की वर्तमानता भी उसी रूप में अवस्थित है।

(तत्र च निःस्वस्य हस्ते द्रविणमिव असन्न कदाचिदपि स्यात्) ।

भविष्यदपि हि वस्तु, चरममपि च वस्तु, प्रथमप्रकाशे भासेतैव, केवलम् एकरसतद्भेदसारस्फुटरूपापेक्षया भविष्यत्ता । तथाहि—

'भविष्यति कर्की हनिष्यत्यधर्मपरान्'—इत्यादि यदि न प्रकाशितं तत् कथं पुराणेषु निबद्धम् ? 'क्वचन सर्गे बभूव कर्की तथैव व्यधित'—इति चेत् ? किं स एवासौ, अन्य एव वा ? अन्यश्चेदप्रकाशोऽसौ, स एव चेत्कथं कालभेदः ? अकालकलितश्चेत् कथमिव ? 'चित्त्वाद्, विश्वरूपत्वाद्'—इति चेत् तर्हि—अकालकलिते, संविदात्मनि, सततविश्वशक्त्यवियुक्ते, स्वातन्त्र्यवश-संकोच-विकासावभासित-संहृतिसृष्टिशताविरुद्धैकरूपतदात्मकवपुषि, परमेश्वरे,

---

(उस बिम्बक्षेत्र में, निर्धन के हाथ में धन (के अभाव की तरह) कभी भी किसी वस्तु का अभाव नहीं है) ।

परापराभाव अर्थात् भविष्यत्-काल और अन्तिम अपराभाव अर्थात् भूत-कालरूपी वस्तुजात भी उस पराभावरूपी 'प्रथम-प्रकाश' अर्थात् सदा वर्तमान-कालिक भैरवीय-बोध में, निश्चित रूप से, प्रकाशमान ही है—केवल बात इतनी है कि (प्रतिबिम्ब जगत् में) एकरस भेदभाव पर ही आधारित रहनेवाली रूप की अस्फुटता की अपेक्षाबुद्धि से ही भविष्यत् (और भूत) को सत्ता मिल पाती है । इसका स्पष्टीकरण आगे के उदाहरण से होगा—

'भगवान कर्की अवतार लेंगे और अधर्मपरायण लोगों का संहार करेंगे ।'

यह भविष्यत्-कालिक परामर्श यदि अनुभवात्मक वर्तमान में पहले ही प्रकाशित न होता तो पुराणों में इसका उल्लेख किया जाना कैसे सम्भव हुआ होता ? यदि यह कहा जाये कि—'किसी भूतकालिक कल्प में कर्की हुए थे और उन्होंने वैसा ही किया था'—तो सोचना यह होगा कि ये कर्की (जिनका भविष्यकालिक उल्लेख (पुराणों में किया गया है) वे ही हैं, अथवा उनसे भिन्न कोई दूसरे ? यदि बिल्कुल नये ही मान लिए जायें तो वे कभी प्रकाशित नहीं हो सकेंगे । यदि पूर्वकालिक ही मान लिए जायें तो एक ही स्वरूप में काल का भेद कैसे स्वीकारा जाये ? यदि समय की प्राचीरों से अतिवर्ती मान लिए जायें तो स्वरूपतः उनके वैसे होने में कारण क्या होगा ? यदि वैसे होने का मूलकारण चित्-रूपता या विश्वरूपता को ठहराया जाये तो—'काल की सीमाओं से अति-वर्ती, संवित्-स्वरूप, शाश्वतिक विश्वशक्ति से भरपूर, निजी स्वातन्त्र्य के बल से ही स्वरूप-संकोच और स्वरूप-विकास की प्रक्रिया को अपनाकर और उसके द्वारा सैंकड़ों संहारों और सृष्टियों को अवभासित करके उनके साथ विरोधहीन

अस्मज्जिह्वाग्रहृदयानपायिनि, भैरवभट्टारके सर्वमस्ति'—इति अस्माभिरुपन्यस्यमानमेव मुक्तमन्दाक्षं कथं नाद्रियते, विवृततरकण्ठमेव वा स्वयमेव किं न निर्णीय निरूप्यते ?

तस्मात् शिवतत्त्वमिदम् अनाद्यन्तं, स्वयं-प्रथमानं, पूर्णतात्मक-निरपेक्षतामात्र-सतत्त्व-स्वातन्त्र्यसारम्, अन्तःक्रोडीकृतधात्मतैकपरमार्थं तत्त्वजातं, परसंविदि सततोदितत्वात्; सर्वाविरोधित्वात्; निखिलानुग्राहकत्वाच्च अवस्थाशब्दव्यपदेशासहिष्णौ, यावदकालकलितमासीनं भैरवरूपमवतिष्ठते तावदेतच्छास्त्रसमुचितेनैव महासृष्ट्यादिरूपेण, न तु मितसृष्ट्यादिक्रमेण—इति सिद्धम् ।

स एष एव संपुटे योगे अस्मद्गुरूणां सम्प्रदायः—शुद्धपरसत्तया सर्वस्यैव एकैकतत्त्वस्य, निखिलस्य तत्त्वौघस्य संपुटीकरणात् । वक्ष्यते चाप्येतत्—

और एकाकार रूपवाले, महान् ऐश्वर्य से परिपूर्ण और हमारी जीभ की नोक और दिल से पलभर के लिए भी न बिछुड़ने वाले भैरव-भट्टारक नामी सत्ता में सब कुछ वर्तमान रूप में ही अवस्थित है'—हमारी इस उद्घोषणा को ही लाज छोड़कर क्यों नहीं अङ्गीकार किया जा रहा है ?, अथवा स्वयं ही परीक्षण करने के उपरान्त गला फाड़-फाड़ कर दूसरों को सुनाया क्यों नहीं जा रहा है ?

फलतः यह बात निर्विवाद रूप में सिद्ध हो गई कि अनादि, अनन्त, स्वयंसिद्ध रूप में ही प्रकाशमान और परिपूर्णता को अभिव्यक्त करनेवाली मात्र आकांक्षाहीनता के रूप वाले स्वातन्त्र्य के ही सार से भरपूर शिवतत्त्व, स्वरूपमयी एकाकारता के ही पारमार्थिक रूपवाले तत्त्व-समुदाय को स्वरूप में निहित रखकर, जिस अवसर पर शाश्वतिक रूप में उदीयमान रहने वाली, समूचे भाववर्ग के साथ कोई भी विरोध न रखनेवाली और सबों पर केवल अनुग्रहमयी होने के कारण किसी भी अवस्था इत्यादि प्रकार के कल्पित नामकरण को सहन न करनेवाली परा-संवित् की पदवी पर अकालकलित रूप में प्रतिष्ठित रहनेवाले भैरवीय रूप में अवस्थित रहता है, उस अवसर पर उसका वह रूप, प्रस्तुत शास्त्र में वर्णित सिद्धान्त के अनुसार, केवल 'महासृष्टि' अर्थात् समस्तरूप में विश्वमयता की युगपत् सृष्टि ही होता है—'मितसृष्टि' अर्थात् व्यस्तरूप में एक-एक पदार्थ की अलग-अलग सृष्टि नहीं ।

संपुट योग की प्रक्रिया में, व्यस्तरूप में सारे अलग-अलग तत्त्वों, अथवा समस्त रूप में इकट्ठे तत्त्वसमुदाय का, विशुद्ध परसत्ता के द्वारा संपुटीकरण का सम्प्रदाय हमारे गुरुओं को, मुख्यरूप में, मान्य रहा है ।

'पश्यन्तीदशायाश्चारभ्य भेदासूत्रणात् पाशांशोल्लासः'—इति ततः प्रभृत्येव शोध्यशोधकभावः, इति तावद् व्यवस्था अनपह्नवनीया। यथोक्तम्—

'यत्सदाशिवपर्यन्तं पार्थिवाद्यं च सुव्रते !
तत्सर्वं प्राकृतं ज्ञेयं विनाशोत्पत्तिसंयुतम् ॥'

इत्यादि।

पश्यन्ती च परापराभट्टारिकासतत्त्वा पराशक्तेरेव स्वात्मशक्तिः 'दर्पणकल्पा', यत्र तत्पराभट्टारिकास्वरूपमेव चकास्ति प्रतिबिम्बवत्। यच्च रूपं सदा बिम्बे, प्रतिबिम्बे च एकतापरमार्थं मुखपरामर्शमात्रमिव न तत्प्रतिबिम्बितमुच्यते—तन्मात्रसतत्त्वादेव। यत्तु तत्र अन्यथा, तथा च भाति—मुखाकार इव पूर्वापर-वामदक्षिणतादिविपर्यात् एतदेवापि तदेवापि—तदेव प्रतिबिम्बितमुच्यते। तच्च तत्समानधर्मैव भवति, न तु विजातीयम्।

आगे चलकर यह भी बताया जायेगा कि पश्यन्ती दशा से लेकर ही भेदभाव का आसूत्रण होने के कारण वहीं से पाश-अंश का विकास भी होने लगता है, अतः शोध्य-शोधक भाव की उपयोगिता भी वहीं तक सीमित रहती है—इस प्रकार की व्यवस्था का कभी अपलाप हो ही नहीं सकता। जैसा कि—

'हे देवी ! पृथिवी-तत्त्व से लेकर सदाशिव-तत्त्व तक का सारा तत्त्वसमुदाय प्राकृतिक विधान के अन्तर्गत ही समझना चाहिये। अतः नष्ट होना और उत्पन्न होना इसका धर्म ही है।' इत्यादि बातें कही गई हैं।

बिम्ब-प्रतिबिम्ब का सिद्धान्त।

पश्यन्ती-वाणी तो वास्तव में परापराभाव पर उतरी हुई शक्ति ही होने के कारण पराशक्ति की निजी आत्मशक्ति ही है। यह एक ऐसे दर्पण जैसी समझनी चाहिये, जिसमें परा-भट्टारिका का स्वरूप ही प्रतिबिम्बित होकर प्रकाशमान है। जो रूप, साक्षात् बिम्बस्थानीय मुख में दिखाई देनेवाले आकार-प्रकार की तरह, हमेशा (स्वरूपरूपी) बिम्बभाव और (स्फाररूपी) प्रतिबिम्ब-भाव में बिल्कुल समान दिखता हो, अर्थात् उसके आकार-प्रकार में अणुमात्र का भी विपर्यय न दिखता हो, उसको प्रतिबिम्बित रूप नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वह तो अपने बिम्बात्मक आकार-प्रकार तक ही सीमित रहता है। इसके प्रतिकूल जो रूप, आम दर्पण में दिखाई देनेवाले मुख के प्रतिबिम्ब की तरह, पूर्व का पश्चिम और बायें का दायाँ इत्यादि प्रकारों में परिवर्तित हो जाने के कारण, युगपत् ही, यह भी और वह भी अर्थात् बिम्ब जैसा भी और उसका उल्टा भी भासमान हो, उसी को यथार्थ में प्रतिबिम्बित रूप कहा जाता है। प्रतिबिम्बित रूप में भी बिम्ब के ही धर्म पाये जाते हैं, क्योंकि वह (प्रतिबिम्ब) उसका विजातीय नहीं होता।

एवं च पश्यन्तीसतत्त्व-परापरा-विमल-मुकुरिकायां तत् तथाविधोक्तक्रमम्, अपूर्ण-पृथिव्यादितत्त्व-सामग्रीनिर्भरम् अन्तस्तथाविध-सहजाकृत्रिम-पारमार्थिकानपायिकादि-परामर्श-क्रोडीकारेणैव वर्तमानमपि श्रीपराभट्टारिकावपुः प्रतिबिम्बमर्पयत् स्वरूपान्यथात्व-सहिष्णुकादि-परामर्शानन्यथाभात्वेनैव, तत्परैकरूप-परामृश्यं धरण्यम्भःप्रभृति, तथोल्लसद्भेदसूत्रणया सजातीयायां विमलायाञ्च यावत् प्रतिबिम्बयति, तावद् धरादितत्त्वानां विपर्यास एवोपजायते। यत् परसंविदि शक्तितत्त्वं तदेव परापरात्मनि पृथिवी-तत्त्वं, यद् धरा-तत्त्वं तच् शक्ति-तत्त्वम्—इति 'क्षकारात्' प्रभृति धरादीनां स्थितिः। भगवद्भैरवभट्टारकस्तु सदा-पूर्णोऽनन्तस्वतन्त्र एव न विपर्यस्यते जातुचिदपि, चिद्रूपातिरेकाद्य-

---

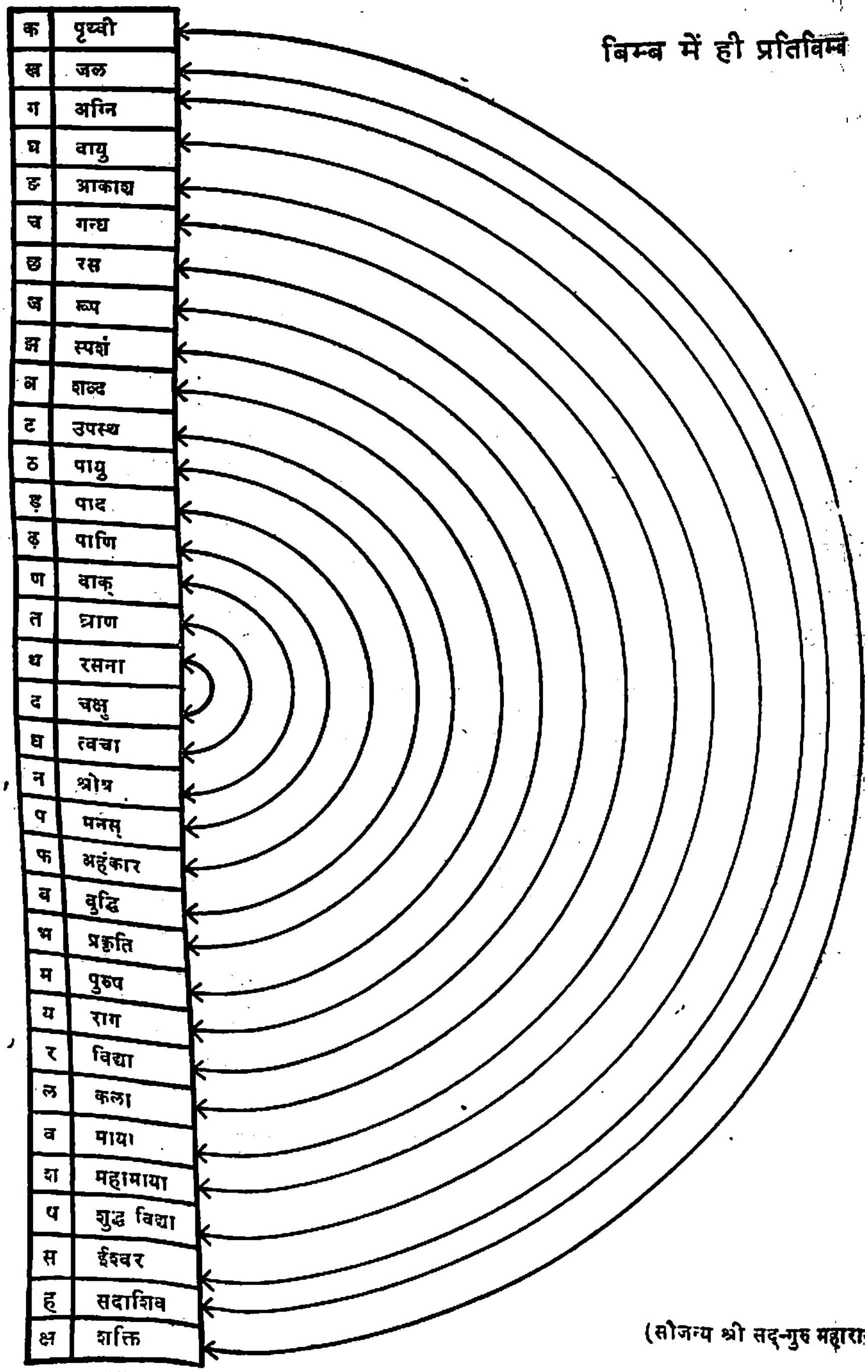
यद्यपि श्री पराभट्टारिका का स्वरूप पूर्वोक्त रीति के अनुसार, 'अपूर्ण' अर्थात् प्रतिबिम्ब का रूप धारण करनेवाली, पृथिवी इत्यादि तत्त्वों की सामग्री से भरपूर और सारी प्रतिबिम्बात्मकता को वैसे स्वाभाविक, अकृत्रिम, वास्तविक और अविनश्वर विमर्श के रूप में, अपने में निहित रखकर ही वर्तमान है, तो भी वह (प्रसार-क्रम को निभाने के लिए) पश्यन्ती का रूप धारण करने वाले परापरभाव के निर्मल दर्पण में स्वरूप को ही इस प्रकार से प्रतिबिम्बित कर लेता है कि स्वरूप के अन्यथाभाव को सहन न करने वाले उसके मौलिक (बिम्बस्थानीय) परामर्श में कोई भी अन्तर नहीं पड़ने पाता।

फलतः वह (पराभट्टारिका) निजी स्वातन्त्र्य से ही भेद-भाव का सूत्रपात करके, केवल परारूप में ही विमर्श किये जानेवाले पृथिवी, जल इत्यादि तत्त्वों को, ज्यों ही अपने सजातीय एवं निर्मल पश्यन्तीरूपी दर्पण में प्रतिबिम्बित कर लेती है, त्यों ही उन धरा इत्यादि तत्त्वों का विपर्यय हो जाता है। परिणामतः परा-संवित् का (बिम्बस्थानीय) शक्ति-तत्त्व ही परापरासंवित् में (प्रतिबिम्बस्थानीय) पृथिवी-तत्त्व और (बिम्बस्थानीय) पृथिवी-तत्त्व ही (प्रतिबिम्बस्थानीय) शक्ति-तत्त्व बन जाता है। इसी कारण से (प्रत्येक स्थान पर आरोह-क्रम के अनुसार) 'क्षकार' से ही आरम्भ करके पृथिवी इत्यादि तत्त्वों की व्यापकता स्वीकारी जाती है। भगवान्[1] भैरवभट्टारक के विषय में बार वार कहा जा चुका है कि वे बिम्ब-भाव अथवा प्रतिबिम्ब-भाव में भी सदा परिपूर्ण और असीम

---

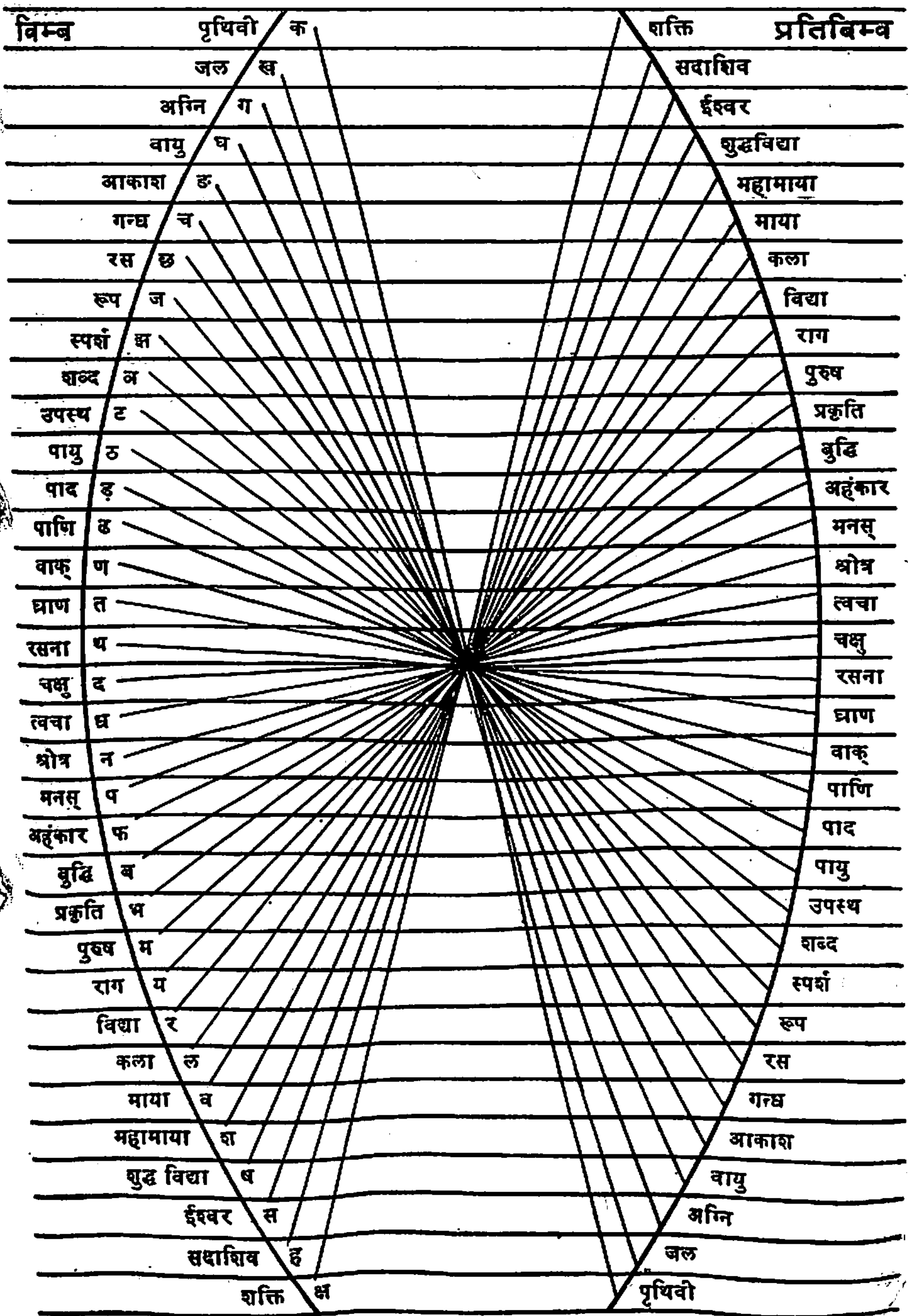
१. तात्पर्य यह कि भगवान् अनुत्तर मात्र चिन्मय होने के कारण बिम्ब एवं प्रतिबिम्ब दोनों भावों से अतिवर्ती हैं, अतः उनके सन्दर्भ में न कुछ उल्टा और न कुछ सीधा ही है। अनुत्तर भाव तो सदा एक रूप है, अतः स्वर वर्ग पर यह बिम्ब-प्रतिबिम्ब सिद्धान्त लागू नहीं होता। स्वर चाहे परा-स्तर या वैखरी-स्तर पर हों, वे प्रतिसमय शिवरूप ही हैं।

बिम्ब में ही प्रतिबिम्ब



(सौजन्य श्री सद्-गुरु महाराज)

प्रतिबिम्ब में तत्वों का विपर्यय



भावाद्—इति उक्तं बहुशः। परमात्मनि परामर्शे परामर्शैकतत्त्वान्येव तत्त्वानि, परामर्शश्च कादिक्षान्त-शाक्तरूप-परमार्थः—इति तत्र अभेद एव। परापरायां तु भेदाभेदात्मकता प्रतिबिम्बन्यायेन। सा च परापरामर्शमयी कादि-क्षान्त-वर्णमालाशरीरा यावत् स्वोर्ध्व-व्यवस्थित-पराभट्टारिका-निविष्ट-तत्त्वप्रतिबिम्बानि धारयति, तावत्तेष्वेव अमायीय-अश्रौत-कादि-क्षान्त-परमार्थ-परामर्शेषु ऊर्ध्वाधरविपर्यासेन तत्त्वानि संपद्यन्ते—ऊर्ध्वबिम्ब-अधरप्रतिबिम्ब-धाम-स्वभावमहिम्ना—इति तात्पर्यम्। ततः पृथिवी 'क्षकार' इत्यादि शोध्यरूपापेक्षया न किञ्चिद्विरुद्धम्। तत्रापि परदशानपायाद् एष एव कादिवर्णसन्तानः। तत्रैव च १—स्वांशोद्रेकात्, २—स्वांशान्तर्वर्तिमध्यमापदोल्लासात्, ३—स्वरूप-भासमान-वैखरीरूप-प्रावण्याच्च वर्ण-मन्त्र-पदरूपता शोध्यांशवृत्तिः—इति

स्वातन्त्र्य से भरपूर ही हैं, अतः उनके स्वरूप में कभी भी विपर्यय नहीं होता—चित्-रूपता में ज्यादती या कमी कभी होने ही नहीं पाती। परासंवित्तिरूपी विमर्शभूमिका में तत्त्वों का रूप भी मात्र विमर्श ही है। उस विमर्श का रूप भी 'क' से लकर 'क्ष' तक का शाक्त-विकास है। अतः उस रूप में परिपूर्ण अभेद-भाव की ही व्यापकता है। परापरसंवित्ति में प्रतिबिम्ब नियम के अनुसार भेद में ही अभेद और अभेद में ही भेद की प्रधानता है। तात्पर्य यह कि 'क' से लेकर 'क्ष' तक की वर्णमाला के शरीर को धारण करनेवाली वह परापरसंवित्ति, अपनी उपरितनवर्तिनी पराभट्टारिका में (विमर्शरूप में ही) गर्भित रहनेवाले तत्त्वों का प्रतिबिम्ब ज्यों ही अपने में धारण कर लेती है, त्यों ही उन अमायीय और स्थूल श्रवण का विषय न बनने वाले 'क' से लेकर 'क्ष' तक के पारमार्थिक विमर्शों में हो, उपरीले बिम्बरूपी और निचले प्रतिबिम्बरूपी स्थानों के स्वभाव की महिमा के अनुसार ऊपर-नीचे का विपर्यय होकर, उसी हिसाब से, तत्त्वों की सर्जना भी हो जाती है। अतः शोध्य-शोधकभाव की अपेक्षा से—'क्षकार में पृथिवी-तत्त्व की व्यापकता है'—इत्यादि जो कुछ कहा गया है, उसमें कहीं कोई विरोध नहीं है। वस्तुस्थिति यह है कि परापराभाव में भी पराभाव से सम्बन्धित 'ककार' इत्यादि वर्णों का समुदाय ही कार्यनिरत है, क्योंकि परदशा की क्षति तो किसी भी दशा में नहीं होने पाती। असल में तो पराभाव के गर्भ में ही—(१) 'स्वरूप अंश' अर्थात् पश्यन्ती-वाणी का विकास हो जाने, (२) उस स्वरूप अंश के अन्तर में ही वर्तमान रहनेवाली मध्यमा-वाणी का विकास हो जाने और (३) (मध्यमा के) स्वरूप के दायरे में ही प्रकाशमान रहनेवाली वैखरी-वाणी की स्पष्टता से, क्रमशः वर्णरूपता, मन्त्ररूपता और पदरूपता का उदय हो जाता है—परन्तु ये तीनों (स्वयं शोधक न होकर) शोध्य स्तर पर ही वर्तमान रहती हैं।

आस्ताम्, अप्राकृतमेतत्, निर्णीतं च मयैव श्रीपूर्वप्रभृतिपञ्चिकासु ।

यदप्युक्तं—'श्रीमालिनीभट्टारिकाद्यनुसारेण अन्यथा, अन्यथा च स्थितिः'—इति, तदपि निर्णीय निरूप्यमाणं विमृशन्तु त्रिकोपदेशविशीर्णाज्ञानग्रन्थयः पारमेश्वराः । अनाश्रितशक्त्यात्मक-पश्यन्तीपरमकोटिमतिक्रम्य—'पारमेश्वर्यां परसंविदि देवतास्तिस्रः'—इति यदुक्तं तत् तावन् न प्रस्मर्तुम् अर्हन्ति तत्रभवन्तः । एवञ्च परसंविदन्तर्वर्तिनि मध्यमापदे परापराभट्टारिकाविजृम्भास्पदे स्थितिर्विमृश्यते । मध्यमा तावत् स्वाधिकारपदे क्रियाशक्त्यात्मनि ऐश्वरे पदे स्फुटवेद्यप्रच्छादकवेदनरूपा—वाच्ये वाचकं, तत्रापि वाच्यम्, अध्यस्यते विश्वत्र ।

अस्तु, इस विषय को रहने दीजिये, क्योंकि एक तो यह अप्रासङ्गिक है और दूसरा हमने स्वयं ही श्रीपूर्वपञ्चिका इत्यादि पञ्चिकाओं में इसका निरूपण किया है ।

आगमों में वर्णित स्थितियों का स्पष्टीकरण ।

यह शंका भी उठाई गई कि श्रीमालिनीभट्टारक इत्यादि आगमों के अनुसार अन्यान्य प्रकार की स्थितियों के साथ दो चार होना पड़ रहा है । हम इस विषय का भी निर्णयात्मक निरूपण प्रस्तुत करते हुए, त्रिक उपदेशों का श्रवण करने से खुली हुई अज्ञान की गांठों वाले और साक्षात् परमेश्वरस्वरूप सज्जनों से निवेदन कर रहे हैं कि वे स्वयं इसका मनन करें ।

आदरणीय महानुभाव हमारी पूर्वोक्त बात को भूले न होंगे कि अनाश्रितशिव की शक्तिरूपिणी पश्यन्ती नामवाली उच्चकोटि (सदाशिवभूमिका ज्ञानशक्तिरूपिणी) का अतिक्रमण करके परमेश्वरी परासंवित् के क्षेत्र में तीन देवियाँ विराजमान हैं । इसके अनुसार परासंवित् के ही दायरे में वर्तमान रहनेवाली और परापरभाव पर उतरी हुई शक्ति की विहारभूमि मध्यमा (परामध्यमा) की पदवी पर चलनेवाली स्थिति का विचार किया जा रहा है । मध्यमा[1]-वाणी (परामध्यमा) अपने अधिकार के क्षेत्र, अर्थात् क्रियाशक्तिप्रधान ईश्वर-तत्त्व की भूमिका पर अवस्थित रहकर, स्पष्ट प्रमेयता को (घट, पट आदि स्थूल पदार्थों को) संवेदन में आच्छादित रखने के आकार वाली होने के कारण, पग पग पर, वाच्य में वाचक का और वाचक में वाच्य का अध्यास करती रहती है, अर्थात् एक को दूसरे में ढाँपती रहती है । वाच्य के विश्वात्मक होने पर वाचक का भी

---

१. पहले कहा जा चुका है कि मध्यमा के स्तर पर वाच्य और वाचक की स्थिति मटर की फली के गर्भ में वर्तमान रहने वाले मटर के दानों की जैसी होती है, अर्थात् अन्दर से अलग-अलग और बाहर से आवृत ।

'वाच्ये विश्वात्मनि वाचकमपि विश्वात्मैव'—तदैव परस्पराच्छादन-लोलीभावात्मनि निर्वहेद् अध्यासः, न त्वन्यथा। नहि त्रिचतुरङ्गुलन्यूनता-मात्रेऽपि पटः पटान्तराच्छादकः स्यात्। विश्वात्मकत्वं च परस्परस्वरूपव्या-मिश्रतया स्यात्। बीजात्मनां स्वराणां वाचकत्वं, योनिरूपाणां च व्यञ्जनानां वाच्यत्वं क्रमेण-शिवशक्त्यात्मकत्वात्—

विश्वात्मक होना निश्चित है, क्योंकि केवल उसी सूरत में इन दोनों के एक दूसरे को ढाँपने के 'लोली[1]भावात्मक' अर्थात् झूलन के रूप वाले अध्यास का निर्वाह हो सकता है, अन्यथा नहीं। निश्चय से यदि एक पट दूसरे पट से केवल तीन या चार अंगुल ही छोटा हो तो वह उस दूसरे को कभी भी पूरा नही ढाँप सकता है। वाच्य और वाचक एक दूसरे के साथ स्वरूपतः मिश्रित होने के कारण से ही विश्वात्मक हैं। बीजरूपी स्वर और योनिरूपी व्यंजन ही क्रमशः शिवमय और शक्तिमय होने के कारण वाचक रूपी और वाच्यरूपी हैं। जैसा कि—

---

१. 'लोलीभाव' एक पारिभाषिक शब्द है। इस शब्द से वाच्य और वाचक का, एक दूसरे को तीव्रतम गति से अपने में अन्तर्गत करके आच्छादित करने का अभिप्राय लिया जाता है। मध्यमा-वाणी के स्तर पर इन दोनों की यह ऊपर-नीचे होने की प्रक्रिया, जिसको त्रिकशब्दों में 'अध्यास' कहते हैं, अलक्ष्य एवं अविराम गति में चलती रहती है। इसमें कोई निश्चित क्रम नहीं है। कभी वाचकरूपी शिव वाच्यरूपी जगत् को, और कभी वाच्यरूपी जगत् वाचकरूपी शिव को, किसी निश्चित क्रम के बिना ही, आच्छादित करते रहते हैं—'शिवो जगदाच्छादयेत्' अथवा 'जगदेव शिव-माच्छादयेत्'। सद्-गुरुओं का कथन है कि जिस प्रकार झूला झूलनेवाले दो व्यक्ति झूले पर एक दूसरे के अभिमुख होकर पेंग मारते हुए अतीव तीव्रगति में एक दूसरे को ऊपर-नीचे करने की क्रिया में चञ्चलता से तत्पर रहते हैं, उसी प्रकार मध्यमारूपी झूले पर वाच्य एवं वाचकरूपी खिलाड़ी एक दूसरे का अध्यास करते रहते हैं। इसी झूलने के तीव्रतम स्पन्दन में वैखरी पर पहुँचकर एक दूसरे से बिल्कुल अलग हो जाते हैं। जिस प्रकार झूला झूलने वाले दोनों खिलाडियो का तुल्यबल होना आवश्यक है, क्योंकि केवल उसी सूरत में वे समान बल से पेंग मारकर एक दूसरे को तीव्रगति में ऊपर-नीचे कर सकते हैं, उसी प्रकार वाच्य एवं वाचक दोनों का विश्वात्मक होना आवश्यक है, क्योंकि केवल उसी सूरत में उनकी भी पारस्परिक अध्यास की क्रिया सुचारु रूप में सम्पन्न हो सकती है। वाच्य और वाचक स्वभाविक रूप में ही परस्पर-संपृक्त होने से ही विश्वात्मक हैं—'वागर्थाविव संपृक्तौ····जगतः पितरौ····पार्वती-परमेश्वरौ। फलतः वैखरी पर चाहे जो कुछ भी हो, परन्तु मध्यमा पर इन दोनों का रूप निश्चितरूप में विश्वात्मक ही होता है।

'बीजमत्र शिवः शक्तिर्योनिरित्यभिधीयते।'

इति। तथा—

'बीजयोन्यात्मकाद्भेदाद् द्विधा, बीजं स्वरा मताः।
कादिभिश्च स्मृता योनिः.......................... ॥'

इति श्रीपूर्वशास्त्रे निरूपणात् शिव एव हि प्रमातृभावम् अत्यजन् वाचकः स्यात्, प्रमेयांशावगाहिनी च शक्तिरेव वाच्या। भेदेऽपि हि वाचकः प्रतिपाद्य-प्रतिपादकोभयरूप-प्रमातृस्वरूपाविच्छिन्न एव प्रथते। शिवात्मक-स्वरबीजरूपाश्यानतैव शाक्तव्यञ्जनयोनिभावः—बीजादेव योनेः प्रसरणात्—इति समनन्तरमेव निर्णेष्यामः। अत एव स्वरात्मकबीजव्यामिश्रीभावश्चेद्योनेः तत्समस्तफलप्रसवो हन्त! निर्यत्नः—इत्यपवर्ग-भोगावकृष्टपच्यावेव भवतः।

'बीजवर्णोऽपि स्वात्मनि, योनिवर्णोऽपि तथैव—इति किं कस्य भेदकम् ?'—इति कथ्यमानं न अस्मान् आकुलयेत्, ये वयमेकां तावदनन्तचित्रतागर्भिणी तां

'इस वर्णजगत् में 'शिव' अर्थात् स्वरवर्ग को बीज और 'शक्ति' अर्थात् व्यञ्जनवर्ग को योनि कहा जाता है।'

इस प्रकार, और—

'इस वर्णजगत् के दो रूप हैं—(१) बीज और (२) योनि। इनमें से स्वरों को बीज और 'क' से आरम्भ होनेवाले व्यंजनों को योनि माना गया है।'

इस प्रकार श्रीपूर्वशास्त्र (मालिनीविजय) में विवेचित होने के कारण, अपने प्रमातृभाव को न छोड़ता हुआ शिव ही वाचक और प्रमेयता के अंश पर अवस्थित रहनेवाली शक्ति ही वाच्य है। भेदभाव की भूमिका पर, अर्थात् सर्वसाधारण सांसारिक लेन-देन में भी प्रत्येक वाचक, व्यञ्जन-भाव और स्वर-भाव इन दो रूपों वाले प्रमातृभाव के साथ एकाकार होने से ही विकास को प्राप्त कर लेता है। अभी आगे चलकर इस तथ्य को स्पष्ट किया जायेगा कि वास्तव में शिवमय स्वरूपी बीज की घनता ही शक्तिमय व्यञ्जनरूपी योनिभाव है, क्योंकि बीज-अक्षरों से ही योनि-अक्षरों का प्रसार होता है। फलतः (आध्यात्मिक परिप्रेक्ष्य में) यदि स्वरात्मक बीज-भाव के साथ व्यञ्जनात्मक योनि-भाव का एका हो गया, अर्थात् शिव-भाव और शक्तिभाव का समरसीभाव हो गया तो हर्ष की बात यह कि कोई विशेष प्रयत्न करने के बिना मोक्ष और भोग बिना जोते बोये ही सिद्ध हो गये।

'बीजवर्ण भी अपने आप में पूर्ण हैं और योनिवर्ण का भी वही हाल है, अतः कौन किसका भेदन करने में सक्षम है ? कई लोगों की ऐसी दलीलें हमें, जो कि अनन्त प्रकार की विचित्रताओं से भरी संवित्-मयी वाणी के उद्गारों को प्रकट

संविदात्मिकां गिरं संगिरामहे। मायीयेऽपि व्यवहारपदे लौकिक-क्रमिक-वर्ण-पद-स्फुटतामयी, एकपरामर्शस्वभावैव प्रत्यवमर्शकारिणी प्रकाशरूपा वाक्। अन्यैश्च एतत् प्रयत्नसाधितम्। इह च एतावदुपदेशधाराधिशयनशालिनाम् अयत्नत एव सिद्ध्यति—इति नास्माभिरत्र वृथा वैयाकरणगुरुगृहगमनपूत-शरीरताविष्क्रियामात्रफले निर्बन्धो विहितः। एवमेव नवात्मपिण्डप्रभृतिष्वपि मालामन्त्रेष्वपि च क्रमाक्रम-पूर्वापरादि-भेदचोद्य-प्रतिविधानं सिद्धमेव। एवं

कर रहे हैं, आकुल नहीं बना सकती। [1]मायीय आदान-प्रदान के स्तर पर भी, लोक व्यवहार के साथ सम्बन्ध रखनेवाली और क्रमसहित वर्णों और पदों को स्पष्ट ध्वनिरूप प्रदान करनेवाली वैखरी-वाणी, मूलतः प्रकाशरूपिणी ही होने के कारण अखण्ड-विमर्श के ही स्वभाववाली होती है, और इसी स्वभाव के अनुसार प्रत्येक (लौकिक या आध्यात्मिक) विषय का अनुसन्धान अखण्ड रूप में ही करवाती रहती है। शैव-सम्प्रदाय से इतर लोग इस परासंवित्तिरूपता को महान् प्रयत्नों के द्वारा सिद्ध कर पाये हैं। प्रस्तुत त्रिक-सम्प्रदाय में तो केवल यहाँ तक दिये गये उपदेश की सरणि पर चलने से शोभायमान बननेवाले महापुरुषों को यह रहस्य किसी विशेष प्रयत्न के बिना स्वयं ही अनुभव में आ जाता है। इसी हेतु हमने इस परिप्रेक्ष्य में, वैयाकरण गुरुओं के घरों में जाकर वाक्प्रपञ्च के केवल वैखरीरूपी स्थूल शरीर को ही परिष्कृत बनाने के अवान्तर फल को प्राप्त करने पर कोई बल नहीं दिया है।

इस त्रिकपद्धति का अनुगमन करने से ही, नवात्मपिण्डरूपी और मालारूपी मन्त्रों के विषय में, सक्रमता एवं अक्रमता और पूर्वता एवं परता के आधार पर उठने वाली शंकाओं का समाधान भी स्वयं ही हो जाता है।

मालिनी के स्वरूप का वर्णन

फलतः 'मध्यम-धाम' अर्थात् परापरभाव पर अवस्थित रहनेवाली पश्यन्ती-

---

१. आचार्य जी के कथन का तात्पर्य यह है कि केवल संवित्-मयी वाणी ही नहीं, अपितु जीवव्यवहार चलानेवाली वैखरी-वाणी भी मूलतः संवित्-मयी ही होने के कारण अखंडित विमर्श के ही स्वभाववाली होती है। इसी विमर्शात्मक स्वभाव से वैखरी-वाणी भी स्वयं उचारे गये अलग अलग शब्द-खण्डों का पूरे एक वाक्य के रूप में एकीकरण करके अखण्ड परामर्श का रूप प्रदान करती है। एक वाक्य में एक पूरा अखण्ड परामर्श पाया जाता है और अखण्ड परामर्श से ही सारे लोकव्यवहार भी सिद्ध हो पाते हैं।

भगवती मालिन्येव मुख्य-पारमार्थिक-मध्यमधाम-शक्ति-सतत्त्वम् । अत एवोक्तं श्रीपूर्वशास्त्रे—

'यथेष्टफलसंसिद्ध्यै मन्त्रतन्त्रानुवर्तिनाम् ।
(विशेषविधिहीनेषु न्यासकर्मसु मन्त्रवित्)
न्यसेच्छाक्तशरीरार्थं भिन्नयोनिं तु मालिनीम् ॥'

इति भिन्नयोनित्वं च निर्णीतम् । अन्यत्रापि—

'न पुंसि न परे तत्त्वे शक्तौ मन्त्रं निवेशयेत् ।
जडत्वान्निष्क्रियत्वाच्च न ते भोगापवर्गदाः ॥'

इति ।

वाणी की भूमिका पर, भगवती मालिनी ही शक्ति का मुख्य एवं पारमार्थिक रूप है। इसी कारण से श्रीपूर्वशास्त्र में कहा गया है—

'मन्त्रों के रहस्य को जानने वाले गुरु, मन्त्रों एवं तन्त्रों की परिपाटियों का अनुसरण करनेवाले साधकों की मनोनीत कामनाएँ पूरी होने के लिए, विशेष प्रकार की विधियों से रहित न्यासकार्यों में शाक्त-शरीर की संरचना के लिए भिन्नयोनिरूपिणी मालिनी का न्यास करें।'

इस कथन के द्वारा वहाँ पर मालिनी की भिन्नयोनिरूपता का निर्णय भी किया गया है। दूसरे स्थान पर भी कहा गया है—

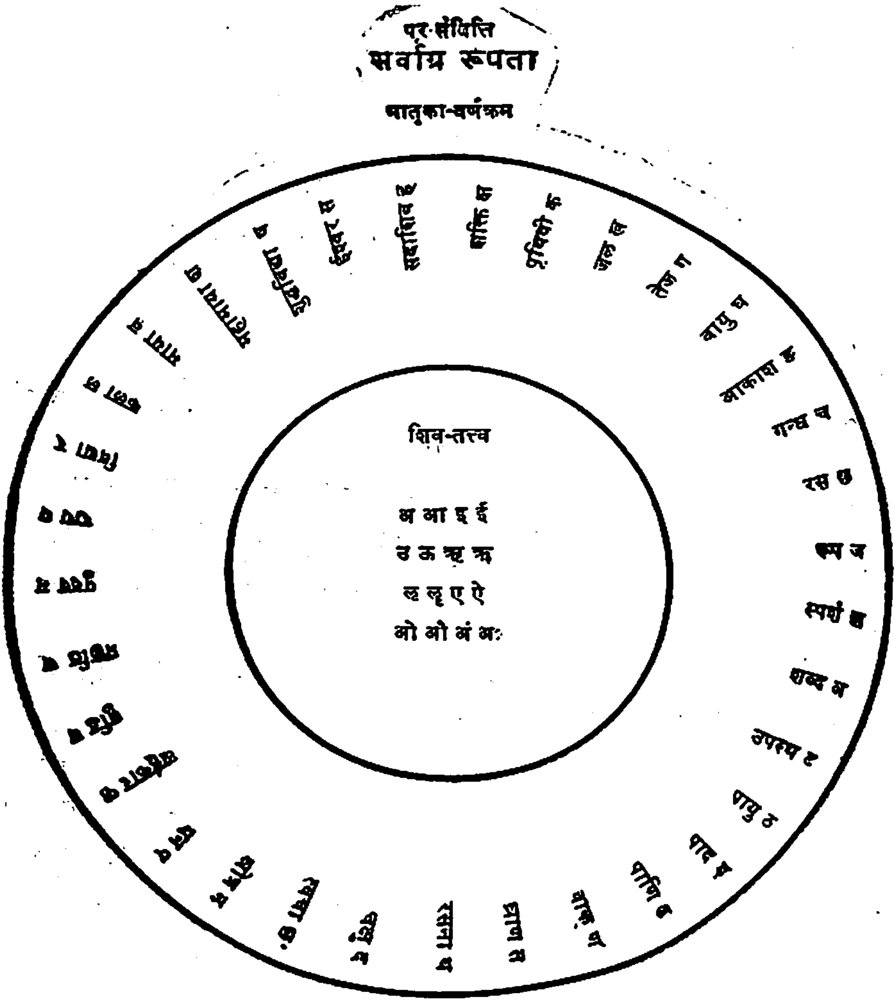
'नररूप और शिवरूप पर मन्त्रों का प्रयोग करने से कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता, अतः इनका प्रयोग केवल शक्तिरूप पर ही करना चाहिये। कोई भी मन्त्र नररूप पर प्रयुक्त किये जाने से जड़ और शिवरूप पर प्रयुक्त किये जाने से निष्क्रिय बन जाने के कारण न तो भोगसिद्धि का और न मोक्षसिद्धि का ही वितरण कर सकता है।'

---

१. इस सम्बन्ध में शास्त्रों की सम्मति इस प्रकार है—

'पुंस्तत्त्वे जडतामेति परतत्त्वे तु निष्फलः ।
शक्तौ मन्त्रो नियुक्तस्तु सर्वकामफलप्रदः ॥'

नररूप स्वयं जडता का परिचायक है, अतः उस पर प्रयुक्त किया जाने वाला मन्त्र भी जड़ ही बन जाता है। परतत्त्व तो प्रत्येक मन्त्र इत्यादि से अतिवर्ती है, अतः उस पर प्रयुक्त किया जाने वाला मन्त्र निष्क्रिय बन जाता है। फलतः शक्तिरूप पर ही प्रयुक्त किये जाने वाले मन्त्र अपना सामर्थ्य प्रकट कर लेते हैं और साधक की मनोनीत कामनायें पूरी हो जाती हैं।

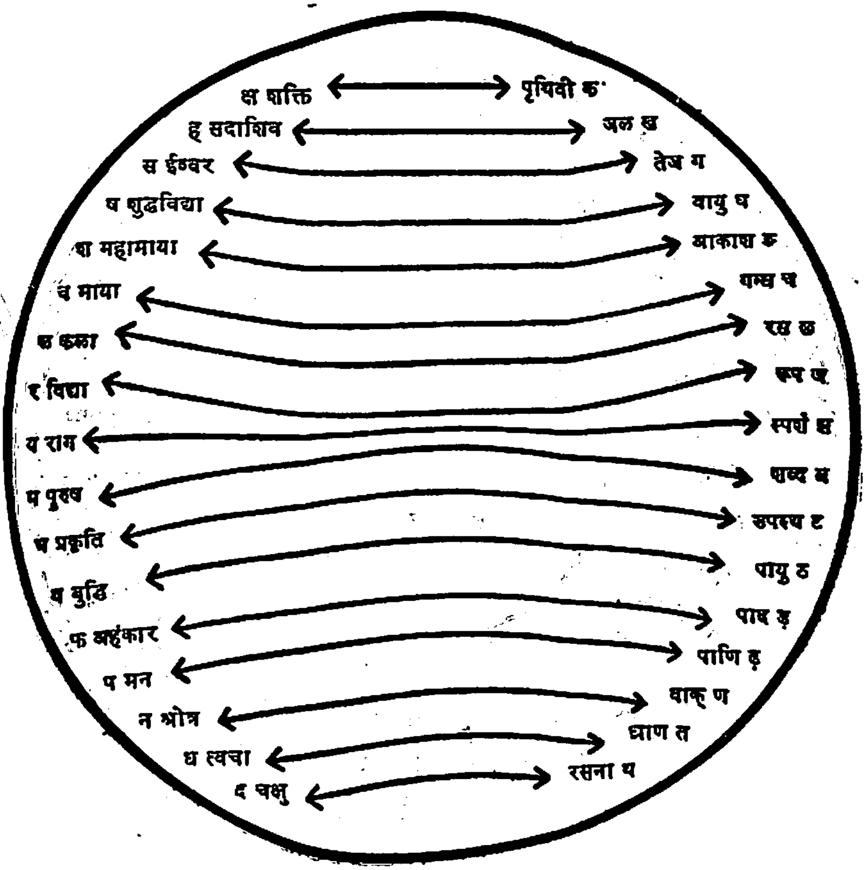


इसमें प्रत्येक तत्त्व अपने में परिपूर्ण है

स्वरवर्ग का विश्लेषण—

अ–चित्	उ–उन्मेष	ऌ–अमृत बीज	ओ–स्फुटतर क्रियाशक्ति
आ–आनन्द	ऊ–ऊनता	ॡ–अमृत बीज	औ–स्फुटतम क्रियाशक्ति
इ–इच्छा	ऋ–अमृत बीज	ए–अस्फुट क्रिया शक्ति	अं–शिवबिन्दु
ई–ईशन	ॠ– अमृत बीज	ऐ–स्फुट क्रियाशक्ति	अः–शिवविसर्ग

परापर संवित्ति में
सर्वमध्यरूपता
मातृका-वर्णक्रम

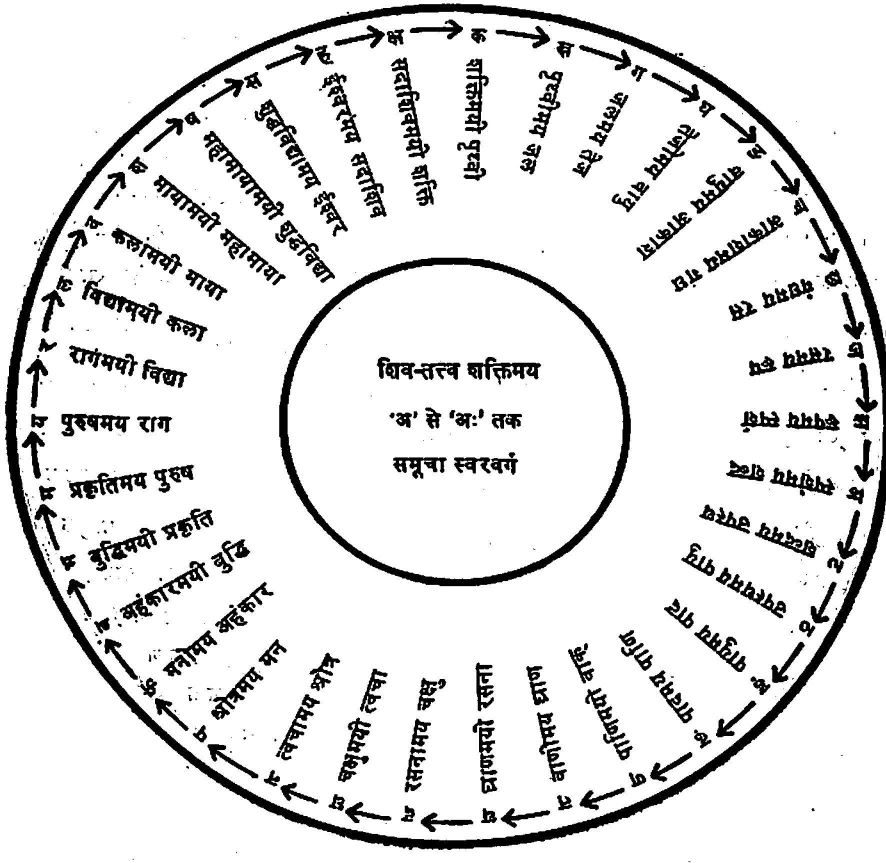


इसमें एक दूसरे को मध्यवेध करने
वाले तत्त्व परस्पर निर्भर होते हैं

परापर संवित्ति में

सर्वान्त्यरूपता

मातृका-वर्णक्रम



इसमें प्रत्येक परवर्ती
तत्त्व अपने पूर्ववर्ती
तत्त्व को स्वरूप में
समाकर अवस्थित है

एवं च स्थिते सर्वसर्वात्मकत्वाद् यदेवं—

'न, ॠ, ॠ, ऌ, ॡ, थ, च, ध, ई, ण, उ, ऊ, ब, क, ख, ग ।

इत्यभिहिता इहत्य-परसंविदम् अपेक्ष्य, क्रमेण—

(अ)

(१) श्रोत्रं नादात्मकभावरूपं योन्यात्म,

(२) अमृताप्यायकारि-बीजचतुष्काप्यायभूमौ पतितं बृंहितत्वमवाप्य,

(३) झटिति ग्रहणात्मक-रसतत्त्व-रसनामयत्वं प्रतिपद्य,

इस प्रकार की वस्तुस्थिति में प्रत्येक तत्त्व के सर्वसर्वात्मक होने के कारण, इस मालिनी-जगत् में परासंवित्ति की अपेक्षा से जो—

'न[1], ॠ, ॠ, ऌ, ॡ, थ, च, ध, ई, ण, उ, ऊ, ब, क, ख, ग ।

ये पहले सोलह अक्षर बताये गये हैं, उनमें निम्नलिखित क्रम के अनुसार (शिवत्व की व्यापकता है)—

परासंवित्ति में सर्वाग्ररूपता के आधार पर मालिनी के पहले १६ अक्षरों में शिवत्व की व्यापकता ।

(१) 'श्रोत्रं' अर्थात् मातृका-क्रम में श्रोत्र-तत्त्व का प्रतीक 'नकार', (प्रस्तुत मालिनी-क्रम में) 'नादात्मक-भाव' अर्थात् परिपूर्ण अनुत्तरीय अहंविमर्शमयी बीज सत्ता होने के साथ साथ स्वयं योनिरूपी भी है ।

(२) वह प्रसार की पहली ही कोटि पर, स्वरूप में ही विश्रान्त होकर अवस्थित रहने के रूप वाले 'अमृतभाव' के द्वारा पुष्टि को प्रदान करने वाली 'ॠ, ॠ, ऌ, ॡ,' इन चार बीजाक्षरों की पुष्टिभूमिका में समावेश करके और पुष्ट होकर—

(३) तत्काल ही स्वरूप-अङ्गीकार के रस का आस्वादन लेने के रूपवाली 'रसनामयता' अर्थात् रसना-तत्त्व के प्रतीक 'थकार' के रूप में उस लोकोत्तर स्वरूप-विस्तार के रस का आस्वाद करानेवाली रसना का रूप धारण करके—

---

१. शिव-शक्ति-संघट्ट के प्रतीक, मालिनी के पहले सोलह अक्षर ।

२. यहाँ पर भगवान् अभिनव ने कुल दो ही वाक्य बनाकर परासंवित्ति और परा-परासंवित्ति के रूप को प्रस्तुत किया है । सारे शब्द अप्रत्याशित कूटता से भरे हुए हैं । यहाँ पर शिवत्व के प्रसार का जो क्रम दिखाया गया है, उसको शिव-स्वरूप के अन्तर्गत सूक्ष्मातिसूक्ष्म स्पन्दरूप ही समझना चाहिये । इसको स्वरूप-सृष्टि कहते हैं और यही सारी बहिरङ्ग स्थूल-सृष्टि का मौलिक बिम्ब है । विषय अनुभवी योगियों को ही गम्य है । पाठकों की सुगमता के लिए मूल संस्कृत वाक्य के खण्ड बनाकर अनुवाद किया गया है और वह भी केवल उतनी मात्रा तक, जितना कि सद्-गुरु महाराज के मुखारविन्द से निकल पड़ा है ।

(४) धरण्याकार-गन्धविशेषीभूय,

(५) तत्रैव स्पर्शकरणतां श्रित्वा,

(६) एतावच्च शाक्तं यौनं धाम ईशानबीजेन अधिष्ठाय,

(७) वागात्मनि करणशक्तौ प्रतिफलितम्,

---

(४) 'धरणी के आकार' अर्थात् उस स्वरूप-विस्तार की चेतना की आनन्दमयता का आस्वाद लेने के भाव पर स्थिरता को अभिव्यक्त करने वाले विशेष प्रकार के गंध का रूप धारण करके, अर्थात् गंध-तत्त्व के प्रतीक 'चकार' के रूप में लोकोत्तर एवं अवर्णनीय सौरभ बन कर—[1]

(५) इस गन्ध-रूपता में ही 'स्पर्शकरणता' अर्थात् स्पर्श की इन्द्रिय त्वचा के प्रतीक 'धकार' के रूप में, पराशक्ति सम्बन्धी 'स्पर्शकरण' अर्थात् अलौकिक योनिधाम का आश्रय लेकर—

(६) (यहाँ पर 'धकार' से द्योतित होने वाली स्पर्शेन्द्रिय (त्वचा) से पराशक्ति सम्बन्धी योनिधाम का अभिप्राय है) वह अनुत्तरीय अहंवीर्य 'ईशानबीज' अर्थात् किसी लोकोत्तर शिव-शक्ति-संघट्ट की अनुत्तरीय ईशना के प्रतीक 'ईकार' के रूप में इसी पराशक्ति सम्बन्धी योनिधाम में प्रतिष्ठित होकर—

(७) वाक्-तत्त्व के प्रतीक 'णकार' के रूप में, इस अपनी ही करणशक्ति (योनि में) अथवा दूसरे शब्दों में स्वरूप से अभिन्न अनुत्तरीय मायाशक्ति में स्वयं ही प्रतिबिम्बित होने के उपरान्त—

---

१. इस वाक्य खण्ड में, स्वरूप के अन्तर्गत ही शिवमयी बीजसत्ता और पराशक्तिमयी योनिसत्ता के पारस्परिक संघट्ट की अवस्था का संकेत भरा हुआ है। प्रसार की प्रक्रिया में बीज-योनि-संघट्ट एक आवश्यक अंग है। आध्यात्मिक परिप्रेक्ष्य में यह अवस्था योगक्रम की उस भूमिका का परिचय देती है, जिसमें आत्मा यौगपदिक अन्तः-बहिःसमाधि में निष्ठ होकर क्रमशः अन्तरङ्ग स्वरूपस्थिति में भैरव-भाव पर और बहिरङ्ग व्युत्थानस्थिति में भैरवी-भाव पर स्वभावसिद्ध रूप में प्रतिष्ठित हो जाती है। साधारण रूप में स्पर्शेन्द्रिय से त्वचा का अभिप्राय द्योतित होता है, परन्तु प्रस्तुत प्रसङ्ग में इससे पराशक्ति सम्बन्धी योनिधाम का अर्थ अभिव्यक्त होता है। शास्त्रीय परिभाषा में यह शब्द योनि का वाचक है।

(८) ततोऽपि करणशक्तेर् उन्मेष-ऊर्ध्वाश्रयण-बीजरूपतया बुद्धिरूपां शाक्त-योनिम् अधिशय्य,

(९) पृथिवी-अप्-तेजोयोनिसमाविष्टं (शिव-तत्त्वम् अत्रोक्तं भवति)।

(आ)

पश्यन्तीरूपानुसृत्या तु—

(१) (श्रोत्रं) ग्रहणात्मक-वाग्-रूपं तत्रैव बीजेषु प्रसृत्य,

(२) चाक्षुष्यां भुवि;

(३) तत्सामान्या शुद्धविद्याकरणे;

---

(८) 'मैं ही सब कुछ हूँ' इस प्रकार के रूप वाली उस करणशक्ति की अवस्था से भी, 'उन्मेष एवं ऊर्ध्वाश्रयण' अर्थात् क्रमशः स्वरूप-विकास और स्वरूप-प्रसार को द्योतित करने वाले 'उकार और ऊकार' के रूप में ऊपर उठ कर, बुद्धि-तत्त्व के प्रतीक 'बकार' के रूप में—'बुद्धिरूपिणी' अर्थात्—'मैं मात्र विश्वोत्तीर्ण ही नहीं, अपितु विश्वमय भी हूँ'—ऐसी निश्चयात्मकता का रूप धारण करने वाली, शाक्त-योनि का आश्रय लेकर—

(९) क्रमशः पृथिवी, जल और तेज इन तीन तत्त्वों के प्रतीक 'क, ख और ग' वर्णों के रूप में, पृथिवी से परिलक्षित होने वाली अनुत्तरीय स्थिरता, जल से परिलक्षित होने वाली अनुत्तरीय आनन्दमयता और तेज से परिलक्षित होने वाली अनुत्तरीय प्रकाशमयता की योनियों में समाविष्ट होकर अवस्थित रहने वाला तत्त्व, (प्रस्तुत प्रक्रिया—परसंवित्ति—में शिव-तत्त्व कहा जाता है)।

परापर संवित्ति में सर्वमध्यरूपता और सर्वान्त्यरूपता के आधार पर इन्हीं १६ वर्णों में शिवत्व की व्यापकता।

१—'पश्यन्ती के रूप' अर्थात् परापरसंविंत्ति के अनुसार—

(१) (मध्यवेद्य के द्वारा) स्वरूप-चेतना को ग्रहण करने वाले वाणी-तत्त्व के प्रतीक 'णकार' के रूप वाला वही उपरोक्त 'श्रोत्र' अर्थात् नादमय 'नकार', पहले उन्हीं 'ॠ ॠ, ऌ, ॡ' इन चार बीजाक्षरों की पुष्टिभूमिका में प्रसार करके,

(२) (मध्यवेध के द्वारा) स्वरूप-साक्षात्कार का संकेत देने वाले चक्षु-तत्त्व के प्रतीक 'थकार' की;

(३) पूर्वोक्त क्रम की ही समानता पर (मध्यवेध के द्वारा) 'शुद्धविद्याकरण' अर्थात् स्वतन्त्र शिवमयी माया और पूर्वोक्त विशिष्ट गन्धमयता के प्रतीक 'चकार' की, और—

(४) तत्सर्वान्त्यकरणे घ्राणे च स्थित्वा,

(५) ईशानबीजेनाक्रम्य,

(६) श्रोत्रशक्तिम् अवलम्ब्य,

(७) उन्मेष-ऊर्ध्वबीजयोगेन आनन्देन्द्रिययोनिगं;

(८) सदाशिव-ईश्वर-शुद्धविद्यामयं भवति,

इति सर्वाग्र-मध्य-अन्तगामित्वेन अपरिच्छिन्नम् अनन्तशक्ति शिव-तत्त्वम् अत्रोक्तं भवति ।

---

(४) 'सर्वान्त्यकरण' अर्थात् (मध्यवेध के द्वारा) शाक्त-योनि (स्पर्शेन्द्रिय) और घ्राण-तत्त्व के प्रतीक 'धकार' की भूमिकाओं पर आरूढ़ होकर,

(५) उस शाक्त-योनि में 'ईशान बीज' अर्थात् 'ईकार' के रूप वाली उसी पूर्वोक्त अनुत्तरीय ईशना के रूप में (योनि में अनुप्रविष्ट होने वाले बीज की तरह ही) समावेश करके,

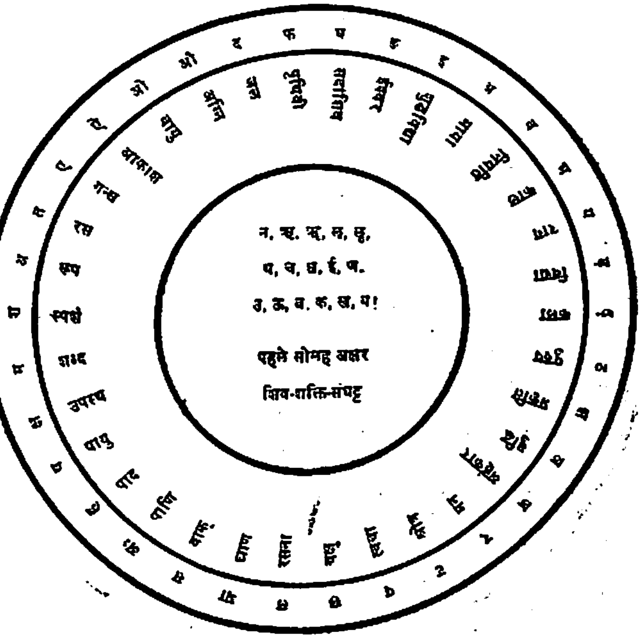
(६) 'णकार' के रूप में (मध्यवेध के द्वारा)—'मैं ही सब कुछ हूँ'—इस प्रकार के रूपवाली वाक्-शक्ति को ग्रहण करनेवाली श्रोत्र-शक्ति का आश्रय लेकर,

(७) 'उन्मेष' अर्थात् 'उकार' के रूप में शिवत्व के विकास और 'ऊर्ध्वबीज' अर्थात् 'ऊकार' के रूप में शिवत्व के ऊर्ध्वप्रसार के साथ योग हो जाने से, (मध्यवेध के द्वारा) 'बकार' से परिलक्षित होने वाली आनन्देन्द्रियमयी योनि में पहुँच कर,

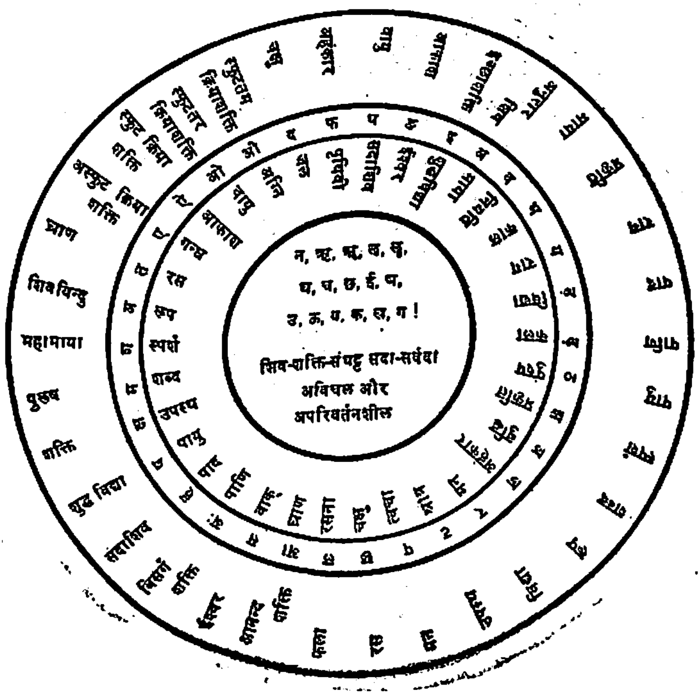
(८) (सर्वान्त्यरूपता के अनुसार) 'क, ख, ग' इन तीन वर्णों के रूप में क्रमशः शक्तिमय सदाशिव, सदाशिवमय ईश्वर और ईश्वरमयी शुद्धविद्या के रूप का अङ्गीकार कर लेता है ।

इस प्रकार मालिनी नामी वर्णक्रम के पहले सोलह अक्षरों में, सर्वाग्ररूपता (परसंवित्ति) और सर्वमध्यरूपता एवं सर्वान्त्यरूपता (परापरसंवित्ति) के दृष्टि-कोण से, अखण्डित और अनन्त शक्तियों से भरपूर शिवत्व की व्यापकता बतलाई जाती है ।

परापर-संवित्ति मालिनी वर्णक्रम में तत्त्वों की व्यवस्था



अपरा-संवित्ति में तत्त्वों का पारस्परिक संकर



(इ)

मालिन्याम् इहत्य-अपरसंविद्-अनुसृत्या पश्यन्त्यात्मकसत्तानुसृत्या च क्रमेण—

"वायुः[1] सादाख्यञ्च 'घः', नभ ईश्वरश्च 'ङः', इच्छैव शिवमयी शुद्धविद्या 'इ', अनुत्तर एव स्वतन्त्रोऽहं भावः 'अ' शिवाख्यो माया, माया नियतिश्च 'वः', प्रकृतिः कालश्च 'भः', रागः नियतिश्च 'यः', पायुर्विद्या च 'ड़ः', पाणिः 'ढकारः' कला च, पुमान् पायुश्च 'ठः', स्पर्शः प्रकृतिश्च 'झः', शब्दश्च 'ञः' धीरूपञ्च, रूपम् अहंकृच् च 'जः', 'रः' विद्या मनश्च, आनन्देन्द्रियं 'टः', श्रोत्रञ्च, मम-

---

अपरा संवित्ति में तत्त्वों का संकर ।

पश्यन्ती के स्तर से ही आसूत्रित होने वाली प्रतिबिम्बात्मकता को दृष्टिपथ में रखकर, प्रस्तुत त्रिकपरिपाटी में मान्यता प्राप्त अपरा संवित्ति के अनुसार, मालिनी के अवशिष्ट वर्णों में क्रमशः—

" 'घ' वायु-तत्त्व और सदाशिव-तत्त्व, और 'ङ' आकाश-तत्त्व एवं ईश्वर-तत्त्व के प्रतीक हैं। शिवमयी इच्छाशक्ति ही वास्तव में शुद्धविद्या है और उसका प्रतीक 'इ' है। स्वतन्त्र अनुत्तरीय अहंभाव ही शिव और माया-शक्ति का वास्तविक स्वरूप है, उसका प्रतीक 'अ' है। 'व' माया-तत्त्व और नियति-तत्त्व, 'भ' प्रकृति-तत्त्व और काल-तत्त्व, 'य' राग-नियति तत्त्व और राग-तत्त्व, 'ड़' पायु-तत्त्व और विद्या-तत्त्व, 'ढ़' पाणि-तत्त्व और कला-तत्त्व, 'ठ' पुरुष-तत्त्व और पायु-तत्त्व, 'झ' स्पर्श-तत्त्व और प्रकृति-तत्त्व, 'ञ' शब्द-तत्त्व और बुद्धि-तत्त्व, 'ज' रूप-तत्त्व और अहंकार-तत्त्व, 'र' विद्या-तत्त्व और मनस्-तत्त्व, 'ट' उपस्थ-

---

१. परात्रिंशिका के K. S. S १९१८ संस्करण में 'पश्यन्त्यात्मकसत्तानुसृत्या' से लेकर 'पृथिवी 'फ' ' तक का मूल-पाठ अतीव अशुद्ध, असम्बद्ध और भ्रान्तिपूर्ण है। परात्रिंशिका की बहुतेरी प्राचीन शारदा मूल-पुस्तियों का बार बार अध्ययन करने पर भी इस प्रकरण का संतोषजनक उद्धार नहीं होने पाया। ऐसी विकट परिस्थिति में प्रातःस्मरणीय श्री सद्-गुरु महाराज ही प्रस्तुत लेखक के पथप्रदर्शक बने। आपने अत्यन्त दयालुता से, अपने गुरु-सम्प्रदाय में पाये हुए पाठ के आधार पर इस प्रकरण को उल्लिखित रूप देकर इसी का अनुवाद करने का आदेश दे दिया। इसके अतिरिक्त सद्-गुरु महाराज ने प्रस्तुत ग्रन्थ के ही अंग्रेजी अनुवादक ठा० जयदेव सिंह को भी यही पाठ रखने और इसी का अनुवाद करने का आदेश दिया।

त्वक् च 'पः', रसः चक्षुश्च 'छः', 'लः' कला रसना च, आनन्दशक्तिः शैवी 'आ' घ्राणञ्च, ईश्वरो वाक् च 'सः', विसर्गशक्तिः 'अः' पाणिश्च, सदाशिवः पादश्च 'हः', शुद्धविद्या पायुश्च 'षः', शक्ति-पृथिव्यौ उपस्थश्च 'क्षः', पुमान् शब्दश्च 'मः', महामाया 'शः' स्पर्शश्च, बैन्दवी शिवशक्तिः 'अं' रूपञ्च, नासिका रसश्च 'तः', शिवशक्तिः सात्त्विकी 'ए' गन्धश्च, सैव दीर्घा 'ऐ' नभश्च, तथैव वायुतेजसी 'ओ, औ', चक्षुर् आपश्च 'दः', अहंकृत् पृथिवी च 'फः'।"

अत्रैव च यथोक्तं शरीरनिवेशः—इत्येवं सर्वसर्वात्मकत्वं निर्व्यूढं भवेत्।

तत्त्व और श्रोत्र-तत्त्व, 'प' मनस्-तत्त्व और त्वचा-तत्त्व, 'छ' रस-तत्त्व और चक्षु तत्त्व, 'ल' कला-तत्त्व और रसना-तत्त्व, 'आ' शिवसम्बन्धिनी आनन्द शक्ति और घ्राण-तत्त्व, 'स' ईश्वर-तत्त्व और वाणी-तत्त्व, 'अः' विसर्ग शक्ति और पाणि-तत्त्व, 'ह' सदाशिव-तत्त्व और पाद-तत्त्व, 'ष' शुद्धविद्या-तत्त्व और पायु-तत्त्व, 'क्ष' शक्ति—पृथिवी-तत्त्व और उपस्थ-तत्त्व, 'म' पुरुष-तत्त्व और शब्द-तत्त्व, 'श' महामाया-तत्त्व और स्पर्श-तत्त्व, 'अं' बिन्दुमयी[2] शिव की शक्ति और रूप-तत्त्व, 'त' नासिका-तत्त्व और रस-तत्त्व, 'ए' शिव की सत्त्वमयी क्रियाशक्ति (अस्फुट रूपवाली) और गन्ध-तत्त्व, 'ऐ' शिव की उसी सत्त्वमयी क्रियाशक्ति का दीर्घरूप (स्फुट रूपवाली) और आकाश-तत्त्व, 'ओ, औ' क्रमशः उसी प्रकार अर्थात् शिव की सत्त्वमयी क्रियाशक्ति (स्फुटतर रूपवाली) और वायु-तत्त्व, और शिव की सत्त्वमयी क्रियाशक्ति (स्फुटतम रूपवाली) और तेजस्-तत्त्व, 'द' चक्षु-तत्त्व और जल-तत्त्व- और 'फ' अहंकार-तत्त्व और पृथिवी-तत्त्व के प्रतीक हैं।"

इसके अतिरिक्त इन्हीं मालिनी[3] के वर्णों में शाक्त-शरीर की गढ़न का प्रकार भी (मालिनीविजय में) समझाया गया है और इस तरह भगवती मालिनी की सर्व-

---

१. भगवान् विसर्गशक्तिमय ही हैं। इसी शक्ति से बहिर्मुखीन एवं अन्तर्मुखीन प्रसार-संहार की क्रियात्मकता व्यवस्थित रूप में सम्पन्न हो जाती है।

२. भगवान् की विसर्गशक्ति ही जब अन्तर्मुखीन संहारात्मकता की दिशा में प्रवहमान हो, बिन्दु-शक्ति कहलाती है।

३. मालिनीविजय के तीसरे अधिकार में—"न शिखा ऋ, ॠ, ऌ, ॡ शिरोमालाथ मस्तकम्" इत्यादि सूत्राङ्क ३७ से लेकर—"ततः परमघोरान्तं पाद्यकाद्ये च पूर्ववत्। परापरा समाख्याता"—इत्यादि सूत्राङ्क ५० तक के सूत्रों में, न्यास कार्य के लिए अपेक्षित, मालिनी के वर्णसमुदाय में ही शाक्त-शरीर की संरचना का प्रकार समझाया गया है।

पराभट्टारिकैव हि प्रोक्तनयेन पश्यन्त्यां प्रतिबिम्बं स्वकम् अर्पयमाणा, तत्सम-कालमेव स्वात्म-तादात्म्य-व्यवस्थित-मध्यमधाम्नि भिन्नयोनिताम् अनुयाता, तत्तद्योनिबीज-परस्पर-संभेद-वैचित्र्यस्य आनन्त्याद् असंख्येनैव प्रकारेण तत्त-त्कुलपुरुषादिपरिगणनभेदेन भेदभागिनी मालिन्येव।

यथोक्तम्—

'अनन्तैः कुलदेहैस्तु कुलशक्तिभिरेव च।
मालिनीं तु यजेद्देवीं परिवारितविग्रहाम्'॥

इति।

अनेनैव च क्रमेण बहिर्भुवनेषु, तत्त्वेषु, शारीरेषु च चक्रेष्वभ्यासपरो योगी,

---

सर्वात्मकता सिद्ध हो जाती है। निश्चय से पराभट्टारिका ही, पूर्वोक्त रीति के अनुसार, अपने साथ एकाकारता में ही व्यवस्थित रहने वाली पश्यन्ती में अपने प्रतिबिम्ब को डालने के बाद तत्काल ही 'भिन्नयोनिता' अर्थात् स्वर-व्यञ्जनों के सम्मिश्रित रूप को धारण करती हुई, विभिन्न योनियों और बीजों के पारस्परिक मिश्रण से जनित अनन्त प्रकार की विचित्रताओं का विषय बन जाने के कारण, अनगिनत 'कुलपुरुषों' अर्थात् स्वरों, नवाक्षररूपी मन्त्रों और 'कुलशक्तियों'[1] अर्थात् व्यञ्जनों और द्वादशाक्षररूपी मन्त्रों की गणना से भेदभाव में पड़कर, मालिनी का रूप धारण कर लेती है। जैसा कहा गया है—

'अनन्त प्रकार के कुलपुरुषों (स्वरों अथवा सिद्ध वीरों) और कुलशक्तियों (व्यञ्जनों अथवा योगिनियों) के परिवार से घिरे हुए शरीरवाली मालिनी भगवती का यजन (अर्चना इत्यादि) करना चाहिए।'

मालिनी के विचित्र स्वर-व्यजन सम्मिश्रण की उपयोगिता।

इसी क्रम से कोई भी सच्चा योगी बाहरी भुवनों, तत्त्वों अथवा अपनी ही काया के अन्तर्गत (मूलाधार इत्यादि) चक्रों पर धारणा बाँध कर तत्त्वों के शोधन

---

१. त्रिक सन्दर्भ में कुलपुरुष और और कुलशक्ति इन दो शब्दों से क्रमशः निम्न-लिखित अभिप्राय लिए जाते हैं—

'बीज और योनि, स्वर और व्यञ्जन, शिव और शक्ति, वीर और योगिनी, 'हं सं यं रं लं वं' जैसे सस्वर और ह् स् य् र् ल् व्' जैसे स्वररहित मन्त्र।'

इसके अतिरिक्त इनसे और भी अभिप्राय लिए जाते हैं। उनका स्पष्टीकरण आगे स्वयं ही होगा। वास्तव में समूचे शिवरूप का कुलपुरुष में और समूचे शक्तिरूप का कुलशक्ति में अन्तर्भाव माना जाता है। इस दृष्टि से सारा विश्व ही कुलपुरुषों और कुलशक्तियों का भंडार है।

तत्तत्सिद्धिभाक् सर्वत्रैव देहे प्राणे च भवति। यथा काश्चिदेवौषध्यः समुद्भूय किञ्चिदेव कार्यं विदधते, तथा काचिदेव भावना मन्त्र-न्यास-सोमादिरूपा समुद्भूय कांचिदेव सिद्धिं वितरेद्—अत्रापि यावन्नियतिव्यापारानतिक्रमात्। तथाहि—

'प्रतिशास्त्रम् अन्यथा चान्यथा च वर्णनिवेशपुरःसरं, निजनिज-विज्ञान-समुचित-तत्तद्-वर्णभट्टारक-प्राधान्येन तत्तद्-वर्ण-प्राथम्यानुसारायात-नियतपरिपाटी-पिण्डित-वर्णसमूहरूपः प्रस्तारो निरूपितः, तत्र एव च मन्त्रोद्धारो

का निरन्तर अभ्यास[1] करने से देहप्रमातृभाव, प्राणप्रमातृभाव अथवा सारे ही भावों में, साधना के ही अनुकूल सिद्धियाँ पा लेता है। जिस प्रकार किन्हीं विशेष औषधियों का घोल किसी विशेष (रोग के निवारण का) कार्य कर सकता है, उसी प्रकार मन्त्र, न्यास और होम इत्यादि रूपोंवाली किन्हीं विशेष भावनाओं का सम्मिश्रण निजी प्रबलता से किन्हीं विशेष सिद्धियों का वितरण कर लेता है, क्योंकि ऐसे विषयों में भी भगवान् की नियति[2]-शक्ति के विधानों का अतिक्रमण हो नहीं सकता। बात यों स्पष्ट की जा रही है—

'प्रत्येक शास्त्र में अन्यान्य प्रकार के मन्त्रों की संरचनाओं के अनुसार, अपने-अपने शास्त्रीय 'विज्ञान' अर्थात् मन्त्रों के नाम एवं स्वरूप के अनुकूल भिन्न-भिन्न प्रकार के वर्णभट्टारकों को प्रधानता देकर, भिन्न-भिन्न वर्णों की प्राथमिकता के आधार पर बननेवाली निश्चित परिपाटियों में रखे गए वर्णसमुदायों के रूप-

---

१. यहाँ पर 'अभ्यास' शब्द से त्रिक सन्दर्भ में तत्त्वों के शोधन का अभिप्राय लिया जाता है। योगी अपने अभ्यासक्रम में जिन जिन तत्त्वों का शोधन कर लेता है, मृत्यु के अनन्तर उसकी आत्मा को उन उन तत्त्वों में प्रविष्ट होकर संकट की भागिनी नहीं बनना पड़ता। इसी प्रकार अनेक जन्मों तक तत्त्वों का शोधन करते करते आखिरकार वह अन्तिम शोधक तत्त्व में ही स्वयं भी लय हो जाता है। किसी भी तत्त्व को आत्मरूप में पहचान कर आत्मा में ही लय कर देना उसका शोधन करना कहा जाता है।

२. यहाँ पर स्वाभाविक रूप में यह शंका उठ सकती थी कि यदि पूर्वोक्त सर्वसर्वात्मकता का सिद्धान्त स्थिर एवं निश्चित सिद्धान्त है, तो कोई योगी एक ही धारणा के द्वारा किसी एक ही तत्त्व का शोधन करने से सारे तत्त्वों का शोधन कर सकता और तदनुकूल एक साथ ही सारी सिद्धियाँ भी पा सकता। इस शंका का निवारण करने के लिए आचार्य ने यहाँ पर भगवान् की नियति-शक्ति का उल्लेख किया है। असल में सिद्धियों के वितरण की कुंजी भगवान् की नियति-शक्ति के आधीन है। इस शक्ति का वर्णन ईश्वरप्रत्यभिज्ञा में किया गया है। यह अतीव प्रबल शक्ति है। यह स्वतन्त्र होने के कारण किसी को थोड़ी सी साधना करने पर ही सारी सिद्धियाँ दे देती है और किसी को प्रबल साधना करने पर भी अंशतः सिद्धि देती है। इसमें किसी का कोई वश नहीं चलने का।

नरूपितः—तामेव मातृकारूपां तथाविधवीर्यदानोपबृंहित-मन्त्र-स्फुरत्ता-दायिनीम् दर्शयितुम्। यथा नित्यातन्त्रेषु परनादात्मनिवेशप्राधान्यात्, तदनुसारापतितश्रीमन्नादिफान्तक्रमेणैव निवेशः। अत्र कुलपुरुषाणां कुलशक्तीनाञ्च एष एव निवेश अभिप्रायः, न तु वर्ण-मन्त्रादिगुप्तिमात्रमेव फलम्। यथा श्रीवाजसनेयतन्त्रे वर्णान् यथोचितं निवेश्योक्तम्—

वाले प्रस्तारों के वर्णन किये गये हैं। साथ ही उन प्रस्तारों से 'मन्त्रोद्धार' अर्थात् मंत्रों को कूटरूपता से निकालकर स्पष्टरूप में रखने का क्रम भी दिखाया गया है। यह सारा केवल इस अभिप्राय को जताने के लिए किया गया है कि वास्तव में मातृका[1]-मालिनी-रूपिणी वह पराभट्टारिका ही, उस अवर्णनीय मंत्रवीर्य को प्रदान करने से पुष्ट बनी हुई मंत्रों की स्फूर्ति को प्रदान करनेवाली है। उदाहरण के तौर पर श्रीनित्यातन्त्र में [2]'परनादात्मक' अर्थात् परा-पश्यन्ती-दशा के ही अनुकूल मंत्र रचना की प्रधानता होने के कारण, उसी के अनुसार देखे गए श्रीमन्त 'नकार' से लेकर 'फकार' तक के क्रम में ही वर्णों को रखा गया है। इसी प्रकार प्रस्तुत त्रिक-शास्त्र में भी कुलपुरुषों (स्वरों) और कुलशक्तियों (व्यञ्जनों) को मालिनीक्रम में रखे जाने का भी यही अभिप्राय है—न कि इससे वर्ण, मंत्र इत्यादि को [3]कूटरूप में रखे जाने का ह मात्र फल निकलता है। जैसा कि श्रीवाजसनेय तन्त्र में वर्णों को यथोचित ढंग से रखने के उपरान्त कहा गया है—

१. यहाँ पर गुरु-सम्प्रदाय के अनुसार 'मातृकारूपाम्' शब्द से मातृका और मालिनी दोनों रूपों को युगपत् धारण करनेवाली परा-भगवती का तात्पर्य लिया जाता है।

२. गुरु-सम्प्रदाय में पर-नाद से परा-पश्यन्ती (बिम्बरूपिणी), परापरनाद से परा-मध्यमा (बिम्बरूपिणी) और अपर-नाद से परा-वैखरी (बिम्बरूपिणी) का अभिप्राय लिया जाता है।

३. यहाँ पर आचार्य जी ने इस तथ्य को अनावृत करके रखा है कि मंत्रों के रहस्यों को जाननेवाले सिद्ध पुरुषों ने भिन्न-भिन्न प्रकार के मंत्रों के लिए जो भिन्न भिन्न प्रकार के वर्ण-सन्निवेश निश्चित करके रखे हैं, उनमें मंत्रों को कूट बनाकर दूसरों के लिए दुरूह बनाए जाने का अभिप्राय कभी नहीं रहा है—बल्कि सत्य तो यह है कि मंत्रों को विशेष प्रकार के सन्निवेशों में रखने से ही उनमें निहित रहनेवाले भिन्न-भिन्न प्रकार के मंत्रवीर्यों को स्फुरणा प्राप्त हो सकती है, अन्यथा नहीं। परन्तु उन वर्ण-सन्निवेशों को अनुभवी मंत्रवेत्ता ही निश्चित कर सकते हैं, क्योंकि उन्हीं को मंत्रों का प्रत्यक्ष दर्शन हुआ होता है। प्रस्तुत लेखक के कई मित्र सूर के कूट पद्यों पर कूटता का लांछन लगाकर उनकी अवहेलना करते हैं, परन्तु उन महाशयों को यह अवश्य देखना होगा क सूर-काव्य के ऐसे कूट-पद्य भी कहीं मंत्र ही तो नहीं हैं?

'इत्येतन्मातृकाचक्रं दिव्यं विष्णुपदास्पदम् ।
ज्ञातं गुरुमुखात् सम्यक् पशोः पाशान्निकृन्तति ।।'

इति । तथा त्रिकहृदयेऽपि—

'चक्रशूलाम्बुजादीनां प्राणिनां सरितां नृणाम् ।
आयुधानाञ्च शक्तीनामन्यस्यापि च कस्यचित् ।।
यो निवेशस्तु वर्णानां तद्वीर्यं तत्र मन्त्रगम् ।
तेन गुप्तेन ते गुप्ताः शेषा वर्णास्तु केवलाः ।।'

इति । तथाहि—

"मन्त्राणाम् अक्षर-मात्रानन्यथाभावेऽपि, तेषामेव शास्त्रेषु आणव-शाम्भ-

'यही वह लोकोत्तर और 'विष्णुपद'—अर्थात् मालिनी के असीम आकाश में पहुँचा हुआ मातृका-चक्र है । यह साक्षात् गुरुमुख से भली-भांति हृदयङ्गम किए जाने पर ही पशुजनों के जालों को काट लेता है ।।'

इसके अतिरिक्त त्रिक-हृदय में भी—

'चक्र, त्रिशूल, कमल इत्यादि, (विभिन्न आकार-प्रकारों वाले) प्राणी, नदियाँ, मनुष्य, शस्त्र, शक्तियाँ[1] अथवा और-और भी ऐसे ही वस्तुओं के आकारों में जो (मंत्रात्मक) वर्णों की संरचनायें बनाई जाती हैं, उनमें ही उन मंत्रों का वीर्य भरा रहता है । इस प्रकार से मंत्रवीर्य को अक्षुण्ण रखने से ही उन मंत्रों की मंत्रात्मकता भी अक्षुण्ण रहती है, नहीं तो (वीर्य के अभाव में) वे केवल साधारण वर्णमात्र ही हैं ।' इस प्रकार का आशय अभिव्यक्त किया गया है।

प्रयोग से ही मंत्रों में स्वरूप-विपर्यय ।

कहने का तात्पर्य यह कि यदि भिन्न-भिन्न मंत्रों की वर्ण-संरचना में कोई [2]उलट-फेर न भी किया जाए, तो भी शास्त्रों में वर्णित आणव, (शाक्त) और

---

१. यहाँ पर 'शक्ति' से प्राचीन काल के प्रसिद्ध प्रक्षेपास्त्र का अभिप्राय है ।

२. गुरुओं का कथन है कि किसी भी वर्णसंरचना वाले एक ही मंत्र का, साधक के प्रयोग के अनुसार तीन रूपों में विपर्यय हो जाता है—

(क) यदि मंत्र का प्रयोग प्रथमाभास अर्थात् विशुद्ध इच्छाशक्ति में किया जाये तो वह शाम्भव-मंत्र बन जाता है ।

(ख) यदि मंत्र का प्रयोग परामर्श अर्थात् विशुद्ध ज्ञानशक्ति में किया जाये तो वह शाक्त-मंत्र बन जाता है ।

(ग) यदि मंत्र का प्रयोग प्राणापानगति अर्थात् विशुद्ध क्रियाशक्ति में किया जाए तो वह आणव-मंत्र बन जाता है ।

वादि-विभागेन अन्यथात्वम्। यथा मायाबीजस्य, प्रणवस्य, सर्वस्यामृतबीजस्य च वैष्णव-शैव-वामादि-शास्त्रेषु, यथा वा चतुष्कलभट्टारकस्य कौलोत्तरादौ श्रीमदुच्छुष्मशास्त्रे च। अत्र च कुलपुरुष-कुलशक्ति-बहुभेद-प्रकटनायाम् अभियुक्तानाम् उपायो लिख्यते—

> 'पूर्वे परेषामपरे परे पृष्टवदेव च।
> पूर्वेऽपि च यथापूर्वं मातृकाया विधिर्मतः।
> एतेनैवानुसारेण भिन्नयोनिस्वरूपतः।
> शाक्ताद्यसंख्या देवीयं परानुत्तरमालिनी॥'

इति। तथा—

> 'अधोऽधो विनिविष्टेषु भेदसंख्येषु धामसु।
> एकं बिन्दुरथापि प्राग् अन्येषु प्राक्तनान्त्यगाम्॥

शांभव विभागों के अनुसार उनमें स्वरूपविपर्यय हो ही जाता है। उदाहरण के तौर पर जिस प्रकार वैष्णव, शैव, वाम इत्यादि मतों के साथ सम्बन्धित शास्त्रों में मायाबीज (ह्रीं), प्रणव (ओम्) और अविकल [1]अमृत बीज (सौः) इन मंत्रों में, अथवा चतुष्कल-भट्टारक (ओम्) इस वैदिक प्रणव का कौलोत्तर-तंत्र और श्री उच्छुष्म-तंत्र में स्वरूप-विपर्यय हो जाता[2] है।

मातृका एवं मालिनी के अनुसार मन्त्रों की संरचना का ढंग।

अब इस (मातृका-मालिनीरूपी) वर्ण-जगत् में कुलपुरुषों (स्वरों) और कुलशक्तियों (व्यञ्जनों) के बहुत से मंत्रभेदों को प्रकट करने पर तत्पर साधकों के लिए उपाय लिखा जाता है—

१. मातृकाविधि—

'निश्चित रूप से स्वरों को व्यञ्जनों से पहले और व्यञ्जनों को स्वरों के पीछे रखा जाता है। साथ ही स्वरों को भी एक खास निश्चित क्रम में रखना आवश्यक है। यही मातृका की प्रणाली मानी गई है।

२. मालिनीविधि—

'व्यञ्जनों के बीच-बीच में स्वरों की घुसपैठ वाले रूप को धारण करनेवाली होने के कारण मालिनीविधि इसी के अनुसार, अर्थात् स्वरों और व्यञ्जनों के पारस्परिक संकर के अनुसार ही मानी जाती है। यह मालिनी (स्वरों एवं

---

१. (सौः) यह त्रिक-सम्प्रदाय का सर्वोत्कृष्ट महामंत्र है। इसका सीधा उच्चारण किए जाने अथवा पुस्तकों में सीधा लिखे जाने की अपेक्षा 'अमृतबीज' शब्द से ही अभिव्यक्त किया जाना श्रेयस्कर माना जाता है। इसको हृदयबीज भी कहते हैं।

२. शांभव प्रणव—हूं, शाक्त प्रणव—ह्रीं, आणव प्रणव—ओं, ये तीन प्रकार के प्रणव हैं, परन्तु भिन्न-भिन्न शास्त्रों में इनके भी भिन्न-भिन्न रूप पाए जाते हैं।

स्वपृष्टगां च तां संख्यां विनिवेश्यैकतः क्षिपेत् ।

व्यञ्जनों के बहुत प्रकार के सम्मिश्रण के द्वारा) शाक्त इत्यादि असंख्य भेदों को धारण करने पर भी मूलतः परा और अनुत्तररूपिणी ही है ॥' और—

'संयुक्त'[1] व्यंजनों वाले मंत्रों में सारे हलन्त व्यंजनों को एक दूसरे के नीचे

१. तन्त्रक्रम में मन्त्र दो प्रकार के होते हैं—१ संयुक्ताक्षरी और २ असंयुक्ताक्षरी । संयुक्ताक्षरी मन्त्र वे हैं जिनमें रखे गए सारे व्यंजन स्वररहित हों और वैसे होने के कारण एक दूसरे के साथ संयुक्त रूप में लिखे जा सकते हों । उदाहरणार्थ 'ह् स् र्' जैसे स्वरहीन व्यंजनों वाले मन्त्र के अक्षरों को एक दूसरे के नीचे रखकर 'ह्स्र्' ऐसे संयुक्त रूप में भी लिख सकते हैं । असंयुक्ताक्षरी मन्त्र वे हैं जिनमें रखे गये सारे व्यंजन सस्वर हों और इस कारण से संयुक्त रूप में लिखे न जा सकते हों । उदाहरणार्थ 'यं रं लं वं' जैसे सस्वर व्यंजनों वाले मन्त्र के प्रत्येक व्यञ्जन को अलग-अलग ही लिखा जा सकता है । उपरोक्त श्लोक में इन दोनों प्रकार के मन्त्रों की संरचना का नियम समझाया गया है—

(क) संयुक्ताक्षरी मन्त्र में रखे गये सारे स्वरहीन व्यञ्जनों को एक दूसरे के नीचे क्रमशः रखकर अन्तिम व्यञ्जन के ऊपर बिन्दु लगाना चाहिए । इस प्रकार एक पूरा मन्त्र बन जाता है जैसे—

ह् अथवा
स्
र्
क्ष् ह् स् र् क्ष् म् ल् व् य् णूं
म्
ल्
व्
य
णूं

(ख) असंयुक्ताक्षरी मन्त्र के सारे व्यञ्जनों के ऊपर अलग-अलग बिन्दु लगाने चाहिए जैसे—

यं अथवा
रं यं रं लं वं
लं
वं

इसी क्रम को अपनाने से अनन्त प्रकार के संयुक्ताक्षरी और असंयुक्ताक्षरी मन्त्र बन जाते हैं, परन्तु मन्त्रों की वर्ण-संरचनाओं के क्रम को मन्त्रद्रष्टा सिद्ध ही निर्धारित कर सकते हैं । यह सर्वसाधारण लोगों का विषय नहीं है ।

अस्मादन्यैर्भवेत्संख्या स्पृष्टैरिष्टैः पुनः क्रमः ।
यथोक्तः कुलशक्तीनां विधिरानन्त्यवेदने ॥'

तदेतेन विधिना ये कुलपुरुष-शक्ति-योगिनो निरधिकारीभूताः, यथोक्तम्—

नीचे रखकर अन्तिम व्यंजन के ऊपर एक बिन्दु लगाना चाहिए । दूसरे प्रकार के अर्थात् असंयुक्त व्यंजनों वाले मंत्रों के हरेक व्यंजन के ऊपर अलग-अलग बिन्दु लगाने चाहिए और इस प्रकार पहले व्यंजन से लेकर अन्तिम व्यंजन तक के सारे व्यंजनों के ऊपर लगाए गए बिन्दुओं की संख्या को एक ओर अलग रखना चाहिए । इसी क्रम को अपनाने से अन्यान्य संयुक्ताक्षरी और असंयुक्ताक्षरी मंत्रों के बिन्दुओं की संख्यायें बन जाती हैं । इस प्रकार मंत्र-जगत् में इन दोनों प्रकार के मंत्रों के साथ सम्बन्धित कुल-शक्तियों (व्यंजनों) की अनन्तता को जान लेने का यही ढंग बताया गया है ॥'

मन्त्रोद्धार के लिए उपयुक्त प्रमाता ।

जो भी सिद्ध योगी और सिद्ध योगिनियाँ (दूसरों का उद्धार करने की) अधिकारिता से भी ऊपर उठ चुके हों, अर्थात् अनामय-पदवी के भागी मन्त्र[1]-महेश्वर नामी प्रमातृभाव पर पहुँचे हुए हों, उनके लिए इस उपरोक्त विधि से मन्त्रोद्धार किये जाने का कोई प्रयोजन नहीं, क्योंकि उससे कोई अभीष्ट फल निकलने का नहीं । इस परिप्रेक्ष्य में—

---

१. त्रिक-सन्दर्भ में मन्त्रमहेश्वर शब्द से सदाशिव स्तर के, मन्त्रेश्वर शब्द से ईश्वर स्तर के और मन्त्र शब्द से शुद्धविद्या स्तर के प्रमाताओं का तात्पर्य लिया जाता है । मन्त्रमहेश्वर प्रमाता शिवभाव के निकटतम होने के कारण इतने अन्तर्मुख होते हैं कि वे कभी समाधि से निकल कर व्युत्थान में आते ही नहीं । वे तो पूर्णतया संसार भाव से अतिवर्ती होने के कारण किसी के उद्धार होने या न होने की जैसी चिन्ताओं से भी मुक्त होते हैं । ऐसी परिस्थिति में वे किसको उपदेश देकर उद्धार कर सकते हैं ? अतः उनके सन्दर्भ में मन्त्रोद्धार किये जाने का कोई प्रयोजन ही नहीं है । मन्त्रेश्वरों के लिए भी परिस्थिति लगभग ऐसी ही है । इसके प्रतिकूल मन्त्रप्रमाता ही अपेक्षाकृत निम्न स्तर पर अवस्थित होने के कारण कभी-कभार बहुत थोड़े काल के लिए समाधि से निकल कर व्युत्थान में भी आते रहते हैं और उसी व्युत्थान की अवधि में पात्रजनों को उपदेश देकर उनका उद्धार भी कर लेते हैं । अतः इसी स्तर के प्रमाता मन्त्रोद्धार के लिए उपयुक्त प्रमाता सिद्ध हो सकते हैं । भगवान् अभिनव के कथनानुसार इन प्रमाताओं ने यद्यपि समाधिकाल में अनामय-पद का साक्षात्कार किया भी होता है, तो भी अपने लयीभवन की वेला पर ये अपने उपरिवर्ती मन्त्रेश्वर स्तर को लांघकर सीधे अनामय-पद में लीन नहीं हो सकते । अतः अपेक्षाकृत बहिर्मुख होने के कारण ही किसी भक्तजन का उद्धार भी कर सकते हैं ।

'ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्ते जातमात्रे जगत्यलम् ।
मन्त्राणां कोटयस्तिस्रः सार्धाः शिवनियोजिताः ।
अनुगृह्याणुसंघातं याताः पदमनामयम् ॥'

इति मन्त्रमहेश्वरा न तु मन्त्राः—तेषां स्वलयावसरे अनामयपदपर्यन्तताभावः,—तेभ्यो नैव मन्त्रोद्धारः—तस्य निष्फलत्वादिति ।

तदेवं भगवती पराभट्टारिका पदभेदशालिनो, मध्यमया मुख्यया वृत्त्या,

---

'ब्रह्मा से लेकर घास के तिनके तक जगत् की सर्जना हो जाने के बाद तत्काल ही, भगवान् शंकर ने साढ़े तीन करोड़ मंत्र प्रमाताओं को अणुओं का उद्धार करने के काम पर नियुक्त किया । वे अणुओं के समुदाय पर अनुग्रह करने के उपरान्त 'अनामय-पदवी' अर्थात् मंत्र-महेश्वर जैसे प्रमाताओं के उपयुक्त और शिव-भाव की अतिनिकटवर्तिनी आनन्द भूमिका पर लौट गये ।'

(मालिनी के) इस पद्य में जो मन्त्रप्रमाताओं के अनामय-पद पर लौट जाने की चर्चा की गई है, वह तो असल में मन्त्र[1]-महेश्वर प्रमाताओं के सन्दर्भ में ही की गई है, मंत्रप्रमाताओं के सन्दर्भ में नहीं, क्योंकि उनके लिए तो लयीभाव के अवसर पर सीधा ही पार्यन्तिक अनामय-पदवी में लय हो जाना संभव नहीं हो सकता[2] ।

शोध्य-शोधन-भाव का मन्तव्य ।

तो इस प्रकार से यह सिद्ध हो गया कि पराभट्टारिका ही पश्यन्ती-पद और मध्यमा-पद के भेद से शोभित होती हुई, मुख्यरूप में 'मध्यमावृत्ति' अर्थात् परापरभाव का अङ्गीकार करने पर भगवती मालिनी के रूप में ही विकसित हो

---

१. स्पष्ट है कि यहाँ पर आचार्य जी ने मालिनी के इस उद्धरण-पद्य के तीसरे चरण में उल्लिखित 'मन्त्राणां' शब्द से मन्त्रप्रमाताओं के स्थान पर मन्त्रमहेश्वर प्रमाताओं का अभिप्राय निकाला है ।

२. यहाँ पर K.S.S द्वारा छपाये गये संस्करण के मूल-पाठ में 'निष्फलत्वात्' के अनन्तर और 'तदेवं' से पहले, बीच में—'तत एव....अभिन्नयोनिमध्ये तु नादि-फान्तं कलौ युगे । इति' यह अधिक पाठ दिया गया है । यह तो स्पष्ट ही प्रक्षिप्त-पाठ है, क्योंकि एक तो परात्रिंशिका की किसी भी शारदा मूल-पुस्ती में इसका उल्लेख नहीं मिलता और दूसरा प्रस्तुत प्रसङ्ग के साथ इसकी कोई संगति भी नहीं बैठता ।

भगवन्मालिनीरूपैव अनन्ता, परिगणन-प्रदर्शित-वैश्वरूप्य-स्वरूपा, इति। तत्रापि च तथैव स्वात्मनि सर्वात्मकत्वेन अंशत्रयोद्रेकात् वर्ण-पद-मन्त्रात्मकत्वमेति, तच्च शोधनकरणभावेन, इति मन्तव्यम्। पश्यन्त्यंशोल्लसन्तो हि पाशाः सूक्ष्मा एव शोध्या भवन्ति—अन्तर्लीनत्व एव पाशत्वात्। उदितोदित-विजृम्भामय-शाक्तप्रसरे तु मध्यमापदे शोधनकरणतैव भवति—अन्तर्लीनपटमलापसारणे

जाती है। इस स्तर पर इसका स्वरूप इतना अनन्त बन जाता है कि गणना किये जाने पर ही इसकी विश्वरूपता का आभास मिल जाता है। उस विश्वरूपता में भी, पूर्वोक्त रीति के अनुसार, स्वरूपतः सर्वात्मिका होने के कारण इसके स्वरूप में ही (पर, सूक्ष्म और स्थूल इन) [1]तीन अंशों का उद्रेक हो जाने से यह वर्ण, पद और मन्त्र इन तीन रूपों को स्वीकारती है, परन्तु इन तीनों का विकास केवल शोधन के लिए साधनों[2] की दृष्टि से ही समझना चाहिये। पश्यन्ती के अंश पर विकसित होनेवाले पाश नितरां सूक्ष्म होते हैं, अतः उनका शोधन सूक्ष्मरूप में ही करना पड़ता है, क्योंकि अन्तरतम में चिपके रहने में ही पाश का पाश होना सार्थक है। मध्यमा के, जिसमें शाक्त-प्रसार के बहिर्मुखीन विकास की अधिक स्पष्टता परिलक्षित होती है, पद पर तो पश्यन्ती शोधन का साधन ही बन जाती है, क्योंकि जिस प्रकार कपड़े के अन्तरतम में चिपके हुए मल को धोने से शेष उपरीले मल स्वयं ही धुल जाते हैं, उसी प्रकार तन्मयीभाव के स्तर पर सूक्ष्मरूप में वर्तमान मल के हटाये जाने पर मध्यमा के स्तर का मल स्वयं ही

---

१. भगवती मालिनी स्वतः परापरभाव की परिचायिका है, परन्तु यह परापरभाव में भी पर, सूक्ष्म (परापर) और स्थूल (अपर) इन तीन अंशों में विकसित हो जाती है। वर्ण, पद और मन्त्र इसके इस तीन अंशों वाले विकास के प्रतीक हैं। इन्हीं तीन अंशों को क्रमशः पश्यन्ती में पश्यन्ती, पश्यन्ती में मध्यमा और पश्यन्ती में वैखरी भी कहा जा सकता है।

२. तात्पर्य यह कि स्थूलरूप शोध्य और सूक्ष्मरूप उसका शोधक, सूक्ष्मरूप शोध्य और पररूप उसका शोधक होते हैं। फिर पररूप भी शोध्य और उसका अपना पूर्ववर्ती सूक्ष्मरूप शोधक की भूमिका निभा लेता है। इस प्रकार यह शोध्य-शोधकों की शृंखला तब तक आगे आगे चलती ही रहती है, जब तक पार्यन्तिक सर्वशुद्ध स्वभाव प्राप्त न हो जाये। वह पार्यन्तिक सर्वशुद्ध स्वभाव तो केवल अनुत्तर-स्वभाव ही है, परन्तु यदि वह भी स्वभाव न रह कर वेद्य बन जाये तो शोधन की प्रक्रिया का पूर्णविराम नहीं।

बाह्यस्थूलमलस्येव तत्। पराभट्टारिकासंविदन्तर्गतं तु वैखरीपदं विमृश्यते। नहि तत्र वैखर्या असम्भवः। तथाहि—

"बाला द्वित्रैर्वर्षैः यद्यपि स्फुटीभूत-स्थान-करणा भवन्ति, तथापि तेषां मासानुमास-दिनानुदिनमेव वा व्युत्पत्तिर् अधिकाधिकरूपताम् एति—इति तावत् स्थितम्। तत्र यदि मध्यमापदे तथाविध-वैखरीप्रसर-स्फुटीभविष्यत्-स्थान-करणविभाग-वर्णांश-स्फुरणं न स्यात्, तदहर्जातस्य बालकस्य, मास-जातस्य, संवत्सरजातस्य वा व्युत्पत्तौ न विशेषः स्यात्। मध्यमैव सा व्युत्पत्त्या विशिष्यत इति चेत्, कथम्? इति चर्च्यतां तावत्। शृण्वन्नेव तान् शब्दान् पश्यंश्च अर्थान् व्युत्पद्यते। वर्णांश्च श्रूयमाणान् एव परामृशेत्। श्रूयन्ते तु

हट जाता है। अतः अब केवल परासंवित् के ही दायरे के अन्तर्गत[1] वैखरी-पद का विचार करना अपेक्षित है। निश्चय से पराभाव में वैखरीभाव का अभाव नहीं होता है। बात यों स्पष्ट की जा रही है—

"इसमें दो मत नहीं हो सकते कि यद्यपि नवजात शिशुओं के उच्चारण-स्थान और अवयव दो तीन सालों में ही पूरी तरह विकसित हो जाते हैं, तो भी हर महीना या दिन बीतने के साथ साथ ही उनकी सूझ-बूझ में भी उत्तरोत्तर निखार आता ही रहता है। अतः यदि परा-वाणी के अन्तर्वर्ती मध्यमापद के गर्भ में ही, धीरे धीरे विकसित होनेवाली वैखरी के प्रसार से दिनोंदिन स्पष्ट होनेवाले उच्चारण-स्थानों और अवयवों के अनुकूल वर्ण-खण्डों का स्पन्दन न होता रहता तो एक दिन, एक मास और एक साल के जन्मे बच्चों की व्युत्पत्ति में कोई अन्तर ही न होता। यदि कोई यह कहे कि वास्तव में बच्चे की मध्यमा-वाणी में ही व्युत्पत्ति बढ़ने के साथ साथ विशेषता आती रहती है, तो ऐसा महाशय यह समझाने का कष्ट करे कि यह बात कैसे संभव हो सकती है? कानों से शब्दों को सुनते और आँखों से तदनुकूल पदार्थों का साक्षात्कार करते रहने से ही बच्चे की व्युत्पत्ति में निखार आ जाता है। वह अपने मन में उन्हीं वर्णों का परामर्श करता रहता है, जिनको कानों से सुनता है। जो वर्ण उसके कानों में

---

१. यहां पर गुरु लोग मूल—'पराभट्टारिकासंविदन्तर्गतम्' इस वाक्यखण्ड का यह अर्थ लगाते हैं कि परा-शक्ति के गर्भ में परा-वाणी, उसके गर्भ में पश्यन्ती-वाणी उसके गर्भ में मध्यमा-वाणी और उसके गर्भ में वैखरी-वाणी अवस्थित है। फलत, वैखरी की स्थिति परासंवित् के गर्भ में शाश्वतिक रूप में वर्तमान ही है। हाँ सद्योजाः बच्चे, गूँगे और स्पष्ट बातें करनेवाले व्यक्ति में तो इसकी स्पष्टता और अस्पष्टता का ही भेद होता है। इसका स्पष्टीकरण आगे चलकर होगा।

वैखरीमयाः, तेषु च असौ रूप इव जात्यन्धवत् । तस्माद् अन्तर्मध्यमा-निविष्ट-स्थान-करणादिमयी अस्त्येव वैखरी । मूकेऽपि एवमेव । सर्वात्मकत्वञ्च संविदो भगवत्या एव—इत्युक्तम् ।"

"एवञ्च वैखरीपदम् एव मध्यमधाम-लब्ध-विजृम्भं स्वांशे, परस्पर-वैचित्र्य-प्रथात्मनि स्फुट-वाच्यवाचक-भावोल्लासे, तत्त्वजालम् अन्तःकृत्य यावद् आस्ते

पड़ते हैं, वे तो निश्चित रूप में वैखरीमय ही हुआ करते हैं और उनके प्रति उसका आभास वैसा ही होता है, जैसा कि किसी जन्मान्ध को रूप के प्रति । इसलिये यह मानने के सिवा कोई चारा नहीं है कि स्थान एवं करणों वाली वैखरी-वाणी मध्यमा-वाणी के गर्भ में अवश्य पहले से ही विद्यमान होती[1] है। गूंगे पर भी यही बात लागू हो जाती है। यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि सर्वसर्वात्मकता केवल भगवती संवित् में ही विद्यमान है।

शोध्य-शोधन की त्रिकरूपता ।

'ऐसी परिस्थिति के अनुसार, वास्तव में, 'मध्यम-धाम' अर्थात् पश्यन्ती रूपी परापरभाव के स्तर पर अपने आयाम को छूता हुआ वैखरी-पद ही जब तक

---

१. सरसरी तौर पर ऐसा लगता है कि नवजात शिशु में वैखरी-वाणी विद्यमान ही नहीं होती है, क्योंकि वह कानों में पड़नेवाले शब्दों का तत्काल ही उसी रूप में उच्चारण नहीं कर सकता। इस बात को स्वीकारने में कोई अड़चन नहीं थी, परन्तु समस्या उसकी व्युत्पत्ति की है। प्रत्येक शिशु कानों में पड़ने वाले वर्णों और आँखों से देखे जाने वाले पदार्थों की मन पर अंकित होने वाली प्रतिकृतियों को आन्तरिक परामर्श के द्वारा मिलाता हुआ ही व्युत्पन्न हो जाता है। परामर्श तो किसी भी प्रकार की (स्थूल या सूक्ष्म) अभिलापात्मकता के बिना संभव हो ही नहीं सकता। अभिलाप चाहे बाहरी व्यक्त रूप में हो या भीतरी अव्यक्त रूप में, वैखरी का ही विषय माना जाता है। अतः यह स्पष्ट है कि नवजात शिशु की बाहरी स्थूल वागिन्द्रिय चाहे अभी विकसित न भी हुई हो, परन्तु उसकी मध्यमा-वाणी के गर्भ में ही वैखरी का सूक्ष्म रूप अवश्य पहले से ही विद्यमान होता है, जिसके द्वारा वह आन्तरिक रूप में अभिलाप की क्रिया को पूरी करके सुने हुए शब्दों और देखे हुए अर्थों को परामर्श के द्वारा जुड़ा लेने में सफल हो जाता है। साथ ही यह मानना भी आवश्यक बन जाता है कि वैखरी की सहायक सामग्री अर्थात् स्थान एवं करण भी किसी न किसी रूप में उसके मन में विद्यमान होती है, नहीं तो उसका आन्तरिक अभिलाप सम्पन्न हो नहीं हो सकता।

तावद् 'अपराभट्टारिका', तदन्तर्वर्ति-मध्यमा-पदोल्लासे 'परापरा', पश्यन्त्यु-ल्लासे च स्वरूपतो भगवती देवी—इति शोध्य-शोधक-भावेन स्थितिः त्रैधम् एव अवतिष्ठते। शोधको हि विश्वात्मा विततरूपः, वैतत्यं च एवम् एव भवति—इत्युक्तम्। शोधनं प्रति तु करणत्वं कर्तुरेव स्वस्वातन्त्र्यगृहीतसङ्कोचस्य, शाक्त-महिमविश्रान्तस्य भगवतः। शोध्यता तु सङ्कोचैकरूपस्य सप्तत्रिंशातिक्रान्त-

समूचे तत्त्व-समुदाय को, पारस्परिक विचित्रता का बोध कराने वाले अतिस्पष्ट वाच्य-वाचक-भाव के विकास से युक्त निजी अंश में समाकर अवस्थित रहता है, तब तक भगवती के 'अपरा' रूप की, उस वैखरी अंश के ही अन्तर्वर्ती मध्यमा-पद के अभ्युत्थान काल में 'परापरा' रूप की और पश्यन्ती-पद के विकास काल में भगवती देवी के साक्षात् 'परा' रूप की प्रधानता समझनी चाहिये। इस प्रकार शोध्य-शोधक-भाव की दृष्टि से भी त्रिकरूपिणी परिस्थिति ही अक्षुण्ण रूप में वर्तमान है।

शोधक, शोधन और शोध्य का निरूपण।

१—शोधक

शोधक तो वे भगवान् विश्वात्मा स्वयं ही हैं, जिनके स्वरूप-विस्तार का कहीं आर-पार नहीं। उनके स्वरूप-विस्तार का प्रकार भी यही (त्रिकरूपता[1]) है, यह पहले ही बताया गया है।

२—शोधन

शोधन का कार्य निभाने के प्रति भी वे स्वतन्त्र कर्ता स्वयं ही साधन बने हैं, परन्तु जिस रूप में वे निजी स्वातन्त्र्य से स्वरूप में ही सङ्कोच का अङ्गीकार (मात्र अङ्गीकार) करके शक्ति-भाव की महिमामयी पदवी पर आसीन हों।

३—शोध्य

शोध्य वह पाशों का जाल है, जो कि—

१—भगवान् का ही सङ्कोच का भागी बना हुआ रूप,

---

१. भगवान् का स्वरूप-विस्तार भी—'शिव, शक्ति, नर—वर्ण, मन्त्र, पद—पर, परापर, अपर—शोधक, शोधन, शोध्य'—इन इन प्रकारों का होने के कारण त्रिकरूपी ही है। वास्तव में परिपूर्ण परभैरवीय स्वभाव स्वयं ही अखण्ड, सर्वतोमुखी एवं सर्व-व्यापक है, अतः उस असीम विस्तार को त्रिकरूपता का नाम देना भी मायापदवी पर अपेक्षित शोध्य-शोधन-भाव की भूमिका निभाने के लिए मात्र एक औपचारिक प्रयोग है।

त्रिकैकरूप—भैरवभट्टारकाविनिर्भक्त—पराभट्टारिका—तुल्यकक्ष्यपरापरा-देवता-क्षोभात्मक-सदाशिव—ज्ञानशक्ति—विस्फारित—पशुशक्तिरूप—पश्य-

२—सैंतीस कलाओं से अतिवर्ती,[1] (अड़तीसवीं कला पर अवस्थित) और त्रिक रूप में भी एक ही रूप वाले भैरव-भट्टारक से बिल्कुल अभिन्न पराशक्ति

---

१. भगवान् अनुत्तर-भट्टारक के अग्नि, सोम और सूर्य ये तीन नेत्र हैं। त्रिक-विश्लेषण के अनुसार इनमें से पहले अग्नि-नेत्र से इच्छाशक्ति रूपी प्रमातृभाव, दूसरे सोम-नेत्र से ज्ञानशक्ति रूपी प्रमाणभाव और तीसरे सूर्य-नेत्र से क्रियाशक्ति रूपी प्रमेयभाव का अभिप्राय है। इन तीनों की क्रमशः १० + १६ + १२ अर्थात् कुल मिला कर ३८ कलायें हैं। सैंतीस कलायें तो वेद्य होने के कारण स्वभाव नहीं हैं, अतः उनको छोड़ कर अवशिष्ट अड़तीसवीं कला ही परिपूर्ण भैरव-स्वभाव है। ये ३८ कलायें ही त्रिक पद्धति में स्वीकारे जाने वाले ३८ तत्त्व हैं। इनका ब्योरा इस प्रकार है— पृथिवी-तत्त्व से लेकर शिव-तत्त्व तक ३६ तत्त्व और परमशिव ३७ वां तत्त्व। फिर यह ३७ वां परमशिव-तत्त्व यदि भैरव-स्वभाव न रह कर वेद्य बना हो, अर्थात् किसी भी प्रकार के ऐन्द्रिय या अतीन्द्रिय बोध का विषय बनता हो तो वह भी शोध्य-तत्त्व ही है। ऐसी परिस्थिति में उसका शोधन करने वाला एक और ३८ वां स्वभावभूत तत्त्व माना जाता है। वह भी शिव ही है, परन्तु स्वभाव बना हुआ शिव अर्थात् ऐसा शिव जिसमें अपने शिवत्व की चेतना स्वभाव से इतर रूप में जागरूक न हो। इस प्रकार से परिपूर्ण अनुत्तरतत्त्व की ३८ कलाओं का आयाम स्वीकारा गया है। इस परिप्रेक्ष्य में फिर भी यह शंका उठती है कि यदि यह पूर्ण शोधक मानी जाने वाली ३८ वीं कला भी स्वभाव न रह कर वेद्य बनती हो तो उस सूरत में क्या हो सकता है? त्रिकशास्त्री इस शंका का यह समाधान प्रस्तुत करते हैं कि यदि यह ३८ वीं कला किसी प्रकार से वेद्य पक्ष में पड़ती हो तो उस दशा में स्वभाव रूपी शोधक-भाव ३७ वीं कला पर टिका रहता है और वही परिपूर्ण अनुत्तर-कला बनी रहती है। भाव यह है कि ३७ वीं और ३८ वीं कला एक ही क्षण पर और युगपत् रूप में वेद्य नहीं बन सकतीं, क्योंकि एक ज्ञान-कल-में एक ही वस्तु बोध का विषय सकती है। जिस समय ३७ वीं कला वेद्य हो ३८ वीं स्वभाव रह कर उसका शोधक-तत्त्व बनती है और जिस समय ३८ वीं कला ही वेद्य बनी हो उस समय ३७ वीं स्वभाव होने के कारण उसका शोधन करती है। फलतः परिपूर्ण भैरव-स्वभाव की उपलब्धि इन्हीं दो कलाओं में कहीं न कहीं हो सकती है।

न्तीधाम–प्रथमासूत्रित–भेदात्मनो नरात्मनः पाशजालस्य,–इति निर्णयः। यथोक्तं श्रीसोमानन्दपादैः—

'अस्मद्रूपसमाविष्टः स्वात्मनात्मनिवारणे।
शिवः करोतु परया नमः शक्त्या ततात्मने॥'

इति सर्वक्रियाकलाप एवंरूपतासूचकः शिवदृष्टौ। तत्रापि च उत्तरोत्तरं शोध्य-शोधकानाम् अपि विगलनम्—

की ही समकक्ष 'परापरादेवता' अर्थात् पतिशक्तिरूपिणी परा—पश्यन्ती की क्षुब्ध अवस्था का परिचायक,—

३—सदाशिवरूपिणी ज्ञानशक्ति के द्वारा विकास में लाई गई 'पशुशक्ति' अर्थात् प्रत्येक जीव के अन्तस् में वर्तमान रहने वाली प्रतिबिम्बरूपिणी पश्यन्ती के रूप में अवस्थित,—

४—इस पशुशक्तिरूपिणी पश्यन्ती के स्तर पर ही प्राथमिक भेदभाव के सूत्रपात का विशय बना हुआ[2], और—

५—मात्र नरात्मक रूप को धारण करने वाला है॥ जैसा कि श्रीसोमानन्द पाद ने कहा है—

'शोधकरूपी प्रमातृभाव में अवस्थित शिव, स्वरूप से अभिन्न शोधनरूपी मंत्र-समुदाय के द्वारा, 'स्वरूप को' अर्थात् स्वरूप से अभिन्न नररूपी विघ्नजाल को हटाने के लिए, स्वरूपमयी पराशक्ति के द्वारा प्रसार में लाये गये ३८ तत्त्वों वाले स्वरूप-विस्तार को स्वयं ही प्रणाम करे।'

उन्होंने शिवदृष्टि में इस कथन के द्वारा समूचे (शोधक, शोधन और शोध्यरूपी) क्रियाकलाप को शिवरूपता का ही परिचायक सिद्ध किया है। उस

---

१. यहाँ पर 'परापरादेवता' से मौलिक बिम्बरूपिणी परा-पश्यन्ती और 'पशुशक्ति' से प्रतिबिम्बरूपिणी साधारण पश्यन्ती-वाणी का तात्पर्य लिया जाता है। इसमें से पहली पतिशक्ति और दूसरी पशुशक्ति है। पहली क्षोभहीन और दूसरी क्षोभसहित। फलतः परा-पश्यन्ती की क्षुब्ध अवस्था ही साधारण पश्यन्ती और उसकी क्षोभहीन अवस्था ही परा-पश्यन्ती है।

२. इसी अभिप्राय से ग्रन्थकार ने पहले ही कहा है कि यदि पश्यन्ती के स्तर पर ही सूक्ष्मातिसूक्ष्म पाशों का सूक्ष्म अवधान के द्वारा शोधन किया जाय तो मध्यमा और वैखरी स्वयं ही शुद्ध हो सकती है—'अन्तर्लीनत्व एव पाशत्वात्..........अन्तर्लीनपद-मलापसारणे बाह्यस्थूलमलस्येव तत्'।

'त्यज धर्ममधर्मंच उभे सत्यानृते त्यज।
उभे सत्यानृते त्यक्त्वा येन त्यजसि तत्त्यज ॥'

इति।

तदियम् एतावती धारा यच् शोधकम् अपि, शोधनम् अपि, शोध्यम् एव— इति श्रीषडर्धशास्त्र एव उत्कर्षः। तिसृणामपि चासां युगपत् स्थितिर् भवत्येव। वक्ति हि अन्यद् विकल्पयंश्च अन्यज् जल्पति अविकल्पम् एव, अन्यत्

क्रिया-कलाप में भी उत्तरोत्तर शोध्य एवं शोधक तत्त्व (लयीभाव की भट्ठी में) गलते रहते हैं। जैसा कि—

'(शोध्यरूपी) धर्म-अधर्म और सच-झूठ दोनों प्रकार के द्वन्द्वों को 'छोड़ दो' अर्थात् आत्म-भाव में ही लय कर दो। 'सच-झूठ' अर्थात् सारे शोध्य तत्त्वों को छोड देने के उपरान्त, 'जिसके द्वारा' अर्थात् जिस शोधनरूपी मन्त्र[1]-समुदाय के द्वारा इसको छोड़ रहे हो, उसको भी तिलाञ्जलि दे दो।'

इस श्लोक में समझाया गया है।

फलतः यह आत्म-विकास की एक ऐसी पराकाष्ठा है कि इसमें शोधक और शोध्य तत्त्वों की भी (परिपूर्ण अनुत्तर-स्वभाव में लय हो जाने तक) उत्तरोत्तर संस्कार करते रहने की आवश्यकता बनी रहती है और ऐसा उत्कर्ष तो केवल [2]त्रिक-शास्त्र में ही पाया जाता है।

(शोधक, शोधन और शोध्य कही जानेवाली पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी) इन तीनों वाणियों की समकालीन वर्तमानता परा-भाव में अवश्य है ही। (मनुष्य एक ही ज्ञान कला में) वैखरी के द्वारा कुछ बोलता, मध्यमा के द्वारा किसी बात का मनन करता, पश्यन्ती के द्वारा किसी और वस्तु का निर्विकल्प रूप में

---

१. यहां पर यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि शोधन का साधन बना हुआ मन्त्र-समुदाय भी वास्तव में शोध्य ही है। उसको भी संस्कार किये जाने की अपेक्षा रहती है। उसका शोधक वही पूर्वोक्त ३७ वीं ३८ वीं कला पर अवस्थित स्वभावभूत परमशिव है। जब तक वेद्यता से पूरी तरह पिंड न छूटे तब तक आत्म-संस्कार करते रहने की आवश्यकता पड़ती है।

२. यह त्रिक-शास्त्र का पहला उत्कर्ष है। आगे चलकर दूसरा भी दिखायेंगे।

पश्यति च। अत्र तु परिपूर्ण एव तावति भगवान् भैरवः—इति आद्यानुभव-सम्प्रदायोपदेशपरिशीलनेन अस्यार्थस्य स्वसंविन्मयस्य अनपलापनीयत्वात्।

न तद् युगपद् अपि, अपि तु—'तथा सौक्ष्म्यादलक्ष्यम्'—इति यौगपद्याभिमानः शिरीष-कुसुम-पल्लव-शत-व्यतिभेद इव—इति चेत्, केयं खलु भाषा 'युगपत्'-इति ? समकालम् इति चेद्, अन्तर्मुखे संविदात्मनि प्रोक्तनयेन कः कालः ? तस्य ज्ञेयरूप-प्राण-गमागमादिमयाभास-तदभाव-प्राणत्वात्। ज्ञेयोपाधिगतोऽपि

परामर्श करता और परा के द्वारा किसी और ही तत्त्व का आन्तरिक रूप में साक्षात्कार करता रहता है, परन्तु इस सारे वाणी-प्रपञ्च की इस समकालीन क्रियात्मकता में, ऊपर से नीचे तक, भगवान् भैरव-भट्टारक ही व्याप्त रहते[1] हैं। यह आशय 'आद्य अनुभव' अर्थात् पराभाव के साक्षात्कार रूपी प्राथमिक अनुभव की परिपाटी के 'उपदेश'[2] अर्थात् अतिनिकटता की स्थिति का गहरा अनुसन्धान करने पर स्वसंविन्मय ही है, अतः इसको झुठलाया नहीं जा सकता।

यदि यह कहा जाये कि यह वाणी-प्रपञ्च की समकालीन वर्तमानता 'युगपत्' भी नहीं कही जा सकती, अपितु अतिसूक्ष्म होने से इसकी गति अलक्ष्य होने के कारण इस पर, शिरीष फूल की सौ पंखुड़ियों को एक ही बार (सूई से)[3] बींधे जाने की तरह, युगपत् होने का अभिमान (झूठा विश्वास) हो जाता है, तो फिर 'युगपत्' कहना कौन सा भाषिक प्रयोग होगा ? यदि इस शब्द से समान कालखण्ड का अर्थ लिया जाय तो अन्तर्मुखीन संवित्-स्वरूप में, पूर्वोक्त रीति के अनुसार कौन सी कालकलना संभव हो[4] सकती है ? उस काल-कालना का जीवन तो

---

१. यद्यपि भिन्न भिन्न वाणियों के स्तर पर एक ही समय भिन्न भिन्न प्रकार की क्रियात्मकता चलती रहती है, तो भी इस सारे प्रपञ्च की भिन्नता में आत्म-चेतना का एक ही अभिन्न एवं अखण्ड अनुसन्धान ऊपर से नीचे तक व्याप्त रहता है। इसमें प्रत्येक व्यक्ति का निजी अनुभव ही साक्षी है। अतः उस संवित्-तत्त्व की व्यापकता के दायरे में ही इन सारी वाणियों की समकालीन स्थिति समझनी चाहिये। यही यौगपद्य का वास्तविक अभिप्राय है।

२ तन्त्रप्रक्रिया में 'उपदेश' शब्द का अर्थ—'उप' = अति निकट में, 'देशः' = वर्तमानता—है

३. ऊपर से समकालीन दिखाई देने पर भी मूलतः क्रमिक।

४. 'काल्पनिकं चाद्यतनत्वमकाल्पनिके संविद्वपुषि कथम्' ? इस नीति के अनुसार।

ज्ञानम् अवस्कन्देत् सः—इति चेत्, ज्ञेयस्य स्वात्मनि भासामयेऽन्यथा कोऽस्य विशेषो ज्ञानमुखेन उक्तः ? इतरेतराश्रयसंप्लवः स्वतो भेदाद् इत्याद्यपि सर्वम् उच्यमानं ज्ञानमुखम् एव आपतेत् । तथा च स एव दोषो बहुतर-कुसुम-पल्लव-शत-व्यतिभेदोऽपि च अनेक—इति उच्यमाने । सर्वत्र सूक्ष्मपरमाण्वन्तावयवयोगात् नास्ति क्रम इत्यापतेत् । न च अनुसन्धानं ज्ञानाभावेन सह स्याद्—अनुसन्धायाः

प्रमेय-पदवी पर अवस्थित प्राणापान के उतार-चढ़ाव का आभास और उसका अभाव[1] ही है। यदि कहा जाये कि वह कालकलना स्वयं वेद्यता की उपाधि के दबी रहने पर भी अवश्य अकाल-कलित पर-बोध को आक्रान्त करेगी, तो भी यह शंका नहीं मिटती कि जब साधारण रूप में प्रत्येक प्रमेय और विशेषरूप में प्रमेयता की उपाधि से ग्रस्त काल भी अपनी जगह पर प्रकाशमय ही है, तो फिर (अकालकलित) बोध का नाममात्र लेने से इसकी अलग कौन सी विशेषता अभिव्यक्त हो सकेगी ? स्वयं भेदग्रस्त होने के कारण [2]इतरेतराश्रय नामी दोष की बाढ़ में डूबा रहना ही इसकी निजी विशेषता है—इत्यादि प्रकार की कही जानेवाली सारी बातें भी पर्यन्ततः निर्विकल्प बोध में ही पर्यवसित हो जायेंगी। अब जो बहुत से फूलों की सैकड़ों पंखुड़ियों को एक ही बार छेदने का तर्क प्रस्तुत किया जा रहा है, उसमें भी वह छेदन वास्तव में क्रमिक होने के कारण अनेक ही है, अतः इससे भी उपरोक्त दोष का निवारण नहीं हो सकेगा। (इस पंखुड़ी-वेद्य को क्रमसहित होने पर भी आग्रहपूर्वक क्रमहीन मान लेने की दशा में) प्रत्येक स्थान पर प्रत्येक पदार्थ में सूक्ष्म परमाणु तक अनेक अवयवों का योग होते रहने से जो कर्म की सक्रमता पाई जाती है, उसका भी नामो-निशान नहीं रहेगा[3]। दूसरी ओर क्रमिकता का अनुसन्धान और उसके ज्ञान का अभाव ये दो बातें एक

---

१. इस विषय में भगवान् उत्पलदेव की ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा की—'कालः सूर्यादि संचार' इत्यादि कारिका द्रष्टव्य है।

२. न्यायशास्त्र के अनुसार इतरेतराश्रय दोष वह दोष है, जिसमें एक पदार्थ के गुण-दोष दूसरे में घुसपैठ करके संकर उत्पन्न कर देते हैं। प्रमेयता की उपाधि से युक्त पदार्थों में यह दोष बहुधा पाया जाता है, परन्तु निर्विकल्प पर-बोध में इसके लिए कोई स्थान नहीं।

३. वास्तविक परिस्थिति तो यह है कि सारा जगत् एक ही पारमेश्वरी क्रियाशक्ति का विस्तारमात्र है, अतः समूची क्रियात्मकता दरअसल सक्रमता और अक्रमता दोनों से रहित और अतिगत है। तन्त्रालोक के चौथे आह्निक में इस विषय की मीमांसा की गई है।

स्मृतिभेदे, तस्याश्च अनुभवोपजीवित्वे, अनुभवाभावात्। वितत्य च विचारितं मयैतत् पदार्थप्रवेशनिर्णयटीकायाम्—इति किमिह वृथा वाग्जालेन प्रकृतोपदेश-विघ्न-पर्यवसायिना ?

एवं भगवती परा शोधकभावेन स्थिता, परापरापि च, यत्र भगवतीनाम् अघोरादीनां शक्तीनां स्थितिर् यद्योगात् विज्ञानाकलसाधकयोगिनो मन्त्र-महेशादिरूपाः सम्पन्नाः। ब्राह्म्यादिशक्त्यनुग्रहेणैव साधकाणवो ब्रह्मविष्णवादयः। परमेश्वरो हि भैरवभट्टारकः समग्र-शक्तिपुञ्ज-परिपूर्ण-निर्भर-वपुर्, निज-शक्तिनिवेशनया ब्रह्मादीन् स्वतन्त्रान् करोति—इति किमन्यत्? एवं शोधकस्यापि शोध्यत्वम्—इति अन्य उत्कर्षः—

साथ नही चल सकतीं, क्योंकि अनुसन्धान स्वयं स्मृति का ही एक भेद है—वह स्मृति स्वयं प्राथमिक अनुभव से ही जीवन पाती है—ऐसी परिस्थिति में जब सक्रमता का प्राथमिक अनुभव ही न हो तो उसका अपरकालीन अनुसन्धान कैसे सम्भव हो सकता है? अस्तु, मैंने पदार्थप्रवेशनिर्णय नामी ग्रन्थ की टीका में इस विषय की पूरी छानबीन की है, अतः यहाँ पर व्यर्थ बतबढ़ाव करने का प्रयोजन ही क्या? ऐसा करने से तो यहाँ पर प्रस्तुत किये जाने वाले उपदेश में बाधा ही खड़ी हो जायेगी।

इस प्रकार भगवती परा शोधकभाव पर अवस्थित है और परापरा भगवती भी अपनी जगह इसी भाव पर प्रतिष्ठित है। परापराभाव की भूमिका पर ही वे अघोरा[1] इत्यादि शक्तियां अवस्थित हैं, जिनके सम्पर्क से विज्ञानाकल स्तर के साधक और योगी मन्त्रमहेश्वर इत्यादि उच्चतर भूमिकाओं पर आरूढ़ हो गये हैं। अणुभूमिका के साधक भी ब्राह्मी इत्यादि शक्तियों के अनुग्रह से ही ब्रह्मा, विष्णु इत्यादि पदवियों पर पहुँच जाने में सफल हो गये हैं। परमेश्वर भैरवभट्टारक निश्चय से सारी शक्तियों की राशि से भरपूर और नित्यतुष्ट स्वरूपवाले होने के कारण अपनी किसी भी शक्ति को घुसेड़ने के द्वारा इन ब्रह्मा इत्यादि देवताओं को (अपनी अपनी परिधि में) स्वतन्त्र बना देते हैं, अतः इस विषय में और कुछ कहने की गुंजाइश ही कहाँ? फलतः 'शोधक' अर्थात् मन्त्रमहेश्वर इत्यादि पदवियों पर पहुँचे हुए शोधक तत्त्वों को भी और आगे आत्म-संस्कार करने की आवश्यकता का संदेश देना इस त्रिक-शास्त्र का दूसरा उत्कर्ष है, क्योंकि—

---

१. मालिनीविजय के तीसरे अधिकार में इन अघोरा इत्यादि पारमेश्वरी शक्तियों का विस्तृत परिचय दिया गया है। इस विषय में प्रस्तुत लेखक के स्पन्दकारिका भाषानुवाद से भी सहायता मिल सकती है। तन्त्रालोक के तीसरे आह्निक का अध्ययन भी श्रेयस्कर सिद्ध हो सकता है।

'........कुलात्परतरं त्रिकम्'

इति स्थित्या। ततश्च शोध्य-शोधन-शोधकानां सर्वत्रैव त्र्यात्मकत्वात् त्रिकम् अनपायि। यथोक्तं मयैव स्तोत्रे—

'........यत्र त्रिकारणं त्रितयं समस्ति।'

इति। न च एवम् अनवस्था—सर्वस्यास्य भगवत्परसंविदेकमयत्वात्—

'........येन त्यजसि तत्त्यज।'

इत्येवम् एव मन्तव्यम्। शोध्यम् अपि, शोधनम् अपि, अन्ततः शोधकोऽपि वा भेदांशोच्छलत्तायां पाशात्मकत्वाच् शोध्य एव। शोधनं च परमार्थतः सर्व-मल-

---

'........कुलाचार से त्रिकाचार परम उत्कृष्ट है।'

यह कथन ही वास्तविक परिस्थिति है। इसलिये शोध्य, शोधन और शोधक इनमें से हरेक अपनी अपनी जगह पर त्र्यात्मक[1] होने के कारण त्रिकरूपता एक अटल यथार्थ है। जैसा कि मैंने ही अपने एक स्तोत्र में कहा है—

'........जिसमें त्रिकों की तिकड़ी समाई हुई है।'

ऐसी त्रिकरूपता में अनवस्था का भी दोष नहीं, क्योंकि इसका सारा प्रपञ्च भगवती परा-संवित् के साथ एकाकार है। अतः—

'......जिस शोधन-वर्ग के द्वारा शोध्य-वर्ग को तिलाञ्जलि देते हो, अन्त में उसको भी छोड़ दो।'

इस उपदेश पर पूरी आस्था रखनी चाहिये। शोध्य और शोधक ये दोनों पाशात्मक होने के कारण शोध्य हैं ही, परन्तु आखिर में स्वयं शोधक में भी अगर कहीं पर अभी भेदभाव के नगण्य अंश की उछाल वर्तमान हो तो वह भी पाशात्मक होने के कारण शुद्ध किये जाने की अपेक्षा रखता ही है। वास्तविक शोधन तो प्रत्येक प्रकार के मल को भक् से जलाने पर पटु और द्वैतहीन भैरव-संवित्-रूपी आग

---

१. शोध्य, शोधन और शोधक की त्रिकरूपता

		शोधक शिव	शोधन शक्ति	शोध्य नर
शोध्य शोधन शोधक	शिव	शोधकरूपी शोधक शिवरूपी शिव	शोधनरूपी शोधक शक्तिरूपी शिव	शोध्यरूपी शोधक नररूपी शिव
	शक्ति	शोधकरूपी शोधन शिवरूपिणी शक्ति	शोधनरूपी शोधन शक्तिरूपिणी शक्ति	शोध्यरूपी शोधन नररूपी शिव
	नर	शोधकरूपी शोध्य शिवरूपी नर	शोधनरूपी शोध्य शक्तिरूपी नर	शोध्यरूपी शोध्य नररूपी नर

प्लोष-चतुर-भैरव-संविदभेदि-हुतवह एव, यस्मिन् सर्वस्यानुप्रवेशे परिपूर्णता। यद्वक्ष्यति—

'एवं यो वेत्ति तत्त्वेन·······।'

इत्यादि।

तत् परसंविदेकमय-परापरादि-देवतानां सर्वात्मकत्वात्—

'परापराङ्गसम्भूता योगिन्योऽष्टौ महाबलाः।'

इत्यादिवचनात् लौकिक-शास्त्रीय-वाच्य-वाचकानामानन्त्यम् अपि संगृहीतम्।

में जल जाने पर ही हो जाता है, क्योंकि इस आग में कूद पड़ने पर हरेक चीज़ परिपूर्ण बन जाती है। जैसा कि आगे चल कर—

'इस प्रकार से जो व्यक्ति सच्चे मर्म को जानता हो·······।'

इत्यादि बातों की चर्चा करेंगे।

इसलिये परा-संवित् के साथ बिल्कुल अभिन्न परापराभाव[1] पर प्रतिष्ठित रहने वाली (माहेशी इत्यादि) देवियों के सर्वसर्वात्मिका होने के कारण—

'परापरा मन्त्र की अवयव बनी हुई आठ योगिनियाँ (माहेशी आदि आठ शक्तियाँ) परम बलशालिनी हे।'

---

१. परापराभाव पर आठ शक्तियाँ प्रतिष्ठित हैं। उनके नाम—माहेशी, ब्राह्मी, कौमारी, वैष्णवी, इन्द्राणी, याम्या, चामुण्डा और योगीशी हैं। इनकी चर्चा मालिनी-विजय के तीसरे अधिकार में की गई है।

२. श्रीमालिनीविजय में भगवान् आशुतोष ने इस श्लोक में परापरा मंत्र का चित्रण किया है। वहाँ पर इस श्लोकार्ध के साथ सम्बन्ध रखने वाली और भी दो पंक्तियां इस प्रकार हैं—

'पञ्च षट् पञ्च चत्वारि द्वित्रिद्व्यर्णाः क्रमेण तु।
ज्ञेयाः सप्तैकादशार्णा एकैकार्णद्वयान्विताः॥'

इन तीनों पंक्तियों का अर्थ इस प्रकार है—

'परापरा मन्त्र के अवयव बनी हुई आठ योगिनियाँ अतीव बलवती हैं। इनके वाचक क्रमशः पांच, छः, पांच, चार, दो बार दो दो और तीन तीन अक्षरों वाले पद हैं। साथ ही इनके लिए प्रयोग में लाये गये आमन्त्रण-पदों के अक्षरों की संख्या ७ + ११ + १ + १ + २ = २२ है।'

पाठकों की जानकारी के लिये यहाँ पर विषय का स्पष्टीकरण अतीव आवश्यक है। परापर मन्त्र का उल्लेख पहले किया जा चुका है, परन्तु यहाँ पर विषय को भली-भाँति हृदयङ्गम बनाने के लिए फिर भी ऐसा किया जा रहा है—

मन्त्र—

'ओं अघोरे ह्रीः परमघोरे हुं घोररूपे हः घोरमुखि भीमे भीषणे वम पिब हे रु रु र र फट् हुं हः फट्'

इस मन्त्र में रु, रु र र फट् हुं हः फट्' ये शिववाचक पद हैं, अतः इनका प्रस्तुत प्रसङ्ग (शक्तियों का प्रसङ्ग) के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। शेष पद शक्तिवाचक हैं। ये शक्तिवाचक पद कुल आठ और आठ योगिनियों के प्रतीक हैं। इन पदों के वर्णों की संख्या क्रमशः ५, ६, ५, ४, २, ३, २, ३ है। इन आठ शक्तियों के लिए प्रयुक्त किये गये आमन्त्रण-पदों के अक्षरों की कुल संख्या २२ है। सुगमता के लिए निम्न-लिखित तालिका में सारा ब्यौरा प्रस्तुत किया जा रहा है—

परापरामन्त्र के शक्तिवाचक पदों का ब्यौरा

संख्या	१	२	३	४	५	६	७	८
शक्ति वाचक पद	ओं अघोरे ह्रीः	परम-घोरे हुं	घोर-रूपे हः	घोर मुखि	भीमे	भीषणे	वम	पिब हे
पदों की अक्षर संख्या	५	६	५	४	२	३	२	३
वाच्य शक्तियाँ	माहेशी	ब्राह्मी	कौमारी	वैष्णवी	इन्द्राणी	याम्या	चामुण्डा	योगीशी

आमन्त्रण-पद और उनकी अक्षर संख्या

आमन्त्रण पद	अघोरे, परमघोरे, घोररूपे, घोरमुखि, भीमे, भीषणे, हे।
कुल अक्षरसंख्या	७ + ११ + १ + १ + २—कुल योग = २२

तद् एवं कृत-करिष्यमाणाद्यनन्त-सङ्केतगर्भीकारेणैव अयं शोध्य-शोधक-भावः। न च अनवस्था, न अतिप्रसङ्गो, न अतिव्याप्तिः, न सङ्केतितस्य अपारमार्थिकता—इति स्थितम्।"

एवं स्थिते प्रकृतमनुसरामः—

अकाराद्या एव कालयोगेन सोमसूर्यौ. तौ तदन्तः प्रकीर्तितावृ—इति सम्बन्धः। तच् शब्देन प्राक्तनश्लोकोक्तम् अकुलं भैरवात्मकं परामृश्यते। तेन अकुलम् एव अन्तर्गृहीतकलनाकं—कुलशक्तेरत्रैव निवेशात्। कलनात्मिका हि

इत्यादि कथन से लौकिक[1] और शास्त्रीय रूपों वाले वाच्यों और वाचकों की अनन्तता का भी संग्रह किया गया है। फलतः यह अर्थात् शास्त्रसिद्ध, 'करिष्यमाण' अर्थात् मानवबुद्धि के द्वारा समय-समय पर निर्धारित किए जानेवाले और और भी ऐसे ही अनन्त प्रकार के संकेतों को अपने में निहित रखे हुए ही है। इसमें न तो अनवस्था, अतिप्रसङ्ग और अतिव्याप्ति नामवाले दोष ही पनप सकते हैं और न संकेत की सत्यता को ही कोई क्षति पहुँच सकती है। यह एक निर्विवाद वस्तुस्थिति है।

मूल-सूत्रों का शब्दार्थ

ऐसी परिस्थिति में हम प्रस्तुत प्रकरण का ही तार पकड़ेंगे—

'अकार इत्यादि (अकुलसत्ता की द्योतिका) १५ तिथियाँ ही क्रिया-शक्ति के साथ सम्पर्क होने से सोम और सूर्यभाव पर पहुँची हैं। उस सोम-सूर्य की स्थिति अकुलसत्ता में ही बताई गई है'—इस प्रकार से पहले सूत्रार्ध का अन्वय लगाना चाहिए। 'तत्' शब्द से इससे पूर्ववर्ती श्लोक में वर्णित भैरवरूपी अकुल का परामर्श किया जाता है। फलतः भाव यह है कि 'अकुल' अर्थात् अकाररूपी अनुत्तर ही अपने स्वरूप में 'कलना' अर्थात् समूचे स्वरसमुदाय के प्रसार के विमर्श अथवा विमर्शरूपिणी कुलशक्ति को स्वरूप में समाकर अवस्थित है, क्योंकि (११८ भुवनरूपिणी) कुलशक्ति की निहितता अकुल में ही है। 'कलना'

मन्त्र के शक्तिवाचक पद अलग-अलग मन्त्रखण्ड नहीं, प्रत्युत सर्वसर्वात्मक भाव से अपनी-अपनी जगह पूरे-पूरे मन्त्र ही हैं। वाच्य देवियों में से भी प्रत्येक देवी सर्वात्मिका होने के कारण आठों देवियों की प्रतिमूर्ति है। यहाँ पर चलते हुए प्रसङ्ग के साथ केवल इतनी बात का सम्बन्ध है कि परापरा भूमिका पर आठ शक्तियाँ प्रतिष्ठित एवं कार्यनिरत हैं। इतना अप्रासङ्गिक विश्लेषण तो केवल उत्सुक पाठकों की जानकारी का क्षेत्र बढ़ाने के अभिप्राय से ही किया गया।

१. यहाँ पर लौकिक शब्द से मन्त्र के आमंत्रण-पदों का, जिनको वाच्यपद कहते हैं और शास्त्रीय शब्द से 'ह्लीः' इत्यादि बीजाक्षरों का, जिनको वाचक-पद कहते हैं, तात्पर्य लिया जाता है।

विमर्शशक्तिः। तामन्तरेण अकुलमपि तुर्यातीतं नाम न किञ्चित्-सौषुप्तपदाविष्टत्वात्, तुर्यानन्तरताया अपि समानत्वात्। विमर्शशक्तिश्च परा पारमेश्वरी भैरवभट्टारकस्य निरतिशय-स्वातन्त्र्यात्मिका पूर्ण-कृश-तदुभयात्म-तदुभयरहितत्वेन अवतिष्ठते। तत्र न कश्चित् क्रम-यौगपद्योदय-कलङ्कः,—प्रोक्तोपदेशनयेन एतावत्याः पराभट्टारिकासंविदः, अनन्तागामि-प्रलयोदयात्मक-स्वस्वभावविमर्शैकघनत्वाद्—इति।

'स्वतन्त्रः परिपूर्णोऽयं भगवान् भैरवो विभुः।
तन्नास्ति यन्न विमले भासयेत् स्वात्मदर्पणे॥'

इति नीत्या क्रम-यौगपद्यासहिष्णु-स्वात्मरूप-मध्य एव यावत् क्रमाक्रमावभासः, तावत् तदनुसारेण अयं क्रमो विचारणीयः। अक्रमस्य तु तत्पूर्वकेण संविद्येव भावात् तत्प्रतिपादनाय अस्तु क्रमः।

अर्थात् सर्वतोमुखी विमर्श ही तो विमर्श-शक्ति का अकाट्य स्वभाव है। यदि वह न होती तो निश्चय से 'अकुल' नामी तुर्यातीत दशा भी स्वतः कुछ न होती, क्योंकि ऐसी परिस्थिति में या तो वह गहरे स्वाप की जैसी अवस्था या तुर्या की पूर्ववर्तिनी अर्थात् साधारण जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति जैसी ही अवस्था होती। भैरवभट्टारक की वह सब से उत्कृष्ट और महान् ऐश्वर्य से परिपूर्ण विमर्शशक्ति, असीम स्वातन्त्र्यमयी होने के कारण परिपूर्ण, क्षीण, युगपत् ही पूर्ण एवं क्षीण और दोनों से अतिवर्ती रूप में भी वर्तमान है। उसमें क्रमिकता या समकालीनता जैसी कालकलना के विकसित होने का जैसा कोई दाग नहीं, क्योंकि पूर्वोक्त रीति के अनुसार, ऐसी अवर्णनीय परा-भट्टारिका नामवाली परासंवित्, आगे-आगे विकास में आनेवाले अनगिनत प्रयत्नों और सृष्टियों के रूपवाले निज-स्वभाव के विमर्श की एकतान स्फुरणा ही तो है।

'ये भगवान् भैरवभट्टारक स्वतन्त्र, परिपूर्ण और सर्वव्यापक एवं सर्वकर्ता हैं। वे अपने स्वरूपरूपी निर्मल दर्पण में जिस पदार्थ को अवभासित न करें उसका कहीं पर सद्भाव ही नहीं है। दूसरी ओर ऐसा कोई पदार्थ है ही नहीं जिसको वे अपने स्वरूप-रूपी निर्मल दर्पण में अवभासित न करते हों।'

इस नीति के अनुसार जबतक क्रमिकता और समकालीनता को सहन न करनेवाले स्वरूप की परिधि में ही, क्रम और अक्रम की भासमानता भी मौजूद है, तबतक उसी के अनुसार प्रस्तुत क्रमिकता का विचार किया जाना अपेक्षित है। क्रमहीनता तो उसकी पृष्ठपोषिका होने के कारण संवित् से कभी बाहर निकलती ही नहीं, अतः उसको सिद्ध करने के लिए पहले क्रमिकता का ही वर्णन हो।

तथा च—सर्वं एवायं वाग्रूपः परामर्शः क्रमिक एव, अन्तः संविन्मयस्तु अक्रम एव—इति सदैव इयम् एवंविधैव विचित्रा पारमेश्वरी पराभट्टारिका। ततस्तत्क्रमानुसारेण 'अत्' इत्यादिव्यपदेशः। एवं परमेश्वरस्य स्वात्मनि इच्छात्मिका स्वातन्त्र्यशक्तिर् अनुन्मीलित-भावविकासा तथाविधान्तर्घन-संवित्स्वभावविमर्शसारा–'अ'–इत्युच्यते। सा च अवस्थानेन 'इच्छा'—इति व्यपदेश्या, इष्यमाणानुद्रेका, तत एव अनुत्तरसत्ता-परामर्शात्मिका एव एषा। परमेश्वरः सततं स्वस्वरूपामर्शकः अकुलशक्तिपदात्मकम् अपि रूपम् आमृशन्,

वस्तुस्थिति यह है कि बहिर्मुखीन दिशा में प्रवहमान रहनेवाला समूचा वाणी-रूपी परामर्श क्रमिक और अन्तर्मुखीन संवित्-मय परामर्शमात्र क्रमहीन है—इस प्रकार से यह परमेश्वर की परा-शक्ति ऐसी ही अद्भुत है। इसीलिए उस (अक्रम में ही) क्रमिकता का बोध कराने के अभिप्राय से ही (वैयाकरणों ने) 'अ' को तपर बनाकर '[1]अत्' यह रूप दिया है। ऐसा करने से, परमेश्वर के निज-स्वरूप में वर्तमान रहनेवाली (रूपविस्तार की) इच्छामयी[2] स्वातन्त्र्य-शक्ति को, जिसमें आगे प्रसार में आनेवाले पदार्थों के विकास का अभी उन्मीलन न हुआ हो और इसी कारण से जिसका मात्र सार-सर्वत्र वैसे अवर्णनीय, अन्तर्मुखीन एवं आनन्दमय संवित्-स्वभाव का विमर्श ही हो, 'अ' कहा जाता है। उस इच्छामयी स्वातंत्र्यशक्ति को मात्र परिस्थितिवश ही 'इच्छा' इस शब्द के द्वारा व्यभिव्यक्त किया जाता है, क्योंकि इस अवस्था में तो अभी 'इष्यमाण' अर्थात् आगे इच्छा का विषय बननेवाला 'आ से क्ष' तक का वर्ण-समुदाय (समूची विश्वमयता) विकसित नहीं हुआ होता है, अतः यह अभी

१. व्याकरण में 'तपरस्तत्कालस्य' इस सूत्र के अनुसार किसी अक्षर की तात्कालिकता का बोध करवाने के लिए उसको तपर बनाया जाता है। त्रिक-प्रक्रिया में भी इसी नियम के अनुसार जब 'अ' वर्ण से विमर्श सत्ता को अलग रखकर विशुद्ध अनुत्तर-तत्त्व का तात्कालिक बोध करवाना अभिप्रेत हो, तब 'अ' के स्थान पर 'अत्' कहते हैं। इस तात्कालिकता में ही उस सक्रमता का आभास मिलता है, जो कि अनुत्तरीय क्रमहीनता के ही गर्भ में समायी हुई है।

२. रूपविस्तार के स्वभाव को द्योतित करनेवाली पारमेश्वरी इच्छा का वह सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूप, जिससे अनुत्तरीय स्वातन्त्र्य का बोध हो जाता है। श्री सोमानन्द ने इसको 'इच्छा की पहली तुटि' यह नाम दिया है। उनके मतानुसार इससे, बहिर्मुखीन प्रसार की प्रक्रिया को सम्पन्न करने के अवसर पर शिव-शक्ति की पारस्परिक उन्मुखता का पहला ही सूक्ष्मातिसूक्ष्म स्पन्दन समझना चाहिए।

यद्यपि कुलशक्तीर् अनुयातु तथापि कुलपरामर्शतोऽस्य स्यादेव विशेषः—इति 'भैरवशक्तिमद्विमर्शसत्ता' इयम्। तादृश्येव पुनः प्रसरन्ती आनन्दशक्तिर् 'आ'—इति। परिपूर्णेच्छा 'इ' इति। इच्छैव भावि-ज्ञानशक्त्यात्मक-स्वातन्त्र्येण जिघृक्षन्ती ईशनरूपा 'ई' इति। उन्मिषन्ती तु ज्ञानशक्तिर् इष्यमाण-सकल-

---

अनुत्तर-सत्ता के स्वरूप-विमर्श की ही अवस्था होती है। शाश्वतिक रूप में अपने स्वरूप का परामर्श करते रहना तो परमेश्वर का अकाट्य स्वभाव है, अतः अपने ही 'अकुलशक्तिपदात्मक' अर्थात् इसी अनुत्तरीय इच्छा-शक्ति के साथ एकाकार, रूपान्तर का विमर्श करते-करते यद्यपि वे वास्तव में कुलशक्ति का ही अनुगमन करते, तो भी उस कुलविमर्श (शक्तिभाव का विमर्श) से बढ़ कर इनकी अपनी (भैरवीय) विशेषता अवश्य बनी रहती है। इसलिए इस इच्छाशक्ति का रूप ऐसी विमर्शसत्ता है, जिसमें भैरवरूपी शक्तिमान्-सत्ता ओतप्रोत[1] है। यह इच्छाशक्तिमयी 'अकला' इसी रूप में आगे प्रसार करती हुई आनन्दशक्ति बनकर 'आ' का रूप धारण कर गई है। परिपूर्ण[2] इच्छा बनकर 'इ' के रूप में विकसित हुई है। इच्छा ही आगे विकास में आनेवाली ज्ञानशक्तिरूपी गन्ध को सूंघती हुई अर्थात् ज्ञानशक्ति का रूप धारण करने के प्रति उन्मुख बनती हुई, ईशना[3] बनकर 'ई' के रूप में प्रकट हुई है। विकसमान

---

१. त्रिक प्रक्रिया के अनुसार 'अ-कला' अकुल अनुत्तर और कुलशक्ति के सामरस्य की अवस्था है। भगवान् अभिनव ने यहाँ पर इसी सामरस्य को समझाने के लिए इतनी खींचातानी करने के बाद इसके लिए 'भैरवशक्तिमद्विमर्शसत्ता' इस अनोखे पारिभाषिक शब्द का प्रयोग किया है। इस शब्द की तह तक जाने के लिए गहरे मनन की आवश्यकता पड़ती है।

२. अ-कला में नित्य-निहित रहनेवाला सूक्ष्मातिसूक्ष्म इच्छा-स्वातन्त्र्य ही उसकी अपेक्षा स्थूल बनकर और 'इ' के रूप में विकसित होकर परिपूर्ण इच्छा कहाता है। यह अनुत्तरीय इच्छा का वह रूप है, जिसमें अभी कोई क्षोभ नहीं, क्योंकि इसमें अभी आगे विकास में आनेवाली ज्ञान-शक्ति का गन्धमात्र भी नहीं पाया जाता।

३. अक्षुब्ध इच्छा के ही क्षुब्ध रूप का नाम 'ईशना' है। इस रूप में इसके गर्भ में आगे विकसित होने वाली ज्ञानशक्ति की सूक्ष्मातिसूक्ष्म बू जैसी, अर्थात् उसका आभास-मात्र जैसा निहित रहता है।

भावोन्मेषमयी 'उ' इति। उन्मिषत्तैव उन्मिमिषितायामपि अन्तः-प्राणसर्वस्व-रूप-उन्मेषोत्तरैकरूपैरपि अन्तःकरण-वेद्यदेशीय-अस्फुटप्राय-भेदांश-भासमानभाव-राशिभिः सङ्कोचवशेन ऊनीभूत-अनुत्तर-संवित्-सर्वभाव-गर्भीकारेण अनङ्गधेनवी-रूपपरदेवताया ऊधोरूपा ऊढ-सकल-भावराशिः सुस्फुटा प्रसृता ज्ञानशक्तिर् 'ऊ'-इति। तदेवम् एते परमेश्वरस्य भैरवस्य द्वे शक्ती—

१—प्रथमा स्वरूप-परिपूरणा-रूपत्वात् पूर्णा, चान्द्रमसीशक्ति-अव्यतिरे-काच्च 'सह उमया वर्तत'—इति सोमरूपा, स्वानन्द-विश्रान्तिभावा, इच्छाख्या कलना, 'महासृष्टि' व्यपदेश्या। यद्वक्ष्यते—

अवस्था में से गुजरती हुई ज्ञानशक्ति[1], उसी पूर्ववर्तिनी इच्छा का विषय बनने वाले सारे प्रमेय-समुदाय की उन्मेषमयी अवस्था बनकर 'उ' के रूप में विकसित हुई है। ज्ञानशक्ति की उन्मेष-अवस्था ही बिल्कुल स्पष्ट रूप में विकसित होने पर परिपूर्ण [2]ज्ञानशक्ति का रूप धारण करके 'ऊ' बन गई है। इस स्तर पर भी तो उसको (बहिर्मुखीन) उन्मेष की अवस्था में से गुजरती हुई होनेपर भी असल में, अपने अन्दर जीवनसार के रूप में वर्तमान रहनेवाले उन्मेष के ही उत्कृष्ट रूप के साथ एकाकार, परन्तु अन्तःकरणों के ही द्वारा वेद्य एवं अति अस्फुट भिन्नता के सूक्ष्मरूप में भासित होनेवाले ढेरों के ढेर पदार्थों की उपाधियों से संकोच में पड़ जाने के कारण कुछ मात्रा तक स्वरूपतः न्यूनता का पात्र बनी हुई अनुत्तर-संवित् ही समझना चाहिए, जो कि इसी रूप में काम धेनु जैसी पराशक्ति का अयन जैसी बनकर, अपने अन्दर ढेरों के ढेर पदार्थों को उसी प्रकार ढोये रहती है, जिस प्रकार सर्वसाधारण कामधेनु अपने अयन में दूध को ढोती रहती है।

अनुत्तरीय स्तर पर इच्छा और ज्ञानशक्तियों का स्वरूपनिर्धारण।

तो इस प्रकार (इ, ई और उ, ऊ के रूप में) परमेश्वर भैरव-भट्टारक की दो शक्तियाँ हैं—

१—इनमें से 'पहली' अर्थात् इच्छा-ईशनामयी इच्छाशक्ति के नामवाली 'कलना' अर्थात् सर्वस्वतन्त्र विमर्श-सत्ता को 'महासृष्टि' यह औपचारिक नाम दिया जाता है। यह अनुत्तरीय स्वरूप को ही पूर्ति देनेवाली होने के कारण

---

१. विसमान अवस्था में से गुजरती हुई ज्ञानशक्ति क्षोभहीन अथवा अस्पष्ट होती है।

२. यह ज्ञानशक्ति का क्षुब्ध रूप समझना चाहिए।

'ततः सृष्टिं यजेत्........।'

इति।

२—द्वितीया तु तत्स्वरूप-भावराशि-रेचन-अनुप्रवेश-उद्रिक्ता, तद् रेचनादेव कृशा, भावमण्डल-प्रकाशन-प्रसारण-व्यापारा सूर्यरूपा, स्वरूपभूता, कुलसंवित्-

स्वरूपतः परिपूर्ण, [1]चान्द्रमसी शक्ति के साथ अभिन्न होने के कारण—'सह उमया[2] वर्तते = उमा अर्थात् अनुत्तरीय इच्छा के साथ अभिन्न रूप में वर्तमान—' इस विग्रह के अर्थ के अनुकूल [3]'सोमरूपिणी' और मात्र निजी आनन्दमयता में ही विश्रान्त होकर वर्तमान रहने के स्वभाववाली है। जैसा कि आगे चलकर—

'फिर [4]महासृष्टि की अर्चना करनी चाहिए........।' इत्यादि वर्णन होगा।

२—'दूसरी' अर्थात् उन्मेष-ऊनतामयी ज्ञानशक्ति उस इच्छा में ही एकाकार बनकर वर्तमान रहने वाले पदार्थों की राशियों का 'रेचन' अर्थात् बाहरी प्रसार और 'अनुप्रवेश' अर्थात् अनाश्रित शिवभाव में घुसेड़ना (संहार) इन दो कार्यों को सम्पन्न करने से विकसित हुई है। यह आन्तरिक इच्छारूप में अवस्थित पदार्थ-समुदाय का रेचन करते रहने से ही '[5]कृश' अर्थात् क्षीण अथवा अपूर्ण है। यह सूर्यरूपिणी है, क्योंकि यह स्वरूपमयी होने से भाव-समुदाय को बहिरंग रूप में प्रकाशित एवं प्रसारित करने के काम पर कटिबद्ध रहती है। दूसरी ओर यह

---

१. 'ऊर्ध्वे स्थिता चन्द्रकला च शान्ता'—इत्यादि कथन के अनुसार ऊपर भ्रूमध्य में चन्द्रकला विद्यमान है। वह निरन्तर अमृत के प्रवाह को टपकाती रहती है। योगिजन ही उस अमृत का पान करके जराहीन और स्वस्थ कायावाले बन सकते हैं।

२. 'उमा' का स्वरूप समझने के लिए शिवसूत्रविमर्शिनी में—'इच्छाशक्तिरुमा कुमारी' इस सूत्र की व्याख्या द्रष्टव्य है।

३. सोमकला अपने में पूर्ण है, क्योंकि यह महासृष्टिमयी होने से ही महासंहारमयी है। प्रत्येक सृष्टि के गर्भ में संहार निहित ही रहता है।

४. अनुत्तर-पद में शाश्वतिक रूप में वर्तमान रहनेवाली सूक्ष्म अनुत्तरीय इच्छा ही वास्तव में महासृष्टि है।

५. सूर्यकला सृष्टिरूपिणी होने के नाते कृश और संहाररूपिणी होने के नाते पूर्ण भी है। यह संहारमयी होने में ही सृष्टिमयी है। त्रिक परिपाटी में महासंहार पूर्णता को और महासृष्टि अपूर्णता को अभिव्यक्त करते हैं।

संजिहीर्षात्मिका 'महासंहारशक्तिर्' ज्ञानाख्या। तत्रापि च प्रसरत्-प्राक्तनरूप-पर्यालोचनावशात् स्वात्मनि यथाक्रमं सोम-सूर्यरूपता-युगलकभावेन स्वसंविदात्मकं भावास्यञ्च रूपम् अपेक्षते, विपर्ययेऽपि सोम-सूर्यात्मक-सृष्टि-संहृति-कलनयोः। न च अत्र अनवस्था—ज्ञानेच्छयोः प्रसराप्रसरान्तरादिरूपत्वम्, तयोरपि प्रसराप्रसरयोर् इच्छा-ज्ञान-प्रसराप्रसरादि-परिकल्पनाप्रसङ्गाद्—

[1]ज्ञानशक्ति के औपचारिक नामवाली [2]'महासंहारशक्ति' भी है, क्योंकि स्वयं ही रेचन का विषय बनाई हुई 'कुलसंवित्' अर्थात् 'ऋ' से 'क्ष' तक के बाहरी प्रसार को फिर भी अनाश्रित शिवभाव में सिमट लेना इसका स्वभाव है। ऐसी होने पर भी यह, प्रसार करने वाले 'पूर्ववर्ती रूप' अर्थात् इच्छाशक्ति में वर्तमान रहनेवाले आनन्दमय एवं अन्तर्मुखीन रूप का पर्यालोचन करने की तीव्रता से, स्वरूप[3] में क्रमशः 'सोमरूपता' अर्थात् विश्वोत्तीर्णता और 'सूर्यरूपता' अर्थात् विश्वमयता दोनों का अङ्गीकार करके अपने अन्तर्मुखीन अनुत्तर-संवित् वाले और बहिर्मुखीन प्रमेयता नाम वाले रूपों में अवस्थित रहने की अपेक्षा रखती है। किसी अवसर पर इन सोमरूपिणी सृष्टि और सूर्यरूपी संहार की विमर्शात्मकता के [4]उलट-पलट वाले रूप में भी अवस्थित रहती है। इस सम्बन्ध में यह कहना

१. अनुत्तर-पद में स्वरूप के ही रूप में अवस्थित रहनेवाली ज्ञानशक्ति ही वास्तव में महासंहार है।

२. इस महासंहार में महासृष्टि का रहस्य निहित ही रहता है।

३. परा-संवित् इस सोम-सूर्यरूपता को कभी सोम और सूर्य इस क्रमसहित रूप में, कभी सोम-सूर्य इस क्रमहीन रूप में, कभी सूर्य और सोम इस विपरीत क्रम में अथवा कभी किसी अवर्णनीय क्रम में ही अपनाती है। कारण यह कि सृष्टि ही संहार और संहार ही सृष्टि है। स्पष्टीकरण अगले वाक्य में होगा।

४. तात्पर्य यह है कि परा-संवित् स्वतन्त्र होने के नाते जब चाहे तो क्रमपूर्वक पहले संहारात्मक और अनन्तर सृष्ट्यात्मक रूप को अपना लेती है। परन्तु उसके लिए यह कोई निश्चित नियम नहीं है। यह जरूरी नहीं कि संहार पहले और सृष्टि बाद को ही मान ली जाये। पहले सृष्टि और बाद में संहार या दोनों इकट्ठे भी हो सकते हैं। किसी भी रूप में इस सृष्टि-संहार या संहार-सृष्टि की प्रवहमानता को कोई क्षति नहीं पहुँच सकती। असल में यहाँ पर आचार्य जी ने इनके सीधे या उल्टे क्रम का वर्णन करके इनकी एकाकारता सिद्ध की है, अर्थात् संहारमयी सृष्टि और सृष्टिमय संहार। यदि आन्तरिक परामर्श में सोम को ही कृश और सूर्य को ही पूर्ण मान लिया जाये तो भी अनुत्तरीय स्वभाव में कोई अन्तर नहीं पड़ता। वास्तव में सृष्टि एवं संहार के आरों वाला पहिया अपनी अविराम गति में घूमता रहता है। इसमें कौन पहले और कौन पीछे—इस समस्या का समाधान स्वयं अनुत्तर-भट्टारक के ही पास है।

इति वाच्यम्। उपसंहरत बाह्य-विभ्रम-भ्रम-भ्रमणं तावद्, अनुप्रविशत सूक्ष्मां विमर्शपदवीम्। यावद् हि घटादावपि विज्ञानं जायते, तावदेव ज्ञेय-घटाद्यंश-कर्बुरीकृत-स्वयंप्रथं ज्ञानं प्रथत एव। तत्रापि च तद्रूप-कर्बुरीभाव-घटादि-प्रथम-सूक्ष्मोल्लासोऽपि संवेद्य-एकभावोद्गमस्य अन्यतः कुतश्चिदभावस्य

कि—'ऐसी परिस्थिति में उलटे ही क्रम के अनुसार ज्ञान और इच्छा के ऐसे रूप की कल्पना अवश्य करनी होगी कि वे कभी प्रसार करेंगे या न भी करेंगे या कोई अलग ही रुख अपनायेंगे और इस कल्पना से भी पिंड नहीं छूटेगा कि उस उलटे क्रमवाले प्रसार और अप्रसार में ही कभी सीधे ही क्रम के अनुसार इच्छा और ज्ञान प्रसार करने लगेंगे या न भी करने लगेंगे और परिणामतः अनवस्था का दोष आ पड़ेगा', बिल्कुल उचित नहीं है। हम तो यह कह रहे हैं कि इन (पूर्वता या परता के) बाहरी भ्रान्तियों के पचड़े में ही अटके रहने के स्वभाव को एकदम भूलकर सूक्ष्म विमर्श के क्षेत्र में घुस जाइये। देखिये यह एक निश्चित तथ्य है कि साधारण घट आदि पदार्थों का भी साक्षात्कार हो जाने के अवसर पर जितने काल-खण्ड में (यह घट है, यह पट है, यह गोल है, यह लम्बा है, यह काला है इत्यादि रूपों में) ज्ञान की विविधता प्रकाशित हो जाती है, उतने ही काल-खण्ड में दर असल वह, उन घट आदि अंशों के द्वारा चितराया हुआ 'स्वयंप्रथ ज्ञान' अर्थात् स्वयं ही प्रकाशमान रहनेवाला प्रथमाभासिक निर्विकल्प ज्ञान ही प्रकाशित हो जाता है। साथ ही उस चितकबरी ज्ञानरूपता में भी, उसमें चितकबरापन लानेवाले उन्हीं घट आदि पदार्थों का प्राथमिक 'सूक्ष्म उल्लास' अर्थात् सूक्ष्म निर्विकल्प ज्ञान संवेदन का विषय बन जाता है, क्योंकि 'एकभाव'[1] अर्थात् निर्विकल्प ज्ञानरूपी शिवभाग के उद्गम का, 'और कहीं से' अर्थात् सर्वभावरूपी जगत्-भाव के अतिरिक्त और कहीं से, अभाव ही अनुभव में आ जाता है (अर्थात् सविकल्पकता में से ही निर्विकल्पकता की उद्भूति हो

---

१. यहाँ पर—'एकभावोद्गमस्य''''''''प्रथमानत्वात्' इस वाक्यांश का गुरु लोग इस प्रकार भी अर्थ लगाते हैं—

'एकभाव अर्थात् निर्विकल्प ज्ञानरूपी शिवभाव तो और किसी' अर्थात् सविकल्प-ज्ञानरूपी जगत्-भाव के अभाव में ही उद्भूत हो जाता है।'

धृष्टता क्षमा हो—वेदान्त या और किसी दर्शन की दृष्टि से यह बात मान्य हो या न हो, परन्तु शैव दृष्टि से कुछ रुचिकर जैसी प्रतीत नहीं होती। शैव सिद्धों ने सर्वभाव में ही एकभाव का साक्षात्कार पाया है।

प्रथमानत्वात्। संविद एव स्वातन्त्र्यं भावोज्जिगमिषात्मकम् ईशनं स्वसंवित्प्रमाणलब्धम् एव।

तद्भावानुपचयरूपा संविद्घना परिपूर्णा स्वातन्त्र्यसत्तापि स्वात्मन्यानन्दघना भवन्ती स्वतन्त्रा स्याद्—इत्यानन्दोऽपि नापह्नवनीयः। अनुत्तरश्च शक्तिमान् अव्यपदेश-परचमत्कार-सारो भैरवभट्टारकः सर्वत्र कर्तृत्वेन भासत एव। तत्रापि तु अनुत्तर-आनन्द-इच्छा-ईशना-उन्मेष-ऊनतायां स्वरूपविमर्शे, तेषाम् अवि-

---

जाती है)। बाहर की ओर पदार्थों के उच्छलित होने की अभिलाषा के रूपवाला 'ईशन' तो निर्विकल्प-संवित् का ही स्वातन्त्र्य है और यह तथ्य तो निजी अनुभूति के प्रमाण के द्वारा उपलब्ध ही है।

इच्छा और ज्ञान में अनुत्तर और आनन्द की नित्य व्यापकता

उन घट, पट आदि पदार्थों की उपाधियों से किसी भी प्रकार की क्षीणता का पात्र न बनने के रूपवाली, ज्ञान की अक्षय निधि और परिपूर्ण स्वातन्त्र्यसत्ता भी तभी स्वतन्त्र हो सकती है, जबकि वह निज-स्वरूप में ही आनन्दमयता से भरपूर हो, अतः इसमें वर्तमान रहनेवाली [1]आनन्दमयता को भी नकारा नहीं जा सकता। [2]अनुत्तर रूपवाले और हरेक शक्ति[3] से युक्त भैरव-भट्टारक तो '[4]सर्वत्र' अर्थात् अनुत्तर-भाव और जगत्-भाव दोनों में स्वतन्त्र कर्ता अथवा स्वरूप-स्वातन्त्र्य के रूप में प्रकाशमान ही हैं। उस अनुत्तर-स्वरूप में भी अगर अनुत्तर = 'अ', आनन्द = 'आ', क्षोभहीन इच्छा = 'इ', क्षोभसहित इच्छा = ईशना = 'ई', उन्मेष = 'उ' और ऊनता = 'ऊ' इन छे रूपों में भी स्वरूप का अनुसन्धान किया जाये तो तह तथ्य अनुभव में आता है कि ये 'अ' से 'ऊ' तक के पहले छे परामर्श भी अखण्ड-विमर्श वाली ज्ञानभूमिका अर्थात् अनुत्तरीय 'अ-

---

१. इ, ई और उ, ऊ इन वर्णों में अ + अ = आ की वर्तमानता भी एक शाश्वत यथार्थ है। इनका उच्चारण करते ही इस तथ्य का आभास हो जाता है।

२. 'अनुत्तर' अर्थात् सारे मातृकारूपी वर्णसमुदाय का मूल उद्गम 'अ' या 'अ-कला'। यह अनुत्तरकला तो 'आ' से लेकर 'क्ष' तक के प्रत्येक वर्ण में हमेशा प्राण-तत्त्व बनकर वर्तमान ही रहती है।

३. 'क' से 'क्ष' तक के योनिवर्णों का रूप धारण करने वाली विश्व-शक्तियाँ भी मूलतः 'अ-कला' में ही निहित हैं, क्योंकि वर्णविकास की दृष्टि से 'अ' से ही इनका भी प्रसार (विकास) हो जाता है।

४. 'अ' से लेकर 'अः' तक का स्वर वर्ग = शिवभाव और 'क' से लेकर 'क्ष' तक का व्यञ्जन वर्ग = जगत्-भाव।

च्छेद-विचारण-ज्ञानभूमिम् अधिशयानानां, ता एव भगवत्यः संविच्छक्तयः समापतन्त्योऽनन्या एव स्वसंविदः-परिपूर्णत्वेन अभेदात्, संवेद्य-उपाधेश्च भेदकत्वात्, तस्या देह-संवेद्य-मात्रतयैव भावात्। अत एव श्रीतन्त्रसारे—'निजोत्तमाङ्गच्छायातत्त्वम्' इत्युक्तम्—

'स्वपदा स्वशिरच्छायां यद्वल्लङ्घितुमीहते।
पादोद्देशे शिरो न स्यात्तथेयं बैन्दवी कला' ॥

इति।

कला' में ही अवस्थित[1] हैं और इनमें वही ऐश्वर्य से भरी हुई संवित्[2]-शक्तियां अलग अलग रूपों में प्रकट होने पर भी मौलिक स्वरूप-संवित् से इतर नहीं हैं, क्योंकि एक तो वे सारी अपनी अपनी जगह पर परिपूर्ण[3] ही हैं और इसलिये उनमें कोई स्वरूपगत भेद नहीं, दूसरा प्रमेयभाव के साथ सम्बन्धित उपाधियां ही उन पर तथाकथित भिन्नता का रंग चढाती[4] हैं और तीसरा वे उपाधियां तो मात्र देहाभिमान के साथ सम्बन्धित संवेदन का विषय बनने तक ही सीमित[5] हैं। इसी अभिप्राय से श्रीतन्त्रसार में यह समझाया गया है कि अपने सिर की छाया को अपने ही पैरों से आक्रान्त न कर सकने की मिसाल ही वास्तविक यथार्थ है—

'जिस[6] प्रकार कोई व्यक्ति अपने सिर की छाया को अपने ही पैर से आक्रान्त करना चाहे, परन्तु वह उसके पैरों के स्थान तक कभी नहीं पहुँच पाती, उसी

---

१. जिस प्रकार 'अ-कला' 'आ' से लेकर 'ऊ' तक के हरेक परामर्श में स्वाभाविक रूप में व्याप्त है, उसी प्रकार ये भी अनुत्तर 'अ-कला' में ही अवस्थित हैं। फलतः 'अ-कला' ही 'आ' से 'ऊ' तक प्रसार की दृष्टि और 'ऊ' से 'आ' तक संहार की दृष्टि से भी पार्यन्तिक विश्रान्ति की भूमिका है।

२. चित्-शक्ति, आनन्द-शक्ति, अक्षुब्ध इच्छा-शक्ति, क्षुब्ध इच्छा-शक्ति, अक्षुब्ध ज्ञानशक्ति और क्षुब्ध ज्ञान-शक्ति क्रमशः अ, आ, इ, ई, उ, ऊ इन परामर्शों में।

३. सर्वसर्वात्मकभाव से प्रत्येक शक्ति में इतर पांच शक्तियाँ गर्भित ही हैं।

४. उपाधियों के रंग मौलिक स्वरूप में कोई अन्तर नहीं डाल सकते। एक ही कपड़े को सौ बार रंगने पर भी कपड़ा वही रहता है।

५. उपाधियाँ देहाभिमान तक ही सीमित होंने के कारण न तो कभी वास्तविक होती हैं और न असीम ज्ञानभूमिका को प्रभावान्वित करके उसकी मौलिक एकाकारता में कोई भेद डाल सकती हैं।

६. तात्पर्य यह है कि सिर की छाया प्रतिसमय उत्तरोत्तरगामिनी ही होती है, अतः पैर उसको पकड़ने ही नहीं पाता। स्वरूप-संवित् भी प्रतिसमय प्रमेयता से उत्तरवर्तिनी होने के कारण उसके द्वारा आक्रान्त नहीं हो सकती।

तदेवं षट्कं प्रवृत्तं ज्ञानशक्त्यन्तम्। क्रियाशक्तिस्तु प्रसरन्ती विचार्यते—

इच्छा-ज्ञाने एव परस्पर-स्वरूपसाङ्कर्य-वैचित्र्य-चमत्कारमय पूर्वापरीभूत-स्वरूप-परिग्रहे संरम्भसारा क्रिया। तत्र यद्यद् अन्य-व्यामिश्रित-साङ्कर्यम् अन्य-

प्रकार की दशा इस 'बिन्दुकला'-अर्थात् स्वरूप-संवित् के बारे में भी समझनी चाहिये ॥'

क्रियाशक्ति का स्वरूप-निर्धारण और प्रसार

इस प्रकार से ज्ञान-शक्ति के अन्त तक ये (अ से ऊ तक के) पहले छे परामर्श प्रसार में आये हैं। अब यहाँ से आगे प्रसार करनेवाली क्रिया-शक्ति का विचार किया जा रहा है—

१. परिभाषा—

"इच्छा और ज्ञान ही आपस में स्वरूप-संकर को अपनाने से अर्थात् अपने में विजातीय[1] मिश्रण का अङ्गीकार करने से अनेक प्रकार की विचित्रताओं को उपजाने के फलस्वरूप पूर्वता और अपरता के क्रम में बंटे हुए अनूठे ही रूप को अपनाने पर 'क्रिया' कहलाते हैं और इस क्रियात्मक रूप का मूल प्रेरणादायक तत्त्व 'संरम्भ' अर्थात् वेगी हर्ष है[2]।"

---

१. ऋ = र् + इ, ॠ = र् + ई, ऌ = ल् + इ, ॡ = ल् + ई, ए = अ + इ, ऐ = अ + ए, ओ = अ + उ, औ = अ + ओ – ऐसा विजातीय स्वर-व्यंजन मिश्रण। इस मिश्रण का विश्लेषण ग्रन्थकार आगे चलकर स्वयं करेगा। 'आ' से 'ऊ' तक के स्वरों में सजातीय मिश्रण होने के कारण कोई संकर नहीं, क्योंकि विशुद्ध इच्छा और ज्ञान अनुत्तर एवं आनन्दमय होने के कारण संकर के विषय नहीं बनते। क्रिया शक्ति का विस्तार ही तो विश्वमयता है, अतः उसमें संकर का होना अनिवार्य है। 'ऋ' से 'औ' तक के आठ स्वर क्रियाशक्ति के आठ स्थान हैं।

२. त्रिकमीमांसा के अनुसार अनुत्तर भट्टारक ज्ञानशक्ति के अन्त अर्थात् 'ऊ' तक अपने विशुद्ध अनुत्तरीय एवं आनन्दमय अर्थात् 'अ, आ' के रूप में प्रसार करते हैं। अतः इन पहले छे परामर्शों में वे साक्षात् स्वरूपतः विद्यमान हैं। यहाँ से आगे क्रिया शक्ति के सारे प्रसार अर्थात् 'ऋ' से लेकर 'औ' तक के आठ क्रिया-स्थानों में वे इच्छा और ज्ञान (इ, ई, उ, ऊ) के रूप में ही प्रसार करते हैं। कारण यह है कि ज्ञानशक्ति 'ऊ' पर पहुँचते ही वे आगे क्रियाशक्ति से आरम्भ होने वाली विश्वमयता अर्थात् क्रमिकता और भेदभाव को स्वरूप में ग्रहण करने के प्रति विमुख बनकर अनाश्रित शिवभाव में प्रवेश करते हैं। फलतः उनके अनुत्तरीय एवं आनन्दमय रूप का प्रसार सहसा विश्रान्त हो जाता है। क्रियाशक्ति में ही विश्वमयता भरी रहती है, अतः स्वाभाविक रूप में इसके गर्भ में क्रमिकता और कालयोग भी निहित ही रहता है।

सम्बन्धादेति तत्तद् अनामर्शनीय-शून्यप्राय-स्वरूपाक्रमण-पुरःसरीकारेण तथा भवति—प्लवनमिव भेकादेः। तत्र अनुत्तरानन्दात्मकं वपुर्न प्रसरति--अव्यपदेश-रूपत्वात्। सर्वज्ञानेषु सर्वाधार-वृत्तित्वेन पर्यवस्यति—पर्यन्तभित्तिरूपत्वात्। किन्तु क्रमसहिष्णुत्वात् संरम्भेच्छेशनान्ता स्वात्मनि अनुत्तरानन्दपदे च प्रसरण-

प्रसार-प्रक्रिया की मीमांसा

इस क्रियाशक्ति के प्रसार के स्तर पर अन्यान्य तत्त्वों का सम्पर्क हो जाने के फलस्वरूप जो जो विजातीय मिश्रण का सङ्कर उत्पन्न हो जाता है, वह तो केवल इसलिए कि अनुत्तर-भट्टारक एक ऐसे स्वरूप में, जो कि विमर्श में ही न आ सकने वाला शून्यातिशून्य (अनाश्रित शिवभाव) है, ठीक उसी प्रकार अचानक ही समाविष्ट हो जाते हैं, जिस प्रकार मेढक आदि जीव एक ही उछाल में सहसा एक स्थान से दूसरे स्थान पर सरक जाते हैं। (ऋ, ॠ, ऌ,ॡ) क्रिया-शक्ति के इन पहले चार स्थानों में भगवान् का अनुत्तरीय और आनन्दात्मक (अ और आ) रूप प्रसार नहीं करता, क्योंकि यह तो नाम-रूप का विषय ही नहीं। यह तो प्रत्येक पदार्थ का पार्यन्तिक आधार होने के कारण प्रत्येक प्रकार के ज्ञानमय रूप में ही समूचे क्रिया प्रसार का आधार बन जाने के बाद तत्काल ही प्रसार से विरत हो जाता है। परन्तु जहाँ तक वेगी हर्ष के प्रति उन्मुख अक्षुब्ध इच्छा का, जो कि क्षुब्ध ईशना के रूप में पर्यवसित हो जाती है, सम्बन्ध है, वह तो क्रम-सहिष्णु होने के कारण अपने क्षेत्र के अतिरिक्त अनुत्तर एवं आनन्द के क्षेत्र में भी प्रसार करने की क्षमता रखती[1] है। अतः वह अपने 'शून्यत्मका[2]

क्रिया होती भी वही है, जो आदि से अन्त तक मुख्यरूप में एक होती हुई ही अपने गर्भ में अनेक अवान्तर क्रियाओं की क्रमिकता को भी साथ ही लिए हुए हो—पूर्वापरीभूत-क्रियाकलापा। परमेश्वर अपने अनुत्तरीय एवं आनन्दमय रूप में क्रमिकता की बू को भी अपनाना सहन नहीं करते, अतः वे ज्ञानशक्ति का पूर्ण विकास होते ही अनाश्रित शिवभाव में विश्रान्त हो जाते हैं। क्रियाशक्ति के विषय में ग्रन्थकार ने यह कहा है कि वेगी हर्ष इसका जीवनतत्त्व होता है। इसका तात्पर्य यह है कि क्रिया में स्वाभाविक रूप में दौड़-धूप- उथल-पुथल अवश्य साथ ही रहती है और उसके मूल में हर्ष की वृत्ति ही कार्यनिरत रहती है। क्रिया का अन्त हो जाने तक विश्रान्ति कहाँ, सुख-चैन कहाँ ? परन्तु जब तक उथल-पुथल न हो, तब तक क्रिया ही कैसी ? साथ ही जब तक उथल-पुथल के मूल में हर्ष नहीं, तब तक उसमें पड़ जाने की आवश्यकता ही किसको ?

१. इसका स्पष्टीकरण थोड़ा ही आगे चलकर होगा।

२. ऋ, ॠ, ऌ, ॡ ये चार क्रिया-स्तर अनाश्रित शिव भाव के परिचायक हैं। अनाश्रित शिवभाव को शास्त्रीय परिभाषा में शून्यातिशून्य कहा जाता है। इस संदर्भ में प्रस्तुत लेखक का स्पन्दकारिका भाषानुवाद द्रष्टव्य है।

क्षमा। ततः सैव शून्यात्मकं स्वं वपुर् अवगाहमाना भास्वरं रूपं तेजोमयमिव प्रथमं गाहते—'ऋ, ॠ' इति। अत्र हि 'इ, ई' इत्यनुगमो भास्वररूपरेफ-श्रुत्यनुगमश्च कथम् अपह्नुयताम्। यथाह भगवान् पुष्पदन्तः—

'र-श्रुति-सामान्याद्वा सिद्धम्' इति।

शून्ये हि निश्चले रूपे अनुप्रविविक्षायां भास्वररूप-संवित्ति-सोपाना-क्रमणं स्थितम् एव। ततो पार्थिवरूप-सतत्त्व-निश्चलात्मक-लकार-श्रुत्यनुगमे—'ऌ, ॡ' इति। तथा च पर्यन्ते ईशनारूपतैव समग्रभावात्मक-स्वरूपोल्लङ्घनेन दीर्घतरं प्लुत्वा निश्चलां शून्यां सत्ताम् एत्य प्लुतत्वम् एति--'ॡवर्णस्य दीर्घा न

रूप' अर्थात् 'ऋ, ॠ, ऌ, ॡ' इन चार षण्ठ[1]-स्वरों से द्योतित होने वाले क्रिया-शक्ति के रूप में प्रवेश करती हुई, पहले चुंधियाने वाली तेजोमयता के रूप का आभास करानेवाले 'र्कार' की श्रुति का ही साक्षात्कार कर लेती है, जिसकी अभिव्यक्ति 'ऋ, ॠ' इन दो वर्णों में हो जाती है। निःसंशय इन दो वर्णों में पाई जानेवाली 'इ, ई' इन दो स्वरों और तेजोमय रूप वाले 'र्कार' की श्रुति की अनुगामिता का अपलाप कैसे किया जा सकता है? जैसा कि भगवान् पुष्प-दन्त ने कहा है—

'(ऋ, ॠ—इन दो वर्णों में पाई जानेवाली अग्निरूपता और चञ्चलता) र्-श्रुति के सम्पर्क से ही सिद्ध है'।

जब इच्छा-ईशना 'शून्य' अर्थात् जगत्-भाव से रहित शून्यातिशून्य नामी अनाश्रितशिवभाव में प्रवेश करना चाहती हैं, तो उनको 'तेजोमय रूप' अर्थात् र्-श्रुति से युक्त 'ऋ, ॠ' इन दो वर्णों की सीढ़ी को पहले पार करना ही पड़ता[2] है। तब जाकर के पृथिवीरूपी[3] और निश्चलता-भूमिका के परिचायक 'ल्कार' की श्रुति की अनुगामिता हो जाने पर 'ऌ, ॡ' इन दो वर्णों का रूप धारण कर लेती है। साथ ही अन्ततोगत्वा वह 'ईशनारूपता' अर्थात् 'ई' यह दीर्घरूप ही, समूचे 'भावात्मक-स्वरूप' अर्थात् जगत्-भाव के रूप वाले क्रियात्मक आडम्बर को सहसा लाँघने के द्वारा दीर्घतर उछाल लगाने पर, चञ्चलता से रहित 'शून्यसत्ता' अर्थात् 'ॡ' इस स्तर पर पहुँचकर प्लुत बन जाती है, क्योंकि इस

१. षण्ठ-स्वर इनका शास्त्रीय नाम् है। तात्पर्य आगे चलकर स्पष्ट होगा।

२. गुरुओं के कथनानुसार योगक्रम में भी जब योगी प्रमेय-जगत् के क्षोभ से रहित शून्य अवस्था में प्रवेश करके निश्चलता की स्थिति पर प्रतिष्ठित होना चाहता है, तो उसमें प्रवेश करने पर उसको पहले प्रचण्ड तेजोमयता का सामना हो जाता है।

३. 'र्' अग्निबीज होने के कारण उष्णता और चञ्चलता और 'ल्' पृथिबीज होने के कारण स्थिरता के परिचायक हैं।

सन्ति' इति न्यायात्। अवर्णादीनां तु दीर्घस्यैव दीर्घतरता प्लुतत्वम्। तच्च प्राङ्नीत्या दीर्घत्वमेव पृथग् अपर्येषणीयम् इत्यास्तां तावत्। एतच्च चतुष्कं शून्यरूपतानुप्रवेशात् दग्धबीजम् इव षण्ठरूपं भण्यते, न तु सर्वथा बीजरूपत्वाभावात्, बीजयोन्यात्मक-शिवशक्ति-उभयातिरेकिणः कस्यचिदपि अभावात्, श्रीपूर्वादिशास्त्रेषु च अनभिधानात्। लौकिकसुखादिषु च एवंविधैव विश्रान्तिर् आनन्दरूपता-इति। तदेव अमृतबीजचतुष्कम् इत्युक्तम्।

परिप्रेक्ष्य में व्याकरण की यह मान्यता कि—'ऌ-वर्ण के दीर्घरूप नहीं हैं', सामने ही है। 'अ' इत्यादि वर्णों के दीर्घरूपों की दीर्घतरता ही प्लुत कही जाती है। इसलिये पूर्वोक्त नीति के अनुसार[1] 'ऌ' वर्ण के अलग (प्लुतता से इतर) दीर्घरूप की छान-बीन करने का प्रयोजन नहीं, अतः थोड़ी देर के लिए इस विषय को रहने देना ही ठीक है। (शास्त्रीय परिभाषा में) इन चार वर्णों को षण्ठरूपी (नपुंसक) केवल इसलिये बताया जाता है कि शून्य-भाव में अनुप्रविष्ट हो जाने से इनकी बीजरूपता (स्वरत्व) जली हुई जैसी अर्थात् किसी दूसरे रूप में प्रसार करने की शक्ति से रहित जैसी है, इसलिये नहीं कि इनमें बीजरूपता का सर्वथा अभाव ही हो, क्योंकि एक तो बीजात्मक शिवभाव (स्वरत्व) और योन्यात्मक शक्तिभाव (व्यञ्जनत्व) इन दो के अतिरिक्त और किसी भी वर्णरूप का अस्तित्व ही नहीं और दूसरा श्रीपूर्व (मालिनीविजय) इत्यादि आगमों में भी ऐसा कोई उल्लेख नहीं मिलता। लौकिक सुखों (गाना-बजाना, स्त्रीसुख इत्यादि) में भी ऐसी ही (शून्यभाव की जैसी)[2] आत्म-विश्रान्ति की अनुभूति को आनन्दरूपता माना जाता है। इस आत्म-विश्रान्ति को ही वर्ण-जगत् में 'अमृतबीजों का चौका' अर्थात् ऋ, ॠ, ऌ, ॡ ये चार आनन्द के स्थान बताया गया है।

---

१. पूर्वोक्त नीति यही है कि विश्वोत्तीर्ण अनुत्तर-तत्त्व अनुत्तर-भाव से बाह्य प्रसार की ओर स्पन्दायमान होते ही अप्रत्याशित रूप में सामने आनेवाले विश्वमय शक्ति-भाव को सहसा स्वीकारने के प्रति विमुख होकर एक ही उछाल में शून्य-भाव में विश्रान्त हो जाता है। यह उछाल इतनी वेगी और आकस्मिक होती है कि दीर्घता का अतिक्रमण करके सीधी 'प्लुत' अर्थात् निश्चल विश्रान्ति-भूमिका पर जाकर ही विश्रान्त हो पाती है। अतः 'ऌ' वर्ण का कोई दीर्घरूप नहीं है।

२. कभी-कभी पाठक यहाँ पर प्रस्तुत की गई इस अनाश्रितशिवरूपिणी आत्म-विश्रान्ति का वर्णन सरसरी तौर से पढ़कर इसी को शाश्वतिक अनुत्तरभावमयी आत्म-विश्रान्ति समझने की गलती भी कर सकता है। किन्तु बात वैसी नहीं है। वास्तव में यह एक ऐसी अल्पकालावस्थायिनी विश्रान्ति की अवस्था है, जो न तो पूर्ण शिव-भाव और न जगत्-भाव ही है, क्योंकि जैसा कि अभी ऊपर कहा गया कि इस अवस्था में

तदेव इच्छेशनं च आनन्दवपुषि, अनुत्तर-परधामनि च प्राग्भाविनि, स्वरूपाद् अप्रच्याविनि अनुप्रविश्य–'अ, आ←इ, ई = ए', न तु विपर्यये यथोक्तम्–'अवर्ण-इवर्णे = ए' इति। विपर्यये च अनुत्तरपदानुप्रवेशे स्यादपि कश्चिद्

वही अनुत्तरीय इच्छा और ईशना (इ, ई), स्वरूप से कभी च्युत न होनेवाले और अपने ही पूर्वविकसित 'आनन्दमयरूप' अर्थात् 'आ', और सबसे उत्कृष्ट पदवी 'अनुत्तररूप' अर्थात् 'अ' में (अ, आ + इ, ई ठीक इसी क्रम में) प्रवेश करने पर 'ए' इस वर्ण का रूप अपना लेती हैं। इससे विपरीत (इ, ई + अ, आ इस) क्रम में अनुप्रवेश करने पर ऐसा नहीं होता, क्योंकि व्याकरण का निर्देश यही है कि—'अकार और इकार की सन्धि होने पर 'ए' का विकास हो जाता है। विपरीत क्रम में तो केवल अनुत्तरपद (अ) में अनुप्रवेश करती हैं और

विश्रान्त होने के अवसर पर शिव एक ओर अपने पूर्ण शिव-भाव से च्युत हो जाने के कारण शिव भी नहीं रहे होते और दूसरी ओर जगत्-भाव को अपनाने के प्रति विमुख होने के कारण जगत् भी नहीं होते। फलतः यह शिव-भाव और जगत्-भाव के बीच में एक ऐसी अवस्था है, जो दोनों से रहित होने के कारण शून्य-अवस्था है। शिव इस अवस्था में कुछ मात्रा तक विश्रान्त होकर अवस्थित रहने के उपरान्त आखिरकार शक्ति-भाव को अपनाकर विश्वरूप में प्रसृत होने पर मजबूर हो ही जाते हैं, क्षोभहीनता को भूलकर पूरे क्षोभ को स्वीकारते ही हैं। यह शून्यरूपिणी मध्यविश्रान्ति की अवस्था अवश्यंभाविनी है, क्योंकि सार्वभौम अधिकारिता (शिव-भाव) से अचानक च्युत होनेवाला राव (अनुत्तर-भट्टारक) एकदम रंक बनने पर (क्षोभसहित जगत्-भाव को स्वीकारने पर) तैयार भी कैसे हो सकता है। थोड़ी सी मध्यविश्रान्ति के अनन्तर ही वह आगे आनेवाली परिस्थिति के साथ समझौता कर सकता है। इसी कारण से यहाँ पर ग्रन्थकार ने इस शून्यरूपिणी आत्मविश्रान्ति की समता लौकिक सुखभोग से जनित अल्पकालावस्थायिनी आत्मविश्रान्ति के साथ की है।

१. प्रस्तुत वर्णन का अध्ययन करने पर पाठक को यह समझने में देर नहीं लगती कि अनुत्तरीय इच्छा-ईशना जहाँ एक ओर र्-श्रुति और ल्-श्रुति के साथ सम्पर्क जोड़कर 'ऋ, ॠ, ऌ, ॡ' इन चार पहले क्रियास्थानों में प्रसार करती है, वहाँ दूसरी ओर अपने पूर्ववर्ती अनुत्तर एवं आनन्द में भी अनुप्रविष्ट होकर 'ए' इस पाँचवें क्रिया-स्थान पर प्रसार करने की क्षमता भी रखती है।

विशेषः। आनन्दपदानुप्रवेशे हि स्फुटता, अनुत्तरधामसंभेदे तु सूक्ष्मता तदपेक्षया। तथाहि भगवान् भुजगविभुरादिशत्—

'छन्दोगानां सात्यमुग्रिराणायनीया
अर्धमेकारमर्धमोकारं चाधीयते।'

उससे दूसरे किसी प्रकार की विशेषता का उदय भी हो जाता है। आनन्दपद[2] 'आ' में अनुप्रवेश करने पर (विकसित होनेवाले 'ए' में) दीर्घरूपता और अनुत्तर[3] धाम 'अ' में अनुप्रवेश करने पर (विकसित होनेवाले ए में) उसकी अपेक्षा ह्रस्वरूपता समझनी चाहिए[4]। इस संदर्भ में भगवान् सर्पराज (पतञ्जलि) का यह आदेश है—

'सामवेद की राणायनी शाखा की एक प्रशाखा "सात्यमुग्रि के अनुयायी आधे एकार और आधे ओकार का भी उच्चारण कर लेते हैं।'

१. अनुत्तरीय इच्छा-ईशना विपरीत-क्रम में केवल अनुत्तर-धाम में ही प्रवेश करने पर नयी विशेषता (वर्णरूप) को जन्म देती है। इस परिस्थिति में वह 'य' इस नये वर्णरूप में विकसित हो जाती है। विपरीत क्रम में आनन्द में इसके अनुप्रवेश करने पर किसी नये वर्ण का उदय नहीं होता, अतः ऐसा अनुप्रवेश तो होता नहीं। उदाहरणार्थ (१) इ, ई + अ = य 'इको यणचि' परन्तु (२) इ, ई + आ = या कोई नया वर्ण नहीं है।

२. आ←इ, ई = ए, दीर्घ ए।

३. अ←इ, ई = ए, ह्रस्व ए।

४. व्याकरण में साधारण रूप में 'ए, ओ' के ह्रस्वरूप नहीं स्वीकारे गये हैं, परन्तु यहाँ पर ग्रंथकार ने सामवेद और आगम-ग्रन्थों के आधार पर 'अ' और 'इ, ई' के संयोग से विकसित 'ए', और 'आ' और 'इ, ई' के संयोग से विकसित 'ए' को क्रमशः ह्रस्व और दीर्घ उद्घोषित किया है और साथ ही 'ऐ, औ' की अपेक्षा 'ए, ओ' को ह्रस्व सिद्ध किया है। त्रिकप्रक्रिया में ह्रस्वता विशुद्ध शिव-भाव की ओर दीर्घता शिव-शक्ति-संघट्ट की परिचायिका हैं। ह्रस्वरूप में प्रसार का साक्षात्कार नहीं होता। किसी भी ह्रस्वरूप के प्रसार का साक्षात्कार उसके दीर्घरूप में ही होता है। सृष्टिप्रसार का रहस्य विशुद्ध शिव-भाव में नहीं, प्रत्युत शिव-शक्ति-संघट्ट में ही निहित है। अस्तु, इसका स्पष्टीकरण आगे स्वयं ही होगा। यहाँ पर यह बात बिल्कुल अप्रासङ्गिक है। त्रिक सन्दर्भ में मूल 'स्फुटता' शब्द से दीर्घता और 'सूक्ष्मता' शब्द से ह्रस्वता का अभिप्राय लिया जाता है।

५. गुरु-सम्प्रदाय में 'सत्यता' और 'उग्रता' इन दो शब्दों से क्रमशः ह्रस्वता और दीर्घता का तात्पर्य लिया जाता है।

इति। लोकेऽपि प्राकृत-देशभाषादौ स्फुट एष प्रचुरः सन्निवेशः। पारमेश्वरेष्वपि एकारौकारयोर् ऐकारौकारापेक्षया यत् ह्रस्वत्वम् अङ्गवक्त्रादिविनियोगे दृश्यते तदेवमेव मन्तव्यम्—'अय ऐकार, अव ओकाराभिप्रायेण। एवम्—'ए, ओ' इति बीजं स्थितम्।

एतदपि तथा शबलीभूतं संविद्वपुः तथैव—'अ, आ←ए = ऐ' इति।

एवम् उन्मेषेऽपि वाच्यम्—'अ, आ←उ, ऊ = ओ, अ, आ←ओ = औ' इति।

केवलम् 'उन्मेषो' ज्ञानशक्त्यात्मा प्रसरन्, यद्यपि शून्यतावगाहनं कुर्यात्,

---

लोकव्यवहार में भी प्राकृत और देशी आदि भाषाओं में, स्पष्ट रूप में, ऐसे स्वरों की संरचना प्रचुर मात्रा में पाई जाती है। ईश्वरीय आगमों (शैव आगमों) में भी अङ्गों या मुख के साथ सम्बन्धित मन्त्र-प्रयोगों में 'ऐ' और 'औ' की अपेक्षा 'ए' और 'ओ' में जो ह्रस्वता पाई जाती है, वह भी इसी रीति से माननी चाहिए, जैसा कि वहाँ 'अय्' इस ह्रस्वरूप को दीर्घ 'ऐ' के और 'अव्' इसको 'औ' के अभिप्राय से रखा गया है। इसी प्रकार 'ए, ओ' ये दो बीजाक्षर सिद्ध हुए हैं।

यह 'ए' मूलतः संवित्-रूपी ही होता हुआ भी, उसी रीति से—'अ, आ←ए[1] = 'ऐ' इस क्रम से विचित्रता को स्वीकारने से 'ऐ[2]' के रूप में विकसित हुआ है।

यही बात 'उन्मेष' अर्थात् 'उ, ऊ' पर भी लागू हो जाती है। वह भी (पहले स्तर पर)—'अ, आ←उ, ऊ = 'ओ[3]', और (दूसरे स्तर पर) अ, आ←ओ = 'औ[4]' इस क्रम से विचित्र बनकर क्रमशः 'ओ, औ' के रूप में विकसित हुआ है।

यहाँ पर इस उन्मेष के विषय में केवल इतना ध्यान में रखने की आवश्यकता है कि वह ज्ञानशक्ति के रूप में प्रसार करता हुआ यद्यपि शून्यभाव में समाविष्ट तो हो सकता है, परन्तु तो भी ऐसा करते समय इसको (अपने ज्ञाना-

---

१. 'ए' क्रिया-शक्ति का पांचवां स्थान।

२. 'ऐ' क्रिया-शक्ति का छठा स्थान।

३. 'ओ' क्रिया-शक्ति का सातवां स्थान।

४. 'औ' क्रिया-शक्ति का आठवां स्थान और क्रिया-शक्ति के परिपूर्ण विकास की अवस्था।

तथापि अस्य ईशनेच्छात्मकोभयरूपप्रवेश एव शून्यता। इच्छेशनयोस्तु स्वं-परिवृत्तिरूपं नास्ति—इत्युक्तनयेनैव स्थितिः।

एवम् इच्छाज्ञाने अनुत्तरस्वरूपानुप्रवेशेन प्राप्तोपचये, पश्चात् परित्यज्य तथाविध-उपाधि-परिस्पन्द-सत्ताम्, अभेदसत्ता-आरोहण-चिन्मयपुरुष-तत्त्व-

---

त्मक रूप को छोड़कर) इच्छात्मक और ईशनात्मक रूपों में प्रविष्ट हो जाने पर ही शून्यता में प्रवेश मिल सकता है। इच्छा और ईशना के विषय में स्वरूप-परिवर्तन का कोई प्रश्न ही नहीं उठता, अतः इनकी स्थिति पूर्वोक्त रीति के ही अनुसार समझनी चाहिए।

इस प्रकार इच्छा और ज्ञान (इ, ई, उ, ऊ) अनुत्तर-स्वरूप (अ) में प्रवेश करने से परिपुष्ट हो जाते हैं, अर्थात् क्रिया-शक्ति के परिपूर्ण विकास की अवस्था के द्योतक 'औ'कार' पर पहुँच जाते हैं। इसके अनन्तर अपनी इस इच्छा, ज्ञान और क्रियात्मिका उपाधियों के रूपवाली स्पन्दना को छोड़ देने से फिर भी मौलिक अभेद-सत्तामय रूप को अङ्गीकार करने पर, बाकी बचे हुए मात्र बिन्दु[२]

---

१. अनुत्तरीय संकल्प में चलने वाला सृष्टिप्रसार 'औकार' पर आकर रुक जाता है, क्योंकि यही वर्ण अनुत्तरीय क्रिया-शक्ति की पूर्ण परिणति का स्तर है। इसके अनन्तर इस सृष्टिप्रसार का फिर भी अभेद-तत्त्व में संहृत हो जाना स्वाभाविक ही है। इस संहार का परिचायक बिन्दु है। इस सृष्टिप्रसार और संहार को बाहरी स्थूल सृष्टिप्रसार और संहार नहीं समझना चाहिये। इसकी सम्पन्नता अनुत्तरीय विमर्श के रूप में ही होती है, क्योंकि यही बाहरी प्रतिबिम्बात्मक एवं स्थूल सृष्टि-प्रसार और संहार का अनुत्तरीय संकल्पात्मक बिम्ब है। शास्त्रीय शब्दों में इसको 'स्वरूप-सृष्टि' कहते हैं।

२. त्रिकमान्यता के अनुसार अनुत्तरमयी 'अ-कला' स्वरूप-प्रसार और संहार की क्रीड़ा को सम्पन्न करने के लिए, अनुत्तरीय विमर्श के ही रूप में 'आ' से लेकर 'औ' तक विश्वमय प्रसार करके, 'अं' इस स्तर पर फिर भी स्वरूप में ही उसका संहार करती है। यह प्रसार-संहार ही अनुत्तरीय स्वभाव है। अनुत्तरकला इस विमर्शात्मक प्रसार-संहार को विशुद्ध, प्रकाशमय शक्तिमान् रूप की प्रधानता से ही सम्पन्न करती है। यह बिम्बरूपी प्रसार-संहार कहलाता है और यही समूचे शाक्त-प्रसर अर्थात् 'क' से लेकर 'क्ष' तक के बाहरी प्रतिबिम्बात्मक एवं स्थूल सृष्टिप्रसार-संहार का मौलिक बिम्ब है। इस बिम्बरूपी सृष्टिप्रसार-संहार में शक्तिमान् रूप की प्रधानता होने के कारण इसको 'स्वरूप-सृष्टि' की संज्ञा दी गई है।

'अं=' यह स्वर् इस अनुत्तरीय सृष्टि के, फिर भी स्वरूप में ही लयीभवन संवेदन का प्रतीक है। अतः शैवागमों में इसको, अर्थात् बिन्दु को पूर्णता के आवेश

सतत्त्व-वेदनारूप-बिन्दुमात्र-अवशेषेण वपुषा, तथा अनुत्तरपदलीने—'अं = ०' इति। तथाहि—

"औकार एव क्रियाशक्ति-परिस्पन्दः परिसमाप्यत—इति, इच्छा-ज्ञानयोर् अत्रैव अन्तर्भावात्। त्रिशूलत्वम् अस्य षडर्धशास्त्रे निरूपितम्—

'.........त्रिशूलेन चतुर्थकम्'

इत्याद्युद्देशेषु। बिन्दुः पुनर्वेदनामात्रशेषतयैव।"

(अं = ॱ), जो कि विशुद्ध चित्-रूपिणी अनुत्तरकला के साथ परिपूर्ण लयीभाव के संवेदन का परिचायक है, के ही स्वरूप में पुनः अनुत्तरभाव में ही लीन हो जाती है। 'अं = ॱ' यह परामर्श इसी अवस्था का द्योतक है। स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

"क्रिया-शक्ति का चतुर्दिक् स्पन्दन 'औकार' में ही समाप्त हो जाता है। इच्छात्मक और ज्ञानात्मक स्पन्दन भी यहीं पर आकर थम जाते हैं, क्योंकि ये दोनों क्रिया के गर्भ में ही निहित[1] होते हैं। इस 'औकार' की 'त्रिशूलता' अर्थात् इच्छा, ज्ञान और क्रिया की समष्टिरूपता का निरूपण त्रिक-शास्त्रों में—

परिचायक 'चिन्मय पुरुषतत्त्व' अर्थात् परिपूर्ण प्रकाशमय शांभव-तत्त्व ही माना जाता है। शास्त्रों में इसका स्वरूप-निर्धारण निम्न प्रकार से किया गया है—

"अत्र प्रकाशमात्रं यत् स्थितं धामत्रये सति।
उक्तं बिन्दुतया शास्त्रे शिवबिन्दुरसौ स्मृतः॥ और—
उदितायां क्रियाशक्तौ सोमसूर्याग्निधामनि।
अविभागः प्रकाशो यः स बिन्दुः परमो हि नः॥"

भाव यह है कि अनुत्तरीय विमर्श में 'तीन धामों' अर्थात् सोमरूपिणी इच्छा-शक्ति, सूर्यरूपिणी ज्ञान-शक्ति और अग्निरूपिणी क्रिया-शक्ति के, तात्पर्य यह कि समूचे विमर्शमय सृष्टि-प्रसार के व्यवस्थित हो जाने पर, इसके मूल में अवस्थित जिस विभागहीन प्रकाश की स्थिति अनुभव में आ जाती है, वही 'शिव-बिन्दु' है।

इच्छा-शक्ति की परिणति ज्ञानशक्ति में और उसकी क्रिया-शक्ति में और इस प्रकार तीनों की पूर्ण परिणति हो जाने पर फिर भी अभेदतत्त्व में ही तीनों का लय हो जाता है। यही स्वाभाविक एवं अनुत्तरीय प्रक्रिया है। यह पूर्ण परिणति 'औ' इस क्रिया-विस्तार के आठवें स्थान पर हो जाती है। स्वभावतः 'अं—' इस शिवबिन्दु के स्तर पर ही यह प्रसार में आया हुआ प्रपञ्च संहृत होकर अनुत्तर-धाम में लीन जाता है। इसी कारण से अनुभवी सिद्धों ने इस शिव-बिन्दु को अतीव महत्ता प्रदान की है।

१. पाठकों के सामने अब स्थिति स्पष्ट है। इच्छा-शक्ति ही स्थूल होकर ज्ञान-शक्ति और ज्ञान-शक्ति ही स्थूल होकर क्रिया-शक्ति के रूप में विकसित हो जाती है। अतः इच्छा और ज्ञान प्रत्येक क्रिया में निहित ही रहते हैं।

(१) सर्वस्य वेदनामात्राविशेषमपि विश्वं 'स्वात्मनि' एकगमनाय विसृजति, (२) 'स्वात्मनः' च सकाशात् तन्निर्माणेन विस्सृजति, स एव परमेश्वरः। प्रथमं 'शक्तिमद्'-रूपप्रधानतया, इदानीं तु 'शाक्तविसर्ग'-प्रधानतया— 'अः' इति।

'(सौः इस अमृतबीज में), 'त्रिशूल' अर्थात् औकार ने 'चौथे' अर्थात् शक्ति-अणु को अपने में निहित रखा है।' इत्यादि स्थलों पर किया गया है। 'अंकार' को इच्छा, ज्ञान और क्रिया की विभागहीन संवेदनमयी अवस्था का ही प्रतीक होने के कारण बिन्दु कहते हैं।'

प्रसार की द्विरूपता और शाक्त-प्रसर का उपक्रम।

वास्तव में वे [1]परमेश्वर ही—

(१) स्वरूपमय विश्व को, इच्छा, ज्ञान और क्रिया इस त्रिपुटी की मात्र संवेदनमयी स्थिति के साथ मूलतः अभिन्न होने पर भी, (प्रसार के अनन्तर) फिर स्वरूप में ही एक करने की इच्छा से ही, स्वरूप में ही 'विसर्जित'[2] अर्थात् 'वि' = विशेष अनुत्तरीय संकल्प के रूप में 'सर्जित' = प्रसृत करते हैं।

(२) इसी स्वरूपमय विश्व को स्वरूप से अलगा कर, उसका निर्माण करने के द्वारा 'विसर्जित' अर्थात् 'वि' = स्वरूप से विश्लिष्ट (अलगाये) रूप में 'सर्जित' = प्रसृत करते हैं।

पहले प्रकार का विसर्ग शक्तिमान्[3] रूप की अर्थात् शिव-विसर्ग की प्रधानता से और अब बताये जाने वाला दूसरे प्रकार का विसर्ग [4]शाक्त-विसर्ग की प्रधानता से सम्पन्न हो जाता है और 'अः' इस शाक्त विसर्ग का द्योतक वर्ण है।

---

१. परमेश्वर शक्तिमान् रूप में या शक्तिरूप में स्वभावतः विसर्गमय ही हैं।

२. पहले बताया जा चुका है कि पर मन्त्र (अहं) के स्वरूप वाला महान् शिवबीज ही विमर्शमयी शाक्त-योनि में परिपुष्ट होकर सृष्टि का रूप धारण कर लेता है। इस सृष्टि-प्रसार की प्रक्रिया को शास्त्रीय शब्दों में 'विसर्ग' कहते हैं। लोकभूमिका पर भी सृष्टि-प्रसार के मूल में विसर्गात्मकता का ही योग रहता है।

३. शास्त्रीय नाम शिवविसर्ग है।

४. 'क' से 'क्ष' तक के बहिरङ्ग स्थूल सृष्टि-प्रसार को शाक्त-विसर्ग कहते हैं। स्थूल सृष्टि के प्रसार में भगवान् के शक्तिरूप की प्रधानता रहती है, क्योंकि शक्तिमान् रूप में तो वे कदापि भेदसहिष्णु बन नहीं सकते।

औकारपर्यन्ते हि निर्भरीभूते क्रियाशक्ति-प्रसरे एतावति, अनुप्रविष्टानुत्तर-पदस्य भैरवभट्टारकस्य स्वरूप-सतत्त्वस्य, इच्छा-ज्ञान-क्रियात्मक-शक्तिपरि-स्पन्द-आदि-मध्य-अन्तभागाः, उल्लिलसिषा-उल्लसत्ता-उल्लसितता-स्वभावाः, सूक्ष्मतम-प्रसङ्ख्यान-गृहीत-तावद्भूमिकाधिरूढ-योगिजन-स्फुट-लक्षणीयाः, श्री-स्वच्छन्दादि-प्रक्रियाशास्त्रेषु प्रबुद्ध-प्रसरण-आवरणादि-रूपत्वेन उक्ताः । अत एव शिवदृष्टिशास्त्रे सप्तमाह्निके—

'सुनिर्भरतराह्लादभरिताकाररूपिणि ।
निलीनशक्तित्रितये परात्मन्यनुभावनात् ॥'

इत्यादि—

क्रिया-शक्ति के प्रसार में ही स्वरूप-स्वातन्त्र्य के तीन भागों का स्पष्ट साक्षात्कार ।

सूक्ष्मातिसूक्ष्म समाधि का अभ्यास करने से (इच्छा, ज्ञान और क्रिया) तीनों भूमिकाओं पर समानरूप में स्थिर बने हुए योगिजनों को, औकार के उदित होने तक अपने परिपूर्ण विकास की अवस्था पर पहुंचे हुए इतने असीम क्रिया-शक्ति के प्रसार में ही, अनुत्तर पद में प्रतिष्ठित हुए भैरव भट्टारक के उन अनुत्तरीय स्वातन्त्र्य के तीन भागों का स्पष्ट साक्षात्कार हो जाता है, जिनका ब्यौरा इस प्रकार है—

१. स्वातन्त्र्य का पहला भाग	इच्छा-शक्तिमय स्पन्द	'उल्लिलसिषा' अर्थात् बहिर्मुखीन प्रसार के प्रति सूक्ष्मातिसूक्ष्म उन्मुखता-मात्र की अवस्था ।
२. स्वातन्त्र्य का बिचला भाग	ज्ञान-शक्तिमय स्पन्द	'उल्लसत्ता' अर्थात् बहिर्मुखीन विकास के अभिमुख आगे बढ़ते हुए प्रसार की अवस्था ।
३. स्वातन्त्र्य का अन्तिम भाग	क्रिया-शक्तिमय स्पन्द	'उल्लसितता' अर्थात् बहिर्मुखीन रूप में पूर्ण विकास पर पहुंचे हुए प्रसार की अवस्था ।

श्री स्वच्छन्द इत्यादि प्रक्रिया-शास्त्रों में इन तीन भागों का क्रमशः प्रबुद्ध (इच्छा स्पन्द), प्रसरण (ज्ञान स्पन्द) और आवरण (क्रिया स्पन्द) इत्यादि रूपों में वर्णन किया गया है । इसी पृष्ठभूमि पर शिवदृष्टि-शास्त्र के सातवें आह्निक में—

'परिपूर्ण चिन्मयता और अति प्रगाढ़ आनन्दमयता से भरपूर स्वरूप वाले और (इच्छा, ज्ञान और क्रिया) तीन शक्तियों को स्वरूप में ही समाये हुए पर-तत्त्व के विषय में निरन्तर अनुसन्धान करने से (शिवत्व की उपलब्धि हो जाती है) ।' इत्यादि से लेकर—

'तस्यापि शक्तिर्मृत्पिण्डघटवद्विश्वरूपताम् ।
गता..॥'

इत्यन्तं निरूप्य—

'एवमेव हि तत्तत्त्वं न संख्यातोऽतिरिक्तता ।'

इति शिवतत्त्वमेव अनन्त-विचित्र-स्वातन्त्र्यस्फार-स्फुरणशक्ति-चमत्कार-भरिततोपात्त-भैरवभावं निर्णीतम् । तत्र अयमेव उक्तक्रमः सम्प्रदाय-प्रथमाह्निकेऽपि—

'स यदास्ते चिदाह्लादमात्रानुभवतल्लयः ।
तदिच्छा तावती तावज्ज्ञानं तावत्क्रिया हि सा ॥

'उसकी [1]शक्ति ही उसी प्रकार बहिरंग विश्व का रूप धारण कर गई है, जिस प्रकार मिट्टी का गोला ही घड़े के आकार को धारण कर लेता है।'

यहाँ तक का निरूपण करने के उपरान्त—

'निश्चय से वह शिव-तत्त्व एक ही है। [2]संख्यायें जोड़ देने से उसमें कोई अतिरिक्तता (भेद, उपभेद इत्यादि) नहीं आ सकती ॥'

इन सब स्थलों पर यह निर्णय किया गया है कि मात्र शिव-तत्त्व ही अपने स्वातन्त्र्य के विस्तार को गणनातीत विचित्रताओं में विकसित करने के लिए सक्षम स्पन्द-शक्ति के अनूठेपन से भरपूर होने से ही स्वरूप में भैरव-भाव को लिए हुए वर्तमान रहनेवाला तत्त्व है। उसी 'सम्प्रदाय' अर्थात् सम्प्रदाय-ग्रन्थ शिवदृष्टि के पहले आह्निक में भी इसी उल्लिखित क्रम को—

(परिपूर्ण अन्तर्मुखीन अवस्था के सम्बन्ध में—)

'जब वे अनुत्तर-भट्टारक मात्र अपने परिपूर्ण चिदानन्दरूप की अनुभूति, अर्थात् चमत्कारिता में ही तल्लीन होकर अवस्थित रहते हैं, उस अवसर पर ([3]अभ्युपगमरूपिणी) इच्छा-शक्ति, (प्रकाशरूपिणी) ज्ञान-शक्ति और (संरम्भ-

---

१. परम-पुरुष की स्वरूपमयी शक्ति ही चार अण्डों के रूप में प्रसृत होकर विश्व बन गई है। अण्डचौके का विश्लेषण पहले प्रस्तुत किया गया है। निम्नलिखित पद्य स्मरणीय है—

'शक्त्यण्ड-मृत्पिण्डमुपाददानो मायाण्ड-चक्र-भ्रमणक्रमेण ।
मूलाण्ड-दण्डेन मुहुः करोति ब्रह्माण्ड-भाण्डं भगवान् कुलालः ॥

२. चार अंड, तीन शक्तियाँ, जाग्रत् आदि पाँच अवस्थायें, सात प्रमाता, तीन लोक, छः का आधा त्रिक इत्यादि प्रकार की संख्यायें।

३. स्वरूप में शिव-भाव का अङ्गीकार ही अभ्युपगम कहलाता है।

सुसूक्ष्मशक्तित्रितयसामरस्येन वर्तते ।
चिद्रूपाह्लादपरमो निर्विभागः परस्तदा ॥'

इति । तथा घटादिज्ञानमुद्दिश्य—

'घटादिग्रहकालेऽपि घटं जानाति सा क्रिया ।
जानाति ज्ञानमत्रैव निरिच्छोर्वेदनक्षतिः ॥
औन्मुख्याभावतस्तस्य निर्वृत्तिनिर्वृतिं विना ।
द्वेष्ये प्रवर्तते नैव न च वेत्ति विना चितिम् ॥'

रूपिणी) क्रिया-शक्ति भी 'उतने ही' अर्थात् मात्र चिदानन्दरूप में ही अवस्थित रहती है ।

उस अवसर पर वह पर-तत्त्व अति उत्कृष्ट चिदानन्द-भाव की प्रधानता में विभागहीन रूप का अंगीकार करके, तीनों शक्तियों की सूक्ष्मातिसूक्ष्म समरसीभाव की अवस्था में वर्तमान रहते हैं ।'

इस प्रकार, और—

घट आदि स्थूल पदार्थों के ज्ञान अर्थात् बहिर्मुखीन अवस्था के सम्बन्ध में—

'(वह अनुत्तर-तत्त्व लोकभूमिका पर साधारण प्राणिवर्ग के रूप में) घट, पट इत्यादि पदार्थों का क्रियात्मक रूप में आदान-प्रदान करने के अवसरों पर भी उस घट इत्यादि की जानकारी से युक्त ही होता है । उसकी ऐसी ही क्रिया-शीलता 'क्रिया' कहलाती है । उदाहरणार्थ—'जानता है' इस जानने की क्रिया में ज्ञान भी निहित ही है । इस ज्ञान के गर्भ में भी इच्छा निहित ही है, क्योंकि जिसके अन्तस् में जानने की इच्छा ही न हो वह कभी जान ही नहीं सकता ।

उस इच्छा के मूल में भी यदि [1]उन्मुखता न होती तो वह जानना ही ठप हो जाता और उसके मूल में भी यदि आनन्द का भाव न होता तो हेय को त्यागने (उपादेय को स्वीकारने) की प्रवृत्ति ही न होती । इन सब के मूल में

---

१. इच्छा का पूर्वभाग 'औन्मुख्य' या 'उन्मुखता' होती है । कोई भी क्रिया तब तक क्रियान्वित हो ही नहीं सकती, जब तक प्रमाता के मन में उस दिशा के प्रति उन्मुखता का भाव जागरूक न हो । भगवान् सोमानन्दपाद ने शिवदृष्टि में तरङ्गहीन जल के अकस्मात् तरङ्गायमान बन जाने की अवस्था का वर्णन करके इस औन्मुख्य की दशा को भली-भांति समझाया है । यह औन्मुख्य ही स्थूल बनकर इच्छा का रूप धारण कर लेता है ।

इति, तथा—

'यत इच्छति तज्ज्ञातुं कर्तुं वा सेच्छया क्रिया।
तस्याः पूर्वापरौ भागौ कल्पनीयौ पुरा हि या।
तत्कर्मनिर्वृतिप्राप्तिरौन्मुख्यं तद्विकासिता ॥'

\+ + + + + + + + + + + + +

न चौन्मुख्यप्रसङ्गेन शिवः स्थूलत्वभाक् क्वचित् ॥'

इत्यादि एतदागमसर्वस्वप्राणतयैव युक्तियुक्ततया हृदयङ्गमीकृतम्।

यदि चित्ता न होती तो यह जानने की 'क्रिया' संभव ही नहीं हो सकती[1]।'
इस प्रकार, और—

'जिस कारण से प्रमाता उस घट इत्यादि पदार्थ को जानना या करना चाहता है, उस कारण से यह जानने या करने के भाव वाली क्रिया अवश्य इच्छापूर्विका ही होती है। फलतः इस इच्छापूर्विका क्रिया के (इच्छारूपी) पूर्व भाग और (क्रियान्वयतारूपी) अपर भाग की कल्पना करना परम आवश्यक है। यह भी निश्चित है कि प्रत्येक इच्छापूर्विका क्रिया के पूर्वभाग में किये जाने वाले कार्य के प्रति आनन्दता वर्तमान रहती है, जिसको (शास्त्रीय परिभाषा में) उन्मुखता कहते हैं। वह उन्मुखता भी स्वयं अपनी पूर्ववर्तिनी चित्-रूपता की ही विकसित अवस्था होती है।'

'प्रस्तुत[2] प्रसङ्ग में उन्मुखता की चर्चा छेड़ने से इस मतिभ्रम में नहीं पड़ना चाहिये कि शिव कभी स्थूलता के भागी बन जाते हैं।'

इत्यादि सूत्रों में, इसी आगम (परात्रिंशिका) का सार एवं प्राण जैसी युक्तियों के द्वारा अच्छी प्रकार हृदयङ्गम करवाया है।

---

१. तात्पर्य यह है कि लोकभूमिका पर भी किसी भी देहधारी के द्वारा की जाने वाली किसी भी क्रिया में उसकी पूर्ववर्तिनी ज्ञानरूपता, इच्छारूपता, आनन्दता और चित्ता अवश्य ही निहित होती है। फलतः अनुत्तर-भट्टारक चाहे विश्वोत्तीर्ण अनुत्तरीय रूप में अथवा विश्वमय जीवरूप में देखे जायें, उनकी पाँचों शक्तियों की निरन्तर एवं शाश्वतिक स्फुरणा में कहीं रंचमात्र भी अवरोध नहीं दिख सकता।

२. परात्रिंशिका के छपे हुए K. S. S. संस्करण में इस सूत्रार्ध को गलती से इस से पहले की सूत्रपंक्तियों के साथ इकट्ठा रख दिया गया है। शिवदृष्टि में यह उनसे अलग है।

स एष परमेश्वरो विसृजति विश्वम्। तच्च धराविशक्त्यन्तं कादि-क्षान्त-रूपम्। एतावती विसर्गशक्तिः 'षोडशी कला'–इति गीयते—

'पुरुषे षोडशकले तामाहुरमृतां कलाम्'।

इत्येषा न साङ्ख्येया, नापि वैदान्तिकी दृक्, अपि तु शैव्येव। विसर्गशक्तिरेव च पारमेश्वरी परमानन्दभूमिबीजम्। एवं हि अकारादिरूपं घनतापत्त्या योनिरूपतां गृहीत्वा, स्वरूपाप्रच्युतं सदेव, स्वस्वरूप एव योनिरूपे सङ्क्रामद् 'विसर्गपदम्'—इत्युच्यते। यथोक्तम्—

शक्ति-विसर्ग का स्वरूप और क्रियाशीलता।

ऐसे ही शक्तिविसर्ग से ओत-प्रोत परमेश्वर (बहिरङ्ग) विश्व को स्वरूप से अलगाने के रूप में सर्जित करते हैं। वह (विश्व) तत्त्व-दृष्टि से पृथिवी से लेकर शक्ति तक अथवा वर्ण-दृष्टि से 'क' से 'क्ष' तक समझना चाहिये। इतनी सारी विसर्ग-शक्ति का (शास्त्रों में) 'सोलहवीं [1]कला' इस नाम से गान किया गया है—

'सोलह कलाओं से परिपूर्ण चिन्मय-पुरुष में 'सोलहवीं कला' को अमृत-कला कहते हैं'।

फलतः, निश्चित रूप में, यह न तो साङ्ख्य मत का और न वेदान्त मत का प्रत्युत केवल शैवमत का ही दृष्टिकोण है। यह भी निश्चित है कि परमेश्वर की विसर्ग-शक्ति[2] ही परम आनन्दमयी भूमिका का बीज है। इस प्रकार से अकार इत्यादि स्वरों के रूपवाला बीज ही सघन बन जाने से योनि (व्यञ्जन भाव) के रूप को अपनाकर, स्वरूप से च्युत न होते हुए ही, अपने स्वरूपान्तर योनिरूप में प्रतिबिम्बित होने की अवस्था में 'विसर्ग पद' इस नाम से पुकारा जाता है। जैसा कि कहा गया है—

---

१. 'अ' से 'अं' तक पन्द्रह कलाएं और 'अः' यह सोलहवीं कला—यही चिन्मय पुरुष का स्वरूप है। इस अः—रूपिणी सोलहवीं कला को विसर्गकला कहते हैं। 'क' से 'क्ष' तक के बहिर्मुखीन विश्व के प्रसार-संकोच चलते रहते हैं, परन्तु यह विसर्ग-कला सदा अपने रूप में अक्षुण्ण रहती है। आखिर विसर्गात्मकता साक्षात् शिव-भाव ही है। प्राणाभ्यास की दृष्टि से एक प्राणसंचार/अपानसंचार में १५ तुटियों की घटा-बढ़ी हो जाती हैः परन्तु सोलहवीं तुटि अक्षुण्ण रहती है। साधारण चन्द्रमा में भी १५ कलाओं की घटा-बढ़ी से एक चान्द्र-मास बन जाता है, परन्तु १६ वीं कला अक्षुण्ण रहती है। अतः यह सोलहवीं विसर्गकला वास्तव में 'अमृत-कला' है।

२. योगक्रम में विसर्ग-शक्ति से चित्-कुण्डलिनी का अभिप्राय है।

'स विसर्गो महादेवि यत्र विश्रान्तिमृच्छति ।
गुरुवक्त्रं तदेवोक्तं शक्तिचक्रं तदुच्यते ॥'

अकारस्यैव घनता 'कवर्गः'-कण्ठ्यत्वात् । इकारस्य 'चवर्गः'-तालव्यत्वात् । उकारस्य 'पवर्गः'-औष्ठ्यत्वात् । ऋकारस्य 'टवर्गः'-मूर्धन्यत्वात् । लृकारस्य 'तवर्गः'-दन्त्यत्वात् । 'य-शौ' चवर्गस्य, 'र-षौ' टवर्गस्य, 'ल-सौ' तवर्गस्य 'वकारोऽपि' तप-वर्गयोः घनता ।

'अबोधस्य, अमूर्तस्य, चिन्मात्रस्य अपि क्रियाशक्तिरूपतैव ।'

'हे महादेवी ! (स्वर-समुदाय के रूप वाला बीज) जिस बिन्दु पर आकर (अर्थात् शक्तिमयी योनिरूपता में पहुँचकर) विश्रान्ति को प्राप्त कर लेता है, उसी को 'गुरुवक्त्र[1]' अर्थात् विसर्ग पद और शक्तिचक्र भी कहा जाता है ।'

कण्ठ्य होने के कारण 'अकार' का ही सघन रूप 'कवर्ग', तालव्य होने के कारण 'इकार' का ही सघन रूप 'चवर्ग', औष्ठ्य होने के कारण 'उकार' का ही सघन रूप 'पवर्ग', मूर्धन्य होने के कारण 'ऋकार' का ही सघन रूप 'टवर्ग', और दन्त्य होने के कारण 'लृकार' का ही सघन रूप 'तवर्ग' है । 'य और श' चवर्ग के, 'र और ष' टवर्ग के, 'ल और स' तवर्ग के और 'व' तवर्ग और पवर्ग के सघन रूप हैं ।

'अबोध' अर्थात् क्रियात्मक स्वातन्त्र्य से हीन ज्ञानमयी अवस्था का परिचायक विज्ञानाकल नामी प्रमातृभाव, यद्यपि स्थूल रूप में किसी भी प्रकार के मूर्ति-वैचित्र्य से रहित और मात्र 'चित्-रूपता' अर्थात् क्रियात्मक स्पन्दन से हीन ज्ञान की अवस्था माना जाता है, परन्तु तो भी वह सूक्ष्म रूप में क्रिया-शक्ति का ही रूपान्तर[2] है ।

---

१. शक्ति शिवत्व का 'मुख' अर्थात् उसमें प्रवेश पाने का द्वार है । साक्षात् शिव-रूपी गुरु ही उस शक्ति मुख के साकार रूप हैं, जिनके परम पुनीत कृपाकटाक्ष से पशुओं का उद्धार हो जाता है । विसर्ग-शक्ति भी शक्तिरूपी मुख ही है, अतः उसको प्रस्तुत उद्धरण में 'गुरुवक्त्र' की संज्ञा दी गई है । शैवी क्रियापद्धति में गुरु की पूजा शिवलिङ्ग पर नहीं, प्रत्युत उसके नीचे प्रणाली पर की जाती है, क्योंकि प्रणाली शक्ति की परि-चायिका है और गुरुपूजा शक्ति की ही पूजा मानी जाती है ।

२. सरसरी तौर से अध्ययन करने वाले पाठक को यहाँ पर मूल-ग्रन्थ में 'अबोधस्य—क्रियाशक्तिरूपतैव' यह वाक्य बिल्कुल अप्रासङ्गिक और असम्बद्ध जैसा लगता है । परन्तु वास्तविकता तो यह है कि ग्रन्थकार को त्रिकमान्यता के विषय में संभावित शंकाओं का भी निराकरण करने के लिए यह वाक्य बीच में खोंसना पड़ा है । प्रश्न यह है कि यदि समूची प्रसार-संहार की प्रक्रिया को केवल परमेश्वर की क्रिया-शक्ति का ही विकास

सा चोक्तनीत्या शक्ति-षट्क-क्रमेणैव उपजायते। तेन पञ्च प्रसृता षड्-गुणिता त्रिंशत्, षड्भिः सह षट्त्रिंशद् भवन्ति—इति।

तदेवं शिवबीजमेव स्वातन्त्र्याद् घनीभूततया क्वचिद्वपुषि शाक्तरूपे कुसुम-

---

वह विसर्गपद पर सम्पन्न होने वाली घनता, पूर्वोक्त रीति के अनुसार, छः[1] शक्तियों के क्रम से ही उत्पन्न हो जाती है। फलतः बहिर्मुखीन प्रसार पथ पर उत्तरोत्तर आगे बढ़ती हुई पाँच[2] पारमेश्वरी शक्तियाँ छः से गुणा[3] करने पर तीस और फिर विशुद्ध रूप वाली छः[4] शक्तियों के साथ योग करने पर कुल छत्तीस शक्तियाँ बन जाती हैं।

इस प्रकार से स्वररूपी शिवबीज ही, स्वतन्त्र होने के कारण, स्वरूप में घनता को स्वीकारने के द्वारा जब किसी 'शाक्त-शरीर' अर्थात् व्यञ्जन भाव में

माना जाये तो विज्ञानाकल प्रमातृभाव का स्थान ही कहाँ रह जाता है? कारण यह है कि मायीय और कार्म इन दो मलों के पूर्ण रूप से गल जाने पर केवल निष्क्रिय ज्ञान की अवस्था में पड़ी हुई आत्मा को 'विज्ञानाकल' कहते हैं। यह पूर्ण शिवभाव की अवस्था नहीं है, क्योंकि एक तो इसमें आणवमल अभी गला नहीं होता और दूसरा इसमें क्रियाशक्तिमय स्वातन्त्र्य नहीं होता। अब यदि सारी सृष्टि प्रक्रिया केवल क्रिया-शक्ति का ही विस्तार है तो इस निष्क्रिय ज्ञान की अवस्था का अस्तित्व ही संशय में पड़ जाता है। इसी संभावित शंका का निवारण करने के लिए ग्रन्थकार ने यह बात स्पष्ट करके रखी है कि विज्ञानाकल प्रमातृभाव तथाकथित रूप में ही क्रियाहीन ज्ञान की अवस्था है। असल में इसमें भी क्रियात्मक स्पन्दन अवश्य ही वर्तमान है। इस तथ्य का स्पष्टीकरण ईश्वरप्रत्यभिज्ञा में किया गया है।

१. अनुत्तर, आनन्द, इच्छा, ईशना, उन्मेष, ऊनता = अ, आ इ, ई, उ, ऊ।

२. चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान, क्रिया—ये पांच पारमेश्वरी शक्तियां हैं।

३. चित् आदि पांच शक्तियों में से प्रत्येक के अनुत्तर इत्यादि छः छः रूप, अतः ५ × ६ = ३०।

४. स्वतन्त्र होने के कारण अनुत्तर इत्यादि छः शक्तियां, अर्थात् 'अ' से 'ऊ' तक के स्वर, जहाँ अपने में घनता का अङ्गीकार करने से व्यञ्जनरूपों में विकसित हो जाती हैं, वहाँ घनता का तिरस्कार करके अपने विशुद्ध अ, आ, इ, ई, उ, ऊ इस स्वररूप में भी अवस्थित रहती हैं। उल्लिखित तीस मिश्रित शक्तिरूपों के साथ इन विशुद्ध छः शक्तिरूपों का योग करने पर कुल संख्या ३६ बन जाती है।

तया तिष्ठत् 'योनिः'—इत्यभिधीयते । तदेव हि पुष्पं, पूर्वोक्तनयेन, ग्राह्य-ग्रहण-ग्राहक-कोणत्रयमयं, वस्तुतः प्रसूतिपदं बीजसंमिश्रतयैव भवति—तदैव पुष्परूपत्वात् । अन्यदा तु योग्यतयैव तथा व्यपदेशः । ततश्च तत् कुसुममेव त्रिकोणतया योनिरूपं, तत्स्फुटीभूत-विभक्त-ग्राह्यादिरूप,—सोम-सूर्य-अग्नि,-सृष्टिस्थिति-संहृति,-इड़ा-पिङ्गला-सुषुम्णा,-धर्म-अधर्म-शबल,—आदि कोणत्रितया पारमेश्वरी

'कुसुम' अर्थात् (शोणित) बनकर अवस्थित रहता है, तब उस रूप में उसको 'योनि'[1] कहा जाता है। निःसंदेह वह प्रमेय, प्रमाण और प्रमाता इन तीन कोणों वाला शाक्त-कुसुम ही, पूर्वोक्त रीति से, शिवात्मक बीज (शुक्र) के साथ सम्मिश्रित होने के द्वारा, वास्तव में, उत्पत्ति का स्थान (विसर्गपद) बन जाता है, क्योंकि ऐसा शाक्त-सम्पर्क हो जाने की ही मात्र अवस्था में वह 'पुष्प' अर्थात् (शोणित) का रूप धारण कर लेता है। दूसरी परिस्थिति में अर्थात् सर्वसाधारण लोक-व्यवहार में शोणित को अपनी अलग योग्यता से ही वैसा नाम दिया गया है। दूसरी अवस्था पर वह 'कुसुम' (शोणित) भी त्रिकोण होने के कारण ही योनिरूप को धारण कर रहा है। कहने का तात्पर्य यह कि इस स्तर पर बिल्कुल स्पष्ट रूपों में उभरे हुए प्रमेय, प्रमाण और प्रमाता इन तीन रूपों के क्रमशः प्रतीक बने हुए—'सोम, सूर्य, अग्नि,-सृष्टि, स्थिति, संहार,-इडा, पिङ्गला, सुषुम्णा,-धर्म-अधर्म-शबल (धर्माधर्म), इत्यादि प्रकार के तोन कोणों वाली परमेश्वर की शक्ति-भट्टारिका ही षट्[2]कोणमुद्रा के रूप में समूचे त्रिकमय विस्तार की प्रसूति का

१. भाव यह है कि तरल स्वरभाव ही सघन व्यञ्जनभाव और सघन व्यंजनभाव ही तरल स्वरभाव है। अनुत्तरीय स्तर पर बीज ही योनि और योनि ही बीज है। इन दो रूपों के पारस्परिक सम्मिश्रण से ही अनन्त प्रकार के विश्वमय वैचित्र्यों की प्रसूति हो पाती है।

२. बोजात्मक शिव-त्रिकोण और योन्यात्मक शक्ति-त्रिकोण की संघट्टमयी अवस्था को षट्काणमुद्रा कहते हैं।

षट्कोण मुद्रा



शिव त्रिकोण में प्रमेय इत्यादि तीन कोण अस्पष्ट और शक्ति त्रिकोण में स्पष्ट उभरे हुए हैं।

भैरवी-भट्टारिका-मुद्रा तद्रूपयोन्याधारतया योनिरिति निर्दिष्टा। तथा च श्री कुब्जिकामते खण्डचक्रविचारे अमुमेवार्थं प्रधानतया अधिकृत्य आदिष्टम्—

'मायोपरि महामाया त्रिकोणानन्दरूपिणी।'

इत्यादि। अत एव तथाविध-बीज-कुसुम-एकघनभाव-शिव-शक्ति-संघट्टः स्वयं स्वात्मनैव पूज्यइत्युपदिष्टं श्रीत्रिकतन्त्रसारे—

'शिव-शक्तिसमापत्त्या शिव-शक्तिघनात्मकः।
शिव-शक्तिसमापत्तित्रिकं सम्पूजयेत्परम्॥'

इति।

एवञ्च घनीभावोऽपि वैखरीरूपे यद्यपि स्फुटीभवति, तथापि सर्वसर्वात्मनि परावाग्वपुषि मुख्यतया अवतिष्ठते, तत्र परं कण्ठोष्ठ-स्थान-करणान्यपि सर्व-सर्वात्मकान्येव—इति विशेषः।

तथाहि—

"अन्तरपि संजल्पेत्, पश्येद् इति स्फुट एव अनुभवः। भेदश्च स्थानादि-

---

स्थान और आधार होने के कारण, योनिरूपिणी स्वीकारी गई है। इसी हेतु श्री कुब्जिकामत नाम वाले शास्त्र के खण्डचक्रविचार नामवाले प्रकरण में मुख्य-तया इसी आशय के उपलक्ष्य में—

'शिव-त्रिकोण और शक्ति-त्रिकोण की संघट्टमयी अवस्था की आनन्दमयता का रूप धारण करने वाली महामाया का स्थान माया-तत्त्व के उपरितनवर्ती है।' इत्यादि उपदेश दिया गया है।

इसी कारण से श्री त्रिकतन्त्रसार नामक शास्त्र में यह आदेश प्रस्तुत किया गया है कि वैसे लोकोत्तर बीज और कुसुम (शुक्रशोणित) की एकरस घनता के परिचायक शिव-शक्ति-संघट्ट की पूजा स्वयं और स्वात्मरूप में ही करनी चाहिए।

'(इच्छा-शक्ति में पाई जाने वाली) शिव-शक्ति की तरल एकाकारता का, (ज्ञान-शक्ति में पाई जानेवाली) शिव-शक्ति की सघन एकाकारता के साथ तादात्म्य को अनुभव करने वाला साधक, शिव-त्रिकोण और शक्ति-त्रिकोण के संघट्टरूप उत्कृष्ट त्रिक की पूजा करे।'

इस क्रम के अनुसार यद्यपि वर्ण-जगत् की घनता वैखरी वाणी के स्तर पर ही स्पष्ट हो जाती है, तो भी यह सर्वसर्वात्मिका परा-वाणी के स्वरूप में मुख्यतया वर्तमान ही है। भेद केवल इतना है कि उस स्तर पर कण्ठ, ओष्ठ इत्यादि उच्चारण के स्थान और इन्द्रियाँ भी सर्वसर्वात्मक ही हैं। स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

"कोई भी व्यक्ति अपने अन्तस् में बातें कर लेता है और (मनोनीत पदार्थों

कृत एव—श्रुत्येकप्राणत्वाद्वर्णानाम्। किं बहुना, बालोऽपि व्युत्पाद्यमानोऽन्तः तथारूपतया विमृशति भावजातम्। विपर्ययेण, संशयेनापि वा यावद्विमृशति तावत् संवेदयत एव, स च वाग्विमर्शकृत एव। अत एव संवार-विवार अल्प-प्राण—महाप्राणता-श्वास—नाद—अनुप्रदानादियोगोऽपि च अन्तस्तथा समुचित-स्वभावः स्यादेव। अन्यथा सस्थानेषु भेदायोगाद् अन्तर्हितकरणशक्तयोऽपि स्युरेव। 'शृणोमि, अश्रौषं', 'पश्यामि, अद्राक्षं', 'सङ्कल्पयामि, समकल्पयम्',

को) देख[1] भी लेता है, इसका स्पष्ट अनुभव तो सार्वजनिक ही है। (इस आन्तरिक अभिलाप की बाहरी अभिलाप से) भिन्नता केवल उच्चारण के स्थान इत्यादि से ही उत्पन्न हो[2] जाती हैं, कारण यह है कि (वर्णात्मकता में कोई अन्तर नहीं पड़ सकता, क्योंकि) किसी भी रूप में सुनाई देना ही वर्णात्मकता का प्राण है। अधिक क्या कहा जाए, व्युत्पन्न बनाये जाने की प्रक्रिया में से गुज़रता हुआ शिशु भी आन्तरिक अभिलाप के द्वारा ही पदार्थों का विमर्श करता रहता है। वह चाहे विपर्यय या संशय के रूप में ही विमर्श करता हो, परन्तु उस रूप में भी बोध को ही प्राप्त कर लेता है और बोध तो अभिलापात्मक [3]विमर्श से उत्पन्न हो जाता है। इसलिये आन्तरिक वाणियों के साथ भी संवार, विवार, अल्पप्राणता, महाप्राणता, श्वास, नाद, अनुप्रदान इत्यादि प्रयत्नों का योग, उन्हीं वाणियों के अनुकूल स्वभाव में होना सुनिश्चित ही है। यदि ऐसा न होता तो समस्थान वाले वर्णों में कोई भी भेद न रह जाने के कारण उनको अलग-अलग ध्वनि रूपों में उच्चारण करने वाली इन्द्रियों की शक्तियाँ भी तिरोहित ही होतीं। इसके अतिरिक्त—'मैं सुनता हूँ, मैंने सुना', 'मैं देखता हूँ, मैने देखा',

१. स्पष्ट ही प्रत्येक प्राणी के अन्तस् में सारी बहिरङ्ग इन्द्रिय ोके साक्षात् प्रतिरूप अवश्य वतमान होते हैं।

२. भिन्न-भिन्न स्वरूप वाली वाणियों के स्तरों पर उच्चारण-स्थान और इन्द्रियाँ भी उन्हीं वाणियों के अनुकूल रूप में स्पन्दायमान होती हैं, जिसके फलस्वरूप अभिलाप के रूप भी भिन्न-भिन्न ही होते हैं। उदाहरणार्थ वैखरी-वाणी के स्तर पर अभिलाप का रूप इतना स्पष्ट होता है कि दूसरे लोग भी सुन लेते हैं, परन्तु मध्यमा-वाणी के अभिलाप को व्यक्ति केवल स्वयं ही सुन पाता है।

३. यहाँ मूल 'वाक्-विमर्श' शब्द से किसी भी स्तर की वाणी के अनुकूल अभिलाप का तात्पर्य लिया जाता है। विमर्श का रूप तो प्रत्येक स्तर पर अभिलाप ही होता है। परा-वाणी के स्तर पर भी सूक्ष्मातिसूक्ष्म अभिलाप ही कार्यनिरत होता है। यदि अभिलाप न हो तो विमर्श का अस्तित्व भी लुप्त हो जाने का भय है। अतः विमर्श और अभिलाप मे चोली-दामन का वास्ता है।

इत्यादेरपि सङ्कल्पस्य अन्यथा—वैचित्र्यायोगात् । तदनया युक्त्या निभालितया अन्तरधिकमधिकम् अनुप्रविश्य परिशीलयतां संविदं, सर्वसर्वात्मक-बोधैकघन-कण्ठौष्ठादि-धाम्नि, तथाविध-बोधैकघन-विमर्शात्मक-स्वातन्त्र्यसार-महा-मन्त्ररूप-वर्णभट्टारक-निवेशः । तत्र बोधैकघनता-निर्विशेषतायाम्—'इदं स्थानम्, इदं करणम्, अयं वर्णः'—इति कथंकारं विभाग इति चेत् ? तदेव स्वातन्त्र्यं तथाविधे स्वात्मनि 'घटोऽयं, सुखमिदं, ज्ञानमिदं, ज्ञाताहम्'—इत्येवमवभासयति । तस्य एवंविध-विचित्रतर-रूपावभासने को वा कियान् वा

'मैं सङ्कल्प करता हूँ, मैंने सङ्कल्प किया[1]',—इत्यादि मानसिक सङ्कल्पों में उलट-पलट होने की संभावना होती, क्योंकि इनमें (वर्तमानकालिकता या भूत-कालिकता जैसी) विचित्रताओं का योग ही नहीं रहता। फलतः इसी युक्ति के सहारे अपने अन्तरतम की अधिकाधिक गहराइयों को नाप कर परा-संवित् का अनुशीलन करने वाले व्यक्तियों के सर्वसर्वात्मक और मात्र बोध की घनता के रूप वाले कण्ठ, होठ इत्यादि स्थानों पर ही (अर्थात् बोध की उजागरता से युक्त वैखरी-वाणी पर ही) 'वैसा' अर्थात् परा-पश्यन्ती के अनुरूप, निबिड बोध के ही रूप वाला, विमर्शमय और स्वातन्त्र्य के ही सार वाला महामन्त्ररूपी परम उत्कृष्ट वर्ण अर्थात् 'अहम्' प्रतिसमय अंकित रहता[2] है। यदि यह पूछा जाये कि जब प्रत्येक स्तर पर बोध की एकघनता में कोई अन्तर नहीं तो 'यह उच्चारण का स्थान है, यह उच्चारण की इन्द्रिय है, यह उचारा गया वर्ण है' इस प्रकार का विभाग ही कैसे आ खड़ा हुआ ? तो प्रत्युत्तर यही होगा कि वह (पर-भैरवीय) स्वातन्त्र्य तो अवर्णनीय और लोकोत्तर स्वरूप में—'यह[3] घड़ा है, यह[4] सुख है, यह[5] ज्ञान है, मैं जानने वाला[6] हूँ' इस प्रकार

---

१. यहाँ पर 'सुनता हूँ, देखता हूँ, सङ्कल्प करता हूँ'—इन प्रकार के वर्तमान सब-कालिक परामर्शों को बहिरङ्ग वैखरी—रूपी और 'सुना, देखा, सङ्कल्प किया' इन सब प्रकार के भूतकालिक परामर्शों को अन्तरङ्ग पश्यन्ती रूपी माना जाता है।

२. तात्पर्य यह कि स्वात्मनिष्ठ व्यक्ति वैखरी-भाव में रहते हुए ही परा-भाव के साथ तन्मय होते हैं। कारण यह है कि वैखरी या परा यह तो केवल कहने सुनने के लिए शाब्दिक चमत्कार ही है। वास्तव में सारी वाणियों में कोई भी स्वरूपगत भेद नहीं है, क्योंकि विमर्श में कहीं कोई अन्तर नहीं।

३. } बाहरी घट,पट आदि रूपों वाला प्रमेय-भाव।
४. } आन्तरिक सुख, दुःख आदि रूपों वाला प्रमेय-भाव।

५. प्रमाण-भाव।

६. प्रमातृ-भाव।

प्रयासः ? अत एव सर्वे पाषाण–तरु–तिर्यङ्–मनुष्य–देव–रुद्र–केवलि–मन्त्र-तदीश–तन्महेशादिका एकैव पराभट्टारिकाभूमिः सर्वसर्वात्मनैव परमेश्वर-रूपेण आस्ते–इति ।

तद्विचित्र-स्थानादि-सार्वात्म्य-विनिविष्ट-स्फुटास्फुट-व्यक्ता-व्यक्तादिरूप-शब्द-शरीरा 'मन्त्रवीर्यम्'—इति गीयते । तथाहि—

वीणा-विपञ्ची-कच्छपिका-मुरुजादिषु स एव स्वनोऽन्यतोऽन्यतो देशाद् अभ्युद्भवन् 'एकस्थान'—इति कथ्यते । एवं तार-मध्य-मन्द्रेष्वपि तत्स्थायि-स्वरैकात्म्येऽपि वाच्यम् । अत एव स एव वर्णः क्वचित् प्राणिनि स्थानान्तर-समुल्लास्यपि भवति—यथा ध्वाङ्क्षेषु 'ककार-टकार-रेफा' उच्चरन्तः सर्व एव

की विचित्रताओं को स्वयं ही प्रकाशित कर लेता है। उसको ऐसे अति अद्भुत रूपों को प्रकाशित करने में कौन सा या कितना प्रयास पड़ता है ? इसलिये पत्थर, वृक्ष, पक्षी, मनुष्य, देवता, रुद्र, विज्ञानाकल, प्रलयाकल, मन्त्र (शुद्ध-विद्या), मन्त्रेश्वर (ईश्वर), मन्त्रमहेश्वर (सदाशिव) इत्यादि जड़-जङ्गम रूपों को धारण करनेवाली, एकली पराभट्टारिकारूपिणी प्रसूति भूमि ही परमेश्वर के रूप में वर्तमान है।

अस्पष्ट वर्णों के भी मन्त्रात्मक होने का सिद्धान्त।

फलतः विचित्र आकार-प्रकारों वाले उच्चारण-स्थानों और इन्द्रियों में सर्व-सर्वात्मक भाव में ही प्रतिष्ठित रहने वाली और स्पष्ट और अस्पष्ट, प्रकट और अप्रकट शब्द-समुदाय (ध्वनि-समुदाय) के शरीर को धारण करने वाली परा-भट्टारिका ही 'मन्त्रवीर्य'–अर्थात् प्रत्येक वर्ण में निहित शक्ति कही जाती है। स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

सितार, मुरली, कच्छपिका, पखावज इत्यादि वाद्य-विशेषों में एक ही स्वर अलग-अलग स्थानों से निकल जाने पर भी 'एक-स्थानिक' ही माना जाता है। यही नियम तार, मध्य और मन्द्र इन तीनों के साथ सम्बन्ध रखने वाले एक ही स्थायी स्वर के विषय में भी लागू हो जाता है। यही कारण है कि मानव के किसी उच्चारण-स्थान से निकलने वाला वर्ण मानवेतर प्राणी में भी ठीक उसी रूप में, परन्तु दूसरे ही उच्चारण-स्थान से निकलता हुआ भी पाया जाता[1] है।

---

१. कहने का तात्पर्य यह है कि वर्ण तो मूलतः परा-रूपी होने के कारण सर्व-सर्वात्मक हैं, अतः यदि मानवों में किसी वर्ण की उद्भूति एक प्रकार के उच्चारण-स्थान से होती है तो मानवेतर प्राणियों में उसी वर्ण का निकास, उनके निजी कायिक गठन के अनुकूल दूसरे प्रकार के उच्चारण-स्थान से हो जाने पर भी उसके रूप में कोई अन्तर नहीं पड़ता।

उदर-पायु-कण्ठ-तालुनिर्वर्त्या उपलभ्यन्ते। अव्यक्तत्वेऽपि त एव तावन्तः—शब्दत्वात्, शब्दस्य च मातृकातिरेकिणोऽभावात्। 'मातृकातिरेक्यपि अव्यक्तः शब्दः, अनुपयोगान्न संगृहीतः'—इत्यप्ययुक्तम्। अव्यक्तवर्णरूपस्यापि मौरुज-सामुद्रादि-ध्वनितस्य ह्लाद-परिताप-कारित्वम् अस्त्येव—इति कः अन्योऽभिमत उपयोगः? पारमेश्वरेऽपि अव्यक्तध्वनेर्मुख्यतयैव प्रायशो मन्त्रत्वं निरूपितम्—अर्धचन्द्रादीनाम् एव मन्त्रव्याप्तिसारत्वेन अभिधानात्। तत्र च—

'निरोधिनीमनुप्राप्तः शब्दः शुमशुमायते'

इत्याद्युक्तम्। घण्टा-कांस्यादि-ध्वनीनां श्रोत्रघट्टनादीनाञ्च नादोपदेशे निरूपणात्—

'हयो हेषति यद्वच्च दान्त उद्रकतीव च।
सिंहो गर्जति यद्वच्च उष्ट्रः सीत्कुरुते यथा॥

उदाहरणार्थ यदि कौवे 'क, ट, र' इन वर्णों (ध्वनियों) का उच्चारण करने लगें तो वे सारे ही वर्ण उनके उदर, पायु, कण्ठ और तालु से निकलते हुए जान पड़ते हैं। यद्यपि उनमें (मानवों की जैसी) वर्णिकता स्पष्ट नहीं भी होती है तो भी वे उल्लिखित वर्ण ही हो सकते हैं, क्योंकि वे ध्वनियाँ हैं और मातृका के अतिरिक्त और किसी ध्वनि का सद्भाव ही नहीं है। यह कहने में—कि 'मातृका के अतिरिक्त अव्यक्त ध्वनियाँ अवश्य वर्तमान हैं, परन्तु (वर्ण-समुदाय में) उनका संग्रह केवल इसलिए नहीं किया गया है कि उनका कोई उपयोग नहीं'—भी कोई सार नहीं, क्योंकि पखावज और समुद्र इत्यादि से निकलने वाली अव्यक्त ध्वनियों से भी मानसिक आह्लाद और संताप उत्पन्न हो ही जाते हैं, तो इससे बढ़कर उनका और कौन सा मनोनीत उपयोग हो सकता है? त्रिक-शास्त्रों में भी प्रायः अव्यक्त ध्वनिरूपी वर्ण को ही, मुख्यरूप में, मन्त्र होने का श्रेय दिया गया है, क्योंकि वहाँ पर (प्रणव की अस्पष्ट ध्वनिरूपिणी) अर्धचन्द्र इत्यादि मात्राओं को ही वास्तविक मन्त्रात्मकता का सार बताया गया है। साथ ही वहाँ पर—

'निरोधिनी पर पहुँचा हुआ शब्द शूं-शूं का रूप धारण कर लेता है।'

इत्यादि कहा गया है। गुह्ययोगिनी-तन्त्र के नादोपदेश नामक प्रकरण में घण्टा और झाँझ इत्यादि से निकलने वाली ध्वनियों और कानों को पूरी तरह से बन्द कर देने पर अन्दर से सुनाई देने वाली ध्वनि का निरूपण किये जाने के हेतु—

'जिस तरह घोड़ा हिनहिनाता है; पाला हुआ साँड़ डकराता है; शेर दहाड़ता है और ऊँट सिसकारता है, उसी प्रकार की (अव्यक्त वर्णों वाली विशेष

---

१. अर्थात् जहाँ मानव के द्वारा उचारी गई 'क' ध्वनि केवल कण्ठ्य और 'ट, र' ध्वनियाँ केवल मूर्धन्य हैं, वहाँ कौवों में ये एक साथ ही चार स्थानों से निकलती हैं।

तथोदीर्य पशोः प्राणानाकर्षन्ति बलाधिकाः ।
महामन्त्रप्रयोगोऽयमसाध्याकृष्टिकर्मणि ॥'

इत्युक्तं गुह्ययोगिनीतन्त्रे । तत्रोपायमात्रमेतत् । वस्तुतस्तु 'आन्तर एवासौ नादात्मा मन्त्र'—इति कथ्यमानं भवद्भिरपि, अस्माभिरपि व्यक्तवर्णमाला-मन्त्रेष्वपि न न संचरितुं शक्यते ? तस्माद् अव्यक्तोऽपि वर्णात्मैव शब्दो, यथा विदूरंगतोऽपि घटो घट एव—इति स्थितम् । स च प्राण(पक्षि)-भेर्यादि-भेदेन स्थानान्तरम् अपि अनुसरन् स एव—इत्यपि स्थितम् । अत एव इदानीं सर्वभूत-रुतज्ञानं यच् शेषमुनिना भगवता उपदिष्टं तद् हृदयङ्गमीभूतम् । अन्यथा—शब्दार्थप्रत्ययानां य इतरेतराध्यासो यच्च ध्यान-धारणा-समाधि-संयमेन तत्र-

---

ध्वनि का उच्चारण करती हुई) अत्यन्त बलशालिनी योगिनियाँ पशुजनों के प्राणों को उखाड कर खींचने लगती हैं । वास्तव में ऐसे किसी असाध्य खींच-खाँच के काम में ऐसी अव्यक्त ध्वनियों का उच्चारण किया जाना (बल देने वाले) महान् मन्त्र का प्रयोग किया जाना ही होता है ।'

इस प्रकार की मीमांसा की गई है । यह वर्णन तो वहाँ पर केवल उपाय दिखाने के अभिप्राय से किया गया है । असल में तो 'वह मन्त्र आन्तरिक नादमय ही होता है'—और ऐसी कोई स्थिति नहीं है कि इस उक्ति को आप और हम व्यक्त वर्णों वाले मालामन्त्रों पर भी चरितार्थ न कर सकें । इसलिए अव्यक्त ध्वनि भी निश्चित रूप से वर्णात्मिका ही होती है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार कि घड़ा कहीं दूर पड़ा रहने पर भी घड़ा ही बना रहता है । यह स्थिति भी अन्यथा नहीं हो सकती कि कोई भी वर्ण प्राणों[1] के उतार-चढ़ाव (पक्षियों की अलग अलग बोलियों) अथवा ढोलक-तुरही इत्यादि की अलग-अलग डिमकार से जनित रूप भेदों में पड़ जाने से अपने निश्चित से इतर उच्चारण-स्थान का अनुसरण करने पर भी, वही वर्ण बना रहता है । इसी कारण से भगवान् पतञ्जलि का यह निर्देश कि 'योगियों को सारे जीवों की बोलियाँ समझ में आ सकती हैं'—भी इसी से भली भाँति मन में बैठता है । यदि परिस्थिति ऐसी न होती तो शब्द, अर्थ

---

१. प्रस्तुत लेखक के विचारानुसार यहाँ पर मूल-ग्रन्थ में 'प्राण-भेर्यादिभेदेन' के स्थान पर असल में 'पक्षिभेर्यादिभेदेन' रहा होगा और बाद में किसी लिपिकार की गलती से 'पक्षि' शब्द का रूपान्तर हुआ होगा । कारण यह है कि एक तो 'प्राण' शब्द की चलते हुए प्रकरण के साथ संगति नहीं बैठती और दूसरा अग्रिम 'अत एव' इत्यादि वाक्य के अर्थ को दृष्टि में रखने पर 'पक्षि' शब्द का होना युक्तियुक्त प्रतीत होता है । अस्तु, बिना किसी साक्ष्य के मूलपद के साथ छेड़छाड़ खतरे से खाली नहीं ।

विभाग-पर्यन्त-परलाभः स कथं स्फुट-वर्णरूपत्वातिरेकि-विहगादिकूजित-ज्ञानाय पर्यवस्येत् ? यदा तु त एव वर्णाः—वर्णानाम् एव परमार्थत अर्थतादात्म्यलक्षणं वाचकत्वं–तदा युक्त्या तदेव विहगादिरुतं भेर्यादिशब्दा अपि हि अर्थवन्त एव—जयाजयसूचकतयोपदेशात् विहगादिरुतवत्। एतद् अभिप्रायेणैव शिक्षा-सूत्रकार-सूत्राणि—

'ह-विसर्जनीयावुरस्यावेकेषाम्। रदनमूलावेकेषाम्।' इत्यादीनि वाचकी-भवन्ति, न तु अपरथा कथञ्चिद् अपि। अत एव किञ्चिद् वैचित्र्यम् आलम्ब्य अन्यत्वम् अन्यत्वं चाशङ्कमानैः—'विसर्जनीयाज्जिह्वामूलीयोपध्मानीयौ, अनु-नासिकेभ्यः पञ्च यमान्, डकार-ढकार-य-र-ल-व-क्षकारेभ्यः तानेव लघुप्रयत्न-

---

और प्रत्ययों का पारस्परिक अध्यास और ध्यान, धारणा एवं समाधि की नियमितता के द्वारा उनके सूक्ष्मातिसूक्ष्म विभाग की तह तक जाने वाली पर-प्रतिभा की उपलब्धि भी पक्षियों इत्यादि की स्पष्ट वार्णिकता से रहित चहक का अर्थ समझाने के लिए कैसे सक्षम होती ? फलतः जब वे अव्यक्त ध्वनियां वास्तव में वर्ण ही हैं—यथार्थ तो यह है कि अर्थों के साथ तादात्म्य रखनेवाली वाचकता (पदों के बदले) वर्णों में ही निहित रहती है—तब प्रस्तुत युक्ति के अनुसार वही पक्षियों की चहक और ढोलक इत्यादि की डिमकार भी सार्थक ध्वनियाँ ही हैं, क्योंकि जिस प्रकार पक्षियों की चहक का अवश्य कोई अर्थ होता है, उसी प्रकार ढोलक की डिमकार से भी (रणक्षेत्र में) जीत या हार का अर्थ अभिव्यक्त हो जाता है। केवल प्रस्तुत अभिप्राय के द्वारा ही शिक्षा-सूत्रकार के—

'कइयों के मत से 'ह' और 'विसर्जनीय' उरस्य[1] ध्वनियाँ हैं, कइयों के मतानुसार ये दन्त-मूलीय हैं।'

इत्यादि सूत्रों की सार्थकता सिद्ध हो सकती है और किसी प्रकार से नहीं। यही कारण है कि (मातृका-जगत् में पाई जाने वाली) इस तनिक-सी विचित्रता के आधार पर वर्णों के अन्यान्य रूपों की शंकाओं में पड़े हुए वैयाकरणों ने—

१—[2]विसर्जनीय में जिह्वामूलीय और उपध्मानीय को,

२—ङ, ञ, ण, न, म इन पाँच अनुनासिक वर्णों से इन्हीं के रूपान्तर ङुं, ञुं, णुं, नुं, मुं इन पाँच यमाक्षरों को,

---

१. व्याकरण के अनुसार कण्ठ के अधोभाग को उरस् कहते हैं और इस स्थान से निकलने वाली ध्वनियाँ उरस्य कहलाती हैं।

२. पाणिनि व्याकरण में इन सारे ध्वनिभेदों का सविस्तार ब्योरा प्रस्तुत किया गया है।

तरान्, भेदेन अभिमन्य चतुःषष्टिवर्णा उक्ताः। अन्यत्वं चात्र स्वरव्यञ्जन-योरिव ऋवर्ण-र-शब्दयोः। श्रीत्रिकरत्नकुलेऽपि उक्तम्—

'अष्टाष्टकविभेदेन मातृका या निरूपिता।
तदेव कुलचक्रं तु तेन व्याप्तमिदं जगत्॥'

३—ड, ढ, य, र, ल, व, क्ष इन सात वर्णों से इन्हीं के सात लघुप्रयत्नतर रूपान्तरों को अलग वर्ण मानकर कुल वर्णों (ध्वनियों) की संख्या चौंसठ[1] तक बढ़ा दी है। इस वर्ण विभाग में 'ऋ' और 'र' में वैसा ही भेद है, जैसा कि स्वरों और व्यञ्जनों में होता है। श्री त्रिकरत्नकुल में भी कहा गया है—

'जिस मातृका का निरूपण आठ गुणा आठ (=६४) भेदों में किया जा चुका है, उसी को कुल-चक्र (शक्ति-चक्र) समझना चाहिए। वह कुल-चक्र सारे जगत् में व्याप्त है।'

---

१ **चौंसठ वर्ण/ध्वनियां**

अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, ऌ, ॡ ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः	—अवर्ग (स्वर)	—१६
⌣ ⌣	जिह्वामूलीय उपध्मानीय	— २
क, ख, ग, घ, ङ	—कवर्ग	— ५
च, छ, ज, झ, ञ	—चवर्ग	— ५
ट, ठ, ड, ढ, ण	—टवर्ग	— ५
त, थ, द, ध, न	—तवर्ग	— ५
प, फ, ब, भ, म	—पवर्ग	— ५
ङुं, ञुं, णुं, नुं, मुं	—यमाक्षर	— ५
डँ, ढँ, यँ, रँ, लँ, वँ, क्षँ	—लघुप्रयत्नतर	— ७
य, र, ल, व,	—अन्तस्थ	— ४
श, ष, स, ह	—ऊष्म	— ४
क्ष = अनुत्तर एवं अनाहत का संघट्ट	—संयुक्ताक्षर	— १
कुल योग	—१२ वर्ग	—६४ वर्ण

लघुप्रयत्नतर ऐसी ध्वनियाँ हैं, जिनके उच्चारण में जिह्वा की नोक, नोक से थोड़ा सा पीछे का भाग, मझोला-भाग और मूल-भाग ढीले पड़ जाते हैं। तालिका में लघुप्रयत्नतर ध्वनियों को अलग करने के लिए उन पर '˘' यह कल्पित चिह्न लगाया गया है।

मातृकाज्ञानभेदे विस्तरतो निरूपितमेतत् । इह तु तत्प्रक्रियानभिनिवेशः—पूर्णैकसारत्वात् ।

तदेवं सर्वत्र अयम् ईदृशः संविदनुप्रवेशक्रमः। पदार्थः सङ्कल्प्यमानः, साक्षात्क्रियमाणो वा, अमायीय–असाङ्केतिक-स्वरूपभूत-शुद्धविमर्शात्म-परवाङ्मन्त्र-महामहसि तावत् प्रतिष्ठां भजते, यत्र सर्ववादिभिर् अविकल्पदशा गीयते। तच्च परमन्त्रमहः पृथिव्यादौ शुद्ध-व्यामिश्रादि-पारमार्थिक-बीजपिण्ड-रूप-कादि-वर्णात्मकमेव, अन्यथा मेरुबदर–जलज्वलन–भावाभाव–घटसुख-निर्विकल्पज्ञानानि-इत्येकम् एव सर्वं स्यात् । विकल्पोऽपि तत्प्रमादोत्थः तामेव सरणिम् अनुसरेत्, न तु प्रत्युत तत्स्वरूपं भिन्द्यात् । तथा च यदेव तदसाङ्केतिकं मन्त्र-

---

मातृकाज्ञानभेद नामवाले शास्त्र में इस विषय की विस्तारपूर्वक मीमांसा की गई है। प्रस्तुत ग्रन्थ में तो उस प्रक्रिया को अपनाने के प्रति कोई आग्रह नहीं है, क्योंकि यहाँ की प्रत्येक बात में मात्र पूर्णता का सार भरा हुआ है।

साङ्केतिकता के मूल में असाङ्केतिकता की स्थिति ।

फलतः जहाँ कहीं भी देखा जाये, परा-संवित्-भाव में प्रवेश पाने का यही और ऐसा ही क्रम है। मन में सोचा जानेवाला या इन्द्रियों के द्वारा साक्षात्कार किया जानेवाला प्रत्येक पदार्थ, वास्तव में, उस माया से अतिगत, साङ्केतिकता से रहित, अनुत्तरीय स्वरूप के परिचायक और शुद्ध विमर्श का रूप धारण करने वाले परा-वाणीरूपी मन्त्र अर्थात् 'अहं'–मन्त्र की चुंधियाने वाली तेजोराशि पर ही आधारित है, जिसको सारे मतवादी एकमत से निर्विकल्प दशा की संज्ञा देते हैं। वह परमन्त्रमयी तेजस्विता तो पृथिवी इत्यादि तत्त्वों में, पारमार्थिक स्तर से ही 'शुद्ध' अर्थात् सम्मिश्रण से युक्त (भेद सहित) इत्यादि विशेषताओं को साथ लिए हुए बीजों (स्वरों) और पिण्डों (व्यञ्जनों) का रूप धारण करने वाले 'क' इत्यादि वर्णों के स्वरूप में ही वर्तमान है। यदि ऐसा न होता तो 'सुमेरु (पर्वत) और बिनौला', 'पानी और आग', 'भाव और अभाव', 'घट (मूर्त प्रमेय) और सुख (अमूर्त भावनात्मक प्रमेय')', ऐसे ऐसे बाहरी सविकल्प ज्ञान-युग्मों और निर्विकल्प ज्ञान इस सारे प्रपञ्च में कोई अन्तर ही न होता। इतना ही नहीं, बल्कि निर्विकल्प भाव की विस्मृति से ही उभरने वाला विकल्प भाव भी उसी सरणि का अनुसरण करता, अर्थात् उसमें भी पारस्परिक भिन्नता

---

१. अनुत्तरीय बिम्बमयता में केवल अभेद और असङ्करता ही नहीं, बल्कि भेद और सङ्करता भी अवश्य अनुत्तरीय बिम्बरूप में ही वर्तमान है। यदि ऐसी परिस्थिति न होती तो बहिरङ्ग विश्वभाव में भेद और सङ्करता का उद्गम ही कहाँ से होता ?

वपुः, तदेव अन्योन्य-विचित्ररूपं पश्यद्भिः सर्वज्ञैः सङ्केतोपायम् उपास्यतया उपदिश्यते। तत्रैव च असाङ्केतिके वाङ्महसि तथा खलु मायीयाः सङ्केताः पतन्ति, यथा त एव अमायीय–असङ्केतित--मन्त्रतादात्म्यं प्रतिपद्यन्ते। तथा-स्वरूप-प्रतिपत्तिरेव हि तेषां वाचकताभावो नान्यः कश्चित्। अत्र स्फुटम् अभिज्ञानम् अभ्यासवशाद् असाङ्केतिकताम् आपन्ने, चिरतर-पूर्ववृत्त-गोशब्द-परामर्शः, तथैव सङ्केतकाले गोपरामर्शोऽपि अन्य-अमायीय-असाङ्केतिक-परामर्शधामनि एव निपतति। यावद् बालस्य जन्मान्तरानुसरणेऽपि चित्स्वभावस्य आदौ स्थितैव असाङ्केतिकी सत्ता—अन्यथा अनवस्थानात्। एवमेव खलु

न होती और उल्टा भेदहीन निर्विकल्प भाव के स्वरूप को कतई भेदभाव का भागी न बना देता। परिस्थिति तो यह भी है कि सर्वज्ञ महापुरुष उस साङ्केतिकता से अतिवर्ती मन्त्र-स्वरूप को ही पारस्परिक भिन्नताओं से भरी हुई साङ्केतिकता के उद्भव का भी उपाय समझने पर, उसी को उपासना का लक्ष्य बनाये जाने का उपदेश देते हैं। निश्चित रूप से सारे मायीय सङ्केत, उसी साङ्केतिकता से रहित परावाणीमयी तेजोराशि में वैसे अद्भुत प्रकार से गिर गिर पड़ते जाते हैं कि परिणामतः वे ही, मायानिरपेक्ष और साङ्केतिकता के स्पर्श मात्र से भी रहित मन्त्र-भाव के साथ तादात्म्य प्राप्त कर लेते हैं। उस प्रकार के स्वरूप को पा लेने में ही उनके वाचक होने की सार्थकता का असली रहस्य भरा पड़ा है और किसी दूसरी अवस्था में नहीं। निरन्तर अभ्यास करने से साङ्केतिकता–निरपेक्ष भूमिका में पदार्पण करने पर स्पष्ट रूप में यह प्रत्यभिज्ञा हो जाती है कि सुदूर भूतकाल में (अथवा पूर्वजन्म में) प्राप्त किया हुआ 'गाय' इस शब्द का परामर्श और आगे साक्षात् सङ्केतग्रह के अवसर पर प्राप्त किया जानेवाला मूर्तिमान् गाय का परामर्श, दोनों पर्यन्ततः किसी दूसरे ही प्रकार के, माया की परिधि से बाहर और सङ्केत-निरपेक्ष परामर्श की उच्चतर भूमिका में ही विश्रान्त हो जाते हैं। यहाँ तक कि नवजात शिशु में पहले-पहले चिन्मात्र-स्वभाव की ही प्रधानता होती है, अतः पूर्वजन्म से वर्तमान जन्म में पहुँचने पर भी उसके अन्तस् में सङ्केत-निरपेक्ष सत्ता वर्तमान ही रहती है, क्योंकि यदि वैसी परिस्थिति न होती तो उसमें साङ्केतिकता का विकास ही नहीं होने पाता। श्रीमान् उत्पल देवपाद ने अपनी ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा की टीका[1] में भी यह तथ्य स्पष्ट करके रखा है कि असाङ्केतिकता का आधार होने से ही सङ्केतों

---

१. भगवान् उत्पलदेव ने स्वरचित ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा सूत्रों पर स्वयं ही एक टीका लिखी थी। वह इस समय अप्राप्य है।

सङ्केतग्रहणोपपत्तिर् नान्यथा—इति ईश्वरप्रत्यभिज्ञा—टीकायामपि श्रीमदुत्पलदेवपादैर् निर्णीतम्। अत्र च अनुप्रवेश-युक्तिः—

'पश्यत्यन्यच्छृणोत्यन्यत्करोत्यन्यच्च जल्पति।
चिन्तयत्यन्यदाभुङ्क्ते तत्र साङ्केतिकी स्थितिः।'

इति भट्टारक-श्री श्रीकण्ठपादाः।

'मनोऽप्यन्यत्र निक्षिप्तं चक्षुरन्यत्र पतितम्' इत्यादि अपि अवोचन्।

तदपि, असाङ्केतिक-मन्त्रवपुः स्वबीजम् अनुधावद् अनुत्तरपद-पर्यवसायी भवति। तदपि अनुत्तरपदं सत्, तथाविध-अनन्तसमुदाय-वैचित्र्य-संरम्भसारं विसर्गदृष्ट्या प्रसरदेव, विसर्गस्यैव ह-कलापर्यन्ततया प्रसरात्। तस्या अपि हकारार्धाख्य-शक्तिकुण्डलिन्याः स्वरूप-अभेदात्मक-बिन्दुस्वरूप-द्वारेण अनुत्तरपद एव संक्रमात् स्वरूप एव विश्रान्तिः। एकाक्षरसंवित् किल स्वरूपत एव देश-काल-कलना-उपादानादि-नैरपेक्ष्येणैव प्रागुक्त-तत्त्वपूर्णता-नयेन झगिति

को पकड़ पाने की क्षमता उत्पन्न हो जाती है, अन्यथा नहीं। परम आदरणीय श्रीमान् श्रीकण्ठपाद ने साङ्केतिक स्थिति में अनुप्रविष्ट होने की स्थिति को समझाते हुए कहा है—

'किसी वस्तु को देखने, किसी बात को सुनने, किसी इतर काम को करने, किसी इतर बात को बोलने, किसी पदार्थ का चिन्तन करने और किसी वस्तु का उपभोग करने में ही साङ्केतिकता भरी रहती है।'

इसके अतिरिक्त उन्होंने—

'मन को एक ओर लगा लिया और आँखें दूसरी ओर दौड़ाई।'

इत्यादि भी कहा है।

अनुत्तर में ही सांकेतिकता की विश्रान्ति और विसर्गमयता का रूप

वह सांकेतिकता भी अपने ही बीजरूपी और संकेत-निरपेक्ष मंत्रभाव का निरन्तर अनुगमन करती हुई अनुत्तर-पद में ही पर्यवसित हो जाती — (संहारदृष्टि)। विसर्गदृष्टि से देखने पर विभिन्न प्रकार के अनगिनत वस्तु-वृन्दों के रूप-वैचित्र्य में प्रसृत होने के आवेग की शक्तिशालिता से भरपूर वह मौलिक सत्तारूपी अनुत्तारपद, अपने अनुत्तार-भाव पर अविचल रहते हुए ही निरन्तर प्रसरणशील है, क्योंकि विसर्ग (अः) ही ह्-कला (शाक्त-भूमिका) की अन्तिम कोटि तक प्रसार करता रहता है। त्रिक शब्दों में 'हकार का आधा' कही जानेवाली वह शक्ति-कुण्डलिनी भी, स्वरूपमय अभेदभाव को द्योतित करनेवाले बिन्दुरूपी प्रवेशद्वार से फिर अनुत्तर भाव में ही संक्रान्त होने के कारण वस्तुतः स्वरूप में ही लीन हो जाती है। 'एकाक्षर संवित्' अर्थात् संवित्-मयी अ-कला

विसर्गभूमौ धावति। विसर्गभूमिश्लेष एव आनन्द-इच्छा-ईशना-उन्मेष-तत्प्रसृति-तद्वैचित्र्य-क्रियाशक्तिमयानाम् अकारादीनां स्थितिः। स एव विसर्गः स्वसत्ता-नान्तरीयकतया एव तथैव अतिभरिततया सत्तया प्रसरन् द्रागित्येव ह-कलामयः संपद्यते। ह-कलामयतासंपत्तिरेव वस्तुतः कादि-सत्ता-अनन्त-तत्त्व-जाल-स्थितिः। ह-कलैव च पुनरपि बिन्दावनुप्रविशन्ती अनुत्तरपद एव पर्य-

का स्वरूप ही ऐसा है कि वह पहले समझाई गई प्रत्येक तत्त्व की परिपूर्णता की नीति के अनुसार, देश एवं काल की कल्पना और उपादान इत्यादि कारण-सामग्री की अपेक्षा रखने के बिना, तीव्रतम गति में, शांभव-विसर्ग की भूमिका की ओर दौड़ती रहती है। अ-कला के द्वारा विसर्ग (अः) की भूमिका का आलिङ्गन करने में ही आनन्द (आ), इच्छा (इ), ईशना (ई) उन्मेष (उ), उन्मेष के ही प्रसार अर्थात् ऊनता (ऊ) और ऊनता की ही विचित्रता को द्योतित करनेवाली क्रियाशक्ति (ऋ से लेकर औ तक के आठ स्वर) का रूप धारण करनेवाले 'आ' इत्यादि स्वरों की वर्तमानता का रहस्य भरा पड़ा है। वह [1]शांभव विसर्ग ही निजी सत्ता के साथ किसी भी व्यवधान से रहित और सर्व-भाव से परिपूर्ण 'सत्ता' अर्थात् शक्ति-विसर्ग के रूप में प्रसार करता हुआ, तीव्रतम गति में, ह-कला के साथ एकाकार हो जाता है। इस प्रकार अ-कला (अनुत्तर) के द्वारा ह-कला (शक्ति-भाव) के रूप का अङ्गीकार कर लेना ही, वास्तव में, 'क' से 'क्ष' तक की वर्णमयी सत्ताओं में निहित रहनेवाले अनगिणत तत्त्वों के जाल का अस्तित्व समझना चाहिए। वह ह-कला ही फिर बिन्दु बनकर अनुत्तर-पद में ही लीन हो जाती है। इस प्रकार से यह एकली, द्वैतहीन और परिपूर्ण रूपवाली परमेश्वरी परा-भगवती ही, उस अति उत्कृष्ट एवं अवर्णनीय 'संवेदनसत्ता' अर्थात् विमर्शमयी क्रिया-शक्ति की सत्ता के रूप में वर्तमान है और इसमें किसी भी प्रकार के कथित क्रम[2] (देश, काल और आकार का क्रम)

१. पहले कहा गया है कि विसर्ग (:) की दो बिन्दियों में से ऊपरवाली बिन्दी को शांभव-विसर्ग और नीचेवाली बिन्दी को शक्ति-विसर्ग कहते हैं। शांभव-विसर्ग से अन्तर्मुखीन संहारात्मक प्रसार, अर्थात् विश्वमयता की विश्वोत्तीर्णता में विश्रान्ति का परिचय मिलता है। शांभव-विसर्ग ही बहिर्मुखता में शक्ति-विसर्ग के रूप को धारण कर लेता है। शक्ति-विसर्ग से बहिर्मुखीन प्रसारात्मक प्रसार, अर्थात् विश्वोत्तीर्ण के ही विश्वमय बन जाने का परिचय मिलता है। विसर्गात्मक स्वभाव दोनों ही रूपों में युगपत् स्पन्दायमान है और यही पारमेश्वरी क्रिया-शक्ति का स्पन्दन भी है।

२. लौकिक क्रिया में काल-शक्ति की अपेक्षा रहने के कारण अवश्य क्रम का योग भी रहता है, परन्तु पारमेश्वरी क्रिया-शक्ति त्रिकालाबाधित होने के कारण क्रम की सीमाओं से मुक्त है।

वस्यति–इति एकैव अद्वय-परिपूर्णरूपा संवेदनसत्ता-भट्टारिका इयं परा भगवती परमेश्वरी, न त्वत्र क्रमादियोगः कश्चित् । तदेतदुच्यते–

'अ→ह→म्-इति सृष्टौ, विपर्यये तु संहृतौ म→ह→अ-इति ।'

द्वैधमपि च इयम् एकैव वस्तुतः संवित् । एवम् एष स सर्वत्र घट-सुखादि-प्रकाशेऽपि स्वात्मविश्रान्ति-सर्वस्वभूतः 'अहं-भाव.' । यथोक्तम्––

'प्रकाशस्यात्मविश्रान्तिरहंभावो हि कीर्तितः ।'

इति । स च वस्तुतः सर्वात्मकः समनन्तरनिर्णीतनीत्या--इति पराभट्टारि-कानुविद्धो भैरवात्मक एव। यथोक्तं मयैव स्तोत्रे—

'विश्वत्र भावपटले परिजृम्भमाण-
विच्छेदशून्यपरमार्थचमत्कृतिर्या ।
तां पूर्णवृत्त्यहमिति प्रथनस्वभावां
स्वात्मस्थितिं स्वरसतः प्रणमामि देवीम् ॥'

क तनिक भी मिलावट नहीं। यही भाव पारिभाषिक रूप में इस प्रकार अभि-व्यक्त किया जाता है—

'सृष्टि-मुद्रा में संवित् का रूप 'अ→ह→म्' और संहार-मुद्रा में इसका विपर्यय अर्थात् 'म→ह→अ' है।' यह दो रूपों में चलनेवाला सृष्टि-संहारात्मक स्पन्दन तो वास्तव में एक ही संवित् है। इस प्रकार से यह अहं-भाव ही प्रत्येक स्थान पर घट (बाहरी प्रमेय-पदार्थ) और सुख (भावनात्मक प्रमेय–पदार्थ) इत्यादि प्रकाशों में चमकता हुआ होने पर भी केवल आत्म-विश्रान्ति का सार-सर्वस्व बना हुआ है। जैसा कहा गया है—

'घट और सुख इत्यादि रूपों वाले प्रकाश की, स्वरूप में ही विश्रान्त होकर अवस्थित रहने की अवस्था ही 'अहं-भाव' कहलाती है।'

असल में तो वह अहंभाव, पीछे समझाई गई नीति के अनुसार सर्वसर्वात्मक होने के कारण, महामहिमशालिनी परा-शक्ति के द्वारा ओतप्रोत भैरवमय ही है। जैसा कि मैंने अपने ही एक स्तोत्र में कहा है—

'विश्व के अणु अणु में फैली हुई प्रमेय पदार्थों की राशियों के अभ्यन्तर में, जो इयत्ताओं से रहित और लोकोत्तर यथार्थ के रूपवाली आनन्दमयता विलसमान है, वह तो मेरी निजो आत्म-स्थिति ही है। केवल परिपूर्ण अहंभाव के रूप में हमेशा प्रकाशमान रहने वाली उस आत्मरूपिणी देवी को, मैं निजी रसमयता के भाव से ही प्रणाम करता हूँ।'

इति। एष एव श्रीवामनविरचिते अद्वयसंपत्तिवार्त्तिके उपदेशनयो बोद्धव्यः।

तेन स्थितमेतद्—'अकार एव सर्वाढ्यः'। यत्रापि हर्ष-घट-नीलादौ—हकाराद्या अपि वर्णाः, तत्रापि तथाविध-अनन्त-निज-पूर्वापर-वर्ण-समाक्षेप एव, अन्यथा तस्यैव हादेः समुदाय-योगान्ते परम् अनाक्षिप्यमाणत्वादेव अन्तर्निलीना विकल्पगोचरत्वम् अप्राप्ता, अत एव सर्वत्र विज्ञाने सर्वा एव देवताः सममेव समुदयं दधत्यश्चित्रां संवित्तिवृत्तिं वर्तयन्ति। तदनेनैव आशयेन कालाधिकारादौ

श्रीवामन के द्वारा विरचित अद्वय सम्पत्तिवार्तिक में वर्णन किये गये उपदेश का भी मात्र यही सार समझना चाहिये।

प्रस्तुत प्रकरण का निष्कर्ष।

इन कारणों से वस्तुस्थिति इस प्रकार है—

'मात्र अकार'[१] ही अपने आप में सर्वसम्पन्न है। इसके अतिरिक्त जहाँ हर्ष, घड़ा, नीला इत्यादि शब्दों में 'हकार' इत्यादि (भिन्न-भिन्न आकार वाले) वर्ण पाये जाते हैं, वहाँ भी उन वर्णों के द्वारा, अपने अनगिनत समकक्ष और पूर्ववर्ती एवं परवर्ती वर्णों का आक्षेप[२] ही होता रहता है। यदि ऐसी व्यवस्था न होती तो उन्हीं हकार इत्यादि वर्ण-समूहों का किसी शब्द के अन्त पर पारस्परिक मिलाप न हो जाने की दशा में पारस्परिक आक्षेप न हो जाने के कारण, 'सारी देवियां' अर्थात् वर्ण-वर्ण में निहित रहनेवाली शक्तियाँ उन वर्णों के अभ्यन्तर में ही निलीन होकर रहतीं और किसी भी मानसिक संकल्प-विकल्प के रूप में उभरती ही नहीं। फल यह होता कि प्रत्येक प्रकार के विज्ञान में वे वर्ण-शक्तियाँ (किसी व्यवस्थित क्रम के बदले) एक साथ ही उभरती हुई अजीब प्रकार के संवेदन-व्यापार (इन्द्रिय-चेतना) को जन्म देतीं। इसी आशय की पृष्ठभूमि पर,

---

१. संहार-मुद्रा में समूचा शब्द-ब्रह्म उसके स्वरूप में निहित रहता है और सृष्टि-मुद्रा में 'आ' से लेकर 'क्ष' तक की वर्णराशि (शब्द-ब्रह्म) उसी का बहिरङ्ग विस्तार है, अतः दोनों रूपों में वह सर्वसम्पन्न है।

२. मानव संवेदन की प्रक्रिया इस प्रकार से चलती रहती है कि प्रत्येक शब्द के पहले वर्ण के द्वारा अन्तिम, अन्तिम के द्वारा पहले और मध्यवर्तियों के द्वारा अपने-अपने पूर्ववर्ती और परवर्ती वर्णों का पारस्परिक आक्षेप हो जाने के रूप में ही पारस्परिक योग हो जाने से ही उस शब्द का अर्थबोध हो जाता है और मानसिक चिन्तन-मनन इत्यादि सम्भव हो जाते हैं। यदि वर्ण-शक्तियों का आपस में संवेदनात्मक योग ही न होता तो प्रत्येक वर्ण-शक्ति अलग-अलग रहती हुई ही मानस पटल पर एक साथ उभर आती या नहीं भी आती। फलतः उस स्थिति में चिन्ता-धारा अखण्ड नहीं रहने पाती।

एकस्मिन्नेव प्राणे प्राणषोडशांशेऽपि वा षष्टि-तद्द्विगुणाद्यब्दोदयपूर्वकं मातृ-रुद्र-लोकपाल-ग्रह-नागादीनाम् उदय-प्रलयाश्चित्रा निरूपिताः। तच्च चित्रानन्तोदयप्रलया एकस्मिन्नेव प्राणचारे, इति अकाल-कलितत्वमेव तत्त्वं वस्तुतः परमार्थः। यदि परम् एतावन्मात्रं मायीय–अध्यवसाय-अनध्यवसेयम्, इति नास्तिकता-अभिमानकारि, परसंविदि तु तत्कालं भासत एव। अत एव एकस्यामेव ज्ञानकलायां—'पश्यत्यन्यद्विकल्पयत्यन्यद्'—इत्याद्युपदेशेन यदुक्तं देवतात्रयाधिष्ठानं तत्सर्वत्रैव अनपायि। सर्वाण्येव च संवेदनानि वस्तुतः 'अहम्' इति परमार्थानि विमर्शमयान्येव।

तदेवं स्थितम्—एतद् विश्वम् अन्तःस्थितम्, आनन्दशक्तिभरितो वमन्

कालाधिकार इत्यादि में, (योगियों के) एक ही प्राण-संचार में अथवा एक प्राण-संचार के सोलहवें भाग अर्थात् एक तुटि में, साठ या उससे दुगुने इत्यादि वर्षों के उदय की अवधि बीतने के रहस्य को समझाने के साथ साथ ८ मातृकाओं, ११ रुद्रों, १० लोकपालों, २७ नक्षत्रों, ८ नागों एवं अन्यान्य देवताओं के भी अति अद्भुत उदय और प्रलयों का चित्रण किया गया है। फलतः एक ही प्राणसंचार में वे विचित्र प्रकार के और संख्यातीत उदय एवं प्रलय सम्पन्न हो जाने के कारण, वास्तव में, काल-कलना का अभाव ही पारमार्थिक यथार्थ है। यद्यपि ऐसी स्थिति मायीय निश्चय बुद्धि के द्वारा समझ में न आ सकने के कारण मन में नास्तिकता के अभिमान को ही उपजाती है, परन्तु पर-संवित् का साक्षात्कार हो जाने पर उस भाव में अवश्य तत्काल ही भासित हो जाती है। इसलिये—'किसी वस्तु को देखने, किसी इतर वस्तु का संकल्प करने'—इत्यादि उपरोक्त पद्य में, जो 'तीनों देवियों' अर्थात् परा (परा-वाणी), परापरा (पश्यन्ती और मध्यमा) और अपरा (वैखरी-वाणी) इन देवियों के युगपत् ही स्फुरायमाण रहने का उल्लेख किया गया है—वह तो प्रत्येक स्थान पर एक अखण्डित यथार्थ है। वास्तव में सारे संवेदन अहंभाव के ही परम अर्थ के साथ एकाकार होते हुए विमर्शमय ही हैं।

विसर्ग का विश्लेषण[1]।

अतः स्थिति इस प्रकार की है कि आनन्द-शक्ति से परिपूर्ण परमेश्वर ही

---

१. त्रिक-परिपाटी में 'विश्लेष' शब्द से प्रसारात्मक और संहारात्मक दो भिन्न सन्दर्भों में दो अर्थ लिए जाते हैं। विसर्गकला के प्रत्यावृत्त होकर फिर भी अनुत्तर-भाव में विश्रान्त होने, अर्थात् संहार के प्रसंग में 'वि=पूरा, श्लेष=मिलाप', और विसर्ग कला के स्वरूप में ही विभक्त होकर सोलहवीं या सत्रहवीं कलाओं का अलग-अलग रूप धारण करने, अर्थात् प्रसार के प्रसंग में 'वि=विगत, श्लेष=मिलाप' ये दो तात्पर्य लिए जाते हैं। दोनों का स्पष्टीकरण आचार्य ने मूलग्रन्थ में स्वयं ही किया है।

ग्रसमानश्च विसर्ग एव परमेश्वरो घनीभूय, हकारात्मतां प्रतिपद्य, अनन्त-संयोग-वैचित्र्येण 'क्ष-रूपताम्' अपि एति। स एवैष दूत्यात्मक-शाक्तयोनि-संघट्टसमुचित-वर्णात्मक-क्षोभरूप-अनाहतदशा-आश्रयणेन मध्यम-सौषुम्णपद-उच्छलत्-तत्तद्-अनन्त-भावपटलात्मा विसर्गो विश्लिष्यन्, ध्रुवधाम्नि अनुत्तर-पद एव प्रविशति—इति प्रागपि उक्तमेतत्। अमी च अकाराद्याः स्थितिमन्तः प्राणे तुटिषोडशकादिस्थित्या, एकां तुटिं सन्धीकृत्य अर्धार्धभागेन प्रलयोदययोर्

विसर्गकला के रूप में घनीभाव की ओर अग्रसर होते-होते, ह-कला के भाव का अंगीकार करके, निज-स्वरूप के गर्भ में निहित विश्व को (प्रसार रूप में) उगलता हुआ और (संहार रूप में) निगलता हुआ अनन्त प्रकार के संयोगों की विचित्रता को अपनाने के द्वारा 'क्ष' [1]इस वर्ण के रूप को भी अपना लेता है। यह चर्चा पहले भी की जा चुकी है कि 'दूती' अर्थात् चर्याक्रम में वीर के साथ सम्पर्क में आनेवाली योगिनी, की भूमिका को निभानेवाली 'शाक्तयोनि' अर्थात् क्षोभहीन व्यञ्जनों के रूपवाली योनि के साथ संघटित होने के योग्य 'वर्णात्मक क्षोभ' अर्थात् क्षोभ को उत्पन्न करनेवाले स्वर-भाव के रूप में अनाहत दशा को अपनाकर, मध्यनाडी नामवाली सुषुम्णा की भूमिका से बाहर की ओर उछलते हुए गणनातीत प्रमेय-पदार्थों की आत्मा बना हुआ वही विसर्ग, संहार की प्रक्रिया में आन्तरिक लयीभाव की ओर सरकता हुआ फिर भी अनुत्तर-पद नामवाली निश्चल-पदवी में ही लीन हो जाता है। ये अकार इत्यादि सोलह स्वर

---

१. 'क्ष-वर्ण' ककार, सकार और अकार का संयुक्त रूप होने के कारण शिव-शक्ति-संघट्ट अथवा शास्त्रीय शब्दों में अनुत्तर एवं अनाहत के संघट्ट का परिचायक कूटबीज है। तात्पर्य यह कि अनुत्तरीय 'अ-कला' की विसर्ग के रूप में सघन होती हुई 'ह-कला' अर्थात् शक्ति-भूमिका पर उतर कर 'क' बन गई है—'अकुहविसर्जनीयानां कण्ठः'। इसलिए अकार, कवर्ग, हकार और विसर्ग आपस में सस्थान हैं। विसर्ग और सकार भी आपस में भिन्न नहीं, क्योंकि 'स' तो 'विसर्ग' का ही रूपान्तर मात्र है—'विसर्जनीयस्य सः'। अ-कला तो इन दोनों वर्णों अर्थात् 'क' और 'स' में आत्मा बनकर वर्तमान ही है। फलतः 'क् + स् + अ = क्ष' इस प्रकार से यह वर्ण शिवभाव और शक्तिभाव के शाश्वतिक संघट्ट का परिचायक है। 'क्ष' अर्थात् क् + स् + अ वर्ण-राशि का अन्तिम अक्षर है, अतः स्पष्ट ही समूचा शब्द-ब्रह्म अ-कला से ही आरम्भ होकर अ-कला में ही लीन हो जाता है। इस दृष्टि से परिपूर्ण विश्ववैचित्र्य अ-कला के गर्भ में ही वर्तमान है।

बहिरपि पञ्चदश-दिनात्मक-कालरूपतां तन्वत–इति तिथयः कलाश्चोक्ताः।

एक प्राणचार में १६ [1]तुटियों के रूप में अवस्थित रहते हुए, एक तुटि के दो भाग करके पहले आधे भाग में उपरम और दूसरे आधे भाग में उदय का अन्तर्भाव[2] करके, बाहरी संसार में चलनेवाले पखवाड़े की १५ तिथियों के काल-विभाग को भी फैला देते हैं, इसलिए इनको तिथियों और कलाओं का नाम दिया गया[3] है। श्रीवाद्य-शास्त्र इत्यादि ग्रन्थों में १६वीं कला अर्थात् विसर्ग-कला

१. श्वास वायु के अन्दर से बाहर निकलने को प्राणचार और बाहर से अन्दर जाने को अपानचार कहते हैं। प्राणचार में अन्दर के जिस स्थान से प्राण का उदय होने लगता है, उसको अन्तः द्वादशान्त और बाहर जिस स्थान पर उपरम हो जाता है, उसको बाह्य द्वादशान्त कहते हैं। दूसरी ओर अपानचार के बाहरी उदय स्थान को बाह्य द्वादशान्त और अन्दर वाले उपरम स्थान को अन्तः द्वादशान्त कहते हैं। इन दो द्वादशान्तों के बीच वाले अवकाश का आयाम ३६ अगुल होता है। अंगुल का मान प्रत्येक जीवधारी के अपने ही अंगुल के अनुपात से होता है। यह अलग प्रश्न है और इसका निर्णय आगे यथास्थान स्वयं ही होगा। यहाँ पर कहना यह है कि इस ३६ अंगुलों के आयाम में सवा दो अंगुल के हिसाब से १६ तुटियाँ समाई रहती हैं। यों भी कहा जाता है कि एक स्वस्थ पुरुष के प्राणचार में जितने काल-खण्ड में प्राणवायु सवा दो अंगुल चलता है, उतने को एक तुटि कहते हैं। इन १६ तुटियों में साधारण रूप में 'अ' से 'अः' तक के १६ स्वर अवस्थित रहते हैं, परन्तु वास्तविकता तो यह है कि 'अ' से 'अं' तक की १५ तिथियों के उपरम (संहार) और उदय (प्रसार) होते रहते हैं और १६वीं विसर्ग कला स्वयं ही प्रसार-संहाररूपिणी होने के कारण सदा अक्षुण्ण रूप में ही रहती है। पहली तिथियाँ बाह्य-जगत् के एक पखवाड़े की १५ तिथियों की काल-कलना को द्योतित करती हैं। इस क्रम से प्राणाभ्यासी पुरुष के प्राणचार में कृष्ण पक्ष की १५ तिथियों और अपानचार में शुक्ल पक्ष की १५ तिथियों का अन्तर्भाव हो जाता है।

२. प्राणचार या अपानचार के उदय में आधी तुटि और उपरम में आधी तुटि का समय लग जाता है। फलतः एक पूरी तुटि में प्रलय और उदय सम्पन्न हो जाते हैं।

३. बाह्य-जगत् में भी चन्द्रमा की १६ कलाएँ होती हैं। इनमें से १५ कलाओं का घटाव-बढ़ाव होता रहता है और १६ वीं कला अक्षुण्ण रहती है। यह १६ वीं कला अमा-कहलाती है। यह एक शास्त्र एवं लोकप्रसिद्ध तथ्य है। १५ कलाओं की घटा-बढ़ी से दो पखवाड़े बनते हैं। इसी प्रकार मातृका-जगत् में भी 'अ' से 'अं' तक के १५ स्वर और १६ वें विसर्ग के सम्बन्ध में भी समझना चाहिये। विसर्ग-कला में कोई भी परिवर्तन नहीं हो सकता, क्योंकि विसर्गमयता ही वास्तविक अनुत्तरता है।

षोडश्येव च कला विसर्गात्मा विश्लिष्यन्ती, सप्तदशी कला श्रीवाद्यादिशास्त्रेषु निरूपिता—

'सा तु सप्तदशी देवी हकारार्धार्धरूपिणी ।'

इति विसर्गस्य हकारार्धत्वात् ततोऽपि विश्लेषस्यार्धत्वाद्—इति ।

निरवयवस्य एकवर्णस्य कथम् एषा विकल्पना–इति चेत् ?, अस्मत्पक्षे

अथवा दूसरे शब्दों में अमा-कला को ही 'विसर्गात्मिका कला' अर्थात् प्रसार करने की शक्ति से भरपूर होने के कारण अपने आप में ही दो भागों में बँट[1] जाने की दशा में १६वीं की अनन्तरवर्तिनी १७वीं कला के रूप में निरूपण किया गया है—

'([2]वह १६वीं कला ही) हकार के आधे = विसर्ग (:) का आधा = बिन्दु (˙) इस रूप का अङ्गीकार कर लेने पर १७वीं देवी अर्थात् कला समझनी चाहिए ।'

विसर्ग (:) हकार का आधा और उसका 'विश्लेषण' अर्थात् बँटा हुआ भाग बिन्दु (˙) उसका (हकार के आधे का आधा) होने के कारण (१६वीं कला ही अपने में बँट कर १७वीं भी बन जाती है) ।

सावयवता में निरवयवता और निरवयवता में ही सावयवता ।

यदि यह पूछा जाये कि 'एकवर्ण' अर्थात् अकार तो अनुत्तर होने के कारण

---

१. विसर्ग-कला अपनी पूर्ववर्तिनी १५ कलाओं के उपरम-उदयरूपी प्रसार की प्रक्रिया में युगपत् ही निरत और विरत भी रहती है । इसी कारण से यह दो भागों में विभक्त होकर १६ वीं और १७ वीं कलाओं का रूप धारण करती है । विसर्ग-कला की यह विभाग-कल्पना जीवबुद्धि की अपेक्षा से मात्र औपचारिक समझनी चाहिए, क्योंकि अनुत्तरीय विमर्शमयी क्रियात्मकता का वास्तविक स्वरूप तो साधारण बुद्धि से नहीं, अपितु आत्मिक अनुभूति से ही गम्य है ।

२. जब विसर्गकला सृष्टि-प्रक्रिया में निरत हो तब विसर्ग (:), और जब विरत हो तब बिन्दु (˙) कहलाती है । बिन्दुकला को पारिभाषिक शब्दों में हकार के आधे का आधा कहते हैं । इस बात का पहले भी उल्लेख हो चुका है कि विसर्ग (:) और बिन्दु (˙) दोनों को त्रिक-परिप्रेक्ष्य में विसर्ग ही कहते हैं, क्योंकि संहार-दशा में विसर्ग ही बिन्दु और प्रसार-दशा में बिन्दु ही विसर्ग है । विसर्ग-बिन्दु कला तो प्रत्येक अवस्था में शाश्वत एवं अनपायिनी है ।

सर्वमेव अनवयवं चिन्मयैक-अवभासन-अनतिरेकात्। यथा च स्वातन्त्र्यादेव अवयव-अवभासेऽपि अनवयवता एव अनपायिनी, तथा इहापि अस्तु, को विरोधः ? एवमेव वर्णोपपत्तिः। अपरथा दन्त्य-ओष्ठ्य-कण्ठ्य-तालव्यादि-वर्णेषु

अवयवों से रहित है, अतः इसमें १६ वीं और १७ वीं कलाओं के रूप में सावयव होने की कल्पना कैसे संभव हो सकती है ? प्रत्युत्तर में हमारा दावा यह है कि हमारे मत में प्रत्येक पदार्थ मूलतः निरवयव ही है, क्योंकि मात्र चिन्मयता के अतिरिक्त और कोई प्रकाशमानता अनुभव में आती ही नहीं। जिस प्रकार स्वभावसिद्ध स्वातन्त्र्य से ही सावयवता की भासमानता में निरवयवता ही एक अविनश्वर तत्त्व है, उसीप्रकार प्रस्तुत अ-कला के सन्दर्भ में भी स्वीकारने में कौन सा विरोध है ? सावयवता में निरवयवता की भासमानता से ही वर्णमाला का विकास हो जाता[1] है। यदि यह परिस्थिति न होती तो उच्चारण करने की

---

१. इस परिप्रेक्ष्य में ग्रन्थकार यह तर्क प्रस्तुत कर रहे हैं कि शब्दों का उच्चारण करते समय बाहर की ओर प्रबल वेग में सरकता हुआ पवन मूलतः निरवयव ही होता है। केवल एक शब्द में वर्तमान रहनेवाली अनेक ध्वनियों के उच्चारण-काल का विषय बन जाने पर, निश्चित क्रम के अनुसार भिन्न भिन्न उच्चारण-स्थानों के साथ टकराता हुआ भिन्न भिन्न ध्वनियों को विकसित कर देता है। इस रूप में वह निरवयव होने पर भी सावयव बन जाता हैं। निरवयव पवन के सावयव बन जाने से ही भिन्न भिन्न वर्णात्मक ध्वनिसमुदाय उत्पन्न हो जाता है। यदि उच्चारण की प्रक्रिया में बाहर की ओर सरकता हुआ आघातक पवन निरवयवता में ही सावयव न होता तो दो बाधायें उपस्थित हो जाती। एक तो यह कि वह पवन एक ही शब्द में वर्तमान रहने वाली विभिन्न ध्वनियों को विकसित करने के लिए विभिन्न उच्चारण-स्थानों के साथ टकराने ही नहीं पाता और फलतः ध्वनियों का विकास ही नहीं होने पाता। उदाहरणार्थ 'दबकिया' जैसे शब्द के उच्चारण में आघातक पवन क्रमशः दंत्य 'द', ओष्ठ्य 'ब', कण्ठ्य 'क' और तालव्य 'य' को विकसित करने के लिए पहले दन्त, अनन्तर ओष्ठ, अनन्तर कण्ठ और अनन्तर तालु से कैसे टकराता ? दूसरी यह कि निरवयवता की दशा में आघातक पवन सारे उच्चारण-स्थानों के साथ एक साथ ही टकराता और फलतः क्रमिक आघात के अभाव में सारे उच्चारण-स्थानों से ध्वनि का एक ही रूप उत्पन्न हो जाता। इस तरह शब्दों का उच्चारण ही ठप हो जाने पर सारे आदान-प्रदान ही स्थगित हो जाते। परन्तु स्थिति तो वैसी नहीं है, अतः स्पष्ट रूप में निरवयवता में सावयवता भी निहित ही है और सावयवता में ही निरवयवता भी प्रकाशमान है।

क्रमप्रसारी पवन आघातकः कथं कण्ठं हत्वा तालु आहन्ति—इति युगपद् आपूरकत्वेऽपि समानकालता स्यात् । यत् कण्ठघातोत्थं रूपं तत्तु ताल्वाहतिजं सर्वत्र संभवति । श्वास-नादयोश्च पश्चात् प्रतीयमानतया 'अनुप्रदानत्वम्' उच्यते । द्विमात्र-त्रिमात्रेषु च द्विकादियोगो गर्भीकृत-एक-द्वयादिरेव । तथैव मात्रकेऽपि अर्धमात्रावियोगः संवेद्यः । यथोक्तं भट्टनारायणेन—

'प्रणवोर्ध्वार्धमात्रातोऽप्यणवे महते पुनः' ।

इति । इह तु पञ्चाशद्वर्णा विश्वमपि वा अक्रमम् एव । क्वचित्तु मतादिशास्त्रेषु विसर्ग-विश्लेषस्यैव अनुत्तरपद-सत्तावलम्बनेन 'अष्टादशी कला'—इत्यभ्युपगमः ।

वेला पर अन्दर से बाहर की ओर सरकने वाला आघातक पवन, निश्चित क्रम के अनुसार, दन्त्य, ओष्ठ्य, कण्ठ्य और तालव्य वर्णों के रूप में प्रसार करता हुआ, कण्ठ का आघात करने के उपरान्त तालु का आघात कैसे करे लेता ? यदि युगपत् ही सारे स्थानों में फैल जाता तो सारी ध्वनियों के उच्चारण में समकालीनता उत्पन्न हो जाती और परिणामतः प्रत्येक स्थान पर कण्ठ के आघात से ध्वनि का जैसा रूप उत्पन्न हो जाता है, वैसा ही तालु के आघात से भी उत्पन्न हो जाता । श्वास और नाद प्रयत्नों वाली ध्वनियों में उच्चारण किये जाने के उपरान्त जो अनुरणनात्मकता अनुभव में आती है, उसको 'अनुप्रदान' कहते हैं । दो मात्राओं और तीन मात्राओं वाले अर्थात् दीर्घ और प्लुत स्वरों में क्रमशः एक एक और दो दो मात्राओं के निहित रहने से ही द्विमात्रकता और त्रिमात्रकता उत्पन्न हो जाती है । इसी प्रकार एक मात्रा वाले अर्थात् ह्रस्व स्वरों के गर्भ में भी आधी आधी मात्रा की निहितता समझनी चाहिये । जैसा कि श्री भट्टनारायण ने कहा है—

'ओं-कार के ऊपर वर्तमान रहनेवाली आधी मात्रा (बिन्दु) से भी अणुतर और दूसरी ओर (ब्रह्माण्ड) से भी महत्तर रूप धारण करनेवाले (स्वामी को प्रणाम हो) ।'

प्रस्तुत त्रिक-शास्त्र में तो पचासों वर्णों का प्रपञ्च, अथवा दूसरे शब्दों में समूचा विश्व क्रमहीन और 'एक' अर्थात् निरवयव ही है । किन्हीं मत इत्यादि शास्त्रों में तो 'विसर्ग के विश्लेष' अर्थात् दूसरे बिन्दुरूपी आधे भाग के द्वारा, अनुत्तर-पद नामी शाश्वतिक सत्ता का आश्रय लेने की दशा में 'अठारहवीं कला' का उल्लेख भी पाया जाता है[1] ।

---

१. उनके मतानुसार यदि बिन्दुरूपिणी १७वीं कला भी स्वभाव न रहकर वेद्य बन जाये तो वह भी अपने में बंट कर १८वीं कला बन जाती है । असल में जहाँ वेद्यता पूर्णरूप से गलकर स्वभाव बन जाये, वही वास्तविक बिन्दुकला समझनी चाहिये ।

तदेवम् एताः कला एव ह्लादनामात्र-चित्तवृत्ति-अनुभावकाः 'स्वरा'— इत्युक्ताः—

१—"स्वरयन्ति = शब्दयन्ति; सूचयन्ति चित्तम्,—

२—स्वं च स्वरूपम् = आत्मानं, रान्ति = एवं परप्रमातरि सङ्क्रामयन्तो ददति,—

३—स्वं च = आत्मीयं कादियोनिरूपं, रान्ति = बहिः प्रकाशयन्तो ददति इति स्वराः" ।

स्वरों की स्वरता का पर्यालोचन

इस तरह ये [1]कलाएँ अर्थात् अनुत्तरीय अकार इत्यादि परामर्श ही केवल आनन्दमयी चित्तवृत्ति को अभिव्यक्त करने के हेतु 'स्वर' कहलाती हैं। 'स्वर'[2] वे हैं, जो—

१—स्वरता या शब्दन का आचरण करते हैं, अर्थात् आह्लादमयी वृत्ति से परिपूर्ण चित्त को सूचित करते हैं,—

२—(संहार दशा में) अपने स्वरूप को पर-प्रमाता में सङ्क्रान्त करते हुए, अपना सर्वस्व उसी को देते हैं, अर्थात् पूर्णरूप से अनुत्तर पद में ही लीन हो जाते हैं,—

३—(प्रसार दशा में) अपने स्वरूप से बिल्कुल अभिन्न 'ककार' इत्यादि योनिवर्णों (व्यञ्जनों) के रूप को प्रकाशित करते हुए 'देते हैं', अर्थात् जगत् को अर्पित करते हैं।

---

१. अकार इत्यादि परामर्श जब तक बाहरी ध्वनिरूप पर न पहुँच कर आन्तरिक परामर्श के ही रूप में वर्तमान हों तब तक कला कहलाते हैं। जब बाहरी ध्वनियों का रूप धारण करके मन को आनन्दात्मिका वृत्ति को अभिव्यक्त करने लगते हैं, तब स्वर कहलाते हैं।

२. 'स्वर' शब्द की व्युत्पत्ति शब्दार्थक 'स्वृ' धातु और दानार्थक 'रा' धातु के मेल से हुई है। त्रिक-सन्दर्भ में शब्दन से सूचित किये जाने का तात्पर्य लिया जाता है। इसके अनुसार स्वर हमेशा मन की आनन्दमयी वृत्ति को सूचित अर्थात् अभिव्यक्त करते हैं। दान से दिये जाने का तात्पर्य लेकर यह अर्थ लगाया जाता है कि संहार दशा में स्वर अपना सर्वस्व पर-प्रमातृभाव को ही अर्पित कर लेते हैं और प्रसार दशा में अपना ही स्थूल रूपान्तर—'ककार' इत्यादि व्यञ्जनों का समुदाय—जगत् को दे देते हैं।

एत एव हि चित्तवृत्तिसूचकाः, नादात्मकाः, करुण-शृङ्गार-शान्तादिकां चित्तवृत्तिम्, आक्रन्दन-चाटुक-स्तुत्यादौ, केवला वा योनिवर्णनिविष्टा वा, तिर्यक्तदहर्जातादिष्वपि प्रथमत एवापतन्तः, सङ्केतविघ्नादिनैरपेक्ष्येणैव संविदासन्नवर्तित्वात्, स्वर-काक्वादिरूपताम् अश्नुवानाः प्रकाशयन्ति—इत्यर्थधर्मा उदात्तादय उपदिष्टाः, तेषामेव चित्तवृत्त्यनुभावकषड्जादिस्वरूपत्वात्।

एवं सर्वत्र संवेदने, सर्वा एव एता वैचित्र्यचर्याचारचातुराः शक्तय आदिक्षान्ताः समापतन्त्योऽहमहमिकया, अक्रममेव भासमानाः, कलनामयतया मूर्ति-

---

मन की आनन्दमयी वृत्ति को सूचित करने वाले, नादमय, पशु-पक्षियों और एक दो दिन में जन्मे शिशुओं में भी उनके संवित्-भाव के निकटतरवर्ती होने के कारण साङ्केतिकता जैसी बाधाओं की अपेक्षा के बिना—मौलिक अनुत्तर-पद से ही सीधा अवतरित होते हुए और काकु इत्यादि रूपों को धारण करनेवाले ये स्वर ही अपने विशुद्ध स्वर रूप में या व्यञ्जनों में अनुप्रविष्ट होकर, करुण, शृङ्गार और शान्त इत्यादि रसों के रूपवाली चित्तवृत्ति को क्रमशः रोने-कलपने, चाटुकारिता और स्तुति इत्यादि रूपों में प्रकाशित करते हैं। इस प्रकार के प्रयोजन को सिद्ध करने के गुणवाले होने से इनको उदात्त इत्यादि नाम दिये गये हैं, क्योंकि ये उदात्त, अनुदात्त और स्वरित ही, चित्तवृत्तियों का अनुभव कराने वाले [1]षड्ज आदि स्वरों के मौलिक स्वरूप हैं।

इस प्रकार से प्रत्येक (घट, पट इत्यादि रूपों वाले) संवेदनों में, अत्यन्त विस्मयावह क्रियात्मकता को सम्पन्न करने में पटु, निज निज रूप की समान

---

१. प्रकृति का सूक्ष्म निरीक्षण करनेवाले विवेकी व्यक्तियों ने मानवेतर प्राणियों की विभिन्न बोलियों में भी षड्ज इत्यादि स्वरों की वर्तमानता का पता लगाया है। ये प्राणी भी इन्हीं षड्ज इत्यादि स्वरों के रूपवाली बोलियों में अपने मन की आह्लादमयी वृत्ति को अभिव्यक्त करते हैं। इस सन्दर्भ में निम्नलिखित पद्य ध्यान में रखने के योग्य है—

षड्जं रौति मयूरस्तु गावो नन्दन्ति चर्षभम्।
आजाविकौ तु गाधारं क्रौञ्चो नदति मध्यमम्॥
पुष्पसाधारणे काले कोकिलो रौति पञ्चमम्।
अश्वस्तु धैवत इति निषादं रौति कुञ्जरः॥

क्रमसङ्क्रमणमेव दिश्यमानं देशम् उत्थापयन्ति—अन्यथा मेरुपरमाण्वोरविशेषात्। गर्भीकृत-देशात्मक-वैचित्र्यं क्रिया-वैचित्र्यात्मकं क्रमरूपञ्च कालम् अन्तर्बहिर् योजनया उल्लासयन्त्यः—

(सूत्रवाक्य १)—स्वात्मनि युञ्जानत्वेन ग्रसमानाः,—

(सूत्रवाक्य २)—प्रोल्लाससमये रिक्तरूततया उद्योग-अवभास-चर्वणविलापनरूपेण, द्वादशात्मिकां कृशरूपताम् आश्रयन्त्यः,—

प्रभावशालिता के अहंभाव[1] में बाहर की ओर सरकती हुई और मूलतः केवल क्रमहीन रूप में प्रकाशमान रहनेवाली ये सारी 'अ' से 'क्ष' तक की वर्ण-शक्तियाँ, निजी सर्जनात्मक स्वभाव के द्वारा ऐसे देश-क्रम को उभाड़ती हैं, जो कि अपने (देश-क्रम[2] के) रूप में वस्तुतः मूर्ति-क्रम की ही झलक दिखा रहा है, क्योंकि यदि ऐसा न होता तो सुमेरु और परमाणु में कोई आकारगत अन्तर ही न होता।

मातृका के सन्दर्भ में सृष्टि का रूप।

(ये वर्ण-शक्तियाँ) अपने अन्दर देश-क्रम की विचित्रता को ढोनेवाली क्रियामयी विचित्रता के आकारवाले और सक्रमता के परिचायक [3]काल-क्रम को 'अन्दर' अर्थात् प्राण-चार में और 'बाहर' अर्थात् साधारण समय के रूप में संगत करने के द्वारा विकास में लाती हुई—

अभ्यन्तरीकरण (पूर्णता) की प्रक्रिया में

(सूत्रवाक्य १)—

निजस्वरूप में लय करने के द्वारा (समूचे पदार्थ-समुदाय का) ग्रास करती हुई,—

१. यहाँ पर मूल-ग्रन्थ में 'अहमहमिका=पहले मैं' शब्द का प्रयोग किया गया है। इसका अनुवाद अमरकोश में बताये गये—'अहमहमिका तु सा स्यात्परस्परं यो भवत्यहंकारः' इस अर्थ के अनुसार किया गया है।

२. शैव-मान्यता के अनुसार मूर्ति-क्रम से ही देश-क्रम का उत्थान होता है, अतः देश-क्रम में मूर्ति-क्रम निहित ही होता है। इसके अतिरिक्त मूर्ति-क्रम ही छोटे को छोटा और बड़े को बड़ा बना देता है, अर्थात् अगणित आकारों को जन्म देता है। यदि मूर्ति-क्रम न होता तो सुमेरु और परमाणु के आकार में कोई अन्तर नहीं होता।

३. क्रियात्मक वैचित्र्य से काल-क्रम विकसित होता है, परन्तु उस क्रिया-वैचित्र्य के गर्भ में देश-क्रम निहित होता है। इस प्रकार से ये तीनों प्रकार के क्रम—देश-क्रम, काल-क्रम और आकार-क्रम, वास्तव में शक्ति-स्वातन्त्र्य की प्रकाशमानता ही हैं। ईश्वरप्रत्यभिज्ञा में भी इस प्रकार उल्लेख किया गया है—

'मूर्तिवैचित्र्यतो देशक्रममाभासयत्यसौ।
क्रियावैचित्र्यनिर्भासात् कालक्रममपीश्वरः॥'

(सूत्रवाक्य १ का तात्पर्यवाक्य)—तद्गृहीत-प्रमितिगत-उद्योगादिकला-चतुष्टय-परिपूर्णतयापि अङ्कुरीभूय, सालसं, षोडशात्मक-भरितपूर्णरूपतया प्रविश्यन्त्योऽन्तः,—

(सूत्रवाक्य १ का तात्पर्यवाक्य)—

उद्योग, अवभास, चर्वण और विलापन[1] इन चार कलाओं को केवल प्रमिति-कला के द्वारा ग्रहण किये जाने पर, इनके भी विशुद्ध प्रमितिभाव में ही

---

१. अनुत्तर-तत्त्व अपने स्वातन्त्र्य से निजी प्रकाशरूप को गौण बनाकर और संकुचित प्रमातृ-भाव, प्रमाण-भाव और प्रमेय-भाव का अङ्गीकार करके प्रमेय विश्व का अवभासन स्वरूप से इतर बहिरङ्ग रूप में कर लेता है। इस अवभासन के चार सोपान हैं—(१) अर्थों को बहिरङ्ग रूप में अवभासित करने की इच्छा, (२) नीलरूपी और सुखरूपी प्रमेय-समुदाय को बहिरङ्ग रूप में अवभासित करना, (३) बहिरङ्ग रूप में स्थिति देकर कुछ समय तक अहंरूप में इस स्वरूप-विस्तार का आस्वाद लेना और (४) आस्वादन के उपरान्त सन्तोष प्राप्त करने पर इस सारे विस्तार को फिर स्वरूप में ही संहृत कर लेना। लोक-भूमिका पर भी प्रत्येक प्राणी के हरेक व्यवहार में भी ये चार अवस्थायें चलती ही रहती हैं। उदाहरणार्थ—(१) घट को देखने की इच्छा, (२) घट का साक्षात्कार, (३) कुछ समय तक—'ऐसा है वैसा है,'—इस प्रकार अहंरूप में घट को जानते रहना और (४) भली-भांति जानने के उपरान्त संतुष्ट हो जाने पर उस घट-संवेदन को स्वरूप में ही लीन करके उससे निवृत्त हो जाना। इन्हीं चार स्तरों को शास्त्रीय शब्दों में क्रमशः उद्योग-कला, अवभास-कला, चर्वण-कला और विलापन-कला कहते हैं।

जब ये चारों कलाएँ संकुचित प्रमातृभाव, प्रमाणभाव, प्रमेयभाव और प्रमेय की उपाधि से ग्रस्त प्रमितिभाव को छूने के बिना, प्रमेय की उपाधि से रहित विशुद्ध प्रमिति के रूप में ही अवस्थित हों तो वही भगवती परा-शक्ति का १७ कलाओं वाला परिपूर्ण रूप है। इस रूप में परिपूर्ण प्रमिति-कला के गर्भ में, प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय और मेय की उपाधि से ग्रस्त प्रमिति इन चार में से प्रत्येक के उद्योग, अवभास, चर्वण और विलापन ये चार-चार रूप (अर्थात् कुल मिलाकर = ४ × ४ = १६) उस विशुद्ध प्रमितिरूप में ही अवस्थित रहते हैं। अतः यह, परिपूर्ण प्रमिति की अपनी १ और गर्भ में निहित रहनेवाली इन्ही १६ अर्थात् कुल मिलाकर कर १७ कलाओं वाला परिपूर्ण रूप है। स्वातन्त्र्य शक्ति इत्यादि इसी रूप के नामान्तर हैं और यही भगवान् शंकर का प्रचण्ड तेजोराशि से परिपूर्ण तीसरा भाल-नेत्र है। परिपूर्ण प्रमिति-भाव होने के कारण यह रूप संहारमुद्रा का परिचायक है।

अवस्थित रहने के रूपवाली परिपूर्णता में अंकुरित होकर, शनैः शनैः सोलह[1] प्रकार के प्रपञ्च में गर्भित परिपूर्ण स्वरूप के द्वारा अनुत्तरपद में प्रवेश करती हुई,—

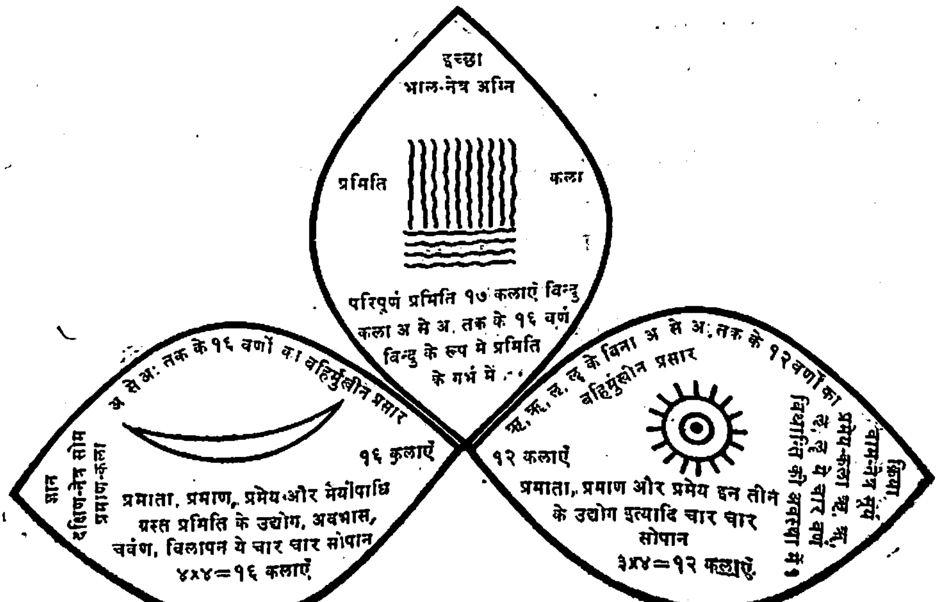
बहिष्करण (कृशता) की प्रक्रिया में।

(सूत्रवाक्य २)—

विश्व का बहिर्मुखीन उल्लास करने की वेला पर 'रिक्त' अर्थात् अपूर्ण रूप में, उद्योग, अवभास, चर्वण और विलापन इन चार स्तरों पर सम्पन्न हो जानेवाली बारह प्रकार की क्षीणता का अङ्गीकार करती हुई,—

१. यह तो भगवती का वही १६ कलाओं वाला रूप है, जो कि १७वीं परिपूर्ण प्रमिति के गर्भ में प्रमितिरूप में ही वर्तमान रहता है। इसमें परिपूर्ण प्रमिति की १ कला अन्तर्भूत नहीं है, अर्थात् यह संकुचित प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय और मेय की उपाधि से ग्रस्त प्रमिति इन चार में से प्रत्येक के उद्योग, अवभास, चर्वण और विलापन इन चार-चार अर्थात् ४ × ४ = १६ कलाओं वाला रूप है। यह भगवान् शंकर का दायां सोमनेत्र है। दूसरे शब्दों में इसको प्रमाणभाव कहते हैं और प्रसारमुद्रा का परिचायक है।

अनुत्तरीय नेत्रत्रय



'सप्तदश भालनेत्रे द्वादश षोडश चान्यनेत्रयोः।'

(महार्थ मञ्जरी)

(सूत्रवाक्य २ का तात्पर्यवाक्य)—बहिश्च तद् अमृतानन्दविश्रान्तिरूपं चमत्कारसत्तासार-कलाचतुष्कं विसृजन्त्यः,–

एवंविधामेव पूर्ण-कृशात्मक-दोलालीलां निर्विशमानाः, सोम-सूर्य-कलाजाल-ग्रसन-वमन-चतुरा 'अकारम् एव आदितया, मध्ये च कादि-योनिजातम्, अवसाने च बिन्दुं दधती 'अहम्'–इत्येवैष भगवती सृष्टिः। तदुक्तं श्रीसोमानन्द-पादैर्निजविवृतौ–

(सूत्रवाक्य २ का तात्पर्यवाक्य)—

'अमृत आनन्द' अर्थात् ऋ, ॠ, ऌ, ॡ इन चार अमृतवर्णों के द्वारा द्योतित होनेवाले अविनश्वर स्वरूप-आनन्द में विश्रान्त होकर अवस्थित रहने की अवस्था का रूप धारण करनेवाली और 'चमत्कार' अर्थात् 'अहंभाव'-रूपिणी सत्ता के ही सारवाली इन उद्योग इत्यादि चार कलाओं का (संकुचित प्रमाता, प्रमाण एवं प्रमेय इन तीन रूपों में) बहिर्मुखीन प्रसार करती[1] हुई,—

इसी रूप में पूर्ण[2] एवं कृश इन दो प्रकार के (अन्तर्मुखीन एवं बहिर्मुखीन) प्रसार के झूले पर झूलते रहने की लीला में निरत रहने वाली, 'सोम' अर्थात् प्रमाण-जगत् और 'सूर्य' अर्थात् प्रमेय-जगत् की क्रमशः सोलह और बारह कलाओं के जाल का ग्रास और वमन (संहार-प्रसार) करने में पटु और आदि कोटि पर अ-बीज, मध्यकोटि पर 'क' से 'क्ष' तक के योनिवर्णों के समुदाय अर्थात् 'ह्-कला' और अन्तकोटि पर बिन्दु को धारण करके 'अहम्' इसी प्रत्याहार रूप में वर्तमान रहने वाली भगवती मातृका (अ से क्ष तक की शक्तिरूपिणी वर्णराशि) ही सृष्टिदेवी है। इस सन्दर्भ में श्रीसोमानन्द पाद ने अपनी विवृति में इस प्रकार की मीमांसा प्रस्तुत की है—

१. विशुद्ध प्रमिति-कला स्वरूप-विश्रान्ति की अवस्था है। जहाँ तक बहिरङ्ग प्रमेय-जगत् का सम्बन्ध है, उसमें कहीं पर भी विश्राम का नामो-निशान है ही नहीं, अतः इसमें प्रमिति-कला की उद्योग इत्यादि चार कलाओं का उदय ही नहीं होने पाता। फलतः प्रमेय-भाव भगवती का बारह कलाओं वाला अपूर्ण रूप है। यह भगवान् चन्द्र-मौलि का बायां सूर्यनेत्र है। पूर्ण प्रमेयभाव होने के कारण इसमें ऋ, ॠ, ऌ, ॡ इन चार अमृतवर्णों के द्वारा द्योतित होनेवाली विश्रन्ति के लिए कोई स्थान नहीं, अतः यह इन चार वर्णों को छोड़ कर शेष बारह स्वरों (कलाओं) के प्रसार की अवस्था माना जाता है। सूत्रवाक्य २ के तात्पर्यवाक्य में उल्लिखित 'अमृत-आनन्द' शब्द कूटरूप में ऋ, ॠ, ऌ, ॡ इन चार अमृतवर्णों का द्योतक है। इन वर्णों के स्वरूप-विश्लेषण के विषय में ग्रन्थकार ने पहले ही पर्याप्त प्रकाश डाला है।

२. त्रिक-परिपाटी में अन्तर्मुखीन विसर्ग अर्थात् बिन्दु-कला को परा भगवती का पूर्ण रूप और बहिर्मुखीन विसर्ग अर्थात् 'अः' को कृश या रिक्त रूप माना जाता है। पहले भी बताया जा चुका है कि संहारमुद्रा परिपूर्णता और प्रसारमुद्रा अपूर्णता है।

" 'अं, अः— इत्येषैव विकृताविकृतरूपा मातृका—इति' । ते तु 'अ'-इत्येतद् अनुत्तरम्, आकाराद्याश्च तिथयः, यद्वा बिन्दुर् 'अंकारः' अकाराद्यास्तिथयः, तदन्तो विसर्ग इत्यपि व्याचक्षते । तदेव संवित् सतत्त्वं 'स्पन्द' इत्युपदिशन्ति । स्पन्दनं च किञ्चिच्चलनम् । स्वरूपाच्च यदि वस्त्वन्तराक्रमणं तच्चलनमेव, न किञ्चित्त्वम् । नो चेत्, चलनमेव न किञ्चित् । तस्मात् स्वरूप एव, क्रमादि-

सोमानन्द के मत और स्पन्द की परिभाषा का उल्लेख ।

" 'अं और अः' ये ही दो परामर्श मातृका के क्रमशः विकृत[1] और अविकृत रूप हैं ।"

आगे चलकर उन्होंने (मूल-सूत्र के शब्दों में—'अथ, आद्यास्तिथयः' ऐसा सम्बन्ध लगाकर) यह व्याख्या की है कि 'अ' यह अनुत्तर का और 'आ' से लेकर 'अः' तक के १५ स्वर तिथियों के वाचक हैं । दूसरे पक्ष में उन्होंने—'अथाद्याः···· तदन्तः' इतने श्लोक-भाग की व्याख्या इस प्रकार से भी की है—

'अंकार' अलग बिन्दु-कला का द्योतक है । 'अ' से लेकर 'अः' तक के शेष १५ स्वर तिथियों के वाचक हैं, परन्तु इस अन्तिम 'अः' को विसर्गात्मकता का द्योतक समझना चाहिये ।

साथ ही उन्होंने यह भी उपदेश दिया है कि वह विसर्ग ही संवित् का स्वभाव बना हुआ 'स्पन्द' है । 'स्पन्दन' से तनिक विचलित होने का अभिप्राय व्यक्त हो जाता है । इस चलन[2] से यदि (स्वरूप के अतिरिक्त) किसी दूसरी वस्तु पर पहुँच जाने का तात्पर्य लिया जाय तो वह तनिक न रहकर पूरा विचलित होना ही होगा, नहीं तो (स्वरूपस्थिति में ही अविचल बने रहने पर) विचलित होने की सार्थकता ही क्या ? अतः सक्रमता का तिरस्कार करके, स्वरूप में ही चलनेवाली

१. उनके मतानुसार 'अः' यह स्वर विसर्गात्मकता का बहिर्मुखीन रूप होने के कारण मातृका का विकृत रूप और 'अं' यह स्वर अन्तर्मुखीन रूप होने के कारण अविकृत रूप है ।

२. इस वाक्य का तात्पर्य यह है कि यदि अन्तरात्मा स्पन्दायमानता की अवस्था में स्वरूप की परिधि से बाहर निकल कर किसी दूसरी स्थिति की ओर उछलने लगती तो वह अचल अर्थात् कूटस्थ न रहकर स्वरूपतः चल होती । परन्तु उसका स्वरूपतः वैसा होना यथार्थ से सर्वथा दूर है । अतः 'स्पन्दन' शब्द का वास्तविक तात्पर्य स्वरूप में सर्वथा अविचल रहते हुए ही मात्र विमर्शमयी गतिमयता है । फलतः 'किञ्चिच्चलन' शब्द का भी तात्पर्य ऐसी ही गतिहीन गति है ।

परिहारेण, चमत्कारात्मिका उच्छलत्ता ऊर्मिरिति, मत्स्योदरीति-प्रभृतिशब्दै-रागमेषु निर्दिशता 'स्पन्द'—इत्युच्यते, किञ्चिच्चलनात्मकत्वात्। स च शिव-शक्तिरूपः सामान्य-विशेषात्मा, तद्व्याख्यातम्"।

'आद्यास्' तिथयो बिन्द्ववसानगाः, कालयोगेन सोम-सूर्यौ। तस्यैव अकुलस्य अन्तः पृथिव्यादीनि च यावद् ब्रह्मपञ्चकं तावत्, तेषां स्वराणाम् अन्तः।

कथम् ?

क्रमात्—क्रमस्य अदनं = भक्षणं, कालग्रासः, तथा कृत्वा—इति क्रिया-विशेषणम्।

अहंविमर्शमयी उच्छलत्ता की—जिसका निर्देश आगम-शास्त्रों में ऊर्मि[1], मत्स्योदरी इत्यादि शब्दों के द्वारा किया गया है-स्थिति को ही 'स्पन्द' कहते हैं, क्योंकि यही स्थिति तनिक-चलनमयी है। उस स्पन्द के सामान्य-स्पन्द और विशेष-स्पन्द ये दो रूप हैं, परन्तु वह मूलतः शिव-शक्ति-संघट्ट के ही रूपवाला है। अस्तु, इस विषय को व्याख्या पहले ही की गई है।"

मूल-सूत्र के अविशिष्ट पदों का अर्थ।

अथाद्याः·····················उदीरितौ ।

अकार से लेकर बिन्दु (अंकार) के अन्त तक के १५ परामर्श १५ तिथियाँ हैं और ये १५ परामर्श ही 'काल' अर्थात् क्रिया-शक्ति के साथ योग हो जाने की दशा में 'सोम-सूर्य' अर्थात् सोमरूपिणी और सूर्यरूपिणी विसर्ग-कला (अः) का रूप धारण कर गये हैं।

तदन्तः— { **१ तस्य = अकुलस्य, अन्तः = मध्ये।**
२ तत् = तेषां स्वराणां, अन्तः = अवसानम्। }

१—पृथिवी-तत्त्व से लेकर ब्रह्मपञ्चक के अन्तिम अर्थात् शक्ति-तत्त्व तक के सारे तत्त्व उस अकुलरूपी स्वरूप में ही निहित हैं।

२—विसर्ग (अः) ही सारे स्वर-समुदाय का अन्त है।

(शंका)

(अकुल में इनकी स्थिति) किस रूप में हैं ?

(समाधान)

क्रमात्—(क्रम + अत्) क्रमस्य अदनं = भक्षणम्।

सक्रमता को पूर्णरूप से निगलकर। ऐसा तात्पर्य निकालते समय इस शब्द को क्रिया-विशेषण माना जाता है।

---

१. ऊर्मि जल में ही उच्छलित होकर भी जल-स्वरूप से बाहर नहीं निकलती। मछली का उदर प्रति समय स्पन्दायमान रहता हुआ भी अपने उदर रूप से बाहर नहीं

सु = शोभने व्रते— 'भोगे रिक्तत्वे, भोगनिवृत्तौ च पूर्णत्वे' सुव्रते। आमन्त्रणम् अपि एतद् एवमेव व्याख्येयम्।

अमूला—

१—एवम् 'अमूला'—१ अकारमूला, २ अविद्यमानमूला च—अनादित्वात्।

२—(अमूला तत्क्रमा)—स क्रमो यस्याः प्रश्लेषेण अतद्रूपो, अन्यथारूपोऽपि क्रमो यस्याः, तथापि अमूला।

३—अमूलस्य यद् आततनम् = आतत्, ततस्तदेव च क्रमो यस्याः।

एषा चाज्ञेया ज्ञातृरूपा, एषैव च ज्ञेया—अन्यस्य अभावात्।

सुव्रते !— { १ सु = शोभने, व्रते यथा भवति तथा। २ शोभनव्रतयुक्ते ! (आमन्त्रण)। }

१—परम कमनीय रूप में अर्थात् विश्वचमत्कारमय भोग की अवस्था में रिक्त रूप में और स्वरूप-चमत्कारमय भोग-निवृत्ति की अवस्था में पूर्णरूप में।

२—इस शब्द का अर्थ आमन्त्रण में भी इसी प्रकार लगाना चाहिये (अर्थात् अत्यन्त कमनीय अनुग्रह को वितरण करने के व्रतवाली हे देवी !)

इसी तरह—

१—अमूला— { १ 'अ' मूलं यस्याः। २ अविद्यमानं मूलं यस्याः। }

१—इस सारी वर्ण-सृष्टि का मूल अकार है।

२—अनादि होने के कारण इस वर्ण-सृष्टि का कोई मूल (स्वरूप से इतर) विद्यमान ही नहीं है।

२—अमूला, तत्क्रमा—

क्रमरहित अभेदभाव की अवस्था में बर्तमान होने से ही इसमें भेदाभेदरूपिणी और भेदरूपिणी क्रमिकता का उदय हो जाता है। ऐसा स्वभाव होने पर भी इसमें किसी मूल-भाग का अस्तित्व नहीं है।

३—अमूल + आतत् + क्रमा

सारी वर्णसृष्टि मौलिक अ-कला का ही स्वरूप-विस्तार है, इसलिये इसमें उसी स्वरूप-विस्तारमयो क्रमिकता का ही अस्तित्व है।

अज्ञेया, ज्ञेया—

१—इसका स्वरूप पशुबुद्धि के द्वारा समझ में नहीं आ सकता, क्योंकि यह स्वयं ही ज्ञातृ-भाव की पदवी पर विराजमान है।

चला जाता। इसी निदर्शन के अनुसार आत्मा भी स्पन्दायमान अवस्था में अपनी आत्मरूपता को छोड़कर और कहीं बाहर नहीं चली जाती है।

१—अविद्यमानं 'क्षान्तं' = तूष्णीमासनम्, अविरतं सृष्ट्यादिरूपत्वेन अस्याः ।

२—आक्षाणाम् = ऐन्द्रियिकाणाम्, अन्ते समीपे प्रागपर्यवसाना या भवेद्— इत्युपचाराद् आक्षान्ता ।

सृष्टिर् अपूर्वमाहरणं = स्वात्मानुप्रवेशरूपं संहाररूपं यस्याम् ।

एषैव च शिवात्मक-बीज-प्रसाररूपाणां, मनन-त्राण-धर्माणां, सर्वेषामेव वाच्य-वाचकादिरूप-वर्णभट्टारकात्मनां मन्त्राणां, शक्त्यात्मक-योनि-स्पन्दानां, सर्वासां तद्बीजोद्भूतानां वेदनारूपाणां विद्यानां (योनिः) । इयं समा-सर्वत्र

२—इसी के वास्तविक स्वरूप को जानने की महती आवश्यकता है, क्योंकि इसके अतिरिक्त और कोई जानने के योग्य पदार्थ है ही नहीं ।

अक्षान्ता, आक्षान्ता,

१ न विद्यमानं 'क्षान्तं' यस्याः ।
२ आक्षाणाम् अन्ते अपर्यवसाना ।
३ 'क्ष' अन्ता ।

१—सृष्टि इत्यादि रूपोंवाली क्रियात्मकता को निभाने में हमेशा व्यस्त रहने के कारण इसका कहीं कोई 'क्षान्त' अर्थात् चुप बैठे रहने का आसन ही नहीं है ।

२—'आक्ष'—अर्थात् शब्द इत्यादि रूपों वाले इन्द्रिय-बोध के 'अन्त'— अर्थात् अन्त पर, निकटतरवर्तिता में और पहले कभी समाप्त न हो सकने वाली । यह अर्थ लक्षणा से निकाला जाता है ।

३—'क्ष' इस कूटबीज में पर्यवसित होने वाली ।

सृष्टिः, आहृता—(आहृता = अपूर्वम् आहरणं यस्याम्)

यह ऐसी सृष्टि है कि इसके गर्भ में, कहीं न देखे-सुने 'आहरण'—अर्थात् फिर स्वरूप में ही अनुप्रविष्ट हो जाने के रूपवाले संहार का रहस्य भरा पड़ा है ।

सर्वेषामेव मन्त्राणां विद्यानां योनिः—

यह मातृकारूपिणी भगवती सृष्टि-देवी ही, 'शिवमय बीज'—अर्थात् स्वर वर्ग और उसके 'प्रसार' अर्थात् व्यञ्जन वर्ग का रूप धारण करनेवाले, मनन किये जाने पर रक्षा करने के गुणवाले और सारे वाच्यों और वाचकों अथवा मन्त्रदेवता और मन्त्रों के प्रतीकरूपी पवित्र वर्णों के आकार वाले सारे मन्त्रों, शक्तिरूपिणी योनि के स्पन्दनों और शिवमय बीज से ही विकसित

अनूनाधिका, सर्वेषु तन्त्रेषु तन्त्रणासु च, सर्वासु क्रियासु, सर्वकालञ्च सर्वं ददती सिद्धिसङ्घम् आख्याता = प्रकटाख्यातिरूपा। मायामुद्दिश्य भेदो वर्णानाम्। तथाहि—

त एव शुद्धमन्त्ररूपा वर्णाः प्रथमं पञ्चविध-विपर्यय-अशक्त्यादिरूप-प्रत्ययात्मकभावसृष्टिरूपताम् एत्य स्वरूपम् आवृण्वते—

होने वाली और अन्तर्बोध का रूप धारण करने वाली सारी विद्याओं[1] के उद्गम की मूलभूमि है।

इयं, समा, सर्वदा, आख्याता—(समाख्याता = समा + आख्याता)

यह (वर्णशक्तिमयी सृष्टि देवी) प्रत्येक स्थान पर समान है, अर्थात् यह स्वरूपतः न कहीं पर कम और न ज्यादा है। इसको प्रत्येक प्रकार के तान्त्रिक क्रियाकलाप, व्यवस्था प्रदान करने के आयोजन और सारी (पारमार्थिक और लौकिक) इतिकर्तव्यताओं में मनोनीत सिद्धियों को वितरण करने वाली कहा गया है।

आ + अख्याता—(आख्याता शब्द को अलग अलग करके व्याख्या)

बहिर्मुखीन अवस्था में इसका 'अख्यातिमय' अर्थात् आत्म-विस्मृतिमय रूप ही प्रकट है, क्योंकि (वैखरी भूमिका पर व्यक्त ध्वनिरूपी) वर्णों का पारस्परिक भेद माया की अपेक्षा से ही उपजता है। तात्पर्य इस प्रकार है—

मूल में शुद्ध मन्त्रों[2] का ही रूप धारण करने वाले वे वर्ण ही (मायापदवी पर = वैखरी पर) पहले विपर्यय, अशक्ति इत्यादि प्रकार के '[3]प्रत्ययों' अर्थात् विकल्पज्ञानों के आकार वाली भावसृष्टि का रूप धारण करके आत्म-स्वरूप पर आवरण डाल देते हैं।

---

१. त्रिक मान्यता के अनुसार विश्व भर में जितने प्रकार की विद्यायें, साहित्य और प्रत्येक साहित्य की अपनी अपनी विद्यायें आज तक विकसित हुई हैं या आगे युग-युगों तक होती रहेंगी, वे सारी इस वर्ण-शक्ति (मातृका) की उपज हैं। इस अद्‌भुत सृष्टि विकास में जातिगत और सम्प्रदायगत ईर्ष्याभाव अथवा रंग और नस्ल के आधार पर किसी भाषा और साहित्य के प्रति अभिरुचि और दूसरे के प्रति अरुचि का कोई प्रश्न ही नहीं उठ सकता, क्योंकि मानव या मानवेतर प्राणि वर्ग द्वारा प्रयोग में लाया जाने वाला समूचा वर्ण-समुदाय (ध्वनि-समुदाय) तो पारमेश्वरी शक्ति का ही व्यक्त रूप है।

२. वर्ण जब तक व्यक्त ध्वनिरूपता पर न पहुँच कर आन्तरिक परामर्श के ही रूप में हो तब तक मन्त्र कहलाता है। आन्तरिक परामर्श ही वर्ण-सृष्टि का असली विभाग-हीन रूप है।

३. 'प्रत्यय' शब्द से विकल्प ज्ञानों की सङ्करमयी शृंखलाओं का अभिप्राय लिया

'पञ्च विपर्ययभेदा भवन्त्यशक्तिश्च करणवैकल्यात् ।
अष्टाविंशतिभेदा तुष्टिर्नवधाष्टधा सिद्धिः ॥'

इति । एत एव हि प्रत्ययाः पाशव-सृष्टिरूपाः पाशा मुख्यतया । यथोक्तम्—

'स्वरूपावरणे चास्य शक्तयः सततोत्थिताः ।
यतः शब्दानुवेधेन न विना प्रत्ययोद्भवः ॥'

इति । तथा—

'परामृतरसापायस्तस्य यः प्रत्ययोद्भवः ।'

इत्यादि । एवं प्रत्ययसृष्टित्व-अन्तरालोकरणेन स्फुट-श्रूयमाण-श्रुत्यात्मक-

'विपर्ययों[1] के पाँच भेद हैं । इन्द्रियों की विकलता को अशक्ति कहते हैं और वह अठाईस[2] प्रकार की है । तुष्टि के नव[3] और सिद्धि के आठ[4] भेद हैं' ।

ऐसा (साङ्ख्य-शास्त्र में) कहा गया है । ये प्रत्यय ही प्रधान पाश हैं । 'पाशव-सृष्टि' अर्थात् तीन प्रकार के मलों से लिप्त और आत्म-विस्मृति में खोये हुए पशुओं की सर्जना ही इनका रूप है । जैसा कहा गया है—

'इसमें कोई संशय नहीं कि यह मातृका का शक्ति-परिवार (घोरतर रूप में) पशु की आत्म-चेतना पर आवरण डालने के लिए प्रतिसमय कटिबद्ध रहता है, क्योंकि प्रत्ययों की उद्भूति तब तक नहीं हो सकती, जब तक उनमें व्यक्त अभिलापात्मकता अनुस्यूत न हो ।'

इस प्रकार । और—

'विकल्पहीन स्वरूप में विकल्प ज्ञानों की परम्पराओं का उदित होना ही, उसका सर्वोत्कृष्ट एवं अविनश्वर आनन्द-भूमिका से लुढ़क जाना है ।'

इत्यादि । इन तथ्यों को दृष्टि में रखकर यदि (दैनिक आदान-प्रदानों में भी) व्यक्त ध्वनिरूप में सुनी जानेवाली वर्णराशि को—जिसमें क्रमिकता का आभास केवल श्रुत्यात्मक ही होता है—उसमें पाये जानेवाले 'प्रत्ययसृष्टित्व'

जाता है । प्रत्यय सृष्टि ही दूसरे शब्दों में स्वात्म- विस्मृति है । इसका ब्योरेवार वर्णन सांख्य दर्शन में किया गया है । शैव मान्यता के अनुसार भी प्रत्यय ही मुख्य पाश है, जो कि जीव को युग-युगो तक जकड़ कर रखते हैं ।

१. अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश ।

२. ११ प्रकार की विकलाङ्गता और १७ प्रकार की बौद्धिक विकलता ।

३. प्रकृति, उपादान, काल और भाग्य—चार प्रकार की आध्यात्मिक और अर्जन, रक्षण, क्षय, संग और हिंसा पाँच प्रकार की बाह्य ।

४. ऊह, शब्द, अध्ययन, तीन दुःखनिवृत्तियाँ, मित्रप्राप्ति और दान । इस विषय को अच्छी प्रकार समझने के लिए साङ्ख्यकारिका का अध्ययन करना अतीव आवश्यक है ।

क्रम-आभासमान--मायीय--वर्णसृष्टिर् आद्य-पारमार्थिक-शुद्धरूप-आलि-ङ्गिता तत्तत्कार्यफल-प्रसवदायिनी निरूपिता श्रीपूर्वशास्त्रे —

'सर्वशास्त्रार्थगर्भिण्या इत्येवंविद्ययानया ।
(अघोरं बोधयामास स्वेच्छया परमेश्वरः ।।)
स तया सम्प्रबुद्धः सन् योनिं विक्षोभ्य शक्तिभिः ।
तत्समानश्रुतीन् मन्त्रानसङ्ख्यानसृजत् प्रभुः ॥

—अर्थात् विकल्पज्ञानों की परम्परा को उपजाने वाले स्वभाव को आत्मभाव में ही सोखने के द्वारा मायीय न बनने दिया जाये तो वह, श्रीपूर्व-शास्त्र के कथनानुसार, अपने प्रथमकोटिक (परामर्शमय), पारमार्थिक और मलहीन रूप पर ही बनी रहकर, विभिन्न प्रकार की इतिकर्तव्यताओं में मनोनीत फलों को वितरण करने वाली बन जाती है—

'परमेश्वर ने सारे शास्त्रों के मर्म को अपने गर्भ में धारण करनेवाली, ऐसी ही इच्छा-शक्ति के द्वारा 'अघोर[1]' अर्थात् अनन्त भट्टारक को सचेत कर दिया।

उस अति प्रभावशाली अनन्त भट्टारक ने अनुत्तरीय इच्छा के द्वारा सचेत होकर (परमेश्वर की इच्छामयी) शक्तियों के द्वारा (परमेश्वर की ही विमर्शमयी) योनि में क्षोभ उत्पन्न करके, विभिन्न प्रकार की 'योनियों' अर्थात् जीवधारियों के अनुकूल श्रुतियों[2] वाले अनगिणत[3] मंत्रों (आन्तरिक परामर्शमय वर्णों) की सर्जना की।

---

१. यहाँ पर 'अघोर भट्टारक' से भगवान् के अपने ही रूपान्तर और मन्त्र-प्रमाता (शुद्धविद्या) की पदवी पर अवस्थित अनन्त भट्टारक का तात्पर्य है। इसके विषय में पहले ही उल्लेख किया जा चुका है।

२. जनपरम्परा के अनुसार जीवयोनियों की संख्या चौरासी लाख है। इन सारी योनियों के जीवधारी भी अपने-अपने कायिक आकार-प्रकार के अनुकूल श्रुतिवाले वर्णों में अपने मानसिक भावों का आदान-प्रदान करते रहते है। स्पष्ट है कि वर्ण केवल उतने ही नहीं, जितने कि मानव समाज को विदित हैं, बल्कि विश्व की अगणित जीव-योनियों की बोलियाँ भी वर्णमयी ही हैं। फलतः वर्णों की असली संख्या केवल अनुत्तर-भट्टारक को ही विदित है। छन्दों के विषय में भी ऐसी ही परिस्थिति है। यही कारण है कि शास्त्रों में वर्णों के समुदाय को वर्णसंघ और छन्दों के समुदाय को छन्दोराशि की संज्ञा दी गई है। तुलसीदास ने मानस के मङ्गलपद्य में इसी वर्णसंघ और छन्दोराशि की ओर संकेत किया है।

३. श्री मालिनीविजय में ही भगवान् शंकर के द्वारा वर्णित आंकड़ों के अनुसार साढ़े तीन करोड़ मन्त्रों और उतने ही उनके परिवारों अर्थात् कुल मिलाकर सात करोड़

ते तैरालिङ्गिताः सन्तः सर्वकामफलप्रदाः ॥'

इत्यादि एवम् 'आख्याता'—

१—प्रकटा अपि अप्रकटा मायान्धानाम् ।

२—सर्वदैव ख्याता—प्रकाशा शुद्धवेदनात्मिका,

३—सर्वत्र स्वस्वभावात्मक-प्रभावप्रख्य-प्रसरानिरोधो वा यस्या—इति।

वे मन्त्र (परामर्शमय वर्ण) केवल उसी सूरत में प्रत्येक प्रकार के मनोनीत फलों को देने की क्षमता से युक्त होते हैं, जब कि 'उनके [1]द्वारा' अर्थात् अघोर इत्यादि आठ मन्त्र-प्रमाताओं के द्वारा आलिङ्गित हों। तात्पर्य यह है कि मन्त्र-शक्तियों के द्वारा निहित हों।'

(श्रीपूर्व-शास्त्र में) और और भी बहुत कुछ कहा गया है। इसी प्रकार 'आख्याता' शब्द से ये अर्थ भी द्योतित होते हैं—

आख्याता— { १ आ = प्रकटा अपि अख्याता।
२/३ आ = सर्वदा, सर्वत्र वा ख्याता। }

१—यद्यपि वर्ण-सृष्टि का वास्तविक रूप सिद्ध पुरुषों के सामने प्रकट ही है, तो भी माया से अन्धे पशुओं को उसकी चेतना नहीं है।

२—यह अपने विशुद्ध संवेदनमय रूप में हमेशा प्रकाशमान ही है।

३—अपने स्वभाव की प्रभावशालिता के समान ही इसका स्वतन्त्र प्रसार प्रत्येक स्थान पर बेरोक-टोक चलायमान ही है।

वर्णों (वर्णमयी ध्वनियों) की सृष्टि की गई। प्रत्येक मन्त्र (वर्ण) का अपना विस्तृत परिवार होता है, जिसमें उस मंत्र से विकसित स्वर-व्यञ्जन-समुदाय अन्तर्भूत हो जाता है। उदाहरण के तौर पर 'आ' से लेकर 'क्ष' तक का स्वरव्यञ्जन-समुदाय मूल 'अ' मन्त्र का परिवार है। भगवान् के शब्द इस प्रकार हैं—

'मन्त्राणामसृजत्तद्वत्सप्त कोटीः समण्डलाः।।'

(मा० वि० १।२१)

१. भगवान् शंकर ने उस वेला पर अणुओं का उद्धार करने की इच्छा से अनन्त-भट्टारक सहित आठ-मन्त्र प्रमाताओं को सचेत करके मन्त्रों की सर्जना करने के काम पर नियुक्त किया। उनके नाम ये हैं—अघोर (अनन्त), परमघोर, घोररूप, घोरानन, भीम, भीषण, वमन और पिवनः—

'अघोरः परमो घोरो घोररूपस्तदाननः।
भीमश्च भीषणश्चैव वमनः पिवनस्तथा।
एतानष्टो···· ···· ···· ···· ···· ॥'

(मा० वि० १–१९-२०)

तदयमत्र सङ्क्षेपार्थः—

'स्वातन्त्र्यैकरसावेशचमत्कारैकलक्षणा ।
परा भगवती नित्यं भासते भैरवी स्वयम् ॥
तस्याः स्वभावयोगो यः सोऽनिरुद्धः सदोदितः ।
सदाशिव-धरा-तिर्यङ् नील-पीत-सुखादिभिः ॥
भासमानैः स्वस्वभावैः स्वयंप्रथनशालिभिः ।
प्रथते संविदाकारः स्वसंवेदनसारकः ॥
स्व-स्व संवेदनं नाम प्रमाणमिति वर्ण्यते ।
बाल-तिर्यक्-सर्वविदां यत्साम्येनैव भासते ॥

इस सारी मीमांसा का संक्षिप्त सार इस प्रकार है—

परा भगवती का स्वरूप—शिवत्व की एकरस अर्थात् नीरक्षीरमयी व्यापकता से युक्त और 'चमत्कार' अर्थात् अहंविमर्श की आनन्दमयता के ही मात्र आकार-वाली भगवती परा-शक्ति प्रतिसमय स्वयं ही भासमान है।

स्वभाव की भासमानता—उसका जो अपने 'स्वभाव' अर्थात् विमर्शमयता के साथ शाश्वतिक योग है, वह निर्गल और प्रतिसमय उदीयमान अवस्था में ही है। 'संवित्' अर्थात् निज-स्वरूप की चेतना (अहंविमर्श) ही उसका (स्वभाव का) मात्र आकार और 'स्वसंवेदन' अर्थात् स्वरूप की ज्ञातृता (अहं-प्रकाश) ही उसका मात्र सार है। वह (स्वभाव) स्वयं ही प्रसार का विषय बनने[1] वाले और विश्वरूप में भासमान रहनेवाले सदाशिव से लेकर पृथिवी तक के तत्त्व-समुदाय, पशु-पक्षी-वर्ग, बाहरी स्थूल प्रमेय पदार्थ आन्तरिक भावनात्मक प्रमेयवर्ग—इत्यादि प्रकार के स्वरूपमय स्वभावों के द्वारा स्वयं ही अन्तर्बोध में प्रकाशित हो जाता है।

प्रमाण की परिभाषा—'स्व[2]-स्वसंवेदन' अर्थात् प्रत्येक ज्ञेय पदार्थ की अपने अपने यथावत् रूप में सही उपलब्धि होने को ही प्रमाण[3] कहते हैं। यह उप-लब्धि तो अल्पज्ञों/शिशुओं, मूर्खों/पशु-पक्षियों और सर्वज्ञ व्यक्तियों को (आहार, निद्रा इत्यादि व्यवहारों में) समानरूप से ही होती रहती है।

---

१. किसी भी उपादानकारण इत्यादि रूपों वाली कारण-सामग्री की अपेक्षा के विना स्वयंसिद्ध स्वभाव से ही प्रसृत होने वाले।

२. स्व-स्वसंवेदन दो रूपों में होता है—१ प्रातिभ ज्ञान से जन्य शिवात्मक संवेदन, अर्थात् प्रत्येक हेय या उपादेय पदार्थ में यथार्थ में शिवत्व की उपलब्धि और इन्द्रिय बोध से जन्य साधारण घटादि संवेदन अर्थात् प्रत्येक पदार्थ के बाहरी आकार-प्रकार की ही उपलब्धि।

३. गुरुक्रम में चली आती हुई मान्यता के अनुसार प्रमाण के दो रूप हैं—

इन्द्रियाणि, त्रिरूपञ्च लिङ्गं, परवचःक्रमः।
सारूप्यम्, अन्यथायोगः, प्रतीत्यनुदयो, यमः ॥
इत्यादिको यस्य सर्वं द्वारमात्रे निरूप्यते।
तत् स्वसंवेदनं प्रोक्तमविच्छेदप्रथामयम् ॥
येषां नाक्ष-त्रिरूपादि-नाममात्रेऽप्यभिज्ञता।
तेषामपि तिरश्चां हि समा संवित्प्रकाशते ॥
एवं भासा स्वभावेन स्वरूपामर्शनात्मिका।
स्वरूपामर्शनं यच्च तदेव 'परवाग्'-वपुः ॥

प्रमाण के प्रकार—इन्द्रियबोध अर्थात् प्रत्यक्ष, तीन प्रकार का अनुमान, आप्त-पुरुषों की सीख, सादृश्य (उपमान), अर्थापत्ति, प्रतीति का उपरम अर्थात् [1]उपरम-प्रमाण और अभाव[2]—इत्यादि प्रकार के प्रमाणों का समुदाय, जिसमें प्रवेश पाने का 'द्वारमात्र' अर्थात् साधारण उपायमात्र समझा जाता है, उस स्वाभाविक संवेदन[3] का रूप केवल अखण्ड बोध की प्रचुरता है।

संवित् की सार्वदेशिक एकाकारता—जिन निरक्षरों अथवा मानवेतर पशु-पक्षियों को 'अक्ष' अर्थात् इन्द्रियबोधात्मक प्रत्यक्ष प्रमाण और 'त्रिरूप' अर्थात् तीन प्रकार के अनुमानप्रमाण के खाली नाम का परिचय नहीं, उनमें भी संवित् समान रूप से ही प्रकाशमान रहती है।

परा-वाणी—इस प्रकार वह प्रकाश-विमर्शरूपिणी संवित् स्वभाव से ही स्वरूपविमर्शमयी है और वह स्वरूप का विमर्श ही परा-वाणी का वास्तविक रूप है (तात्पर्य यह है कि परा-वाणी और संवित् यह तो केवल औपचारिक चमत्कार है, वास्तव में दोनों स्वरूपतः एक शब्द ही हैं)।

क. यदि भेदाभेद और भेद की भूमिकाओं पर वर्तमान रहनेवाले पदार्थ-समुदाय के स्वरूप की उपलब्धि शिवमय अभेदभाव के रूप में हो जाये तो वह संवेदन अर्थात् प्रमाण 'प्रातिभ ज्ञान' या शिवविद्या कहलाता है।

ख. यदि इसी पदार्थ-समुदाय के स्वरूप की उपलब्धि भेदाभेद और भेदरूप में ही हो जाये तो वह प्रमाण इन्द्रियबोध कहलाता है।

१. किसी भी प्रकार के प्रमाण के द्वारा किसी भी पदार्थ का यथावत् बोध हो जाने के उपरान्त मन में उसके और अधिक जानने के कुतूहल की शान्ति को उपरम-प्रमाण कहते हैं।

२. किन्हीं विषयों की प्रतीति अभाव प्रमाण से भी हो जाती है। उदाहरणार्थ—'भूतल पर घड़ा नहीं है' इस वाक्य में घड़े के अभाव के द्वारा उस स्थान के खाली होने की प्रतीति हो जाती है।

३. इस संवेदन से शिवात्मक और अभेदमय संवेदन का अभिप्राय है।

तद्विचित्रस्वभावत्वाद्विचित्रप्रथनामयम् ।
प्रथते, पारतन्त्र्यं हि न जातु भजते क्वचित् ॥
अपारतन्त्र्यात् सङ्केतप्रत्यूहादेः कथं स्थितिः ।
अतः सङ्केतरहितं स्व-स्वरूपविमर्शनम् ॥
देश-काल-कला-माया-स्थानाघातक्रियोत्तरम् ।
परिपूर्णं स्वतः सर्वं सर्वाकारविलक्षणम् ॥
स्वाभाविकमहासंवित्सत्संस्कारैकलक्षणम् ।
शुद्धविद्यात्मकं रूपम् 'अहं'-मित्युभयात्मकम् ॥

परा में सांकेतिकवाद की अनपेक्षा—वह स्वरूप-विमर्श अति अद्भुत प्रकार का स्वभाव होने के कारण विचित्र एवं विस्मयावह ज्ञानों के रूप में विकसित (बहिर्मुखीन रूप में) हो जाता है। इसमें उसे कभी और कहीं पर भी परतन्त्र नहीं बनना पड़ता है—

परतन्त्र न होने के कारण इसके सामने सांकेतिकता जैसे विघ्न या और प्रकार की बाधायें कैसे टिक सकती हैं ?

पूर्ण अहंभाव—इसलिये सांकेतिकता से रहित, देश, समय की कल्पना, कला-तत्त्व, माया-तत्त्व और किसी विशेष (कैलाश इत्यादि) स्थान को आक्रान्त करने की क्रियात्मकता से अतिवर्ती, स्वरूप में ही हर प्रकार से परिपूर्ण, सारे आकारों से विलक्षण अर्थात् सारे आकारों से निहित निराकारता के रूप वाला और स्वभावसिद्ध एवं असीम संवित् के ही निर्मल संस्कार का परिचायक स्वरूप-विमर्श ऐसी [1]शुद्धविद्यामयी अवस्था है, जो कि वास्तव में 'उभयात्मक'[2] अर्थात् प्रकाश (शिव) और विमर्श (शक्ति) का संघट्टमय 'अहं'-भाव ही है।

---

१. इस शुद्धविद्या शब्द का अभिप्राय शुद्धविद्या-तत्त्व नहीं, अपि तु शिवविद्या है। इसका उल्लेख पहले हो चुका है।

२. यहां पर 'उभयात्मकता' से—'महअ-अहम्, संहार-प्रसार, प्रकाश-विमर्श, इदंभाव से निहित अहंभाव, बीज-योनि' इत्यादि प्रकार के तात्पर्य भी लिए जाते हैं। इन सारे युग्मों की संघट्ट अवस्था या समरसीभाव ही परिपूर्ण अहंभाव है। इस परिप्रेक्ष्य में यह शैव मान्यता ध्यान में रखनी आवश्यक है कि संसार का प्रत्येक पदार्थ शिव-संस्कार से संस्कृत ही है। अभिप्राय यह कि प्रत्येक पदार्थ 'वाच्यता' अर्थात् उसके आकार-प्रकारात्मक स्वरूप को सूचित करने वाले अर्थ की दृष्टि से प्रकाशमय शिव और 'वाचकता' अर्थात् उसके लिए प्रयोग में लाये जानेवाले वर्णमय शब्द की दृष्टि से विमर्शमयी शक्ति होता हुआ दोनों का संघट्टरूपी अहंभाव ही है। फलतः घास का तिनका तक भी उभयात्मक है।

तदेव मातृकारूपं धरादीनां निजं वपुः।
तत्पारमार्थिकाकारं स्रुत्याश्यानस्वरूपतः॥
बीज-योन्यात्मकं प्रोक्तं शिव-शक्तिस्वरूपकम्।
शिव-शक्त्योस्तु संघट्टादन्योन्योच्छलितत्वतः।
परस्परसमापत्तिर्जगदानन्ददायिनी ॥
अन्तःस्थविश्वपर्यन्तपारमार्थिकसद्वपुः ।
यद्वीर्यमिति निर्णीतं तद्विश्लेषणयोजना॥

बीज और योनि की अहंरूपता—वह अहंभाव ही मातृका के रूप में [1]पृथिवी इत्यादि तत्त्वों का अपना अपना आकार है। अपने लोकोत्तर आकार (साकारता-गर्भित निराकारतारूपी आकार) पर अविचल रहते हुए ही 'तरल[2] और सघन' इन दो रूपों को धारण करने से उसको क्रमशः बीजात्मक (स्वर/शिवरूपी) और योन्यात्मक (व्यञ्जन/शक्तिरूपी) बताया गया है।

बीज-योनि का सम्पर्क—शिव और शक्ति का 'संघट्ट' अर्थात् एक दूसरे के प्रति अभिमुखता होने के फलस्वरूप दोनों के पारस्परिक उच्छलन (लोकोत्तर उत्तेजना) से ही बीज और योनि का (अनुत्तरीय रूप में) पारस्परिक एकाकारतामय [3]सम्पर्क हो जाता है और उसी से जगदानन्द की प्रसूति हो जाती है।

प्रसार-संहारमय विसर्ग—अपने में निहित रहनेवाले विश्व की अन्तिम कोटि तक शुद्ध एवं अलौकिक सत्ता के रूप में वर्तमान रहनेवाले जिस (अनुत्तरीय अहंभावात्मक) वीर्य का वर्णन किया गया है, उसके 'विश्लेष' अर्थात् बहिर्मुखीन प्रसार की स्थिति और 'योजना' अर्थात् अन्तर्मुखीन संहार की स्थिति का

---

१. 'क' इत्यादि वर्ण ही पृथिवी इत्यादि तत्त्वों के आकार हैं।

२. तरल रूप में बीज (शिववीर्य, अर्थात् स्वरसमुदाय) और सघन रूप में योनि (शाक्त-कुसुम अर्थात् व्यञ्जन-समुदाय)।

३. त्रिक रहस्य को जानने वाले व्यक्ति इस सूत्र से ध्वनित होने वाले सूक्ष्म तात्पर्य को स्वयं ही समझ सकते हैं। केवल इतना कहना ही पर्याप्त है कि 'बीज-योनि-समापत्तिः' शब्द से यहाँ पर शिवभाव और शक्तिभाव का एक दूसरे में वैसा ही अनुप्रवेश सूचित हो जाता है, जैसा कि स्वरों और व्यञ्जनों के पारस्परिक अनुप्रवेश का रूप है। यह अनुप्रवेश लोकोत्तर होने के कारण अवर्णनीय है। स्वर और व्यञ्जन एक दूसरे में अनुप्रविष्ट होकर नये ही वर्णरूप को धारण कर लेते हैं, अर्थात् न तो अलग स्वरों के और न हलन्त व्यञ्जनों के ही रूप में रहते हैं। अनुप्रवेश के बिना स्वरों का आकार अलग और व्यञ्जनों का भी हलन्त होने के कारण अलग होता है।

'विसर्ग' इति तत्प्रोक्तं 'ध्रुवधाम' तदुच्यते ।
अनुत्तरपदावाप्तौ स एव सुघटो विधिः ॥
अस्मादेव त्वमायीयाद्वर्णपुञ्जान्निरूपिता ।
मायामालम्ब्य भिन्नैव श्रीपूर्वे सृष्टिराक्षरी ॥
पञ्चाशद्भेदसंभिन्नप्रत्ययप्रसवात्मिका ।
बन्धरूपा स्वभावेन स्वरूपावरणात्मिका ॥

'विसर्ग' यह नामकरण किया गया है। यह भी कहा जाता है कि यह विसर्ग ही स्वरूपतः अविचल अनुत्तर-धाम है और उस अनुत्तर-पद को प्राप्त करवाने की दिशा में यही एक अतीव सरल उपाय[1] भी है।

श्रीपूर्व में मालिनीक्रम—श्री मालिनीविजयोत्तर तन्त्र में इस उपरोक्त अमायीय वर्ण-क्रम, अर्थात् 'अ' से 'क्ष' तक के मातृकानामी वर्ण-क्रम से बिल्कुल अलग भिन्नयोनिरूपिणी मालिनी अर्थात् 'न' से 'फ' तक के वर्ण-क्रम के अनुसार ही वर्ण-सृष्टि का निरूपण किया गया है, क्योंकि वहाँ पर माया-भूमिका की अपेक्षाओं को दृष्टिपथ में रखा गया है।

खेचरी-वैषम्य उपनाम पशुभाव—यह मालिनी माया-भूमिका पर पचास वर्ण-भेदों में विभक्त होकर विकल्प ज्ञानों के ताने-बाने को उपजाने वाला रूप स्वीकारती है। इस रूप में यह स्वभाव से ही आत्म-स्वरूप को ढाँपने वाली और (पशुजनों के लिए) बन्धन बन जाती है।

---

१. 'विसर्ग-पद' प्रसार-संहाररूपी प्रसार के स्वभाव से युक्त होने के कारण स्वभाव से ही क्रियाशक्तिमय है। त्रिक मान्यता के अनुसार इच्छात्मक और ज्ञानात्मक उपायों से सर्वाङ्गीण अनुत्तर-भाव की अनुभूति प्राप्त कर लेना पहले तो अतीव दुःसाध्य है, तिस पर यदि प्राप्त हो भी जाय तो एकदेशीय होगी। इसके प्रतिकूल क्रिया-शक्ति में इच्छा और ज्ञान निहित ही रहते हैं, अतः क्रियात्मक उपाय को अपनाने से ही सर्वाङ्गीण अनुत्तर-पद की उपलब्धि सुगमता से हो सकती है। परमेश्वर की अलौकिक आभा का साक्षात्कार सूखे ज्ञान की बातें बघारने या जंगल में धूनी रमाकर बैठे रहने से नहीं, वरंच निरन्तर चलते हुए लोक व्यवहार में—क्रियात्मकता की उथल-पुथल में ही इस प्रसार-संहारमय भैरवभाव के रहस्य को हृदयङ्गम करके खेचरी-साम्य की अवस्था को प्राप्त करने से हो सकता है। यदि परमेश्वर के अनावृत रूप का दर्शन पाने की अभिलाषा हो तो वह समाधि में नहीं, बल्कि बाहर चिलचिलाती धूप में खेत पर काम करने वाले खेतीहर या बाबू साहब और उनकी श्रीमती जी को रिक्शा पर बिठाकर तेज चलने के लिए उनकी गालियाँ सुनने वाले रिक्शाचालक के रूप में मिलेगा। प्रस्तुत ग्रन्थ में वर्णित कौलिक सिद्धि का मात्र इतना ही तात्पर्य है। अतः क्रिया-शक्तिमय विसर्ग ही अनुत्तरपद में प्रवेश दिलानेवाला सरल उपाय है।

अत्रैवान्तर्गतास्तास्ताः खेचर्यो विषमात्मिकाः ।
तन्वते संसृतिं चित्रां कर्ममायाणुतामयीम् ॥
अस्याः साम्यं स्वभावेन शुद्धभैरवतामयम् ।
प्रोक्तं प्रागेव, जीवत्वं मुक्तत्वं पारमार्थिकम् ॥
भिन्नाया वर्णसृष्टेश्च तदभिन्नं वपुः परम् ।
वीर्यमित्युक्तमत्रैव यद्गुप्त्या मन्त्रगुप्तता ॥
तदेतदर्हामित्येव विसर्गानुत्तरात्मकम् ।
स्व-स्वभावं परं जानन् जीवन्मुक्तः सकृद्बुधः ॥
सिद्ध्यादिप्रेप्सवस्तेन क्लृप्तसङ्कोचसूत्रितम् ।
नाभिमण्डलहृद्व्योम्नि योगिनोऽहमुपासते ॥

भिन्न-भिन्न प्रकार की खेचरी शक्तियाँ इस मालिनी के अन्तर्गत होने से ही रूप-वैषम्य का अङ्गीकार कर लेती हैं और आणव, मायीय एवं कार्म–इन तीन मलों के रूपवाले अति अद्भुत आवागमन के ताने-बाने को बुनती रहती हैं।

खेचरी-साम्य उपनाम पतिभाव—खेचरी-साम्य तो स्वभाव से ही मलों से रहित, शुद्ध भैरव-भाव की अवस्था है। इसके विषय में पहले ही बहुत कुछ कहा जा चुका है। केवल इतना कहना ही पर्याप्त है कि खेचरी-साम्य में चाहे जीवदशा हो या मुक्तिदशा—दोनों 'पारमार्थिक' अर्थात् शिवमयी होती हैं, अथवा खेचरी-साम्य की अवस्था ही पारमार्थिक जीवन्मुक्ति की अवस्था है।

मन्त्रवीर्य का परिचय—भेदों और उपभेदों में बँटी हुई वर्ण-सृष्टि का जो कोई आमूलचूल भेदभाव से रहित और सबसे अतिवर्ती स्वरूप (अर्थात् अनुत्तर-कला वाला स्वरूप) उसमें अनुस्यूत है, वही उसमें व्याप्त रहनेवाला वीर्य है। उसकी रक्षा करने से अर्थात् १—मारण, मोहन इत्यादि भ्रष्टाचार पर खर्च करके जाया न होने देने से, २—उसी के द्वारा मन्त्रों का संस्कार करने से मन्त्रों के मन्त्रत्व की रक्षा हो सकती है।

जीवन्मुक्ति—उस खेचरी-साम्य का रूप केवल 'अहम्' इतना ही है और वही 'अनुत्तरमय' अर्थात् परिपूर्ण चिदानन्द-भाव से भरपूर विसर्गपद है। कोई भी 'प्रबुद्ध' भूमिका पर पहुँचा हुआ प्रमाता ऐसे उस निज-स्वभाव का एक ही बार परिचय प्राप्त कर लेने पर तत्काल ही जीवन्मुक्त हो जाता है।

अवर योगियों के प्रति आक्षेप—इससे यह बात स्पष्ट है कि (खेचरी-साम्य को छोड़कर दूसरे प्रकारों की निकृष्ट) सिद्धियाँ पाने के इच्छुक अवर योगी नाभि-मण्डल या हृदयाकाश पर धारणा देते समय, वास्तव में, कपोलकल्पित संकोचों के धागे में पिरोये हुए 'अहम्' की, अर्थात् असीम शिव के बदले ससीम शिव की ही उपासना करते रहते हैं।

तदेतत्किल निर्णीतं यथागुर्वागमं मनाक् ।
एनां संविदमालम्ब्य यत्स्यात्तत्पृच्छतां स्ववित् ॥
नैतावतैव तुलितं मार्गाशस्तु प्रदर्शितः ।
इयतीति व्यवच्छिन्द्याद्भैरवीं संविदं हि कः ?
एतावाञ्छक्तिपातोऽयमस्मासु प्रविजृम्भितः ।
येनाधिकारितैरेतदस्माभिः प्रकटीकृतम् ॥
अस्माकमन्यमातॄणामद्य कालान्तरेऽपि वा ।
भवत्यभूच्च भविता तर्कः सूक्ष्मतमोऽप्यतः ॥
यः सर्वयोगावयवप्रकाशेषु गभस्तिमान् ।
श्रीपूर्वशास्त्रे निर्णीतो येन मुक्तश्च मोचकः ॥
एतत्तु सर्वथा ग्राह्यं विमृश्यं च परेप्सुभिः ।
क्षणं च मर्त्यसुलभां हित्वासूयां विचक्षणैः ॥

शिष्यों के प्रति अनुरोध—हमने अपने गुरुचरणों और आगम-शास्त्रों से पाई हुई जानकारी के अनुसार इस विषय का रंचमात्र निरूपण किया। यदि आत्म-वित् पुरुषों को इससे भी अधिक जिज्ञासा हो तो हम यही सम्मति देंगे कि वे इस स्वरूप-संवित् का आश्रय लेकर इसी से जो कुछ पूछना चाहें पूछ लेवें। हमने तो अपनी ओर से थोड़ा-सा पथ-प्रदर्शन किया, परन्तु इतने पर ही इतिश्री नहीं समझनी चाहिये।

निजी नम्रताकी अभिव्यक्ति—कौन (तुच्छातितुच्छ मानव) इस असीम भैरवीय संवित् को निर्धारित इयत्ताओं तक सीमित कर सकता है ? हममें तो इतनी मात्रा तक भगवान् का ही शक्तिपात (अनुग्रह) विकसित हो चुका है कि उसीसे अधि-कारिता पाकर हम इस रहस्य का (केवल उपाय के रूप में ही, साक्षात् स्वरूप-चित्रण के रूप में नहीं) उद्‌घाटन कर पाये।

सत्-तर्क व्यक्तिगत सम्पत्ति नहीं—वर्तमान काल से सम्बन्धित हममें से किसी में और भूतकाल एवं भविष्यत्काल से सम्बन्धित दूसरे प्रमाताओं में इससे भी सूक्ष्मतम तर्क उपज रहा है, उपजा था और उपजने वाला है।

सत्-तर्क की उपादेयता—इस (शुद्धविद्यारूपी) सत्-तर्क को श्रीपूर्वशास्त्र में, योग के छः अंगरूपी प्रकाशों में से सूर्य जैसा बताया गया है। इसको अपनाने से मनुष्य स्वयं मुक्त होकर दूसरों को भी पार उतार सकता है।

परमपद को पाने की अभिलाषा रखने वाले कुशल पुरुषों को क्षण भर के लिए मानव सुलभ ईर्ष्याभाव को भूलकर इसको अपनाना चाहिए और आत्मरूप में ही इसका विमर्श भी करना चाहिये।

आलोचनक्षणादूर्ध्वं यद्भूवेदात्मनि स्थितिः ।
चिदर्काभ्रलवास्तेन संशाम्यन्ते स्वतो रसात् ॥

"पर सं वे अ णा भा स म ऊ इ णा ऊर अर मह् सो आ इ म ऊ इ ण स इ भा स इ म अलाहि शरणि अपसरहु परिसरिसन जतुहसो पश्च अपहिलु-अवर्ण परिगाहरु इर वसत्तिपलमहस्म ओहुभितुर कदसुख विसरिपि असिद्धि धराइम उस अल विपरिसि अभासइ वाहिरविहरिणी एहि विसर्गाभूमि अनार्द-हुक्तइ लर्थ ईण पवि मिणं दहुअमलाहं विहरिणी कुइलित्थत अणुत्तर परपइ जश्चि अभवि अतत तच्चमप्पइ भस्मइवि बिन्दुविसरि सुताए हुप आसत्त त अह सत्तमल हिपुविसि विभेत विहंसः तमालि निमाइ अअह सुततस्सह भोअममण अइलं मरु निभुंऊ अपारहमरल पद्धुद्यो प्रन्तीप सारइमात द्वय भासि विगमइ विलाअनु सोश्चिअं असि तमर्थ अहिसा अइपविमन्ती अलमइरसा मच्छेअरि परिदेवितरंगिणि प्रफऊ असुह सारंगिणि रिततस्म कोल।लसा तुहि मत्तिदिवि-रह् एणि हानुण पिज्जति जतस्माइ लालणमहो संग्रअलालसा ॥"

एवम् 'उत्तरस्याप्यनुत्तरम्'—इति यदुक्तं, तन्मयोऽसौ 'उत्तरस्य'—इत्यंशेन उपात्तः कुलात्मा शाक्तः सृष्टिप्रसरः, स विस्तरतो निर्णीतः। तच्च उत्तरमपि यथा अनुत्तरं तथा निरूपितम्। इदानीं तु अनुत्तरमेव स्वरूपेण विस्तरतो विचारपदवीम् अपेक्षते। एवं विध्यनुवादौ निर्वहतो अनूद्यमानो

विमर्श से आणवमल की निवृत्ति—जिस कारण से सत्-तर्क के विवेचन का काल बीत जाने के उपरान्त ही साधक आत्म-भाव में स्थित हो जाता है, उससे यह तथ्य भी स्पष्ट हो जाता है कि सत्-विमर्श से ही आत्मा में रसमयता का संचार हो जाने से चित्सूर्य पर छाये हुए मेघखण्ड, अर्थात् आणवमल के रहे सहे संस्कार स्वयं ही गल जाते हैं।[1]

अगले सूत्रों की अवतरणिका

इस प्रकार से 'उत्तर का भी अनुत्तर'—इत्यादि सूत्र में जो यह भाव स्पष्ट किया गया है कि—इसी सूत्र के 'उत्तर का भी' इतने पद्यखण्ड से ग्रहण किया जानेवाला शक्ति का बहिर्मुखीन प्रसार भी, जिसका रूप 'कुल' अर्थात् समूचा विश्व है, वास्तव में अनुत्तरमय ही है—उसका विशद रूप में निरूपण किया गया। उस ढर्रे पर भी पर्याप्त प्रकाश डाला गया, जिसके अनुसार वह उत्तर भी अनुत्तर ही है। अब केवल अपेक्षा इस बात की है कि उस अनुत्तर के ही स्वरूप का

---

१. पहले की तरह यहाँ पर भी आगे आनेवाले प्राकृत भाग का अनुवाद नहीं किया गया है।

विधीयमानश्चांशः स्वरूपतो लक्षितौ स्यातां यथा—'यदेव शिवनामस्मरणम्, एतदेव समस्तसौख्योच्छलनम्'—इति द्वावप्यंशौ लक्ष्यौ। इह तु यद्यपि अनुत्तरं नाम अन्यद्वस्तु किञ्चिन्नास्ति—अन्यत्वे तस्यापि उत्तरत्व एव अभिपातात्—तथापि स्वातन्त्र्य-क्लृप्त-उपदेश्य-उपदेशक-भावाभिप्रायेण इयं व्यवस्था—इत्युक्तं प्राक्। ततश्च विस्तरतोऽनुत्तरस्वरूपनिरूपणाय ग्रन्थावतारः—

"चतुर्दशयुतं भद्रे ! तिथीशान्तसमन्वितम् ॥९॥
तृतीयं ब्रह्म सुश्रोणि ! हृदयं भैरवात्मनः । भैरवात्म-नः ।"

विस्तारपूर्वक विचार किया जाये। ऐसा करने से सम्बन्धित विधि भागों[1] और अनुवाद[2] भागों का तार आगे-आगे बढ़ाया जाने पर अनुवाद के रूप में और विधि के रूप में प्रस्तुत किये जानेवाले अंशों का स्वरूप भी भली-भांति परिलक्षित होगा, जिस प्रकार—'जो ही शिव के नाम का स्मरण करना है—(विधि भाग), वही सारे सुखों की उभाड़ है–(अनुवाद भाग)'–इस उद्धरण-वाक्य में दोनों ही अंश स्पष्ट रूप में परिलक्षित होते हैं। यद्यपि प्रस्तुत त्रिक परिपाटी में, निश्चय से, अनुत्तर (कथित उत्तर से) कोई भिन्न वस्तु नहीं—क्योंकि वैसी सूरत में वह अनुत्तर भी उत्तर-पक्ष में ही जा गिरेगा—तो भी परमेश्वर के स्वातन्त्र्य से ही कल्पित शिष्य-गुरु-भाव को ध्यान में रखकर यह व्यवस्था करनी पड़ी है। इस बारे में पहले ही चर्चा की गई है। इसलिये अब विस्तारपूर्वक अनुत्तरीय स्वरूप का वर्णन करने के लिए अगले सूत्रों को अवतरित कर रहे हैं—

अमृत बीज (सौः मन्त्र) का वर्णन।

मूल-सूत्र

हे कल्याण को उपजाने वाली और प्रशस्त पथ पर चलनेवाली देवी ! 'चौदहवें स्वर' अर्थात् 'औ' को अपने साथ संयुक्त करके और 'तिथीश' अर्थात् 'अं' के 'अन्तिम' अर्थात् 'अः' को उसके पीछे लगाकर वर्तमान रहनेवाला 'तीसरा ब्रह्म' अर्थात् 'ओं तत् सत्' इस महामन्त्र में वर्णित तीसरा ब्रह्म 'स' अथवा पूर्वोक्त श, ष, स, ह, क्ष इस ब्रह्मपञ्चक में से तीसरा ब्रह्म 'स' (कुल

---

१. किसी भी शास्त्र का वह भाग, जिसमें वर्ण्यविषय के साथ सम्बन्धित विधान प्रस्तुत किया गया हो।

२. वह भाग, जिसमें पहले प्रस्तुत किये गये विधि-भाग की मीमांसा की गई हो। कभी एक ही वाक्य का पूर्वार्ध विधि भाग और उत्तरार्ध अनुवाद भाग बनाया होता है।

(अगले चार चरणों का पहले प्रकार का पाठ—)

"एतन्नायोगिनीजातो नारुद्रो लभते स्फुटम् ॥१०॥

मिलाकर स् + औ + अः = सौः) यही [1]अमृतबीज शक्तिभाव[2] की आत्मावाले नरभाव का भैरवीय हृदय है।

I—देवाधिदेव भगवान् अनुत्तर का यह हृदय परामर्श के द्वारा साक्षात्कार किये जाने पर तत्काल ही योगसिद्धि और मुक्ति का वितरण कर देता है, अतः इसका साक्षात्कार ऐसे व्यक्तियों को नहीं होने पाता, जो योगिनी माता की कोख के जाये और रुद्रशक्तियों से समाविष्ट न हों।

II—देवताओं को भी उछल-कूद कराने वाले भगवान् अनुत्तर के इस अमृतबीजरूपी हृदय का साक्षात्कार, योगिनी माता की कोख के जाये और रुद्र-शक्तियों के समावेश से युक्त वीर को अवश्य आकस्मिक रूप में ही हो जाता

---

१. त्रिकपद्धति में 'सौः' बीज अनुत्तरीय हृदय माना जाता है। यह महामन्त्र वैखरी के द्वारा उचारे जाने या किसी पुस्तक इत्यादि में लिखे जाने का विषय नहीं, प्रत्युत एकाग्र ध्यानावस्था में परामर्श के रूप में ही साक्षात्कार किये जाने का विषय है। इसका सच्चा अधिगम तो परमेश्वर के तीव्र शक्तिपात का पात्र बने हुए किसी विरले पुण्यशाली को साक्षात् शिवभाव पर पहुँचे हुए सद्गुरु की अनुकम्पा से ही हो सकता है, नहीं तो कोई लाख बार इसको उचारता रहे या पन्नों पर लिखता रहे कुछ नहीं होने का। वैसे तो त्रिकपरिपाटी में 'सौः' इस साक्षात् रूप में इसका जबानी निर्देश किया जाना या पुस्तक इत्यादि में लिखा जाना अनुचित समझा जाता है। हाँ यदि इसका निर्देश करना हो तो 'अमृतबीज, हृदय' इत्यादि शब्दों के द्वारा कूट रूप में किया जाना ही उचित माना जाता है। भगवान् भूतनाथ ने प्रस्तुत सूत्र में स्वयं भी इसका निर्देश कूटरूप में ही किया है। प्रस्तुत लेखक भी यहाँ से आगे इसी परिपाटी का अनुसरण करना श्रेयस्कर समझता है।

२. गुरु-सम्प्रदाय में मूल-सूत्र के चौथे चरण का अन्वय इस प्रकार लगाया जाता है—'तृतीयं ब्रह्म भैरवात्मनः नः भैरवात्म हृदयम्।' अनुवाद ऊपर किया गया है। तात्पर्य यह कि नरभाव स्वतः कुछ नहीं, उसका जीवन तो शक्तिभाव है। दोनों में अपना स्पन्दन नहीं, भैरवीय हृदय ही उनकी गति है। इस प्रकार अनुत्तरीय हृदय ही प्रत्येक पदार्थ में स्पन्दायमान है। सूत्र में पहले 'भैरव' शब्द से शक्तिभाव का अर्थ लेकर आवृत्ति के द्वारा इसी शब्द से अनुत्तर भाव का अर्थ लिया जाता है। शक्ति और शिव में कोई भेद नहीं, अतः 'भैरव' शब्द दोनों का वाचक है।

(हृदयं देवदेवस्य सद्यो योगविमुक्तिदम् ।
(दूसरे प्रकार का पाठ—)
एतन्-ना योगिनीजातो ना-रुद्रो लभते स्फुटम् ॥
हृदयं देवदेवस्य सद्यो योगविमुक्तिदम् ।"
"अस्योच्चारे कृते सम्यङ् मन्त्रमुद्रागणो महान् ॥११॥
सद्यस्तन्मुखतामेति स्वदेहावेशलक्षणम् ।"
"मुहूर्तं स्मरते यस्तु चुम्बकेनाभिमन्त्रितः ॥१२॥

है। यह ऐसे वीरपुङ्गव को साक्षात्कार हो जाने पर तत्काल ही योगसाधना की पूर्णता और मुक्ति की सिद्धि वितरण कर देता है ॥१०½॥

शैव योग की विधि के अनुसार इसका उच्चार[1] किये जाने पर, महान् मन्त्रों और मुद्राओं का समूह साधक के अन्तस् में साक्षात् स्वरूपतः अनुप्रविष्ट[2] हो जाने के रूप में उसके अभिमुख हो जाता है ॥११½॥

अगर कोई साधक शाक्त[3]-स्पर्श के द्वारा 'अभिमन्त्रित' होकर अर्थात् मन्त्र मुग्ध की तरह आत्म-भाव में ही तन्मय होकर, केवल मुहूर्त भर[4] के लिए इसका

---

१. गुरु-सम्प्रदाय में 'उच्चार' शब्द से साधारण उच्चारण किये जाने के स्थान पर निम्नलिखित तीन अभिप्राय लिए जाते हैं—

१—अमृतबीज का विमर्शरूप में परिपूर्ण साक्षात्कार।

२—प्राणाभ्यास में गुरुमुख से पाई गई युक्ति के अनुसार प्राण एवं अपान की गति के साथ अमृतबीज का संगमन।

३—अभिनव जी के मतानुसार अमृतबीज के साक्षात्कार की पहली कोटि।

२. मन्त्रों और मुद्राओं का गण साधक के स्वरूप में इस प्रकार से प्रवेश करता है कि साधक, मन्त्र-मुद्रा और मन्त्रदेवता—इन सबों की आपस में एक प्रमातामयी एकाकारता हो जाती हैं।

३. यहाँ पर मूल 'चुम्बक' शब्द से मध्यनाडी (सुषुम्णा) में हो जाने वाले शाक्त-स्पर्श, अर्थात् शक्ति के साथ संगम का अभिप्राय है। पहुँचे हुए साधकों को शक्ति हठात् अपनी ओर आकर्षित कर लेती है, अतः कूट रूप में इसको 'चुम्बक' कहा जाता है।

४. मुहूर्त के विषय में दो मत हैं—

१—कइयों के मतानुसार दो घड़ियों के काल-खण्ड को मुहूर्त कहते हैं। यह समय लगभग ४८ मिनट का होता है।

२—अभिनव जी के मतानुसार अमृत बीज के उन्मेष की एक मात्रा, अर्थात् एक ह्रस्व स्वर के उच्चारण का जैसा काल-खण्ड मुहूर्त होता है।

स बध्नाति तदा सर्वं मन्त्रमुद्रागणं नरः ।
अतीतानागतानर्थान् पृष्टोऽसौ कथयत्यपि'' ॥१३॥
''प्रहराद्यदभिप्रेतं देवतारूपमुच्चरन् ।
साक्षात्पश्यत्यसंदिग्धमाकृष्टं रुद्रशक्तिभिः'' ॥१४॥
''प्रहरद्वयमात्रेण व्योमस्थो जायते स्मरन्'' ।
''त्रयेण मातरः सर्वा योगीश्वर्यो महाबलाः ॥१५॥
वीरा वीरेश्वराः सिद्धा बलवाञ्छाकिनीगणः ।
आगत्य समयं दत्त्वा भैरवेण प्रचोदिताः ॥१६॥

'स्मरण'[1] अर्थात् विमर्शरूपी साक्षात्कार करने में सक्षम हो, तो वह सारे मन्त्रों और मुद्राओं के गण को अपने वश में कर लेता है। इसके अतिरिक्त यदि उससे भूतकालीन या भविष्यत्कालीन घटनाओं के बारे में पूछ-ताछ की जाये, तो वह उसका सही उत्तर भी देता है ॥१२-१३॥

एक पहर तक इसके साक्षात्कार की अवस्था में निश्चल रह सकने वाला साधक यदि किसी अभिलषित देवता का साक्षात् दर्शन करना चाहे, तो वह (देवता) रुद्रशक्तियों के द्वारा आकृष्ट होकर उसको निःसन्देह दर्शन देता है ॥१४॥

दो पहर तक इसकी समावेशदशा में स्थिर रह सकनेवाला साधक चिदाकाश में निश्चल स्थिति प्राप्त कर लेता है ॥१४½॥

तीन पहर तक इस अवस्था में रहनेवाले योगी के पास ब्राह्मी इत्यादि आठ मातृका-शक्तियाँ, महाबलशालिनी योगीश्वरियाँ, सब सिद्धियों[2] से पूर्ण वीर[3] और वीरेश्वर तथा अत्यन्त बलशाली 'शाकिनियों' अर्थात् अघोरा, घोरा, और घोरतरा शक्तियों का दल, प्रत्यक्षरूप में सामने आकर और भैरवनाथ की प्रेरणा से उसको समय और वादा देकर, 'परमसिद्धि' अर्थात् मोक्ष अथवा दूसरा भी कोई मनचाहा फल, अर्थात् सांसारिक सुखभोग इत्यादि प्रदान करते हैं ॥१५-१६½॥

---

१. गुरु-सम्प्रदाय में 'स्मरण' शब्द से अनुसन्धान और उससे जन्य साक्षात्कार (विमर्शरूप में ही) का अभिप्राय लिया जाता है। इस सम्बन्ध में शिवसूत्र—'शक्तिचक्रसंधाने विश्व-संहारः' पर क्षेमराज के द्वारा लिखी गई विमर्शिनी टीका द्रष्टव्य है।

२. गुरु महाराज यहाँ पर मूल 'सिद्धाः' शब्द को स्वतन्त्र संज्ञा के रूप में न लेकर 'वीर और वीरेश्वर' इनके विशेषण के रूप में लेते हैं।

३. वीर या वीरेश्वर ऐसे मुक्त शिव हैं, जो साधारण मानव शरीरों में प्रच्छन्न रहकर विश्वजनीन कल्याण एवं उद्धार के कामों में निरत हैं।

यच्छन्ति परमां सिद्धिं फलं यद्वा समीहितम्" ।

"अनेन सिद्धाः सेत्स्यन्ति साधयन्ति च मन्त्रिणः" ॥१७॥

"यत्किञ्चिद् भैरवे तन्त्रे सर्वमस्मात्प्रसिद्ध्यति" ।

"अदृष्टमण्डलोऽप्येवं..................." ॥१८॥

भैरवरूपस्य विश्वस्य, प्रदर्शित-युक्त्यागम-निरूपित-नररूप-अपराभट्टारिका-स्वभावः शाक्तः, तस्य हृदयं सारं शिवरूपं परमेश्वर्या श्रीमत्पराभट्टारिकया समालिङ्गितम् ।

I—मन्त्रों के रहस्य को जाननेवाले व्यक्ति वर्तमानकाल में इसकी साधना कर रहे हैं, भूतकाल में इसके अभ्यास से सिद्ध बन गये हैं और भविष्यत्काल में इसकी साधना से सिद्धि पाते रहेंगे।

II—जो लोग त्रिक से इतर अपर शास्त्रों के मन्त्रों का अभ्यास करने से कथित सिद्ध बन गये हैं, या उन मन्त्रों की साधना में निरत हैं, वे भी अन्ततोगत्वा इस अमृतबीज के उच्चार से ही वास्तविक सिद्धि पाने में सफल हो सकेंगे ॥१७॥

भैरव-तन्त्रों में जिन जिन प्रकार की सिद्धियों के वर्णन किये गये हैं, वे सारी इसका अभ्यास करने से मिल जाती हैं ॥१७½॥

यह[1] अमृतबीज मायीय अंड में व्याप्त रहनेवाले भेदभाव के संकोच को पूरी तरह से मिटा देता है। दूसरी ओर प्रत्येक पदार्थ एवं अवस्था का हृदय होने के कारण शक्ति इत्यादि चारों अंडों में व्याप्त रहनेवाले संकोच का स्वतन्त्रता से अङ्गीकार करके, उस रूप में भी वर्तमान[2] है ॥१८॥

तत्त्व-विवेक

भैरवात्मनः/भैरवात्म-नः, हृदयं, नः—शब्दों की व्याख्या—

भैरवरूपी विश्व (नरभाव) का हृदय अमृतबीज है। इसका तात्पर्य यह है कि ग्रन्थ के पूर्वभाग में निजी अनुभव, गुरुयुक्ति और शास्त्र-सम्प्रदाय के अनुसार, शक्ति के जिस नररूप में विकसमान रहनेवाले अपरारूप का वर्णन किया गया है, उसका 'स्वरूप' अर्थात् जीवन-तत्त्व 'शाक्त' अर्थात् शक्ति का परापर रूप

---

१. यहाँ पर इन सूत्रों का केवल शाब्दिक अनुवाद मात्र किया गया है। इनमें निहित कूट अर्थों का स्पष्टीकरण ग्रन्थकार ने व्याख्या में स्वयं ही किया है।

२. 'अदृष्टमण्डलोऽप्येवम्' इस चरण की अगले सूत्र के साथ पुनरावृत्ति की गई है, परन्तु दोनों चरण स्वतन्त्र रूप से अलग-अलग सूत्र-खण्ड हैं और दोनों का अर्थ भी भिन्न है।

भैरवशब्देन विश्वस्य सर्वसर्वात्मकतावपुः शक्तिरूपं, तत्सहितस्य आत्मनः— नररूपस्य, एतावच्छिवात्मकं हृदयं परेण अभेदेन सर्वात्मकतया एव—तेन, तया च विना अस्य भेदस्यैव अयोगात्—इत्युक्तं प्राक् ।

'सुश्रोणि' इत्यामन्त्रणम् । अशोभन-मायात्मकतायामपि अनपेतं शुद्ध-चिन्मयं यदेतत् श्रोण्यां हृदयं—योनिरूपमुक्तम्, तन्नः—अन्तःकृत-सकल-मन्त्र-महेशादिभिः स्थावरान्त-प्रमातृजातस्य अहमात्मनः 'अस्माकम्' इति समुचिता-पतितव्यपदेशस्य भैरवात्म-पूर्णतामयम् ।

है। उस परापररूप का भी 'हृदय' अर्थात् सारसर्वस्व, सब ऐश्वर्यों से भरपूर और श्रीपराभट्टारिका के द्वारा संघट्टरूप में आलिङ्गित शिवरूप है।

यहाँ पर 'भैरव' शब्द शक्ति के उस रूप का परिचायक है, जो कि सारे 'विश्व' अर्थात् नरभाव का सर्वसर्वात्मक स्वरूप है। ऐसे शक्तिभाव की व्यापकता से युक्त नरभाव का यह शिवात्मक हृदय भी उसमें (नरभाव में) सर्वसर्वात्मकता के ही परिचायक महान् अभेदभाव में अवस्थित है। यह बात पहले ही बताई जा चुकी है कि यदि नरभाव में शिवभाव और शक्तिभाव की व्यापकता न होती, तो इसकी भेदमयता ही संगत नहीं होने पाती।

'सुश्रोणि' यह आमन्त्रणसूचक शब्द है। इस शब्द के द्वारा ऊरुओं के मध्य-वर्ती योनिरूपी हृदय को अभिव्यक्त किया गया है, परन्तु पहले कहा गया है कि इस शक्तिरूपी योनि का स्वभाव कुछ ऐसा है कि इसका विशुद्ध चिन्मय-भाव, मन में अरुचि उत्पन्न करनेवाली मायात्मकता में भी इससे विलगने नहीं पाता। वह योनिरूपी शक्तिभाव ही उस नरभाव की, जिसने सकल, मन्त्र, मन्त्र-महेश्वर इत्यादि से लेकर जडभाव तक के सारे प्रमातृ-समुदाय को अपने में अन्तर्गत करके रखा है, जिसका जीवन (शरीर इत्यादि से सम्बन्धित) अहंभाव है और जिसका सामूहिक रूप में यहाँ पर 'हमारा'[1] इस अपने स्वभाव के अनुकूल शब्द के द्वारा निर्देश किया जाना आवश्यक बन गया है, पूर्णता को द्योतित करनेवाला भैरवभाव है।

---

१. 'हमारा' यह मूल संस्कृत 'नः' का सर्वसाधारण प्रचलित अर्थ है। दार्शनिक दृष्टिकोण से 'हम, हमारा' इत्यादि शब्दों का पृष्ठपोषक जीवभाव-सुलभ देहाभिमान है। यह देहाभिमान ही समूचे नरभाव का जीवन है। अतः यहाँ पर ग्रन्थकार ने पहले 'नः' शब्द से देहाभिमान पर आधारित रहनेवाले समूचे नरभाव का ग्रहण करके, इससे द्योतित होनेवाले 'हमारा' इस अर्थ को भी नरात्मक स्वभाव के अनुकूल ठहरा कर चलते हुए प्रकरण के साथ संगत बना दिया है।

अन्तर्गत-विश्ववीर्य - समुच्छलत्तात्मक - विसर्गविश्लेष - आनन्दशक्त्यैकघनं ब्रह्म-बृहत्, व्यापकं, बृंहितञ्च, न तु वेदान्तपाठक-अङ्गीकृत-केवलशून्यवाद-अविदूरवर्ति-ब्रह्मदर्शन इव। एतच्च तृतीयं नराद्यपेक्षया शिवपरैकरूपम्।

"अत एव अमीषु शास्त्रेषु, अत्र च मुख्यतया तदेव हृदयं पूज्यतया उपदिष्टम्। अननुप्रविष्ट-तथावीर्यव्याप्ति-सार-हृदया अपि, तावन्मात्र-बाह्याचार- परिशीलनेनैव क्रमवश-शिथिलीभवत्-शिथिलितविदलद्-विदलित-पाशव-

---

'तृतीयं ब्रह्म' का शब्दार्थ

प्रस्तुत त्रिक-सम्प्रदाय में स्वीकारा जानेवाला असीम, सर्वव्यापक और शक्तिसंयोग से परिपुष्ट ब्रह्म निज-स्वरूप में निहित रहनेवाले विश्वात्मक वीर्य को बहिरङ्ग रूप में उच्छलित हो जाने के रूप वाले 'विसर्गविश्लेष' अर्थात् शिवभाव से वियोजन और शक्तिभाव के साथ संयोजन के आकार वाली आनन्द शक्ति की घनता से भरपूर है। यहाँ का ब्रह्म, वेदान्त के पाठकों के द्वारा स्वीकारे हुए और बौद्ध दार्शनिकों के केवल शून्यवाद के ही समकक्ष ब्रह्म-दर्शन अर्थात् वेदान्त दर्शन में वर्णित ब्रह्म जैसा नहीं है। इसको तीसरा ब्रह्म इसलिये कहा जाता है कि यह नररूप और शक्तिरूप की अपेक्षा केवल शिव-रूप के साथ एकाकार है।

यही कारण है कि साधारण रूप में प्रत्येक त्रिक-शास्त्र और विशेषरूप में इस परात्रिंशिका में 'वही हृदय' अर्थात् स्त्रीलिङ्ग और पुंलिङ्ग का संघट्टरूपी हृदय[1] ही मुख्य रूप में अर्चनीय बताया गया है। जो स्त्री-पुरुष अभी उस स्तर के [2]महावीर्य की व्यापकता से लदी हुई हृदयदशा में अनुप्रविष्ट न भी हुए हों, वे भी (अगर इच्छुक हों तो) मात्र जीवभाव तक सीमित रहनेवाले बाह्याचार में ही हृदय का अनुशीलन करते रहने से, स्वयं ही, इसकी व्यापकता की भूमिका पर पहुँच जाते हैं, क्योंकि नियमित अभ्यास-क्रम को जारी रखने से उनके लिए कथित नियमों के बन्धन क्रमशः १–ढीले पड़ने लगते हैं, २–पूरे ढीले पड़ जाते

---

१. पूर्वोक्त खेचरी-साम्य की अवस्था पर पहुँचे हुए साक्षात् शिव और शक्ति जैसे वीरों और योगिनियों के सहवास की अवस्था। इसकी चरम कोटि पर वे सहज ही में अनुत्तरभाव में प्रविष्ट हो जाते हैं। इस परिप्रेक्ष्य में तन्त्रालोक में उदाहृत निम्न-लिखित श्लोक दृष्टि में रखना आवश्यक है—

'शिव-शक्त्यात्मकं रूपं भावयेच्च परस्परम्।
न कुर्यान्मानवीं बुद्धिं रागमोहादिसंयुताम्।
ज्ञानभावनया सर्वं कर्तव्यं साधकोत्तमैः'॥

२. महावीर्य के सम्बन्ध में पहले प्रकाश डाला जा चुका है।

नियमबन्धना एतद् हृदयव्याप्ति स्वयमेव समधिशेरते । नहि एतद्धृदयानुप्रवेशः— "एतद् हृदयेऽनुप्रविष्टोऽस्मि, इयं देवी परा' इत्येतत् शब्दविकल्पकल्प्यः, प्रत्युत हृदयान्तरमार्गणाद्—इत्युक्तं विस्तरतः—

सङ्कोचयन्ति हृदयं नहि शास्त्रपाशा
नो संविदं कलुषयेद्यदयं च लोकः ।
'सम्यक्-स्वभाव'पदवीपरिपूर्णरूपा
सैवोल्लसल्लयभरा भरिता स्थितिः स्यात् ॥

यदुक्तं मयैव स्तोत्रे—

'भवद्भक्त्यावेशाद्विशदतरसञ्जातमनसां
क्षणेनैषावस्था स्फुटमधिवसत्येव हृदयम् ॥'

इति ।

हैं, ३-चूर-चूर होने लगते हैं और ४-अन्ततः चकनाचूर हो जाते हैं। इस हृदय में प्रविष्ट हो जाने को अवस्था को—'अरे, मैं तो हृदय में प्रविष्ट हो गया हूँ, यह सामने परा देवी है' इस प्रकार के शब्दात्मक विकल्पों के द्वारा अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता, अपि तु हृदय-भूमिका के बीच में घुस कर टोह लगाने से ही इस अवस्था की अनुभूति हो पाती है। इस तथ्य पर पहले ही विस्तार पूर्वक प्रकाश डाला जा चुका है—

'यदि नरभाव में भटकते हुए लोग (यौन को पशु-सम्बन्ध तक ही सीमित रखने के द्वारा) अपनी संवित् को मलिन न होने दें, तो (—'स्त्री अपवित्र एवं हेय है, यौन का भूत खा जाता है, इस प्रकार की) शास्त्रीय वर्जनायें हृदय को सङ्कोचों का विषय नहीं बना सकतीं। पग पग पर वर्जनाओं में अटकी हुई पशुसंवित् ही अगर 'सम्यक् स्वभाव' अर्थात् परिपूर्ण खेचरी-साम्यात्मक स्वभाव की पदवी पर पहुँच पाये, तो उसमें स्वरूप-समावेशमय लयीभाव का इतना विकास हो जाता है कि वह परिपूर्ण स्थिति, अर्थात् भैरवीय अवस्था बन जाती है।

जैसा कि हमने स्वयं अपने एक स्तोत्र में कहा है—

'(हे भगवन् !) आपकी भक्ति का आवेश होने से अत्यन्त निर्मल बने हुए मनवाले व्यक्तियों के हृदयों को यह भैरवीय अवस्था, स्पष्ट एवं निश्चित रूप में, पल भर में ही अपना थसयी निवास बना लेती है।'

अत एव कोणेषु पूज्यास्तिस्रो, मध्ये देवी परानन्द-भैरवनिर्मथनरूपा । १— नित्यानन्दरसप्रसरेणैव क्षोभात्मक-विसर्गेण (इति देवतानां सम्प्रदायः), २ यामलयोगे वीराणामपि आनन्देन्द्रिय-नित्यानन्द-क्षोभात्मक-दूती-संघट्टजेन, ३



अतः[1] (प्रस्तुत त्रिक-पद्धति में) शक्ति-त्रिकोण के तीन कोणों पर (परा, परापरा और अपरा) ये तीन शक्तिदेवियाँ और केन्द्र में परानन्द-भैरव की निर्मथनरूपिणी शक्ति अर्चनीय मानी जाती हैं।

यह पूजा[2]—

१—देवताओं के सम्प्रदाय में, साधक के निजी [3]आन्तरिक आत्मभाव में ही, नित्यानन्द नामवाले आनन्द की निर्झरिणी के निरन्तर बहाव के रूपवाले

---

१. यहाँ पर ग्रंथकार ने तीन मुख्य तांत्रिक पद्धतियों के साथ सम्बन्धित यौन-क्रियाविधानों का उल्लेख किया है। सारे प्रकरण की भाषा अपनी तान्त्रिक विशेषताओं अर्थात् आवश्यकता से अधिक अस्पष्टता, सांकेतिकता और सूत्रात्मकता को साथ लिए हुए है। पूजनीय गुरुचरण भी ऐसे स्थलों पर स्पष्टवादिता को दूर ही रखना उचित समझते हैं। ऐसी परिस्थिति में जितना कुछ बन सका, उतना प्रस्तुत किया जा रहा है। अनुवाद में आंशिक स्वतन्त्रता बरती गई है।

२. यहाँ पर पूजा से उन तान्त्रिक इतिकर्तव्यताओं का अभिप्राय है, जिनसे इसी हृदयरूपी आनन्दधाम के साथ योग हो जाये। इसमें खेचरी-साम्य पर आधारित आदियाग (वीर-योगिनी-संघट्ट) वर्जित नहीं, अपितु प्रमुख उपकरण है।

३. देवताओं के विषय में साक्षात् स्त्री-सहवास का प्रश्न ही नहीं उठता। कहने का तात्पर्य यह कि स्त्री-सहवास का वह रूप जो मानवों को विदित है, देवताओं का विषय नहीं है। देवभाव पर पहुँचे हुए साधक पूर्णतया आत्मनिष्ठ होने के कारण सदा अन्तर्मुख अवस्था में ही लीन होते हैं। उनके अन्तस् में प्रतिक्षण कुण्डलिनी अभ्युत्थान के रूप में साधारण स्त्री-सहवास से अनन्तगुणी आनन्दमयता की धारा प्रवहमान ही होती है। उसी रूप में 'क्षोभात्मक विसर्ग' अर्थात् आनन्द की उत्तेजित अवस्था में शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्धात्मक रूपों में महावीर्य विसर्ग की प्रक्रिया भी चलती ही रहती है। अतः उनको स्त्री के साथ साक्षात् कायिक स्पर्श जैसे बहिरङ्ग उपकरणों के द्वारा आनन्द भूमिका को उत्तेजित करने की आवश्यकता नहीं पड़ती।

एकवीरतायामपि स्वरूपानन्द-विश्रान्ति-योगेन, ४ पुंसोऽपि आनन्देन्द्रिय-

क्षोभात्मक-विसर्ग के द्वारा आनन्द[२] की उत्तेजना को जन्म देती है।

२—वीर[३]-योगिनी सम्प्रदाय में, वीर और योगिनी के पारस्परिक सहवाससे—जिसका प्रयोजन आनन्देन्द्रियों के पारस्परिक स्पर्श के द्वारा नित्यानन्द को मात्र उत्तेजित करना होता है—उत्पन्न होनेवाले क्षोभात्मक-विसर्ग के द्वारा आनन्द की उत्तेजना को जन्म देती है।

३—[४]एकवीरता-सम्प्रदाय में, (योगिनी के साथ साक्षात् कायिक स्पर्श करने के बदले अपने मन में ही एकाग्रचिन्तन करने के द्वारा) अपने अन्तस् में ही आनन्दमयी विश्रान्ति के साथ योग हो जाने से आनन्द की उत्तेजना को उत्पन्न कर देती है, और—

१. शब्द आदि रूपों वाले वीर्य के स्खलन की अवस्था, जब कि उत्तेजना अपनी चरमकोटि पर पहुँच जाती है।

२. वीर्यविसर्ग की कोटि पर अनुभव में आनेवाली आनन्द की उत्तेजित अवस्था। दूसरे शब्दों में इसको आनन्द-क्षोभ, आनन्द की क्षुब्ध अवस्था इत्यादि भी कहते हैं।

३. वीर-योगिनी सम्प्रदाय का बोलबाला तान्त्रिक युग में जोरों पर रहा होगा। इसमें वीर और योगिनी की संज्ञा पाने के अधिकारी केवल वे नर-नारी हो सकते हैं, जो कि खेचरी-साम्य की अवस्था पर पहुँचे हुए सिद्ध हों। उनमें ऐसी क्षमता उत्पन्न हुई होती है कि वे पारस्परिक सहवास की चरमकोटिक उत्तेजना (वीर्यविसर्ग) की वेला पर अप्रत्याशित रूप में शाक्त-भूमिका में अनुप्रविष्ट हो सकते हैं। फलतः उनका सहवास क्षणिक विषय सुख का उपभोग करने के लिए नहीं, बल्कि आनन्देन्द्रियों के पारस्परिक सम्पर्क के द्वारा अपने-अपने अन्तस् में शान्त अवस्था में अवस्थित आनन्दमयता को क्षुब्ध अथवा उत्तेजित करने के लिए ही अपेक्षित होता है। इस सम्प्रदाय में वीर और योगिनी दोनों का कायिक सान्निध्य अनिवार्य होता है।

४. एकवीरता-सम्प्रदाय भी स्पष्ट रूप में वीर-योगिनी सम्प्रदाय की ही समकक्ष कोई तान्त्रिक शाखा उस युग में प्रचलित रही होगी। इसमें स्त्री का सानिध्य नहीं होता। वीर अपने विजातीय लिङ्ग के साथ शारीरिक सम्पर्क करने के बिना केवल अपने मानसिक चिन्तन के द्वारा ही अपने में आनन्दात्मक क्षोभ उत्पन्न करने के लिए सक्षम होता है, परन्तु इसमें भी ऐसा धारावाहिक चिन्तन मानसिक व्यभिचार के अभिप्राय से नहीं, प्रत्युत अपने में आनन्दमयी उत्तेजना को जन्म देने के लिए ही किया जाता है। गुरुपरम्परा के अनुसार यहाँ पर तीनों सम्प्रदायों के साथ सम्बन्ध रखनेवाली यह आनन्द क्षोभ की अवस्था पूर्ण समाधि की अवस्था समझनी चाहिये। साथ ही खेचरी-साम्य ही इन तीनों सम्प्रदायों की क्रियापद्धति का मूलमन्त्र समझा जाता है।

निःसरणधाम-त्रिकोण-कन्दाधो-विनिविष्टं, चित्तनिवेशाद्, आनन्द-क्षोभ-प्रसवं करोति तदिन्द्रियमूल-तत्पर्यन्त-संघट्टघनतायाम् । अत्रोक्तम्—

'वह्नेर्विषस्य मध्ये तु.......................' ।

इति । एवम् आनन्दयोग एव हृदयपूजा । यथोक्तं त्रिकतन्त्रसारे—

४—सर्व[1]साधारण युग्मों में भी (सहवास की बेला पर) दोनों की आनन्देन्द्रियों का मूलभाग से लेकर अग्रभाग तक संघटन हो जाने की घनता में ही दोनों के चित्त लीन हो जाने के कारण, (पुरुष की) आनन्देन्द्रिय के वीर्यविसर्ग के स्थान और स्त्री के 'त्रिकोणकंद' अर्थात् योनि के अधोभाग में वर्तमान रहनेवाली आनन्दमयता को उत्तेजित कर देती है। इस परिप्रेक्ष्य में कहा गया है—

'वह्नि' अर्थात् सङ्कोच के स्थान और 'विष' अर्थात् विकास के स्थान के मध्य में (अपने आनन्दपूर्ण चित्त को लीन करना चाहिये') ।

फलतः आनन्दमयता के साथ योग हो जाने को ही प्रस्तुत सन्दर्भ में हृदय की पूजा कहा जाता है। जैसा कि त्रिकतन्त्रसार में कहा गया है—

---

१. सर्वसाधारण नर-नारियों का सहवास तो केवल इन्द्रिय-सुख के उपभोग तक ही सीमित रहने के कारण खेचरी-वैषम्य पर आधारित पाशव-सहवास की श्रेणी में ही गिना जाता है। परन्तु सोचना यह है कि ऐसे विषम यौन में भी आखिरकार अति अवर कोटि के आनन्दात्मक क्षोभ की अनुभूति तो हो ही जाती है, उसकी भी प्रसूति कहाँ से होती है ? अतः यहाँ पर ग्रन्थकार को सर्वसाधारण यौन का भी उल्लेख करके इस बात को स्पष्ट करना पड़ा है कि ऐसे यौन में भी आनन्द के क्षोभ का स्रोत हृदय से ही उमड़ पड़ता है।

इन उल्लिखित चार प्रकार के सहवासों में से पहले में शक्ति के परारूप की, दूसरे और तीसरे में परापरारूप की और चौथे में अपरारूप की व्यापकता रहती है। पहले तीन में कुण्डगोलक का और अन्तिम में शुक्र-शोणित का संयोग रहता है। तन्त्र-क्रम में वीरों और योगिनियों में पाये जानेवाले परिपक्व वीर्य एवं रज के लिए कुण्डगोलक शब्द का और साधारण नर-नारियों के वीर्य एवं रज के लिए शुक्र-शोणित शब्द का प्रयोग किया जाता है। इसके अतिरिक्त वीरों और योगिनियों के सहवास को पारिभाषिक शब्दों में 'आदियाग' कहते हैं। सर्वसाधारण सहवास के लिए क्रियापद्धति में न तो कोई स्थान ही है और न इसको कोई महत्त्व ही दिया गया है।

'आनन्दप्रसरः पूजा तां त्रिकोणे प्रकल्पयेत् ।
पुष्पधूपादिगन्धैस्तु स्वहृत्संतोषकारिणीम्' ॥

इति ।

सर्वं हि मुद्राद्वयानुविद्धं--ज्ञान-क्रिया-शक्तिसारत्वात् । केवलं देवतासु ज्ञानमुद्रा अन्तरुद्रिक्ता, क्रियामुद्रा बहिः, वीरेषु विपर्ययः । अनुप्रवेशस्तु समतया विपर्ययाच्च । अनेनैवाभिप्रायेण ज्ञानशक्त्यात्मके लिङ्गे क्रियाशक्तिसमर्पणम् उक्तम् ।

एवम् एतच् चतुर्दश-सुयुतं--संश्लिष्टं, पञ्चदशात्मकतिथीशान्तेन विसर्गेण

'आनन्द के प्रसार को ही पूजा कहते हैं। हृदय को सन्तोष प्रदान करनेवाली वह पूजा, त्रिकोण पर फूल, धूप, दीप, गन्ध इत्यादि द्रव्यों से विधिपूर्वक करनी चाहिये'।

यह सारी इतिकर्तव्यता, निश्चित रूप से, दोनों मुद्राओं अर्थात् शिवत्रिकोण की परिधि में ही सम्पन्न की जाती है, क्योंकि इन 'दोनों में क्रमशः ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति का ही सार भरा रहता है। भेद केवल इतना है कि जहाँ देवताओं में ज्ञानमुद्रा अर्थात् शिवत्रिकोण का विकास अन्दर की ओर और क्रियामुद्रा अर्थात् शक्तित्रिकोण का विकास बाहर की ओर है, वहाँ वीरों में इसका विपर्यय है। जहाँ तक (आनन्दधाम अथवा मध्यधाम में) प्रवेश करने का सम्बन्ध है, उसमें दोनों में साम्य भी है और विपर्यय भी। इसी अभिप्राय से (त्रिकशास्त्रों में) ज्ञानशक्तिमय लिङ्ग पर 'क्रियाशक्ति' अर्थात् क्रियाशक्तिमयी योनि के समर्पित किये जाने का उपदेश दिया गया है।

'चतुर्दशयुतं, तिथीशान्तसमन्वितं, तृतीयं ब्रह्म, हृदयम्'
इन चार पद्य खण्डों की व्याख्या ।

१--चौदहवें स्वर 'औ' के साथ प्रगाढ़ता से जुड़ा हुआ, पंद्रह कलाओं की

---

१. 'त्रिकोण' एक तन्त्र प्रसिद्ध शास्त्रीय शब्द है। यह मुख्यरूप में ज्ञानशक्ति-प्रधान शिवत्रिकोण अर्थात् लिङ्ग और क्रियाशक्ति-प्रधान शक्तित्रिकोण अर्थात् प्रणाली दोनों का वाचक है। क्रिया पद्धति में प्रयोग में लाये जानेवाले दो त्रिकोण लिङ्ग और प्रणाली के प्रतीक होते हैं। इन त्रिकोणों को अलग-अलग रूप में त्रिकोण मुद्रा या शिवत्रिकोण और शक्तित्रिकोण और संपृक्त रूप में षट्कोण मुद्रा कहते हैं। गौण रूप में इस शब्द से पुरुष और स्त्री के साथ सम्बन्धित आनन्देन्द्रियों अर्थात् लिङ्ग और योनि का अर्थ भी अभिव्यक्त हो जाता है। तान्त्रिक क्रिया पद्धति में दोनों प्रकार के अर्थ अभिप्रेत होते हैं।

षोडशेन अन्वितम् । यद्वा चतुर्दशसहितं युतं युग्मं षोडशं, तिथीनां पञ्चदशानाम् ईशो विसर्गः, तस्यान्तः = सप्तदशी अनुत्तरकला, तदन्वितं हृदयम् । सर्वाणि घटसुखादीनि वस्तूनि तामेव बीजसत्तां परमार्थरूपेण आक्रमन्तीत्युक्तं विस्तरतः, अत एव हृदयम् । षोडशधा हृदयमेतत्—

१—"तत्र अनुत्तरानुसारेण, यद् 'एतद्ब्रह्म' सामरस्यं वेद्यवेदकयोः । चतसृणां दशानाम्–उद्योगादीनां समाहारः–अविभागभूः प्राथमिकी, तथा युतम्–अविभागि । य एते तिथीनामीशा ऊकारान्ताः, तत्प्रभत्वादन्यस्य—इति हि

आत्मा होने के कारण तिथीश कहलाई जानेवाली बिन्दुकला के अन्तिम सोलहवें विसर्ग (अः) से युक्त, हृदय—'स' अर्थात् अमृतबीज । अथवा—

२—'अ' से लेकर 'औ' तक की चौदह कलाओं के साथ एक और कलायुग्म (दो स्वर) अर्थात् कुल सोलह कलायें । इनमें सोलहवीं कला विसर्गकला—'अः' है । यह भी तिथीश कहलाई जाती है, क्योंकि यह अपनी पहली पन्द्रह कलाओं की अधिष्ठात्री है । इस सोलहवीं कला की भी अन्तिम सत्रहवीं अनुत्तरकला है । उससे युक्त हृदय अर्थात् अमृतबीज ।

यह बात पहले ही विस्तारपूर्वक समझाई गई है कि सारे घट, सुख इत्यादि रूपोंवाले (भूतात्मक और भावात्मक) पदार्थ, पारमार्थिक रूप में, केवल उस बीजसत्ता की डोर पकड़े हुए हैं, अतः वही सारे पदार्थों का मात्र हृदय है । यह हृदय (सोलह कलाओं (स्वरों) की अपेक्षा से) सोलह प्रकार का है—

१—अनुत्तर (अकार) की अपेक्षा से तीसरा ब्रह्म

'इनमें से अनुत्तर (अ—कला) की अपेक्षा से ब्रह्म का प्रमेय और प्रमाता का समरसीभाव है । यह ब्रह्म, 'चतुर्-दश' शब्द से बोध में आनेवाली पूर्वोक्त उद्योग, अवभास, चर्वण और विलापन इन चार दशाओं के 'समाहार' अर्थात् बहिर्मुखीन विकास की पहली विभागहीन अवस्था से युक्त है, अर्थात् यह ब्रह्म इनकी मौलिक विभागहीन अवस्था ही है । 'अ' से लेकर 'ऊ' तक के छः स्वरों को प्रस्तुत प्रसङ्ग में तिथीशों[२] की संज्ञा दी जाती है, क्योंकि इन्हीं से दूसरे अव-

१. पहले कहा जा चुका है कि विसर्गकला स्वरूप में ही बंटकर १६ वीं और १७ वीं कलाओं का रूप धारण कर लेती है ।

२. संस्कृत व्याकरण के अनुसार अ, आ, इ, ई, उ, ऊ इन छः मूल स्वरों से ही सारे अवशिष्ट स्वर-व्यञ्जन-समुदाय की उत्पत्ति हो जाती है । इस दृष्टि से सारे अवशिष्ट वर्ण-समुदाय के अधिपति होने के कारण यहाँ पर इनको तिथीश की संज्ञा दी गई है—

'स्वराणां षट्कमेवेह कारणं वर्णसन्ततौ ।'

उक्तम्, तेषां तिथीशानाम् अन्ताः अमृतवर्णाश्चत्वारः, तैः सम्यग् अन्वितम्। तच्च तृतीयं--नराद्यपेक्षया शिवरूपं परम्।

वेदकश्चतसृभिर्दशभिरुल्लसन् वेद्यमेव ताभिर्, आप्यायकौतुकात्मना, ता एव अमृतकलाः स्वात्मनि एकीकुर्वन्, वेद्य-वेदक-क्षोभ-समापत्त्या, ऐकात्म्य-लक्षण-प्रसङ्ख्यानेन अभ्यासेन वा गम्यं, भैरवात्मना विश्वहृदयम् अनुत्तरं प्रविशेत्। यथोक्तम्—

'सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।'

इति।"

शिष्ट वर्ण समुदाय की उत्पत्ति हो जाती है। यह ब्रह्म इन छः तिथीशों के अन्त पर अवस्थित चार अमृत वर्णों (ऋ, ॠ, ऌ, ॡ, के द्वारा सर्वाङ्गीण रूप में अनुगत है। (आरोहक्रम से) नर-भाव और शक्ति-भाव की अपेक्षा सब से अतिवर्ती शिवभाव के साथ एकाकार होने के कारण से ही इसको तीसरा ब्रह्म कहा जाता है।

इस परिभाषा का तात्पर्य यह है कि प्रमाता, उन्ही पूर्वोक्त उद्योग इत्यादि चार दशाओं के द्वारा स्वरूप-विकास की दिशा में अग्रसर होकर, उन्हीं दशाओं से स्वरूपतः परिपुष्ट बन जाने की झोंक में, उन्हीं चार अमृत वर्णों (ऋ, ॠ, ऌ, ॡ) को निजी अनुत्तरीय स्वरूप में लय करने के रूप में, वास्तव में समूचे प्रमेय-वर्ग को ही स्वरूप के साथ एकाकार बना लेता है। इस प्रकार से प्रमेयभाव और प्रमातृभाव की हलचल को स्वरूप में ही संघटित करके, तन्मयीभाव के लक्षणों से युक्त ज्ञानमार्ग अथवा (क्रियाप्रधान) योगाभ्यास के द्वारा प्राप्त किये जाने के योग्य अनुत्तरीय विश्वहृदय में—१. या तो (ज्ञानप्रधान) विशुद्ध भैरवभाव अथवा २. (क्रियाप्रधान) भैरवीय योग के द्वारा प्रविष्ट हो जाता है। जैसा कहा गया है—

'पहुँचा हुआ साधक, अपने आप की व्यापकता को सारे जड़-चेतन समुदाय में और सारे जड़-चेतन समुदाय की व्यापकता को अपने आप में अनुभव करता रहता है।'

---

१. यहाँ तक की अनुभूति का शास्त्रीय नाम 'वेदकतादात्म्य' है।

२. इस दूसरी अनुभूति का शास्त्रीय नाम 'वेद्यतादात्म्य' है।

२—"इच्छोल्लसत्तात्मनि आनन्दशक्तौ यदेतत् संहृत्य-अनुसृत्या, क्रिया-शक्तिमपेक्ष्य तृतीयं रूपम् 'इच्छात्म', तदेव प्राक्कोटौ 'इष्यमाणाद्यकलुषं ब्रह्म, चतुर्यं दश = चत्वारिंशत्, भैरवभेदापेक्षया परभैरव-परशक्ति-त्रय-सहितानि तत्त्वानि। यथोक्तम्—

२—आनन्द शक्ति (आकार) की अपेक्षा से तीसरा ब्रह्म

"आनन्द शक्ति 'आ' विशुद्ध[1] इच्छा 'इ' के प्रादुर्भाव की मूल भूमिका है। इसमें, विलोम रीति से, क्रियाशक्ति की अपेक्षा से तीसरा (अर्थात् १ क्रिया, २ ज्ञान, ३ इच्छा इस प्रकार), जो इच्छात्मक रूप अन्तर्निहित है, वही तो 'पहली कोटि' अर्थात् अक्षुब्ध अवस्था में किसी अभिलाषा का विषय बननेवाले पदार्थ के उपराग से मलिन न बना हुआ ब्रह्म है। यहाँ पर 'चतुर्दश' शब्द से चारगुणा दश = चालीस अर्थात् स्वयं भैरव-तत्त्व = १, और उसके अपने ही स्व-रूपगत भेदों की अपेक्षा से परशक्तियों से युक्त तीन परभैरव = कुल चार तत्त्वों को (सदाशिव से लेकर पृथिवी तक के) ३६ तत्त्वों के साथ मिलाकर कुल चौलीस[2] तत्त्वों का बोध हो जाता है। इस विषय में कहा गया है—

---

१. आनन्द शक्ति (आ) के अनन्तर विकास में आनेवाली इच्छा शक्ति (इ) मूलतः आनन्द शक्ति में पहले से ही निहित होती है, परन्तु इस रूप में आगे इच्छा का विषय बनने वाले प्रमेय-विश्व का कहीं अङ्कुर मात्र भी नहीं होता। अतः इस इच्छा पर किसी भी प्रकार का प्रमेयजनित उपराग न होने के कारण यह विशुद्ध ब्रह्मरूपिणी इच्छा होती है। पहले भी कहा गया है कि 'इकार' इच्छा की पहली कोटि अर्थात् अक्षुब्ध अवस्था का परिचायक है।

२. चालीस तत्त्वों का ब्योरा

१ विशुद्ध
भैरव
शिव-शक्ति-सामरस्य

२	३	४
पर भैरव	परापर भैरव	अपर भैरव
पराशक्ति सहित	परापराशक्ति सहित	अपराशक्ति सहित

(इसके स्वरूपगत भेद)

इन चार तत्त्वों के साथ शेष ३६ तत्त्व मिलाये जाने पर कुल चालीस तत्त्व बन जाते हैं।

'षट्त्रिंशच्छोधनीयानि शोधको भैरवः परः।
परं त्रिकं तु करणं दीक्षेयं पारमार्थिकी ॥'

इत्यादि, तैर्युतम्। आनन्दशक्तिर्हि प्राक् पररूपा पूर्णा। कथम्? तिथीशैः–बीजैः, तदन्तैश्च–योनिरूपधारिभिः, समन्वितम्—इति क्रियाविशेषणम्। तदेव हृदयं—सर्वत्रात्र सकृद्विभातं प्रसङ्ख्यानगम्यं रूपं, मुख्यतः तत्र योग्यानां तु पर-शक्तिपात-पवित्रितानाम्। वृथा इन्द्रजालिक-कलना-लालसानां वा योगाभ्यासः- इति मन्तव्यम् ॥"

३. "इच्छाभिप्रायेण तृतीयम् 'इच्छा', तच्च बृंहितम्–इष्यमाणेन अभिन्नेन

'छत्तीस तत्त्व शुद्ध करने के योग्य हैं। उनको शुद्ध करनेवाला (अपने रूपान्तरों के समेत) स्वयं पर-भैरव ही है। सर्वोत्कृष्ट त्रिक-प्रक्रिया शुद्ध करने का मात्र उपकरण है। पारमार्थिक दीक्षा तो यही है।' इत्यादि। यह आनन्द शक्ति में निहित ब्रह्म इन चालीस तत्त्वों से 'युक्त' अर्थात् इनको स्वरूप में समाकर अवस्थित है। निश्चित रूप से आनन्दशक्ति अपने पहले पर रूप में अर्थात् अनुत्तरीय रूप में चतुर्दिक् परिपूर्ण है।

प्रश्न—(यह ब्रह्म और) किस प्रकार अवस्थित है?

समाधान—'तिथीशान्तसमन्वितम्' इस पद्य-खण्ड को क्रियाविशेषण बनाये जाने पर इससे यह अभिप्राय निकलता है कि यह ब्रह्म 'तिथीशों' अर्थात् स्वररूपिणी वर्णसृष्टि और 'तिथीशों के अन्तिमों' अर्थात् व्यञ्जनरूपिणी वर्णसृष्टि, दोनों को ही स्वरूप में समाकर अवस्थित है। फलतः ऐसा ब्रह्म ही हृदय है। प्रस्तुत परिप्रेक्ष्य में इस तथ्य को स्वीकारना आवश्यक है कि इस दिशा में परमज्ञान की योग्यता रखने वाले और तीव्रतम अनुत्तरीय शक्तिपात के द्वारा पवित्रित अधिकारियों को तो, यह मुख्यतया प्रातिभ-ज्ञान के ही द्वारा अनुभव में आ सकने वाला हृदय का रूप विश्व के अणु-अणु में एक ही बार प्रकाशित हो जाता है। योगाभ्यास का पचड़ा तो केवल उनके लिए है, जिनको किसी प्रयोजन के बिना केवल मदारी का खेल-तमाशा दिखाने की लालसा हो।

३—इच्छा (इकार) की अपेक्षा से तीसरा ब्रह्म

"इच्छा[1] 'इ' की अपेक्षा से तीसरे ब्रह्म का रूप इच्छा ही है, परन्तु यह (पूर्वोक्त इच्छा की अपेक्षा) इसका पुष्ट रूप है। कहने का तात्पर्य यह है कि इस

१. व्याख्या २ में वर्णित इच्छा अक्षुब्ध इच्छा की पहली कोटि और यहाँ पर वर्णित इच्छा उसी की दूसरी कोटि है। दोनों में भेद केवल इतना है कि जहाँ पहली में इष्यमाण अर्थात् आगे इच्छा का विषय बनने वाले प्रमेय विश्व की इच्छा से इतर रूप में रंचमात्र चेतना भी विद्यमान नहीं, वहाँ दूसरी में उसके सूक्ष्मातिसूक्ष्म आसूत्रण का क्षीण आभास जैसा वर्तमान होता है।

पूर्णं ब्रह्म। चतुर्दश-चत्वारिंशत्, युतानि-निर्विभागभाञ्जि-यतोऽनन्तरं युतशब्दो विभक्तवाच्यपि युतसिद्धत्वाद्-इति। तिथीश्वरस्य-अनुत्तरकलात्मनः, अन्तः-आनन्दः, तस्य अनु-पश्चाद्, सम्यग् इतं-बोधमयम्।"

४. "ईशनापेक्षया तृतीयम् 'इच्छारूपं', प्रसरवशाद् बृहद्भूतम्-ईशनताम् आपन्नम्। चतुर्दशानां-चत्वारिंशत्ताया उक्तायाः, युतं-परस्परव्यामिश्रता यत्र। तिथीश्वरस्य-अकुलमयानुत्तरात्मनः अन्तः, संहृतिः-कुलशक्तिप्रथमस्पन्दः, तेन अन्वितम्।"

५. "उन्मेषात्मक-ज्ञानशक्ति-योगेन तृतीयं ब्रह्म 'ईशनम्' एव, यदा चतुर्दशानां

स्तर का इच्छात्मक ब्रह्म आगे इच्छा का विषय बननेवाले, अतः अभी इच्छात्मक रूप से अभिन्न प्रमेय विश्व से भरपूर है। इसका भी भाव यह कि इस ब्रह्म में वही उल्लिखित चालीस तत्त्व 'युत हैं' अर्थात् विभागहीन (मात्र इच्छात्मक) रूप में ही अवस्थित हैं। यहाँ पर मूल 'युत' शब्द से इस तथ्य का भी संकेत मिल रहा है कि उल्लिखित विभागहीनता की अनन्तरवर्तिनी सविभागता भी इस ब्रह्म में निहित ही है, क्योंकि विभागराहित्य और विभाग दोनों आपस में 'युत-सिद्ध' अर्थात् एक साथ ही सिद्ध हैं। इसके अतिरिक्त 'तिथीश' अर्थात् अनुत्तर 'अ' के, 'अन्तिम' अर्थात् आनन्दशक्तिमय 'आ' का, बिल्कुल अनुवर्ती यह इच्छात्मक ब्रह्म पूर्णरूप से बोधमय ही है।"

४—ईशना (ईकार) की अपेक्षा से तीसरा ब्रह्म

"ईशना 'ई' की अपेक्षा से तीसरा ब्रह्म इच्छा का वह रूप है, जो कि (स्वरूप में निहित रहनेवाले उसी उल्लिखित इष्यमाण प्रमेय-विश्व का इच्छा रूप में ही) प्रसार होने के कारण पूर्णरूप से बृहत् अथवा परिपुष्ट बनकर, 'ईशना' अर्थात् क्षुब्ध इच्छा के स्तर पर पहुँचा हुआ है। इसमें उसी पूर्वोक्त चालीसे के तत्त्वों का पारस्परिक मिश्रण पाया जाता है। यह ब्रह्म 'तिथीश्वर' के अर्थात् अकुलमय अनुत्तर के 'अन्दर' अर्थात् स्वरूप में ही, 'कुलशक्ति के पहले स्पन्द' अर्थात् 'अ-कला' अथवा 'ओं'[1] इस एकाक्षरी प्रणव की स्पन्दायमानता से युक्त है।"

५—उन्मेष (उकार) की अपेक्षा से तीसरा ब्रह्म

'ईशना' का [2]उन्मेषमयी ज्ञानशक्ति 'उ' के साथ योग हो जाने पर भी तीसरे

---

१. महामहिमशाली सद्-गुरुओं के उपदेश और ईश्वरीय आगमों की साक्षी के अनुसार यह सारा बहिरङ्ग विश्व अनुत्तरीय अ-कला अथवा 'ओं' इस एकाक्षरी प्रणव की स्पष्ट एवं प्रत्यक्ष व्याख्या है।

२. पहले भी कहा गया है कि उन्मेष 'उ' ज्ञानशक्ति की वह पहली कोटि है, जिसमें पूर्वोक्त ईशना में विभागहीन अवस्था में वर्तमान रहनेवाले बहिरङ्ग प्रमेय विश्व

तस्या एव तत्त्वचत्वारिंशतो, युतं–प्रथमविभागो यत्र, तथाविधं भवति। तथा तिथीशान्तेन–कुलशक्ति-प्रथमस्पन्देन, सम्यक्–प्ररुरुक्षतया, अन्वितम्। संशब्दोऽत्र भरणापेक्षः।"

६. "तज्ज्ञानशक्ति-क्रियाशक्ति-मध्यकोटिरूप-प्राङ्‌निर्णीत-ऊकारकला-आल-

---

ब्रह्म का रूप 'ईशना' ही है, परन्तु इसमें (प्रस्तुत स्तर की ईशना में) उसी पूर्वोक्त तत्त्वचालीसे का 'युत'[1] अर्थात् प्राथमिक विभाग परिलक्षित होता है। इसके अतिरिक्त यह ब्रह्म कुलशक्ति के प्राथमिक स्पन्द के वैसे रूप से युक्त है, जिसका झुकाव अलग-अलग तत्त्वों के रूप में अङ्कुरित होने की ओर ही है। प्रस्तुत प्रसङ्ग में 'सम्' इस शब्द का अर्थ 'भरण' अर्थ प्रमेयभाव को पुष्ट बनाना है।"

६—ऊनता (ऊकार) की अपेक्षा से तीसरा ब्रह्म

"ऊ-कला', जिसका निरूपण पहले किया जा चुका है, ज्ञान-शक्ति का ही एक ऐसा रूप है, जो कि 'उ' के द्वारा द्योतित होनेवाली अस्फुट या अक्षुब्ध ज्ञान-शक्ति और आगे 'ए' के द्वारा परिलक्षित होनेवाली क्रिया-शक्ति इन दो की मंझली अवस्था है। इसका स्वभाव[2] 'ऊढता' अर्थात् अपने आप में (अन्तःकरण में) उसी उल्लिखित तत्त्वविभाग को (उसके स्पष्ट घट, पट आदि बहिरङ्ग स्थूल रूपों में प्रसृत होने से पहले) ज्ञानरूप में ही धारण किये रहना है। इसी स्वभाव

का आन्तरिक ज्ञानरूप में ही विभाग का श्रीगणेश होने लगता है। इसको विभाग-राहित्य के गर्भ में ही विभाग का आसूत्रणमात्र समझना चाहिए। इसीलिए इस स्तर की ज्ञानशक्ति को अक्षुब्ध ज्ञानशक्ति भी कहते हैं।

१. 'युत' शब्द का मूल धातु 'यु' है। इस धातु का अर्थ मिश्रण एवं अमिश्रण, अर्थात् प्रस्तुत प्रसङ्ग के अनुकूल विभागराहित्य में ही विभाग की योजना है।

२. इस सन्दर्भ में ग्रन्थकार ने पहले ही निम्नलिखित शब्द कहे हैं—'''''अनुत्तर-संवित्सर्वभावगर्भीकारेण, अनङ्गधेनवीरूपपरदेवताया ऊधोरूपा ऊढसकलभावराशिः'''''।' इसका भाव यह है कि 'ऊ-कला' पराशक्तिरूपिणी कामधेनु का अयन बनकर, स्वयं अनुत्तर के गर्भ में रहती हुई ही, अपने में सारे भावों को दूध की तरह धारण करके वर्तमान है। यहाँ पर आचार्य जी ने कामधेनु के स्थान पर 'अनङ्गधेनु' शब्द का प्रयोग करके इस तथ्य की ओर संकेत किया है कि पराशक्ति से ही सृष्टि के मूल रहस्य कामतत्त्व की प्रसूति हो जाती है। इस तरह की ज्ञानशक्ति को 'उकार' के स्तर की अस्फुट ज्ञानशक्ति और 'एकार' के स्तर की क्रियाशक्तियों की मंझली अवस्था कहने का तात्पर्य यह कि यह ज्ञानशक्ति, वास्तव में, सारे बहिर्मुखीभाव को स्वरूप में ही अन्तिम रूप देने की इच्छात्मिका अवस्था जैसी ही है।

म्बित-ऊढतारूढ्या यदेतद् ब्रह्म—यत्किञ्चिच्चराचरं, तदशुद्ध—शुद्धाशुद्ध-सृष्ट्यपेक्षया तृतीयं शुद्धसृष्ट्यात्मकम्, अत एव तिथीश्वरैर् हृदयभूततया, तदन्तैश्च कादि-क्षान्तैः समन्वितम्।"

अथ शून्यचतुष्कानुसृत्या—

७—"चतुर्णां—धरादीनां, दशा—विनाशात्मिका/अविनाशात्मिका, विद्यते

की रूढ़ि के अनुसार, इस स्तर पर, ब्रह्म का रूप भी (अन्तःकरण में ही अवभासित होनेवाला) समूचा चराचर विश्व ही है, परन्तु यह रूप अशुद्ध-सृष्टि और शुद्धाशुद्ध-सृष्टियों की अपेक्षा, मात्र शुद्ध-सृष्ट्यात्मक होने के कारण से ही तीसरा ब्रह्म है। यही कारण है कि यह ब्रह्म 'तिथीश्वरों' अर्थात् सारे सृष्टि प्रपञ्च का हृदय बने हुए स्वरों और 'तदन्तों' अर्थात् 'क' से लेकर 'क्ष' के व्यञ्जनों के द्वारा अनुगत है।" अब 'शून्यचतुष्क'[1] अर्थात् ऋ, ॠ, ऌ, ॡ, इन चार शून्य वर्णों की अपेक्षा से (तीसरे ब्रह्म का वर्णन प्रस्तुत किया जा रहा है)।

७—पहले शून्य वर्ण (ऋकार) की अपेक्षा से तीसरा ब्रह्म

"पृथिवी, जल, अग्नि और वायु इन चार तत्त्वों की जो—(१) इनके स्थूल रूपों के नष्ट हो जाने की, और (२) सूक्ष्म शून्यरूप में अवस्थित रहने के कारण

---

१. पहले कहा गया है कि ऋ, 'ॠ, ऌ, ॡ' इन चार वर्णों को पारिभाषिक रूप में शून्यचतुष्क कहते हैं, क्योंकि ये शून्यातिशून्य अथवा भगवान् की अनाश्रित शिवमयी अवस्था के परिचायक हैं। भगवान् अनुत्तर बहिर्मुखीन प्रसार की ओर उन्मुख होते समय ज्यों ही विमर्शरूप में स्पन्दायमान होने लगते हैं, त्यों ही स्वरूप से च्युत हो जाते हैं। परन्तु दूसरी ओर अभी अन्तर्मुखीन ज्ञानावस्था से निकलकर क्रियामयी बहिरङ्ग जगत्-रूपता पर भी पहुंचे नहीं होते हैं। यही मंझली अवस्था उनके शून्यातिशून्यभाव की अवस्था होती है। शून्याकाश ही इस अवस्था का परिचायक है। अस्तु, पाठक इस विषय से भली-भाँति परिचित ही हैं, अतः इसको यहीं छोड़कर यह कहना आवश्यक है कि सिद्ध लोगों ने इस अवस्था को 'व्योमसमाधि' का नाम दिया है। यह समाधि 'ऋ' से आरम्भ होकर 'ॡ' पर अपने पूर्ण परिपाक पर पहुँच जाती है। क्रम निम्न प्रकार का है—

व्योमसमाधि के चार सोपान

ऋ	ॠ	ऌ	ॡ
अस्थिर व्योमसमाधि	कुछ स्थिर व्योमसमाधि	अर्ध-स्थिर व्योमसमाधि	पूर्ण स्थिर व्योमसमाधि परिपूर्ण शून्य
प्रमाण-तेज	प्रमाण-तेज	प्रमातृ-तेज	प्रमातृ-तेज

यत्र तद् 'व्योम', तेन युतं–सहितं ब्रह्म 'इच्छाख्यम्'। तिथीश्वरस्य–अर्कस्य, अन्तेन–बाह्येन, तेजसा अन्वितम्।"

८—"व्याख्यातक्रमेण तृतीयं ब्रह्म 'ईशनम्'। एतदपि एवमेव"

९—"तृतीयं ब्रह्म 'इच्छाख्यम्'। चतुर्णां–धराप्रभृतीनाम्, अन्तर्दशा यत्र आधारतया, तया युतम्। तिथीशान्तस्य–वह्नेः तेजसो यदनुसरद्रूपं, तेन समन्वितं–सहितं व्योमात्म।"

नष्ट न होने की भूमिका है, वही 'ऋ' से द्योतित होनेवाला शून्य आकाश[1] है। इस वर्ण में निहित रहनेवाली इच्छा (र् + इ = ऋ) ही विलोम रीति से क्रिया की अपेक्षा तीसरी होने के कारण, प्रस्तुत प्रसङ्ग में, तीसरा ब्रह्म है। यह ब्रह्म 'तिथीश्वर' अर्थात् सूर्य के 'अन्तिम' अर्थात् बाहरी तेज (तन्त्रप्रक्रिया में प्रमाण तेज) से युक्त है।"

८—दूसरे शून्य वर्ण ॠकार की (अपेक्षा) से तीसरा ब्रह्म

"उल्लिखित व्याख्या के क्रम के अनुसार ही शून्य के साथ मिली हुइ 'ईशना'[2] (र् + ई = ॠ) प्रस्तुत 'ॠकार' में अन्तर्निहित रहने वाले तीसरे ब्रह्म का स्वरूप है। शेष बातें पूर्ववत् ही हैं।"

९—तीसरे शून्य वर्ण (ऌकार) की अपेक्षा से तीसरा ब्रह्म

"(ऌकार में भी अन्तर्निहित रहनेवाले) तीसरे ब्रह्म का रूप 'इच्छा[3]' है—(ल् + इ = ऌ)। धरा, जल, अग्नि और वायु इन चार तत्त्वों की 'भीतरी दशा' अर्थात् व्योमरूपिणी अवस्था ही इसका आधार है, अतः यह उसीके साथ संबन्धित है। इसके अतिरिक्त 'तिथीशान्त' अर्थात् अग्नि के तेज (तन्त्र की परिभाषा में प्रमातृ-तेज) का अनुसरण करने वाले किसी अनिर्वचनीय रूप के साथ सम्बन्धित होने के कारण यह ब्रह्म वस्तुतः शून्य–आकाशमय है।"

---

१. महाप्रलय के अवसर पर ये चार स्थूल महाभूत अपने स्थूल रूपों को छोड़कर सूक्ष्म रूपों में ही शून्याकाश में लीन होकर अवस्थित रहते हैं।

२. 'ऋ' वर्ण र्-ध्वनि और इ का संयुक्त रूप है, अतः इसको शास्त्रीय परिभाषा में शून्य के साथ सम्बन्धित इच्छा कहते हैं। इसी प्रकार 'ॠ' वर्ण र्-ध्वनि और ई का संयुक्त रूप होने के कारण शून्य के साथ सम्बन्धित ईशना समझा जाता है।

३. 'ऌ' वर्ण ल्-ध्वनि और इ का संयुक्त रूप होने के कारण ऋ की तरह ही शून्य के साथ सम्बन्धित इच्छा माना जाता है। इसमें और ऋ में केवल शून्यता की स्थिरता के अनुपात का ही अन्तर है। 'ऋ' अस्थिर-व्योम और 'ऌ' अर्ध-स्थिर व्योम के परिचायक हैं।

१०—"तथैव तृतीयं ब्रह्म, चतुर्दशयुतं, तिथीशान्तसमन्वितं परिपूर्ण-शून्यरूप-प्लुत्या भैरवात्म।

इच्छा खलु निज-स्वभावभूतेशन-सहिता वेद्यभूमेर् व्योमसत्तां यदाक्रामति तदा किञ्चित्प्रकाशभुवि विश्रम्य, झटिति अपर्यन्तां, काष्ठ-पाषाण-प्रायां निश्चलां व्योमभूमिम् अनुप्रविशति, यत्र अपवेद्य-सुषुप्त-महाव्योम-अनुप्रविष्टान् योगिनः प्रति उच्यते--

'भेरीकांस्यनिनादोऽपि व्युत्थानाय न कल्पते'

इत्यादि।"

१०–चौथे शून्य वर्ण (ॡकार) की अपेक्षा से तीसरा ब्रह्म

"ॠ-वर्ण की ही तरह 'ॡ' वर्ण में भी अन्तर्निहित रहनेवाला तीसरा ब्रह्म 'ईशना[1]' ही है—(ल् + ई = ॡ)। यह भी पूर्ववत् ही एक ओर धरा इत्यादि चार तत्त्वों की शून्यरूपिणी भीतरी दशा के साथ और दूसरी ओर प्रमातृ-तेज के अनुयायी किसी अनाख्य रूप के साथ सम्बन्धित है। केवल अपने पूर्ववर्ती तीन शून्य वर्णों के शून्यभाव की अपेक्षा परिपूर्ण शून्य (शून्यातिशून्य, महाशून्य) में अलक्ष्य[2] वेग में डुबकी लगाने के कारण यह ब्रह्म स्वरूपतः भैरवात्मक है।

तात्पर्य यह है कि जिस वेला पर इच्छा अपना स्वभाव बनी हुई ईशना को साथ लेकर प्रमेय-भूमिका से शून्य-भूमिका की ओर बढ़ जाती है, उस वेला पर वह पहले न्यून प्रकाश वाली भूमिका पर थोड़ा सा विश्राम लेने के अनन्तर एक-दम ऐसी एक अन्तहीन महाशून्य की भूमिका में घुस जाती है, जो कि लकड़ी या पत्थर जैसी अविचल है। इस अपवेद्य सुषुप्तिदशा के जैसे आकार वाले शून्याकाश में प्रविष्ट हुए योगियों के विषय में यह कहा जाता है कि—

'नगाड़ों और मजीरों का गहरा नाद भी उनको व्युत्थान में नहीं ला सकता है'।

इत्यादि।"

---

१. 'ॡ' वर्ण ल्-ध्वनि और ई का संयुक्त रूप होने कारण शास्त्रीय परिभाषा में पूर्ण स्थिर शून्य अर्थात् महाशून्य में अनुप्रविष्ट हुई 'ईशना' का प्रतीक समझा जाता है।

२. 'ॡ' वर्ण व्याकरण की परिभाषा में प्लुत वर्ण है। वहां पर भी इसके प्लुत होने में शायद इसी शैव मान्यता का रहस्य भरा पड़ा है कि यह वर्ण उस शून्यातिशून्य अनाश्रित शिवभाव को द्योतित कर रहा है, जिसमें ईशनासहित इच्छा वेगी प्लुति (उच्छलन) के द्वारा अनुप्रविष्ट हो जाती है।

अधुना उक्तव्याप्त्या यदेतत् परस्पर-रूपसाङ्कर्य-वैचित्र्यं शक्तीनां तदुद्देशेन एवम्—

११—"इच्छा यदा अनुत्तरपद-प्रवेश-शालिनी भवति तदा शक्तिक्षोभस्य रसनानन्तरं तत्रोच्यते—

विलम्बित-मध्य-द्रुतानां चिद्-विशेषस्पन्दानां सत्त्वादि-योगजुषां चतुः-शब्दोपलक्षिता चतुर्थी दशा यत्रास्ति सामान्यस्पन्दरूपा तद् 'अकुलं', तेन

अब पहले समझाई गई रीति के अनुसार, (अनुत्तर 'अ', आनन्द 'आ', इच्छा 'इ', ईशना 'ई', उन्मेष 'उ' और ऊनता 'ऊ' इन) छः स्वरों का एक दूसरे में (विजातीय रूप में) प्रवेश करने से वर्ण-शक्तियों में जो पारस्परिक रूप संकर और विचित्रता उत्पन्न हो जाती है, उस उद्देश्य को दृष्टि में रखने पर तीसरे ब्रह्म का स्वरूप इस प्रकार है—

११—एकार की अपेक्षा से तीसरा ब्रह्म

"जब ईशना सहित इच्छा (इ, ई) आनन्द शक्ति सहित अनुत्तर-पद (अ, आ) में प्रवेश करने के अभिमुख[1] हो जाती है, तब 'शक्तिक्षोभ' अर्थात् इच्छा-रूपिणी शक्ति और अनुत्तर का संघट्ट हो जाने से जनित शाक्त-उत्तेजना का आस्वाद लेने के उपरान्त उस अवस्था के विषय में कहा जाता है—

सत्त्वगुण प्रधान विलम्बित स्वर, रजोगुण प्रधान मन्द्र स्वर और तमोगुण प्रधान द्रुत स्वर इन तीन स्वर रूपों में बाहर को ओर प्रवहमान रहनेवाले चित्तवृत्तिरूपी विशेष स्पन्दों की चौथी मौलिक दशा सामान्य[2] स्पन्दमयी है।

---

१. ग्रन्थकार ने ए, ऐ, ओ, औ इन चार वर्णों के विषय में पहले भी अपनी मीमांसा प्रस्तुत की है। उसके अनुसार 'ए' पांचवां क्रिया-स्थान है। यह उस वर्णरूप का परिचायक है, जिसमें इच्छाशक्ति ही (पश्च-प्रसार करके) अनुत्तर में प्रविष्ट हो गई है—

'अ←इ=ए, आ←इ=ए, आ←ई=ए, आ←ई=ए' इस प्रकार से यह वर्ण अनुत्तर एवं शक्ति का संघट्ट है। वास्तव में इस संघट्ट से ही ए, ऐ, ओ, औ इन चार रूपों वाला वर्ण वैचित्र्य प्रादुर्भूत हुआ है। अलग अलग विश्लेषण ग्रन्थकार स्वयं ही कर रहे हैं।

२. मौलिक विश्वात्मक स्पन्दन अथवा भगवान् की विमर्शमयी स्पन्द-शक्ति एक ही है। उसका नाम सामान्य-स्पन्द है। वही शक्ति जब बहिर्मुख होकर विश्व के अनन्त पदार्थों के रूप वाली अनन्त धाराओं में प्रवहमान होने लगती है, तो विशेष-स्पन्द कहलाती है।

अकुलेन–अनुत्तरेण युतं तृतीयं ब्रह्म 'इच्छात्म' ईशनसहितं, तिथीशस्य अकारस्य, अन्तेन–आनन्दशक्त्यात्मना, अन्वितम् ।"

१२—"तदपि तथैव पुनरपि परां सत्ताम् अनुप्रविशति यदा, तदा भैरवात्म-परिपूर्णं, दीर्घीभूतं, नः–अस्माकम्–इति ।

'अत एव एतदेव बीजयुग्मम् एवंविध-बीजवैचित्र्य-अनुप्रवेशाद् '(१)

इसका बोध 'चतुः' शब्द से होता है। जहाँ पर इस चौथी दशा की वर्तमानता है, वही 'अकुल' है। उसी 'अकुल' अर्थात् अनुत्तर के साथ मिली हुई 'ईशना सहित इच्छा' ही प्रस्तुत प्रसङ्ग में तीसरा ब्रह्म है। यह ब्रह्म 'तिथीश' अर्थात् 'अ' के, 'अन्तिम' अर्थात् आनन्द शक्तिमय 'आ' के साथ भी संश्लिष्ट है।"

१२—ऐकार की अपेक्षा से तीसरा ब्रह्म

"वह 'एकार' भी जब पूर्ववत् ही परम सत्ता अर्थात् आनन्द शक्ति सहित अनुत्तरधाम (अ, आ) में प्रवेश कर जाता है, तब दीर्घरूप को धारण करके परिपूर्ण भैरवभाव में अवस्थित रहनेवाला और हम शैव लोगों का जाना-पहचाना ब्रह्म ही है।"

इस प्रकार के स्वरमिश्रण की विचित्रता[२] में प्रवेश करने के कारण इन्हीं

---

१. प्रक्रिया शास्त्रों में 'ए' को त्रिकोण बीज कहते हैं क्योंकि यह इच्छा, ईशना और अनुत्तर का संघट्ट है। परन्तु स्मरण रहे, इस त्रिकोण बीज का रूप देवनागरी 'ए' नहीं, अपि तु शारदा लिपि का '∇' = ए है।

२. विचित्रता इस प्रकार है—

१ ए = अ + इ, ई—अनुत्तर, इच्छा और ईशना का मिश्रण।

२ ए = आ + इ, ई—आनन्द शक्ति, इच्छा शक्ति और ईशना शक्ति का मिश्रण।

३ ऐ = अ + ए—अनुत्तर एवं त्रिकोण बीज का मिश्रण।

४ ऐ = आ + ए—आनन्द शक्ति और त्रिकोण बीज का मिश्रण।

आच्छाद-(२) प्रसवसमर्थम्'—इति काम-वाक्तत्त्व-उपयोगेन उच्यते—

दो बीज वर्णों (ए, ऐ) को क्रमशः 'अच्छाद[1]समर्थ' और 'प्रसवसमर्थ'[2] अङ्गीकार किया जाता है। इनमें क्रमशः निहित रहनेवाली, [3]'कामतत्त्वमयी' अर्थात् अभिव्यक्ति से रहित काम की अभिलाषा के रूपवाली और 'वाक्तत्त्वमयी' अर्थात्

१. इसको दूसरे शब्दों में 'अक्षुब्ध-समर्थ' भी कहते हैं। जिस अवस्था में पुंभाव और स्त्रीभाव अथवा स्वररूपता और व्यञ्जनरूपता पारस्परिक संघट्ट में न हों उस अवस्था में यद्यपि उनमें काम की अभिलाषा और प्रसव का सामर्थ्य, स्वरव्यञ्जनों के परिप्रेक्ष्य में पारस्परिक अनुप्रवेश की अभिलाषा और प्रसार का सामर्थ्य वर्तमान तो होता है, परन्तु संघट्ट के अभाव में क्षुब्ध न हो सकने के कारण शान्त अवस्था में ही पड़ा रहकर बहिरङ्ग सृष्टिविकास का रूप धारण नहीं कर सकता। काम-तत्त्व ही सारी सृष्टि-प्रक्रिया का मूल रहस्य तो है, परन्तु जब तक उसका योग काम-वाणी अथवा अभिव्यक्ति के साथ न हो तब तक उसका कुछ भी उपयोग नहीं है। उस काम-वाणी-तत्त्व का रहस्य न तो ऐकान्तिक पुंभाव (स्वररूपता) में और न ऐकान्तिक स्त्रीभाव (व्यञ्जनरूपता) में ही निहित है, प्रत्युत इन दोनों के संघट्ट में है। शिव-शक्ति-संघट्ट ही तो अनुत्तरीय कामरूप है। पाठकों को याद होगा कि मालिनी-न्यास में ग्रन्थकार ने 'अ' और 'इ' इन दो ह्रस्व स्वरों के मिश्रण से विकसित होने वाले 'ए' में ह्रस्वता का पुट देखा। त्रिकप्रक्रिया में ह्रस्वता ऐकान्तिक शिवभाव की द्योतिका है। अतः इस 'ए' में यद्यपि शिवत्व तो है, परन्तु शक्ति-संघट्ट नहीं है। इसलिये यह वर्ण 'आच्छादसमर्थ' ही है।

२. 'ऐ' के विषय में ह्रस्वता का प्रश्न ही नही उठता, क्योंकि इसका विकास किसी भी अवस्था में दो ह्रस्व-स्वरों के मिश्रण से नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त इसमें स्थायी शिव-शक्ति-संघट्ट का साक्षात्कार हो जाता है। 'ए' वर्ण कभी ह्रस्व और कभी दीर्घ है, अतः उसमें संघट्ट अवस्था स्थायी अथवा अविचल नहीं है। फलतः स्थायी संघट्ट का प्रतीक होने के कारण 'ऐ' वर्ण 'प्रसवसमर्थ' है, अर्थात् इसमें कामतत्त्व और कामवाणी दोनों वर्तमान हैं। त्रिक-सिद्धों ने इस वर्ण में परिपूर्ण भैरवभाव का साक्षात्कार पाया, क्योंकि शिव-शक्ति-संघट्ट ही परिपूर्ण भैरवभाव है।

३. उल्लिखित दो टिप्पणियों में यद्यपि आवश्यकता से अधिक स्पष्ट वक्तृता नहीं बरती गई है, तो भी इनको पढ़कर विज्ञ पाठक काम-तत्त्व और वाक्तत्त्व इन दो शब्दों का तात्पर्य विश्वात्मक एवं सर्वसाधारण परिप्रेक्ष्य में स्वयं ही समझ सकेंगे। सद्-गुरुओं के कथनानुसार इन दो तत्त्वों को केवल आध्यात्मिक परिप्रेक्ष्य में ही नहीं, अपितु सर्वसाधारण जीव व्यवहार के प्रत्येक पक्ष में घटाना चाहिये। वीर पुरुष तो घास के तिनके में भी इन दो महान् विश्वात्मक तत्त्वों का साक्षात्कार करने में पटु होते हैं।

'कामेन कामयेत्कामान् कामं कामेषु योजयेत् ।'

इत्यादि, तथा—

'ए-ओकारगतं बीजं वाग्विधानाय केवलम् ।'

इत्यादि च ।"

१३-१४—'पञ्चम-षष्ठ-वर्णद्वयेन यदुक्तं—'चतुर्दशयुतं तृतीयं ब्रह्म तिथीशान्तसमन्वितम्'—तदेव भैरवात्म–अनुत्तरपदानुप्रविष्टम् ।"

१५—"एतद्ब्रह्म चत्वारिंशद्युतम् उक्तनीत्या तिथीशान्तसमन्वितं भैरवात्मक-वेदनरूपतया बिन्द्वात्मकं हृदयम् ।"

अभिव्यक्तिसहित काम की अभिलाषा के रूपवाली उपयोगिताओं के अनुसार इन दो वर्णों के सम्बन्ध में—

'काम-तत्त्व से ही मनोनीत अर्थों की कामना करनी चाहिये और काम-कलाओं अथवा अभिलषित कामनाओं में काम-तत्त्व की योजना भी करनी चाहिये ।'

इत्यादि, और—

'ए और ओ इस वर्ण-युग्म में निहित रहनेवाला 'बीज' अर्थात् अ-कला रूपी अनुत्तरभाव (ऐ और औ इस वर्ण-युग्म में निहित रहनेवाले) काम-तत्त्व को 'वाणी' अर्थात् अभिव्यक्ति का रूप देने के लिए ही है ।'

इत्यादि बातें कही गई है ।"

१३-१४—ओकार और औकार की अपेक्षा से तीसरा ब्रह्म

"पांचवें और छठे अर्थात् उन्मेषमय 'उ' और ऊनतामय 'ऊ' वर्णों की अपेक्षा से पहले जो—'तत्त्वचालीसे के बंटे हुए रूप और स्वर-व्यञ्जन समुदाय से युक्त तीसरे ब्रह्म का स्वरूप समझाया गया है'—वही अनुत्तरपद में प्रविष्ट होने पर (अ, आ←उ, ऊ=ओ, अ, आ←ओ=औ, इस प्रकार अनुप्रवेश करने पर), प्रस्तुत दो स्वरों (ओ, औ) के सन्दर्भ में, भैरवीयता के साथ एकाकार बना हुआ तीसरा ब्रह्म है ।"

१५—बिन्दुकला (अं) की अपेक्षा से तीसरा ब्रह्म

"पूर्वोक्त नीति के अनुसार—"तत्त्वचालीसे के बँटे हुए रूप और स्वर-व्यञ्जन समुदाय से युक्त ब्रह्म अर्थात् बहिरंग विश्व के अगणित बँटे हुए रूपों में भासमान ब्रह्म ही मूलतः केवल भैरवीय संवेदन अथवा अनुत्तरीय ज्ञान के रूप-वाला होने के कारण बिन्दुकलामय हृदय ही है (फलतः बिन्दु के सन्दर्भ में यह बिन्दुकलामय हृदय ही तो तीसरे ब्रह्म का स्वरूप है) ।"

१६—I "सकलमिदं तत्त्वजालं भैरवात्मतया उच्छलद्, अत एव बहिर् विसृज्यमानं, बृंहितं ब्रह्म, विसर्गात्मकं बहिः स्थितञ्च,—

II—भैरवात्मतयैकीभूतं, भेदात्मक-व्यवच्छेद-दारिद्रय-अपसारणेन, सर्वसर्वात्मकपदप्राप्त्या बृंहितम्–इति विसर्गपदम्'। निर्णीतं च एतद् अवधानेन।"

एवं षोडशात्मिका बीजव्याप्तिरुक्ता। योनिव्याप्तिस्तु प्रतिवर्णं प्रागेव उक्ता। वर्गीकरणाभिप्रायेण तु निरूपणीया—

"बाल्य-यौवन-स्थाविर-देहान्तरग्रहणरूप-दशाचतुष्टय-समाहारमयं पाञ्चभौतिकम्, अन्तः तिथीशान्तेन–प्रवेश-निर्गमनात्मना प्राणापानरूपेण युतं, तृतीयं

१६—विसर्ग (अ:) की अपेक्षा से तीसरा ब्रह्म

I बहिर्मुखीन विसर्गात्मकता की दृष्टि से

"सारा तत्त्व-समुदाय मूलतः भैरवमय होने के कारण प्रतिक्षण बाहर की ओर उछलता हुआ ही है। इसलिये यह बहिर्मुखीन सृष्टि के रूप में धकेला जाने से ही परिपुष्ट बन कर बाहर विसर्गात्मक ब्रह्म के रूप में वर्तमान है और जो कुछ भी बाहर है, वह सारा इसमें अन्तर्गत है,—

II अन्तर्मुखीन विसर्ग पद की दृष्टि से

"यह तत्त्वसमुदाय मूलतः भैरवात्मक होने के कारण बिल्कुल एकाकार बनकर, स्वरूप पर छाने वाली इयत्ताओं को दरिद्रता अर्थात् प्रमेय विश्व की उपाधियों के सम्पर्क से जन्य संकोचों की विडम्बना को हटाने और सर्वसर्वात्मकभाव को फिर उपलब्ध करने से परिपुष्ट बनकर अन्तर्मुखीन विसर्गपद के रूप में भी वर्तमान है (फलतः 'अः' के सन्दर्भ में बहिर्मुखीन विसर्गात्मकता (जब विसर्ग बहिर्मुख हो) और अन्तर्मुखीन विसर्गपद (जब विसर्ग अन्तर्मुख हो) ये ही तीसरे ब्रह्म के दो रूप हैं)। यह निरूपण करने में अतीव सावधानी बरती गई है।"

इस प्रकार स्वरसमुदाय में सोलह प्रकारवाली ब्रह्म की व्यापकता का निरूपण किया गया। व्यञ्जन-समुदाय के प्रत्येक वर्ण में इसकी व्यापकता पहले ही समझाई गई है। अब केवल (शरीर, प्राण, पुर्यष्टक, शून्य और तुर्य इन पांच कायिक अवस्थाओं के) वर्गीकरण के अभिप्राय को लेकर इसकी व्यापकता का प्रकार दर्शाने की बारी है—

कायिक अवस्थाओं के वर्गीकरण की अपेक्षा से तीसरा ब्रह्म

"बचपन, जवानी, बुढ़ापा और दूसरे स्थूल शरीर का अंगीकार इन चार दशाओं का पुतला बना हुआ और भीतर से 'तिथीशान्त' अर्थात् श्वास एवं प्रश्वास के रूपवाले प्राणापान से युक्त यह पाञ्चभौतिक 'पुर्यष्टक' अर्थात् स्थूल

पुर्यष्टकात्म, ब्रह्म बृहत्वाच्च शून्यम् । अत्र हृदयं च शक्त्यात्म । त एते सर्व एव शरीर-प्राण-पुर्यष्टक-शून्य-तुरीयशक्तिरूपा बोधात्मक-शिवबीजसातिशय-घनता-

काया में ही वर्तमान रहनेवाला आतिवाहिक[1] शरीर भी, शरीर (स्थूल) और प्राण की अपेक्षा से तीसरा ब्रह्म ही है। व्यापक होने के कारण इसका आकार शून्य है और इसमें वर्तमान रहनेवाला हृदय शाक्त-शरीर[2] है। वास्तव में बोध-

१. शब्द इत्यादि पांच तन्मात्र (स्थूल भूतों के सूक्ष्म रूप) और मन, बुद्धि एवं अहंकार इन आठ से निर्मित पर-शरीर ही पुर्यष्टक अथवा आतिवाहिक शरीर कहलाता है। मुक्त होने तक आत्मा (प्रस्तुत प्रसङ्ग में आगे कहा जानेवाला शाक्त-शरीर) इसी पुर्यष्टक के घेरे में बन्द रहती है। मृत्यु की वेला पर यह पुर्यष्टक ही आत्मा को एक स्थूल काया से निकाल कर दूसरी स्थूल काया में पहुँचा देता है। आत्मा को वहन करने के कारण से ही इसको आतिवाहिक शरीर कहते हैं। ग्रन्थकार के मतानुसार यह भी ब्रह्म ही है।

२. यहाँ पर भगवान् अभिनव ने अपनी दार्शनिक विचारधारा को एकदम विश्वात्मभाव पर पहुँचा कर कथित रूप में नश्वर कही जानेवाली पाञ्चभौतिक काया को ही ब्रह्मरूप प्रस्तुत में कर डाला हैं। स्थूल काया भी तो वास्तवमें शिव बीज का ही अन्तिम रूप है, अतः यह उससे भिन्न कैसे हो सकती है? चाहे कोई इसको पांच महाभूतों से बना हुआ नश्वर पुतला उद्घोषित करके इसको मिथ्यावाद के साँचे में डालना चाहे, परन्तु जब स्वयं महाभूत भी भैरवीय सत्ता के ही बहिरङ्ग रूपान्तर मात्र हैं, तो पहले वे ही मिथ्या कैसे हो सकते हैं और उन्हीं से बनी हुई काया, एक यथार्थ होती हुई भी, असत्य कैसे ठहराई जा सकती है? यदि कोई उसको नश्वर सिद्ध करने का प्रयत्न करे तो क्या मृत्यु के पश्चात् जलाई जाने पर या और कुछ किये जाने पर भी स्वरूपतः उसका पूर्ण अभाव ही हो जाता है? क्या वह राख या मिट्टी के रूप में ही सही अपना अस्तित्व कायम नहीं रखती? चाहे वह एक आकार में न रहकर दूसरे आकार में ही रहे, उसके अस्तित्व में कौन-सा अन्तर आ जाता हैं? असली वस्तु स्थिति तो यह है कि तरल शिवबीज ही थोड़ा सा घना होकर शक्ति-शरीर और थोड़ा घना होकर शून्य शरीर और इसी उत्तरोत्तर घनता के क्रम से अन्तिम स्थूल शरीर के रूप पर पहुँचा है। उत्तरोत्तर घनीभाव के फलस्वरूप—स्पन्द-शरीर, शाक्त-शरीर, पुर्यष्टक-शरीर, प्राण-शरीर और बाहरों स्थूल-शरीर ये पाँच शरीर-भेद विकसित हुए हैं। दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि ये असल में एक ही शरीर की पाँच परतें हैं, जो कि स्थूल शरीर से आरम्भ करके एक दूसरी के अन्दर वर्तमान रहती हैं। सब से अन्तर्वर्ती स्पन्द-शरीर है। मरने के समय केवल इतना होता है कि यह पाँच परतों वाला शरीर अपनी सबसे ऊपरी परत—स्थूल-शरीर के जीर्ण या किसी रूप में विकल हो जाने पर

क्रम-प्राप्त-कायिकतथाभावा:, बाह्यात्म-भूतात्म-आतिवाहिकात्म-अन्तरात्म-परमात्म-व्यपदेश्या: प्रमातार:, एतद् भैरणात्म हृदयम् ॥"

प्रवेशोपायोऽत्र—

"सर्वा: प्रमातृभूमीरनवच्छेदेन आक्रामेद् (अन्तर्बहिष्करणत्रयोदशकं प्रकृत्या सह च)। चतुर्दश-चत्वारिंशत्, युतं द्विगुणितम् = अशीति:, तिथय:—पञ्चदश, ईशा:—रुद्रा एकादश, अन्तसमन्वितं—समन्विता युक्ता द्विगुणिता: कालास्त्रय:, एवं

मय शिवबीज ही उत्तरोत्तर बढ़ते हुए घनीभाव में क्रम से शरीर, प्राण, पुर्यष्टक, शून्य और तुर्यशक्ति इन रूपों को अपनाकर पांच प्रकार के कायिक प्रमातृभावों में विकसित हुआ है। इनको क्रमश: बाह्यात्मप्रमाता, भूतात्मप्रमाता, आतिवाहिकात्मप्रमाता, अन्तरात्मप्रमाता और परमात्मप्रमाता ये नाम दिये जाते हैं। यह सारा प्रपञ्च भैरवीय हृदय ही है।

इस ब्रह्म में प्रवेश करने का उपाय।

इस हृदयरूपी ब्रह्म में प्रवेश करने का उपाय यह है कि इन सारी प्रमातृभाव की भूमिकाओं (और[1] प्रकृति को साथ लेकर अन्दर की और बाहर की तेरह इन्द्रियों) को अखण्ड रूप में आक्रान्त करते रहना चाहिये (अर्थात् इन सारी प्रमातृ भूमिकाओं को एक दूसरी से भिन्न न मानकर एक ही अखण्डित कायात्मक ब्रह्म के रूप में इनका अनुसन्धान करते रहना चाहिए)।

इस कथन का तात्पर्य यह है कि—

१	'चतुर्दश,—युत' चार गुणा दस, दूना	= ८० अंगुल,
२	'तिथय:'—तिथियों की संख्या	= १५ अंगुल,
३	'ईशा:'—रुद्रों की संख्या	= ११ अंगुल,
४	'अन्त'—दुगुनाये हुए तीन काल	= ६ अंगुल,
	कुल योग	= ११२ अंगुल,

उसको बदल लेता है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार सांप की काया प्रतिवर्ष अपनी ऊपरी जीर्ण परत को बदल लेती है। इतना मात्र होने से ही शरीर नश्वर नहीं ठहराया जा सकता है। अनुभवी लोगों ने इसी तथ्य के आधार पर इन पांच शरीर-भेदों को भी शरीर के नाम से पुकारने की अपेक्षा आत्मा के नाम से ही पुकारना पसन्द किया है। वे नाम स्थूल-शरीर से आरम्भ करके क्रमश: इस प्रकार हैं—बाह्यात्मा, भूतात्मा, आतिवाहिक आत्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा। अत: यह समूचा कायिक प्रपञ्च ही आत्मरूप से भिन्न न होने के कारण वास्तव में ब्रह्म ही है।

१. यहाँ पर सद्गुरु महाराज ने मूल संस्कृत पाठ से 'अन्तर्बहिष्करण····सह च' इतने वाक्य खण्ड का मूलपाठ से पूर्ण बहिष्कार करने का आदेश दिया था, क्योंकि यहाँ चलते हुए प्रसङ्ग के साथ इसकी संगति नहीं बैठती। परन्तु शारदा मूल-पुस्तियों का अध्ययन करते समय ऐसा कोई साक्ष्य उपलब्ध नहीं हो सका, अत: पूर्ण बहिष्कार करने की अपेक्षा इसको कोष्ठक में रखना ही उचित प्रतीत हुआ।

द्वादशोत्तर-शत मर्मगत-स्थूल-सूक्ष्म-पर-शाक्त-स्पन्दरूप-मन्त्रवीर्य-विकास-स्फुरी-

इस प्रकार ११२ [1]अंगुलों के आयाम तक फैले हुए स्थूल-शरीर, सूक्ष्म-शरीर, पर-शरीर, शाक्त-शरीर और स्पन्द-शरीर इन पाँच रूपों वाले कायिक अहंभाव[2]-

१. यहाँ पर मूल-ग्रन्थ में 'मर्म' शब्द का प्रयोग किया गया है। साधारण रूप में यह शब्द सन्धि-स्थानों का वाचक है, परन्तु प्रस्तुत सन्दर्भ में गुरु-सम्प्रदाय के अनुसार इससे अंगुलों का अर्थ लिया जाता है।

२. प्रत्येक जीवधारी की काया में उपरोक्त पाँच रूपों वाला कायिक अहंभाव अपनी ही अंगुलियों के अनुपात से ११२ अंगुलों के आयाम में स्फुरायमाण रहता है। जिन शरीरों को अंगुलियाँ न हों, उनके कायिक परिमाण के अनुपात से ही अंगुलों की माप का अन्दाजा लगाया जाता है, अर्थात् उन शरीरों को ऊपर से नीचे तक माप कर उस माप को ८४ से भाग देने पर उनके एक अंगुल का परिमाण निकल आता है। शरीर के इन पाँच रूपों की अपनी स्पन्दायमानता के आयाम का ब्यौरा निम्न प्रकार से बताया जाता है—

कायिक अहंभाव का स्पन्दन

आयाम	प्रमातृभाव	काया का नाम	अंगुलों की संख्या	संख्या का योग	निरूपण
पैर के अंगूठे से मस्तक तक	बाह्यात्म-प्रमाता	स्थूल-शरीर	८४	८४	काया की बाहरी परत
पैर के अंगूठे से ब्रह्मरन्ध्र तक	भूतात्म-प्रमाता	सूक्ष्म-शरीर	१२	८४ + १२ = ९६	पहली परत के अन्दर दूसरी परत
पैर के अंगूठे से ऊपर की ओर १०८ अंगुल	आतिवाहिक-आत्मप्रमाता पुर्यष्टक	पर-शरीर	१०८ − ९६ = १२	९६ + १२ = १०८	तीसरी परत ब्रह्मरंध्र से ऊपर १२ अंगुल
पैर के अंगूठे से नीचे भूमि में २ अंगुल तक	अन्तरात्म-प्रमाता	शाक्त-शरीर	२	१०८ + २ = ११०	चौथी परत
आतिवाहिक से ऊपर २ अंगुल	परमात्म-प्रमाता	स्पन्द-शरीर	२	११० + २ = ११२	पाँचवीं परत

स्पष्ट है कि कायिक स्पन्दन का आयाम काया के असली ८४ अंगुल के आयाम से ऊपर और नीचे की ओर अधिक होता है।

कृत-विसर्गविश्लेषण-संघट्ट-क्षोभात्मिकां शरीरसत्ताम् एवं भैरवरूपां परिशीलयेत् ।"

युगपन्निवेशसंप्रदाययुक्त्या—

"चतस्रो मधुर-कषाय-तिक्त-अम्लदशा यस्य, मद्य-सुरासवादेस्तत्, तिथीशान्तम्–उभयविसर्गात्मद्रव्यम्, समन्वितम्-तदिन्द्रियद्वयान्तर्वर्ति कुसुमशब्द-

---

रूपी वीर्य के विकास के द्वारा स्पन्दायमान रहने वाले—'विसर्ग-विश्लेष'[1] अर्थात् विसर्ग के अलगाव का स्थान बना हुआ पुं-भाव और 'विसर्ग-संघट्ट'[2] अर्थात् विसर्ग के संयोग का स्थान बना हुआ स्त्री-भाव—इन दोनों रूपों में (नर और नारी रूपों में) उत्तेजना से भरपूर रहने वाली कायिक सत्ता का ही अनुसन्धान भैरवीय रूप में करते रहना चाहिये ।"

"युगपत्-निवेश[3] नामक सम्प्रदाय में प्रचलित युक्ति के अनुसार—

१ चतुर्दश — मीठा, कसैला, कड़वा और खट्टा—इन चार प्रकार के स्वादों वाले मद्य, सुरा, आसव इत्यादि,

---

१. जिस स्थान से वीर्य उच्छलित होकर विश्लिष्ट (अलग) हो जाता है, अर्थात् 'पुरुष काया' ।

२. जिस स्थान के साथ वीर्य संघटित होकर संश्लिष्ट हो जाता है, अर्थात् 'स्त्री-काया ।'

३. इससे पहले का प्रवेशोपाय विशुद्ध साधनात्मक है, क्योंकि स्पष्ट रूप में उस पर चलने वाला व्यक्ति अपनी देहसत्ता का अनुसन्धान भैरवरूप में करने का निरन्तर एवं अखण्ड अभ्यास करते रहने पर ही अपने में भैरवभाव का अनुभव कर सकता है । यह दूसरा युगपत्-निवेश नाम वाला प्रवेशोपाय तो कोई वैसा उपाय नहीं, अपितु तात्कालीन प्रचलित तान्त्रिक युक्ति है । विशुद्ध साधना तो उपाय है, परन्तु हठयोग या कई वाममार्गीय तान्त्रिक पद्धतियाँ युक्तियाँ मानी जाती हैं । आत्मिक अनुसन्धान की दिशा में ऐसी युक्तियाँ कहाँ तक सफल हो सकी हैं, या हो सकती हैं, यह एक अलग विचारणीय प्रश्न है । यहाँ पर केवल इतना ही कहना पर्याप्त है कि प्रस्तुत युगपत्-निवेश भी किसी तान्त्रिक सम्प्रदाय का तात्कालीन प्रचलित ऐसा क्रम रहा होगा, जिसमें आत्मभाव में सहज प्रवेश पाने के नाम पर पञ्च मकारों के प्रयोग करने की खुली छूट रही होगी । युगपत्-निवेश इस शब्द के शाब्दिक अर्थ से ही समक्ष में आ जाता है कि यह भी पूर्वोक्त वीर-योगिनी संप्रदाय की तरह सहवास की वेला पर एक दम्पति के एक साथ ही आत्मभाव में प्रतिष्ठित हो जाने की युक्ति है ।

वाच्यं मलम्, तृतीयं ब्रह्म–जगदिन्धनदाहशेषं भस्म, भैरवात्म–भरिताकारम् आप्यायकम् अम्बुः, हृदयञ्च-उभयेन्द्रियान्तर्वर्ति रसाश्यानोभयरूपम्, तदेतानि द्रव्याणि यथालाभं भेदमल-विलापकानि।"

तथाहि दृश्यत एवायं क्रमो यत्—

---

२ 'तिथीशान्त' — (ग्राम धर्म पर चलने वाले) वीर और योगिनी का स्खलनशील 'द्रव्य' अर्थात् कुण्ड-गोलक[1],

३ 'समन्वित' — दोनों की आनन्देन्द्रियों में वर्तमान रहने वाला 'मल' नामक पदार्थ,

४ 'तृतीयं ब्रह्म — जगत् रूपी काठ को जला कर बाकी बचा हुआ (प्रमितिरूपी) भस्म,

५ 'भैरवात्म' — पूर्णता के आकार वाला (पौष्टिक तत्त्वों से भरपूर) पुष्टिदायक द्रव पदार्थ (पेय वस्तु),

६ 'हृदय'[2] — वीर और योगिनी की आनन्देन्द्रियों के अभ्यन्तर वर्तमान रहने वाली क्रमशः तरलता शौर सघनता का संघटित रूप,

ये द्रव्य जितनी भी कम या अधिक मात्रा में उपलब्ध हो सकें, अथवा बिन माँगे स्वयं ही उपनत हो जायें, तो (खेचरी-साम्य के अनुसार) सेवन किये जाने पर भेदभाव की चेतनारूपी मल को गला देने की क्षमता रखते हैं।"

'वैसे तो दुनिया का तौर-तरीका भी ऐसा ही दिखाई दे रहा है कि—

१. इस शब्द का त्रिकशास्त्रीय अर्थ पहले बताया जा चुका है। केवल इतना कहना शेष है कि सर्वसाधारण भाषिक प्रयोग में कुण्ड शब्द से पति की जीवित दशा में ही उत्पन्न होने वाली जारज सन्तान और गोलक शब्द से पति की मृत्यु के उपरान्त उत्पन्न होने वाली जारज सन्तान का तात्पर्य लिया जाता है।

२. इस सम्प्रदाय की मान्यता का उल्लेख करते समय आचार्य जी ने इसके साथ सम्बन्धित पारिभाषिक शब्दावली का ही प्रयोग किया है। आजकल कश्मीर में ऐसे तान्त्रिक विधि-विधानों का प्रचलन बहुत कम अथवा नहीं के बराबर है। अतः इन शब्दों का भाषानुवाद केवल उतने तक ही सीमित रखा गया है, जितना कि सद्गुरुओं के मुखारविन्दों से निकला है। अपनी ओर से कुछ मिलाने की दुश्चेष्टा को अतीव सावधानी से दूर रखने का प्रयत्न करना ही श्रेयस्कर समझा है।

"इयं सङ्कोचात्मिका शङ्कैव समुल्लसन्ती रूढा, फलपर्यन्ता, संसारबीज-तरोः प्रथमाङ्कुरप्रसूतिः। सा च अप्रबुद्धान् प्रति स्थितिर्भवेद्–इति प्रबुद्धैः कल्पिता। बालान् प्रति च कल्प्यमानापि च तेषां रूढा वैचित्र्येणैव फलति। अत एव वैचित्र्यकल्पनादेव सा बहुविध-अधर्मादिशब्द-निर्देश्या, प्रतिशास्त्रं प्रतिदेशं च अन्यान्यरूपा।

यथोक्तम्—

'ग्लानिर्विलुण्ठिका देहे......................।

इति। सेयं यदा झटिति विगलिता भवति, तदा निरस्त-पाशव–यन्त्रणा-कलङ्को भैरवहृदय-अनुप्रविष्टो भवति, इति सर्वथा एतदभ्यासे यतितव्यम्–इति श्रीतिलकशास्त्रे भावयं। श्रीभर्गशिखायाम् अपि उक्तम्—

"मन में उठकर रूढ एवं फलित होने वाली ये (हेयता, ग्राह्यता, स्पृश्यता, अस्पृश्यता इत्यादि) सङ्कोचों से भरी हुई शंकाएँ ही, संसाररूपी बीज से निकलने वाले 'वृक्ष' अर्थात् कार्म-मल के पहले अङ्कुर की प्रसूति हैं। होशियार लोगों ने इन शङ्काओं की कल्पनाएँ इसलिये कर रखीं हैं कि भोले-भाले लोग हमेशा इसी स्थिति में पड़े रहें। यद्यपि वज्रमूर्खों के लिए भी इसी रूप में इनकी कल्पनायें की गई हैं और ये उनके दिलों में रूढ़ भी हो गई हैं, परन्तु उनकी अपनी ही विचित्र प्रकृतियों के अनुसार इनसे विचित्र परिणाम ही निकलते हैं। यही कारण है कि इन विचित्रताओं की कल्पनाओं के अनुसार ही इनको अधर्म[1] इत्यादि अनेक प्रकार के नाम दिये गये हैं और अलग-अलग शास्त्रों एवं देशों में इनके रूपों का वैविध्य भी अस्तित्व में आया है। जैसा कहा गया है—

"मानसिक ग्लानियाँ शरीर को तबाह कर देती हैं........।" जब कभी [2]झट से इस शङ्का के संस्कार तक भी गल जायें, तब जाकर मनुष्य पशुभाव की यन्त्रणाओं के दागों को मिटाकर भैरवीय हृदय में प्रवेश पा जाता है, इसलिये हर प्रकार से शङ्का का समूल नाश करने में जी-जान लड़ाना चाहिये। यह भाव श्रीतिलकशास्त्र में अभिव्यक्त किया गया है। श्रीभर्गशिखा में भी कहा गया है—

---

१. तथाकथित अच्छी शङ्काएँ—धर्म, ज्ञान, ऐश्वर्य, वैराग्य इत्यादि। तथाकथित बुरी शङ्काएँ—अधर्म, अज्ञान, अनैश्वर्य, अवैराग्य इत्यादि।

२. यहाँ पर गुरुपरम्परा में मूल 'झटिति' शब्द से यह ध्वनि निकाली जाती है कि केवल अभिनव के द्वारा समझाई गई अनुत्तर-प्रक्रिया का अभ्यास करने से ही शङ्काओं का समूल नाश संभव हो सकता है।

'वीरव्रतं चाभिनन्देद्यथायोगं समभ्यसेत् ।'

इत्यादि । श्रीसर्वाचारेऽपि—

'अज्ञानाच्छङ्कते मूढस्ततः सृष्टिश्च संहृतिः ।
मन्त्रा वर्णात्मकाः सर्वे वर्णाः सर्वे शिवात्मकाः ॥
पेयापेयं स्मृता आपो भक्ष्याभक्ष्यं तु पार्थिवम् ।
सुरूपञ्च विरूपञ्च तत्सर्वं तेज उच्यते ॥
स्पृश्यास्पृश्यौ स्मृतो वायुश्छिद्रमाकाश उच्यते ।
नैवेद्यं च निवेदी च नैवेद्यं गृह्णते च यः ॥
सर्वं पञ्चात्मकं देवि ! न तेन रहितं क्वचित् ।
इच्छामुत्पादयेत् कुत्र ! कथं शङ्का विधीयते ?"

इति । श्रीवीरावलिशास्त्रेऽपि अयमेव अभिप्रायः । उक्तञ्च क्रमस्तोत्रे—

'वीर-व्रत का अभिनन्दन करने के साथ साथ स्वाभाविक रूप में उपनत होनेवाले योग एवं भोग के [1]क्रम से इसका अभ्यास करते रहना चाहिये ।'

इत्यादि । श्रीसर्वाचार शास्त्र में भी—

"मूर्ख व्यक्ति अपने अज्ञान से ही शङ्काओं का शिकार बन जाता है और शङ्काओं में पड़ जाने से ही उसके सृष्टि-संहार का चक्कर चलता रहता है । नहीं तो सारे मन्त्र वर्णात्मक और सारे वर्ण शिवमय ही हैं ।'

पेय (गङ्गाजल इत्यादि), अपेय (मदिरा इत्यादि) दोनों को जल-तत्त्व ही कहा गया है । भक्ष्य (क्षीर इत्यादि), अभक्ष्य (मांस इत्यादि) दोनों पृथिवी-तत्त्व ही हैं । मन को रुचनेवाला रूप या न रुचनेवाला कुरूप यह सारा प्रपञ्च तो वास्तव में तेजस् तत्त्व ही कहा जाता है ।

स्पृश्यता और अस्पृश्यता मूल में वायु-तत्त्व हैं । किसी भी प्रकार का छिद्र[2] (मध्यवर्ती अवकाश) आकाश-तत्त्व बताया जाता है । हे देवी ! भगवान् को अर्पण किया जानेवाला नैवेद्य, अर्पण करनेवाला निवेदी और प्रसाद को पानेवाला भक्त यह सारा प्रपञ्च तो पाँच महाभूतों का ही मिश्रण है । कोई भी प्रदेश इस पाञ्चभौतिक मिश्रण से रहित नहीं है । ऐसी परिस्थिति में किसी वस्तु के प्रति (ग्राह्य समझकर) इच्छा और किसी वस्तु के प्रति (हेय समझकर) शंका ही कैसे

---

१. बिना माँगे स्वाभाविक रूप में ही जो जो सामने आता रहे, उसका स्वाभाविक रूप में ही अङ्गीकार करते रहना । यदि कोई काम करते समय चेतन या उपचेतन मन में उसके अच्छा या बुरा होने की शङ्का का क्षीण आभास भी होने लगे तो निस्तार पाना कठिन ही है, क्योंकि उस सूरत में मानसिक कुंठा हटने का नाम भी नहीं लेती ।

२. यहाँ पर 'छिद्र' शब्द से स्त्री से सम्बन्धित गुह्याङ्ग की ध्वनि भी निकलती है।

'सर्वार्थसङ्कर्षणसंयमस्य
यमस्य यन्तुर्, जगतो यमाय।
वपुर्महाग्रास-विलास-रागात्
संकर्षयन्तीं प्रणमामि कालीम् ॥'

व्याख्यातञ्च एतन्मया तट्टीकायामेव क्रमकेलौ विस्तरतः। अत एव षडर्ध-शास्त्रेषु एषैव क्रिया, प्रायो नियन्त्रणारहितत्वेन पूजा—तत्परिपूरणायैव सर्वद्रव्यलाभात्। इति विज्ञानक्रमो विस्तरत उक्तः। जातीनाञ्च ब्राह्मणादीनां नास्ति स्थितिः—कल्पितत्वात्। उपदेशव्यङ्गता इति दुर्बुद्धीन् प्रत्याययेद्–इति च भगवता मुकुटसंहितायां विस्तरतो निर्णीतम्। इह तु अयत्नसिद्धमेव।'

की जाये?' ऐसा कहा गया है। श्रीवीरावली शास्त्र में भी ऐसे ही विचार प्रस्तुत किये गये हैं। क्रमस्तोत्र में भी कहा गया है—

'मैं उस भगवती काली को प्रणाम करता हूँ जो कि सारे शंकाजाल का अखण्ड-ग्रास करने की आनन्दमयी लीला की रसिका होने के कारण, पशु-जगत् को सुचारु रूप में व्यवस्था प्रदान करने के लिये, सब पदार्थों को स्वाभाविक रूप में ही अपनाने के प्रति अंकुश लगाने वाले नियामक 'यम' अर्थात् शंकारूपी यमराज के आकार को ही मूल से उखाड़ फैंकने वाली है।'

मैंने इस पद्य की विस्तृत व्याख्या उसी क्रमस्तोत्र की टोका में की है। इन कारणों से त्रिकशास्त्रों में ऐसी ही इतिकर्तव्यता को वास्तविक पूजा माना जाता है, क्योंकि एक तो इस पर कोई कथित नियन्त्रण नहीं और दूसरा इसको पूरा करने के लिए ही हर प्रकार के उपकरण सुलभता से पाये जाते हैं।[1]

इस प्रकार विज्ञान का क्रम विस्तारपूर्वक समझाया गया। इसमें ब्राह्मण इत्यादि प्रकार की जातीयता के लिए कोई स्थान नहीं, क्योंकि यह तो केवल कल्पना की उपज है। केवल ब्राह्मण ही उपदेश की बातों को पचा सकते हैं—ऐसी बेढंगी बातों पर गँवारों को ही आस्था हो सकती है। भगवान् शंकर ने तो मुकुट-संहिता में विस्तार-पूर्वक ऐसे गपोड़ों का भी पोल खोलकर रखा है। प्रस्तुत शास्त्र में तो इतनी माथापच्ची करने के बिना ही काम पूरा हो जाता है।

---

१. यहाँ पर K. S. S. संस्करण में 'संवत्सरमध्ये'·····निष्फलः' तक का अधिक पाठ शायद गलती से छपाया गया है।

'चतुर्दशः' —ओकार-अंकार-मध्यगः, = (औ)
'तिथीशान्तः'—विसर्गः, = (अः)
'तृतीयं ब्रह्म' —ष–ह मध्यगम् । = (स्)
एतद् बीजं वस्तुतो विश्वस्य । तथाहि—

'यत्किञ्चित् सत् पार्थिव-प्राकृत-मायीय-रूपं भासते, तद् इच्छायां, ज्ञाने वा, क्रियायां वा पतितमपि सर्वात्मकत्वात् त्रिकरूपं, 'परत्र शिवपदे विसृज्यते, सर्वञ्च शिवपदात् विसृज्यत'—इति अविरतमेष प्रबन्धो निर्विकल्पकः। विकल्पो हि 'प्रमदारातिप्रभृतिर्', 'एवंकार्यभूद्, एवंकारी भवति, एवंकारी भविष्यति' —इति वर्तमान-कालत्रयानुसंधितो भेदपरमार्थतयैव 'विसर्ग'–इति, प्रत्युत मोक्षमयशिवभूमिरपि सदैव दैवदग्धानां संसारभय-मरु-महाटवी सम्पन्ना—

अमृतबीज का उद्धार और मीमांसा

१ 'चौदहवाँ' —ओकार और अंकार का बिचला = (औ)
२ 'तिथीश का अन्तिम'—अंकार का अन्तिम विसर्ग = (अः)
३ 'तीसरा ब्रह्म' —षकार और हकार का बिचला = (स्)

वास्तव में यही अमृत-बीज सारे विश्व का बीज है। जैसा कि आगे स्पष्ट किया जा रहा है।—

पृथिवी-अण्ड, प्रकृति-अण्ड और माया-अण्ड इन तीन रूपों वाला जो कुछ भी प्रपञ्च 'सत् है' अर्थात् 'स्' मात्रा में प्रकाशमान है, वह सारा इच्छा, ज्ञान और क्रिया इनकी 'समन्विति' अर्थात् 'औ' इस त्रिशूल बीज में समाविष्ट होने पर भी, सर्वसर्वात्मक-भाव से 'त्रिकरूपी' अर्थात् विसर्गमय ही है। तात्पर्य यह है कि शिवपदरूपी अधिकरण में 'सर्जित' अर्थात् संहृत होकर, अविकल रूप में, उसी शिवपदरूपी अपादान से अलग होकर 'विसर्जित' अर्थात् सृष्टिरूप में प्रस्तुत होता रहता है। इस प्रकार अविराम गति में चलायमान रहनेवाला यह विसर्गात्मकता का सिलसिला केवल निर्विकल्पकभाव का ही प्रबन्ध है।

जहाँ तक 'यह मेरी स्त्री है, यह मेरा शत्रु है'—इस प्रकार केवल वर्तमान काल के रूप में अथवा ये मेरे स्त्री या शत्रु 'ऐसा करने वाले थे, ऐसा करने वाले हैं, ऐसा करने वाले होंगे'—इस प्रकार अलग-अलग तीन कालों के रूप में अनुसन्धान का विषय बननेवाले विकल्प का सम्बन्ध है, वह तो केवल इसलिये 'विसर्ग' अर्थात् सर्जित कहलाया जाता है कि उसमें भेदभाव की ही प्रधानता पाई जाती है। इतना ही नहीं बल्कि खोटी किस्मत के मारे पशुओं के लिए तो अमृतबीज के रूपवाली मुक्तिमयी शिवभूमिका ही, 'सदा' अर्थात् निर्विकल्प और सविकल्प दोनों ही दशाओं में, पग पग पर आवागमन की विभीषिकाओं से भरा हुआ रेगिस्तान या अन्तहीन जंगल जैसी बनी हुई है—

'जलात्स्फूर्जज्ज्वालाजटिलवड़वावह्निनिवहः,
सुधाधाम्नः पूर्णाद् भयसदनदम्भोलिदलना।
विकल्पादैश्वर्यप्रसरसरणेः संसृतिदरः
कियच्चित्रं चित्रं हतविधिविकासात् प्रसरति ॥'

ईश्वरप्रत्यभिज्ञायाम् अपि उक्तम्—

'सर्वो ममायं विभव इत्येवं परिजानतः।
विश्वात्मनो विकल्पानां प्रसरेऽपि महेशता ॥'

इति। यथा च आकृतिमध्य एव चतुर्भुज-त्रिनयनाद्या आकृतयो, द्रवमध्ये च सुरासवाद्या बलादेव तां सत्तां समधिशाययन्ति, एवं सर्ववर्णमध्ये अपि अयं वर्णः। तथाहि—

सकारस्तावत् परमानन्दामृतस्वभाव उल्लसन्नेव, समस्तं वर्णजालम् आक्षिप्य उल्लसति। यद् यत् 'सत्य-सुख-संपत्-सत्तादीनां' पारमार्थिकं वपुः—

(खोटी किस्मत वालों के सन्दर्भ में उक्ति)—

'शीतल जल में से ही लपलपाती लपटों वाले वाड़वाग्नि के शोले भड़क उठते हैं, अमृत बरसाने वाले पूनम के [1]चाँद से ही दिल को दहलाने वाले वज्र के धड़ाके निकलते रहते हैं। कितनी हैरानी की बात है कि 'ऐश्वर्य' अर्थात् अनुत्तरभाव के ही बहिर्मुखीन प्रसार का मार्ग बने हुए विकल्प से आवागमन का त्रास उत्पन्न हो जाता है। वास्तव में फूटे भागों के विकास से कितनी ही अनूठी बातें सम्भव हो जाती हैं।'

(बड़ भागों के सन्दर्भ में उक्ति)—

'इदन्ता नाम से पुकारी जाने वाली विकल्प सृष्टि मेरे ही स्वतन्त्र अहं-भाव की विभूति है—इस भाव की यथार्थ प्रत्यभिज्ञा वाले और विश्वात्मभाव पर पहुँचे हुए व्यक्ति का महान् ईश्वरभाव विकल्पों के फैलाव में भी बना रहता है।'

जिस प्रकार बहुतेरी आकृतियों में से चार भुजाओं वाली (नारायण) या तीन आँखों वाली (शिव) जैसी आकृतियाँ और तरल (पेय) पदार्थों में से सुरा, आसव जैसे पदार्थ ज़बर्दस्ती उस भैरवीय सत्ता में विश्रान्त करा देते हैं, उसी प्रकार सारे अक्षरों में से यह वर्ण (सकार) भी करा देता है। तात्पर्य यह है कि—

'स्' ध्वनि में स्वभाव से ही परम आनन्दमय अमृत की व्यापकता है, अतः ज्यों ही यह उल्लास के अभिमुख हो जाती है, त्यों ही सारे वर्ण-समुदाय को अपने में निहित रखती हुई ही बाहर फूट पड़ती है। 'सच्चाई', 'सुख', 'सम्पत्ति', 'सत्ता'

१. शास्त्रों के अनुसार शुक्ल पक्ष दशमी से पूर्णिमा तक चन्द्रमा की पूर्णता मानी जाती है और इन्हीं दिनों में उससे वज्रकण निकलते रहते हैं।

सीत्कारसमुल्लास-शेपकम्प-वराङ्गसङ्कोचविकास-उपलक्ष्यं, तदेव हि सत्यादीनाम् अमायीयं वस्तुतो रूपम्। तथाहि—

परहृदय-ग्रहणेङ्गित-निपुणा गगन-गवय-गवादि-अनन्तपद-प्राङ्-मध्य-अन्त-भाविनोऽपि गकारादिमात्रादेव अभीष्टं चिन्वते—तावति सत्यपदेऽनुप्रवेशात्;

इत्यादि शब्दों की 'स्' मात्रा में जो जो भी अनिर्वचनीय आनन्दमय रूप—जिसका ठोस अनुभव यौन उत्तेजना के आरम्भ, मध्य और चरमकोटि के, आनन्देन्द्रिय की कंपकंपी और स्त्री-गुह्याङ्ग के सङ्कोच एवं विकास के क्षणों पर मुंह से अकस्मात् फूट पड़ने वाली सिसकार (स्-ध्वनि) से हो जाता है, वही इन सच्चाई इत्यादि (प्रिय लगने वाले) शब्दों का अमायीय और वास्तविक रूप होता है। इसका भी तात्पर्य यह है कि—

जो व्यक्ति, विशेष रूप में प्रत्येक ध्वनि को सुनते ही अमृतबीज का साक्षात्कार करने में पटु और साधारण रूप में दूसरों के दिल को इशारों-इशारों में ही ताड़ लेने में निपुण होते हैं, वे तो 'गगन', 'गवय', 'गाय' इत्यादि अनगिनत शब्दों के आरम्भ, मध्य और अन्त पर वर्तमान रहने वाली 'ग' अथवा और किसी एक ही वर्ण-ध्वनि को सुनने पर भी शब्द का सारा अभिप्राय संकलित कर लेते हैं, क्योंकि मात्र उतना सुनने पर ही वे उस शब्द के 'सत्य पद'[२] अर्थात् यथार्थ

---

१. इस सम्बन्ध में तन्त्रालोक के तीसरे आह्निक में इस प्रकार कहा गया है—

'क्षोभाद्यन्तविरामेषु तदेव च परामृतम्।
सीत्कार, सुखसद्भाव, समावेश, समाधिषु॥'

'सुखसद्भाव' अर्थात् वीर्यविसर्ग का क्षण, 'समावेश' अर्थात् आत्मभाव में सहसा प्रवेश पाने का क्षण और 'समाधि' अर्थात् अभ्यास करते करते अप्रत्याशित रूप में एकदम समाधि में चले जाने का क्षण। इसके अतिरिक्त यौन उत्तेजना का आरम्भ, मध्य और अन्त। ऐसे ऐसे अवसरों पर स्वाभाविक एवं आकस्मिक रूप में मुंह से स्वयं निकल पड़ने वाली सिसकार में वस्तुतः अमृतबीज का सहज साक्षात्कार हो जाता है, परन्तु केवल उनको, जिनकी चेतना इस दिशा में जागरूक हो।

२. यहाँ पर आचार्य जी ने मूल ग्रन्थ में 'सत्यपद' का प्रयोग करके, व्यङ्ग्य रूप में, एक महत्त्वपूर्ण त्रिक मान्यता की ओर सङ्केत किया है। इस मान्यता के अनुसार शब्दों को कान से सुनने के साथ-साथ ही श्रोता के मन में जो यह अलक्ष्य वेग में अर्थ का संचार हो जाता है, उसका कारण यह है कि शब्दों को सुनते समय प्रत्येक श्रोता की अन्तःसंवित् को अन्दर से अमृतबीज रूपी हृदय के साथ तीव्रतम वेग में स्पर्श होते रहते हैं। अमृतबीज में सारे शब्द और उनके अर्थ हमेशा प्रकाशमान ही होते हैं, अतः

एवम् एकैकस्यैव वर्णस्य वास्तव-वाचकत्वम् । यथोक्तम्—

'शब्दार्थप्रत्ययानामितरेतराध्यासात् सङ्करः, तत्प्रविभागसंयमात् सर्वभूत-

---

अभिप्राय में स्वरूपतः प्रविष्ट हो जाते हैं । इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि वास्तव में हरेक वर्ण में ही 'वाचकता' अर्थात् शब्द के पूरे अर्थ को द्योतित करने की क्षमता (शक्ति) अवश्य (सर्वसर्वात्मिक भाव से) निहित होती है। जैसा कहा गया है—

'शब्द, अर्थ और ज्ञान—इनका पारस्परिक 'अध्यास'—एक दूसरे के साथ मिश्रण हो जाने से सङ्कर हो जाता है। यदि इनके 'विभाग' अर्थात् एक एक

सुनने वाले को वस्तुतः वहीं से अर्थ-बोध होता रहता है। अब जिन व्यक्तियों में तामसिक या राजसिक प्रवृत्तियों का प्राबल्य न हो, उनकी संवित् की स्फुरणा में कोई व्यवधान न होने के कारण ये स्पर्श अधिक वेग में होते हैं और फलतः वे सारे अभिप्रायों को अति स्पष्ट रूप और आँख की पलक में ही समझ पाते हैं। वे चाहे किसी शब्द का एक ही वर्ण सुनें तो तुरन्त सारे शब्द का अभिप्राय उनके मन में एकदम व्याप्त हो जाता है। इसलिये एक ही वर्ण को सुनने पर तत्काल ही सारे शब्द का अभिप्राय समझ सकने वाले व्यक्ति, औरों की अपेक्षा, अधिक शीघ्रता से सत्यपद अर्थात् अमृतबीज रूपी हृदय में अनुप्रविष्ट हो जाते हैं। आम लोगों को इस अन्दर से चलती रहने वाली विमर्शमयी क्रियाशीलता की कोई चेतना नहीं होती, परन्तु जिन व्यक्तियों की अन्तश्चेतना इस दिशा में जागृत हुई होती है, वे कभी कभी सत्यपद में अनुप्रविष्ट होते ही वहीं पर आत्मा को स्थिर कर लेते हैं और समाधिनिष्ठ हो जाते हैं। 'स्' मात्रा में इस प्रकार समाधिनिष्ठ बनाने की असीम शक्ति निहित है, क्योंकि यह अमृतबीज की मुख्य मात्रा होने के कारण असीम आनन्द, अमृत से भरपूर है। यही कारण है कि 'स्' ध्वनिमय 'सा' स्वर ही, चित्त की आह्लादमयी वृत्ति को प्रकट करने वाले सातों स्वरों में, मुख्य आधारभूत एवं प्रथम स्वर है। 'स्' ध्वनि के कानों में पड़ते ही अन्तस् में उमड़ने वाले असीम, अनुत्तरीय आनन्द-पारावार का साक्षात्कार तो समाधि के अभ्यस्त सिद्ध पुरुषों को ही हो जाता है। इतना ही नहीं, उन्हें तो इसके अतिरिक्त और कोई वर्ण सुनने पर उसी में 'स्' मात्रा का वेगी आभास हो जाता है। जहाँ तक आम लोगों का सम्बन्ध है, उन्हें भी तो 'स्' मात्रा से—चाहे उच्चतर आनन्द की अपेक्षा निकृष्ट स्तर के ही—आनन्द की अनुभूति अचेतित अवस्था में ही अवश्य हो जाती है, क्योंकि जैसा आचार्य जी ने स्वयं स्पष्ट किया है, किसी भी असाधारण परिस्थिति का सामना होते ही मनुष्य के मुख से अचानक 'स्-स्-स्' जैसी सिसकार फूट पड़ती है। इसका ठोस अनुभव तो दम्पति-सहवास के विभिन्न स्तरों पर आये दिन आम लोगों को होता ही रहता है।

रुतज्ञानम् ।' (यो० सू० ३।१७)

इति । अत एव प्रायशोऽमी अकार-चकाराद्या एकवर्णात्मानो निपात-विभक्त्यादयो, मायापदेऽपि पारमार्थिकमिव, प्रमातृपदलीनम्, इदन्तापराङ्मुखम्, असत्त्वभूतं, तत्तन्निषिध्यमान-समुच्चीयमान-अभिन्नरूप-निषेध-समुच्चयादिकम् अर्थम् अभिदधति । एष एव भावस्तत्रभवतो भर्तृहरेः, यदाह—

'पदमाद्यं पृथक्सर्वं, पदं साकाङ्क्षमित्यपि ।'

इति वाक्यविचारे । तथा च वेदव्याकरणे, पारमेश्वरेषु शास्त्रेषु, मन्त्र-दीक्षादिशब्देषु अक्षरवर्णसाम्यात् निर्वचनम् उपपन्नम् । तत्तु न रूढं नियतिवशाद्–इति न लोकपर्यन्तम् ।

तदेवं 'सकार' ईदृशः । औकार-विसर्गौ अपि व्याख्यातौ । तदुक्तं श्रीपूर्वशास्त्रे--

---

वर्णमयी मात्रा पर ही ध्यान, धारणा और समाधि का अभ्यास किया जाये तो सारे प्राणियों की भाषायें स्वयं समझ में आ सकती हैं ।'

यही कारण है कि पारमार्थिक दशा के ही साम्य पर दुनियाई लेन-देन (मायापद) में भी ये एकाक्षरी 'अ' या 'च' जैसे निपात और (सुप्-तिङ्) जैसे विभक्ति चिह्न ऐसे निषेध और समुच्चय इत्यादि अर्थों को द्योतित करते हैं, जो कि उस बोलने वाले के प्रमातृभाव में ही निलीन रहनेवाले, इदंभाव पर न पहुँचे हुए, बाहरी लिङ्ग-वचन इत्यादि के साथ संयुक्त न होने के कारण 'सत्त्वभाव' अर्थात् संज्ञाओं के रूप को धारण न करने वाले और निषेध या समुच्चय का अभी आगे विषय बनने वाले पदार्थों के साथ अभिन्न होते हैं। महामहिम भर्तृहरि के मन में भी यही अभिप्राय रहा है, जिस कारण से उन्होंने अपने वाक्यविचार (वाक्यपदीय) में निम्नलिखित बात कही है—

'मूल रूप में प्रत्येक पद एकाक्षरी रूप में ही अपने में पूर्ण है। (शब्द, अर्थ और ज्ञान का पारस्परिक मिश्रण अथवा पदरूपी वर्णों का शब्द रूपों में मिश्रण हो जाने की अवस्था में, वही) पद साकांक्ष बन जाता है ।'

इसी आधार पर, वेदव्याकरण (निरुक्त इत्यादि), परमेश्वर रचित शास्त्रों (शिवसूत्र इत्यादि) और मन्त्र एवं दीक्षाओं के साथ सम्बन्धित शब्दों में, उन शब्दों के अलग-अलग वर्णों की समानता के आधार पर पूरे शब्दों का निर्वचन किये जाने का तरीका बिल्कुल युक्तियुक्त बन जाता है। केवल इतना है कि यह एकाक्षरी पदों की वाचकता नियति-शक्ति के वश से जनप्रसिद्ध नहीं होने पाई है, अतः आम लोगों तक पहुँचने नहीं पाई है ।

तो 'सकार' ऐसा है। औकार और विसर्ग की व्याख्या पहले ही प्रस्तुत की गई है । इस वर्णयुग्म के बारे में श्रीपूर्वशास्त्र में कहा गया है—

'सार्णेन त्रितयं व्याप्तं त्रिशूलेन चतुर्थकम् ।
सर्वातीतं विसर्गेण पराव्याप्तिरुदाहृता ॥'

इति । तथा—

'शिष्येणापि तदा ग्राह्या यदा संतोषितो गुरुः ।
शरीर–द्रव्य–विज्ञान–जाति–कर्म–गुणादिभिः ॥
भेदिता तु यदा तेन गुरुणा हृष्टचेतसा ।
तदा सिद्धिप्रदा ज्ञेया नान्यथा वीरवन्दिते ! ॥'

इति । अन्यत्रापि—

'एकं सृष्टिमयं बीजम्……………।'

इति । अत एव 'अलेख्यं पुस्तके'–इति नियमः, श्रीपूर्वशास्त्रे अपि—

'वामजङ्घान्वितो जीवः पारम्पर्यक्रमागतः' ।

'पराबीज (अमृतबीज) में निहित रहने वाली व्यापकता इस प्रकार बताई गई है—इसके 'सकार' में पृथिवी, प्रकृति और माया ये तीन अण्ड, 'त्रिशूलबीज' अर्थात् औकार में शक्ति अण्ड और विसर्ग में सब से अतिवर्ती पद अर्थात् विश्वोत्तीर्ण अनुत्तर समाये हुए हैं ।'

यह भी कहा गया है—

'यह व्यापकता का रहस्य शिष्य को केवल उसी सूरत में हृदयङ्गम हो सकता है, जब कि उसने अपने गुरु को अपनी शारीरिक स्थिति, धन, शास्त्रीय ज्ञान, अच्छी जाति, अच्छे कर्म और अच्छे गुण इत्यादि से भली-भान्ति सन्तुष्ट किया हो ।

हे वीरों के द्वारा वन्दना की जाने वाली देवी ! जब वह गुरु भी हर्षित मन से इसका रहस्य अनावृत करे तभी जाकर यह भोग-मोक्षरूपिणी सिद्धि का वितरण कर देती है, अन्यथा नहीं ।'

और भी एक स्थान पर कहा गया है—

'सृष्टिमय[1] बीजमन्त्र तो एक ही है…………।' इसलिये यह एक नियम है कि इस अमृतबीज को किसी पुस्तक में साक्षात् रूप में नहीं लिखना चाहिये। श्रीपूर्वशास्त्र में भी इस परम्परा को निबाहा गया है—

'वामजङ्घा' अर्थात् 'औ' से अनुगत 'जीव' अर्थात् सकार' और 'पारम्पर्यक्रमागत' अर्थात् प्रसार क्रम में आया हुआ 'विसर्ग' = कुल मिलाकर अमृतबीज (कूट रूप में) ।'

---

१. विसर्गमयता के स्वभाव वाला बीजमन्त्र, अर्थात् अमृतबीज ।

इति । इहापि वक्ष्यते—

'यथा न्यग्रोधबीजस्थः..............।' इति ।

तदेतद् भैरवात्मनो हृदयम् । मालिन्यपेक्षया नकारात्, वस्तुतस्तु अकारात्, योगिन्याश्च विसर्गशक्तेः, जातः—प्रादुर्भूतप्रमातृभावः, रुद्रः—रोधको द्रावकश्च पाशानां, स एव ना पुरुषः, एतत् स्फुटं लभते, न त्वरुद्रो नापि अयोगिनीगर्भसंभवः । सद्यो योगः—भैरवैकात्म्यं स एव मोक्षो निर्णीतः, तं ददाति—इति ।

प्रस्तुत शास्त्र में भी आगे कहा जायेगा—

जिस प्रकार बरगद के बीज में वर्तमान.......।' (इत्यादि)

'एतन्ना...........योगविमुक्तिदम्'

की व्याख्या ।

(नाः = न + अ + अः अर्थात् नकार (मालिनी का पहला अक्षर), अकार (मातृका का पहला अक्षर) शिवरूपी वीर के प्रतीक, और अःकार अर्थात् विसर्ग शक्ति-योगिनी के प्रतीक—इनके संघट्ट से उत्पन्न योगिनी जाया व्यक्ति)

तो इस भैरवीय हृदय (अमृतबीज) का स्पष्ट साक्षात्कार केवल ऐसे व्यक्ति को हो सकता है, जिसमें—

१—मालिनी की अपेक्षा से 'न' और वास्तविक (मौलिक) मातृका की अपेक्षा से 'अ' अर्थात् दोनों से बोध में आने वाले शिवरूपी वीर और 'विसर्ग शक्ति' अर्थात् शक्तिरूपिणी योगिनी के पारस्परिक संघट्ट के द्वारा जो प्रमातृभाव प्रादुर्भूत हुआ हो (अर्थात् जो योगिनीभूः[1] = योगिनी जाया हो) ।

२—जो 'रुद्र' हो, अर्थात् मायीय पाशों का स्वतन्त्रता से निरोध करने और प्रसृत करने की क्षमता रखता हो ।

जो पुरुष रुद्र न हो और किसी साधारण माँ के गर्भ से उत्पन्न हुआ हो, उसको इस हृदय की उपलब्धि हो ही नहीं सकती । अमृतबीज का सात्क्षाकार 'सद्योयोग' अर्थात् भैरवभाव के साथ परिपूर्ण तादात्म्यको जिसको (त्रिक प्रक्रिया-में) मोक्ष माना गया है—प्रदान कर देता है । (सद्यः) इस शब्द से यह अर्थ भी द्योतित होता है कि जो ही पुरुष इसका साक्षात्कार पा सके वही 'ऐसा' अर्थात् योगिनी जाया और रुद्र होता है—साक्षात्कार न पा सकने वाला ऐसा हो

१. भगवान् अभिनव ने अपने योगिनीभूः होने का दावा तन्त्रालोक के मङ्गल श्लोक में ही किया है ।

(सद्यः)—यो लभते स एवंविधो नान्यः, यश्च एवंविधः स स्फुटं लभत एव हृदयम्. लभते सद्यो योगविमोक्षदम् एव–इति ।

मन्त्राः-वर्णभट्टारका लौकिक-पारमेश्वरादिरूपाः, मनन-त्राण-रूपाः, विकल्प–संविन्मयाः, मुद्राश्च–सकल-कर-चरणादिव्यापारमय्यः क्रियाशक्ति-रूपाः, तत्कृतो गणः–समूहात्म-परशक्ति-एकरूपः ।

१—स्वस्य-आत्मनः प्राण-पुर्यष्टक-शून्यादेर् देहस्य, य आवेशः–झटिति

नहीं सकता, और जो ही ऐसा हो वही इसका साक्षात्कार पाने पर तत्काल ही मुक्ति देने वाले और योगसिद्धि देने वाले हृदयधाम को साक्षात् रूप में पा लेता है।

'अस्योच्चारे·······स्वदेहावेशलक्षणम्'
की व्याख्या।

(लोकभूमिका पर घड़ा, कपड़ा इत्यादि और परमेश्वर भूमिका पर ह्रीं इत्यादि रूपों में प्रयोग में लाये जाने वाले) महिमामय वर्णों को मन्त्र कहते हैं। मनन करवाना और त्राण देना इनका वास्तविक 'रूप' अर्थात् स्वभाव है। ये (लोकभूमिका और लोकोत्तर-भूमिकाओं पर क्रमशः) विकल्पों और संवित्-शक्ति के रूपवाले हैं। हाथ, पैर इत्यादि अङ्गों से किये जाने वाले क्रियाशक्तिरूपी व्यवहारों को 'मुद्रायें' कहते हैं। उनका गण कहने का अभिप्राय यह कि वे सारी मुद्रायें (शक्तिरूपी इन्द्रिय-व्यापार) अपनी [1]समष्टि बने हुए पराशक्तिभाव के एकाकार हैं।

'स्वदेहावेशलक्षणम्' की व्याख्या।

१—(प्रमातृभाव की अपेक्षा से—स्वस्य देहस्य आवेशः, तल्लक्षणम्)

अपने आप में प्राण, पुर्यष्टक और शून्य इत्यादि रूपों वाले प्रामतृभाव का आवेश हो जाने को 'स्वदेहावेश' कहते हैं। तात्पर्य यह कि सब से अतिवर्ती

---

१. लोकभूमिका पर जितने भी इन्द्रिय व्यापार चलते रहते हैं, वे वास्तव में पारमेश्वरी क्रिया-शक्ति ही हैं, परन्तु मायीय सङ्कोचों की वशवर्तिता से अलग अलग इन्द्रियों के द्वारा अलग अलग क्रियात्मकताओं के ही सम्पन्न हो जाने के कारण विश्वात्मिका क्रियाशक्ति न रहकर व्यष्टिरूपी क्रिया-मात्र बन गये हैं। उदाहरणार्थ—आँख केवल देख ही सकती है, सुन नहीं पाती, अतः देखने का व्यापार केवल आँख तक और सुनने का किसी और इन्द्रिय तक ही सीमित है। परन्तु इन सारे इन्द्रिय-व्यापारों की एक ऐसी मौलिक सामान्य अवस्था है, जहाँ सर्वसर्वात्मकता से सारे इन्द्रिय-व्यापार युगपत् ही और स्थूल इन्द्रिय-विभाग के बिना ही सम्पन्न हो जाते हैं। वही इनकी समष्टि अवस्था और पारमेश्वरी क्रियाशक्ति है।

परस्वरूप-अनुप्रवेशेन, पारतन्त्र्यात्म-जड़ता-तिरोधानेन, स्वतन्त्रकर्तृता-अनुविद्ध-प्रमातृतोदयः ।

२—तथा स्वं स्वभावं पदार्थस्य ददातीति स्वदा, (तस्याः) ईहा-इच्छाद्या क्रियान्ता प्रसृतिः, तया आवेशः, तदेव लक्षणं यत्र तथा कृत्वा य उदेति सोऽस्य बीजस्य उच्चारः–ऊर्ध्वचरणे स्थितिः–तस्याम् ।

यथा च एतत् तथा निर्णीतं बहुशः ।

'सद्यः'—इत्यनेन अनुप्रवेशः सूच्यते । तन्मुखतां तत्पररूपप्राधान्यम्, एति । न तु पशूनामिव तद्रूपं प्रत्युत तिराधत्ते ।

अत एव मुहूर्तम्–अकालकलितत्वेऽपि परकलनापेक्षया उन्मेषमात्रं, यः स्मरति–अनुसन्धत्ते, स एव व्याख्यातं मन्त्र-मुद्रा-गणं, संबध्नाति-स्वात्मन्येकीकरोति,

---

स्वरूप में झट से प्रवेश पाने के द्वारा परतन्त्रतारूपिणी जड़ता के अन्तरित हो जाने पर, अपने आप में, स्वतन्त्र कर्तृता से भरपूर प्रमातृभाव का सर्वतोमुखी संचार हो जाना ही स्वदेहावेश होता है ।

२—(**प्रमेयभाव की अपेक्षा से—स्वदा + ईहा + आवेशः, तल्लक्षणम्**)

प्रत्येक प्रमेय पदार्थ को, निजी 'स्वभाव' अर्थात् उसका असली प्रकाश-विमर्शमय रूप प्रदान करने की क्रियाशीलता को 'स्वदा' कहते हैं । ऐसा करने की (स्वतन्त्र) 'इच्छा' अर्थात् इच्छा-शक्ति से लेकर क्रिया-शक्ति तक के समूचे इच्छात्मक प्रसार को 'ईहा' कहते हैं । ऐसी ईहा के द्वारा, अपने आप में, पति-प्रमातृभाव का आवेश हो जाना ही 'स्वदेहावेश' हो जाना होता है । अमृतबीज के 'उच्चार की स्थिति' अथवा 'ऊर्ध्वचरण में स्थिति' अर्थात् परप्रमातृभावमयी स्थिति वह है, जब कि इसका 'उदय' अर्थात् साक्षात्कार रूपी उल्लास, इसी स्वदेहावेश की अवस्था में हो जाये । (मित प्रमाता में) जिस प्रकार से इस अवस्था का विकास हो सके, उसके परिप्रेक्ष्य में बार-बार निर्णय किया गया है ।

'सद्यः' शब्द ऐसा समावेश हो जाने पर तत्काल ही अनुत्तरीय भूमिका में प्रवेश मिल जाने का संकेत देता है । 'तन्मुखतां' शब्द इस अभिप्राय को द्योतित करता है कि ऐसा आवेश हो जाने से, अपने आप में, पररूप का ही पूरा निखार आ जाता है, न कि पशु-आवेश की तरह यह कभी उस भैरवीय रूप को तिरोहित कर लेता है ।

'मुहूर्त·······कथयत्यपि' की व्याख्या ।

प्रस्तुत प्रसङ्ग में 'मुहूर्त' शब्द से एक 'उन्मेष' अर्थात् दो घड़ी के समय का अभिप्राय निकलता है । यद्यपि अमृतबीज किसी कालकलना का वशवर्ती नहीं, तो भी संकुचित प्रमातृभाव की अपेक्षा से ही यह काल की कल्पना की जाती

अद्वयतः । कथम् ? चुम्बकेन–विश्वस्पर्शकेन शाक्तेन रूपेण, अमितः–सर्वतो, मुद्रितं मुद्रणं कृत्वा । 'तुर्' अवधारणे–य एवं शाक्तस्पन्द-मुद्रित-एवंविध-तत्त्व-मय-शिवरूप-अनुसंधायकः स एव एवं करोति, न तु नरैकरूपः पाषाणादिः । यद् अतीतं, यश्च अनागतं, यद् अनर्थरूपं प्रागन्याभावाद् इतरदपि, स कथयत्येव-कथापर्यन्ततां नयति, संकल्पनात् । कथम् ? पृष्टः–पृष्टं तद् यस्यास्ति स तथा । प्रश्ने ज्ञीप्सा–यदेव किल ज्ञीप्स्यति तदेव अन्तर्गतं बहिष्कुरुते । यथोक्तम्—

है । फलतः तात्पर्य यह है कि जो कोई योगिनी-जाया 'चुम्बक' अर्थात् विश्वात्मभाव को स्पर्श करने वाले निजी शाक्तरूप[1] के द्वारा, 'चारों ओर' अर्थात् शिव-भाव, शक्ति-भाव और नर-भाव तीनों को मुद्रित करके मात्र दो घड़ी तक ही इस अमृतबीज का अनुसन्धान करे, वही उस पूर्वोक्त मन्त्रों और मुद्राओं के समुदाय को निजी आत्मा के साथ द्वैतहीन रूप में एकाकार बना लेता है । यहाँ पर 'तु' यह निपात निश्चयात्मकता को द्योतित करता है । इसका तात्पर्य यह है कि जो ही (भेदाभेद भूमिका पर पहुँचा हुआ) साधक शक्तिमय स्पन्द के द्वारा चतुर्दिक् मुद्रित किये हुए अमृतबीज के ही स्वरूप वाले शिवभाव का अनुसन्धान करने का अभ्यस्त हो, वही ऐसा कर सकता है, एकदम जड़भाव में पड़े हुए 'पत्थर इत्यादि' अर्थात् पशुभाव की निकृष्ट कोटि पर अवस्थित व्यक्ति तो नहीं । वही पुरुष केवल संकल्पमात्र से ही उन घटनाओं की—जो भूतकाल में घटी हों, जो अभी भविष्य में घटने वाली हों अथवा जो प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अत्यन्ताभाव, और अन्योन्याभाव–इन चार प्रकार के अभावों से भी इतर और किसी अभाव के रूप में हों—सही और अविकल चर्चा अवश्य कर लेता है, और तब तक उनका ब्यौरा देता रहता है, जब तक उनके बारे में और कोई पूछने के लायक बात न रहे । यदि यह पूछा जाये कि वह ऐसा किस परिस्थिति में करता है ? उत्तर यह होगा कि जब उससे ऐसी पूछ-ताछ की जाये । यहाँ पर प्रश्न में ही जानने की इच्छा का अभिप्राय निहित है । तात्पर्य यह है कि उसके अंतस् में सारी बातें प्रकाशमान ही होती हैं, केवल (प्रश्न पूछे जाने की वेला पर) जिन्ही बातों को जानने की इच्छा उसको हो जाये, उन्हीं को अन्दर से निकाल कर बाहरी वैखरी के रूप में अभिव्यक्त कर देता[2] है । जैसा कि इस बारे में—

---

१. वही पूर्वोक्त चौथा शाक्त-शरीर अथवा अन्तरात्म प्रमाता ।

२. यहाँ पर K. S. S. के छपे हुए संस्करण में 'नयति' के पश्चात् 'बहिष्कुरुते' तक के मूलपाठ को प्रमादवश विकृत रूप में रखने और खासकर गहरा अनुसन्धान करने के बिना 'पृष्टः' से लेकर 'बहिष्कुरुते' तक के खण्ड को उद्धरण-पद्य के रूप में

'यथेच्छाभ्यर्थितोधाता जाग्रतोऽर्थान् हृदि स्थितान्।
सोम-सूर्योदयं कृत्वा संपादयति देहिनः ॥'

इत्यादि। एको हि असौ स्मरण-उत्प्रेक्षणादावपि तावानेव वर्तमानो, न

'जिस[1] प्रकार धाता (चित्-शक्ति), अभी [2]देहाभिमान में ही अवस्थित, परन्तु नियमित रूप में योगाभ्यास करने वाले, अथवा, विश्वात्मभाव[3] को स्पर्श करने वाले शाक्त-शरीर के अहंभाव पर आरूढ़ बने हुए साधक के द्वारा, संकल्पमयी इच्छा के द्वारा आन्तरिक रूप में ही अभ्यर्थना किये जाने पर, उसके 'नेत्रों' अर्थात् सारी ज्ञानेन्द्रियों में अत्यन्त तीव्र अवधानात्मिका शक्ति का उदय करके, जाग्रत् अवस्था में ही उसको उन्ही पदार्थों का दर्शन करवाता है, जिनको देखने की इच्छा उसके संकल्प में वर्तमान हो।'

इत्यादि बहुत कुछ कहा गया है। यह एक निश्चित तथ्य है कि स्मरण या सम्भावना इत्यादि अवस्थाओं में उस प्रमाता के प्रमातृभाव का रूपान्तरण नहीं होने पाता। उसका प्रमातृभाव तो ठीक अपने यथावत् रूप में और हमेशा

रखकर छपाने से महती भ्रान्ति उत्पन्न हो गई है। पाठकगण भी ऐसे ही पाठ को सही मानकर, इसके असम्बद्ध होने पर भी ज़ोर-ज़बर्दस्ती इसकी संगति बिठाते और अपनी-अपनी रुचि के अनुसार अर्थ लगाते आये हैं। प्रस्तुत लेखक को तो यह अवतरण बार-बार पढ़ने पर भी असङ्गत ही लगता रहा। केवल इस बार अनुत्तरीय इच्छा से ही संयोगवश परात्रिंशिका की बहुत सी शारदा मूल पुस्तियों का अध्ययन करने पर उसकी स्थिति स्पष्ट हो गई। वास्तव में मूल ग्रन्थ में 'कथम्' शब्द के अनन्तर 'पृष्टः' यह मूलसूत्र का शब्द आता है। इसके अनन्तर 'पृष्टं' शब्द से लेकर 'बहिष्कुरुते' तक के सारे शब्द इसी 'पृष्टः' शब्द की व्याख्या हैं। 'कथम्' शब्द से पहले छपाया हुआ 'असङ्कल्पनात्' शब्द व्याख्या का कोई भी अंश नहीं है। 'पृष्टः' शब्द से लेकर 'बहिष्कुरुते' तक के शब्दों को जो उद्धरण-पद्य के रूप में रखा गया है, वह मनगढन्त है। फलतः मूल पुस्तियों में ही पाये हुए क्रम के अनुसार सारे शब्दों को व्यवस्थित करके उसी रूप में अनुवाद भी किया गया है।

१. यह उद्धरण स्पन्दकारिका से लिया गया है। इसके बारे में पूरी जानकारी प्राप्त करने के लिए प्रस्तुत लेखक का स्पन्दकारिका भाषानुवाद द्रष्टव्य है। इस कारिका में योगियों के जाग्रत्-स्वातन्त्र्य का वर्णन किया गया है।

२. सूत्र में लिखित 'देहिनः' शब्द का यह अभिप्राय भट्टकल्लट के दृष्टिकोण से है।

३. इसी 'देहिनः' शब्द का यह अभिप्राय त्रिक दृष्टिकोण से है।

स्तो भूत-भविष्यत्ते । यथोक्तम्--

'कालोभयापरिच्छिन्ने............... ।'

इत्यादि । प्राग्भवत एव अनधिकरूपस्य पुनरिदं 'जानाति' करोति'—इत्यादि-सङ्कोचासहिष्णोः सकृद्-विभातत्वम् । अत एवोक्तं—'भूताद्यपेक्षा वर्तमान-कालस्य । तदभावे वस्तुतोऽप्रसक्तेर् अकालकलितत्वमेव वस्तुतत्त्वम्'—इति हि उक्तम् असकृत् । स एव तु कालशक्तिम् अवभासयति चित्राम्—

'किञ्च जाग्रति कस्मिंश्चिद् घटिकाभिमतापि या ।
तस्यामेव प्रमातारः स्वप्नगाश्चित्रताजुषः ।
दिन-प्रहर-वर्षादि-वैचित्र्यमपि तन्वते ॥'

वर्तमानकालिक अवस्था में रहता है, अतः प्रमातृभाव के सन्दर्भ में भूतकाल या भविष्यत्काल होते ही नहीं । जैसा कि—

'भूतकाल और भविष्यत्कालों की अपेक्षा से रहित (शाश्वतिक वर्तमान में ही रहना चाहिये)......। इत्यादि बातें कही गई हैं । जब यह प्रमातृभाव अनादिकालिक अस्तित्व ही है और इसके रूप में कभी कोई अधिकता (या न्यूनता) नहीं आने पाती, तो फिर यह, 'जानता है, करता है'—ऐसे ऐसे कथित वर्तमानकालिक इदन्तानिर्देशों की इयत्ताओं का विषय बन जाना कैसे सहन कर सकता है ? फलतः इसमें 'सकृद्विभातत्व' है, अर्थात् यह शाश्वतिक रूप में प्रकाशमान ही है । इसी कारण से कहा गया है कि आमतौर पर समझे जाने-वाले वर्तमान को भूतकाल और भविष्यत्कालों को अपेक्षा रहती है । यह बात बार बार दोहराई गई है कि भूत और भविष्यत् दोनों कालों का अभाव होने से शाश्वतिक वर्तमान पर कोई अपेक्षा चिमटने नहीं पाती और फलतः अकाल-कलितता ही वास्तविक यथार्थ है । असल में तो अभी नीचे कही जानेवाली नीति के अनुसार वह अनादिकालीन प्रमाता (स्वतन्त्रता से कालसङ्कोच को अपना कर) स्वयं अपनी ही कालशक्ति को विचित्र रूपों में अवभासित करता है—

'यह बात भी है कि किसी जागरण काल की अवधि में जो एक घड़ी का अनुभव माना जाता है, स्वप्नावस्था में पड़े हुए प्रमाता अजीब दशा के भागी

---

१. भाव यह है कि जब प्रमातृभाव अनादिकालीन है, तो भूतकाल का अस्तित्व ही कैसा ? जब भूतकाल नहीं तो उसकी अपेक्षा पर आधारित आम वर्तमान ही कहाँ ? वर्तमान के अभाव में भविष्यत्काल की कल्पना ही कैसी ? फलतः जब तथाकथित तीन कालों का कहीं अस्तित्व ही नहीं, तो फिर अकालकलितता ही वास्तविक यथार्थ है ।

इति नीत्या ।

प्रकृष्टो हरः—संहारोऽकुलाख्यः, ततोऽनन्तरम् अभिप्रेतं—प्रेतशब्द-वाच्य-सदाशिवतत्त्व-निविष्ट-ज्ञानशक्त्याभिमुख्येन, देवताया—इच्छायाः, रूपं—रूपाणां कलनं, साक्षस्य—सेन्द्रियस्य रूपस्य, अदनं—भक्षणम्, अतनञ्च—सातत्यगमनं कृत्वा, रोधन-द्रावण-शक्तिभिर् आकृष्टं पश्यति असंदिग्धं कृत्वा । एतदुक्तं भवति—

बन कर, उसी एक घड़ी में, पूरे एक दिन, एक पहर या एक साल के बराबर अद्‌भुत क्रियाकलापों के विस्तार का भी अनुभव कर[1] पाते हैं ?

'प्रहरात्…… रुद्रशक्तिभिः' की व्याख्या ।

रोधन और द्रावण के द्वारा देवता का दर्शन ।

१—रोधन— (प्रहर = प्रकृष्टो हरः । साक्षात् = साक्ष + अद्)

प्रस्तुत सन्दर्भ में 'प्रहर' शब्द का अर्थ 'प्रकृष्टो हरः' इस विग्रह के अनुसार परिपूर्ण संहारावस्था है। तात्पर्य यह है कि अमृतबीज का साक्षात्कार करनेवाला साधक 'साक्ष' अर्थात् इन्द्रियों के द्वारा बोध का विषय बनानेवाले बाहरी प्रमेय-जगत् के रूप का, 'अदन' अर्थात् आत्मभाव में परिपूर्ण रूप में लय करने के रूपवाला महाग्रास करने—दूसरे शब्दों में पूर्ण-संहारमय अकुल पद में घुसेड़ने के उपरान्त —

२—द्रावण—(साक्ष + अत्)

उसी 'साक्ष' अर्थात् इन्द्रियबोध का विषय बनने वाले, परन्तु अन्तः-संहृत रूप की 'अतन' अर्थात् फिर से बहिर्मुखता की ओर निरन्तर रूप में प्रवहमान बनाने के द्वारा, 'अभिप्रेत' अर्थात् प्रेत[2] कहे जानेवाले सदाशिव-तत्त्व में परिनिष्ठित रहनेवाली ज्ञान-शक्ति के अभिमुख बनाता हुआ, निःसंशय इन्हीं 'रोधन-द्रावणमयी' अर्थात् संहार-प्रसारमयी रुद्रशक्तियों के द्वारा आकर्षित किये हुए इच्छा-शक्ति के रूप-वैचित्र्य का साक्षात्कार कर लेता है। बात असल में इस प्रकार है—

---

१. जाग्रत् अवस्था की एक ही घड़ी स्वप्नावस्था में एक वर्ष इत्यादि भी बन सकने के कारण वास्तव में कालविभाग की कल्पना सापेक्ष एवं निर्मूल है ।

२. सदाशिवमयी ज्ञान-शक्ति से सामान्य-स्पन्द की भूमिका का अभिप्राय है। इसको प्रेत की संज्ञा दिये जाने के बारे में पहले ही प्रकाश डाला जा चुका है ।

१—यदिदं दर्शनं नाम, तत् सर्वतरङ्ग-प्रत्यस्तमयाख्य-अकुलसत्ताधिरूढस्य, अनन्तमहिम-स्वातन्त्र्य-योगाद् इच्छा-शक्तिमतः, सैव इच्छा स्वान्तर्गता,—

२—इष्यमाणवस्तुन ईषदस्फुट-भेदावभासनरूप-ज्ञानशक्त्यात्मकताम् एति। तज्ज्ञानशक्ति-विशेषस्पन्दरूप-समस्तेन्द्रियाणां बही रोधनम्-एतदेव सातत्य-गमनम्। तच्च द्रावणं तदेव भक्षणम्—एत एव वमन-भक्षणे—दर्शनस्य सर्वप्रथैक-

---

रोधन और द्रावण की मीमांसा।

असल में यह दर्शन (देवता-साक्षात्कार) ही पहले स्तर पर अन्तःसंहृत इच्छाशक्ति होने के कारण रोधन, और दूसरे स्तर पर बाहर की ओर प्रवहमान ज्ञानशक्ति होने के कारण द्रावण[1] है। स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

१—रोधन = अन्तःसंहार की अवस्था—

सारे बहिर्मुखीन संकल्प-विकल्पमय तरङ्गों के पूर्णतया अस्त हो जाने की भूमिका का रूप धारण करनेवाली अकुलसत्ता पर पहुँचे हुए और अनगिनत महिमाओं से भरपूर स्वातन्त्र्य के साथ सम्पर्क में आ जाने के कारण पूर्ण इच्छा-शक्ति वाले, अर्थात् अमृतबीज में समाविष्ट होने से विकास में आई हुई इच्छा-शक्ति के तीव्रतम आवेग से भरे हुए, योगी की वही इच्छा पहले अनुत्तर-धाम में ही लय हो जाती है,—

२—द्रावण = बहिःप्रसार की अवस्था—

फिर वही इच्छा एकदम बहिर्मुख होकर, इच्छा का विषय बनने वाले पदार्थ-समुदाय के सूक्ष्मातिसूक्ष्म और बिल्कुल अस्फुट रूप की, ज्ञानरूपता में ही दाग-बेल डालने के स्वभाववाली ज्ञान-शक्ति (सदाशिवमयी सामान्य-स्पन्द की अवस्था) का रूप धारण कर लेती है।

बहिर्मुखता में भी रोधन और अन्तर्मुखता में भी द्रावण।

वह सामान्य-स्पन्दमयी ज्ञान-शक्ति ही बहिर्मुखता की ओर अधिकाधिक प्रसार करती हुई विशेष-स्पन्दरूपिणी इन्द्रियों का रूप धारण कर लेती है और इस कोटि पर योगी उस इन्द्रियात्मकता का बाहरी रूप में ही 'रोधन' अर्थात् आत्मबल से उसी रूप में स्थापना कर देता है। यही तो रोधन में ही 'अतन' अर्थात् निरन्तर प्रवहमानता है। इसलिए रोधन ही 'द्रावण' अर्थात् प्रसार, और 'भक्षण' अर्थात् संहार है। 'ये' अर्थात् रोधन में ही द्रावण और द्रावण में

---

१. इस तथ्य को ध्यान में रखना आवश्यक है कि योगिसंकल्प की यह द्विमुखी रोधन-द्रावणमयी क्रियात्मकता ही क्रममुद्रा है। इस मुद्रा में योगी विश्वोत्तीर्णता और विश्वमयता दोनों के साथ यौगपदिक नाता जोड़ देता है। विशेष जानकारी के लिए प्रस्तुत लेखक का स्पन्दकारिका भाषानुवाद द्रष्टव्य है।

मयत्वात्, प्रथायाश्च तथाविध-वैचित्र्ययोगात्। अनिश्चित-उभयालम्बनत्वम् अपि स्थाणु-पुरुषादौ असंदिग्धम् एव। एवं दुष्कृतामयी परमेशशक्तिः।

एवं त्वसौ परापररूप-स्मृतिशक्तिमान् भैरव इत्याह—प्रहरद्वयेत्यादि। एवं तु स्मरन् जायते (व्योमस्थः)—व्योम विद्यते यत्र पुर्यष्टके शून्ये च, तत्प्रमातृ-रूपताम् आदधानः, प्रहरोपलक्षितं दर्शनाख्यं रूपं यदा पुनः पुनः परामृशति

ही रोधन (शास्त्रीय परिभाषा में) 'वमन-भक्षण' कहलाते हैं, क्योंकि जिसमें प्रत्येक प्रकार की 'प्रथा' अर्थात् सामान्य एवं विशेष रूपों वाला ज्ञान हो, वही 'दर्शन' अर्थात् अनुभवज्ञान (देवता-दर्शन) कहलाता है, और जो प्रथा हो उसमें तो प्रसारात्मक वैविध्य का योग तो अवश्य रहता ही है। 'वह सामने की चीज या तो पुरुष या खंभा है' इस तरह दो डोरों पर झूलता हुआ अनिश्चयात्मक संशयज्ञान भी वास्तव में असंदिग्ध[1] ही है। इस प्रकार के दुःसाध्य कामों को सहज ही में सम्पन्न करने की क्षमता ही पारमेश्वरी शक्ति है।

'प्रहर.......स्मरन्' की व्याख्या।

उल्लिखित भूमिका पर पहुँचा हुआ योगी तो दूसरे शब्दों में परापरभाव[2] को द्योतित करनेवाली स्मृति-शक्ति से भरपूर भैरव ही है। इस अभिप्राय से 'प्रहरद्वय'[3] इत्यादि सूत्र को कह रहे हैं—

इस प्रकार से अमृतबीज का स्मरण करता हुआ साधक 'व्योमस्थ' स्थिति में प्रवेश कर जाता है। यह स्थिति भी एक प्रकार से 'दर्शन' अर्थात् साक्षात् अनुभव की ही स्थिति है। तात्पर्य यह है कि 'पुर्यष्टक' अर्थात् अनुभवज्ञान और 'शून्य' अर्थात् अपोहनज्ञान इन दोनों के मध्यवर्ती अन्तराल को पूरा करके दोनों

---

१. 'सामने की चीज या तो पुरुष या खंभा है' इसमें भी, यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाये तो, वक्ता निश्चित रूप में पुरुष या खंभे की वर्तमानता का भाव अभिव्यक्त कर देता है। इन्हीं दो में से निश्चित रूप में एक है। इनसे इतर और किसी चीज़ के होने का लेशमात्र भी संशय नहीं, अतः ऐसा संशय ज्ञान भी वास्तव में असंदिग्ध ही है।

२. यहाँ पर परापरभाव कहने का तात्पर्य यह है कि इस स्तर पर योगी के अन्तस् में अनुभवज्ञान (दर्शन) के साथ-साथ उसी के स्मृति-ज्ञान, विकल्प-ज्ञान, अपोहन-ज्ञान इत्यादि भी जागरूक अवस्था में वर्तमान होते हैं।

३. प्रस्तुत सन्दर्भ में 'प्रहरद्वय' शब्द से, पहले पहर वाले पूर्वकालिक अनुभवज्ञान और दूसरे पहर वाले वर्तमानकालिक स्मृतिज्ञान की एकाकारता को द्योतित करने वाली परापरदशा का अभिप्राय है। तात्पर्य यह है कि पहले पहर से अनुभव और दूसरे पहर से स्मृति की आभासमानता द्योतित होती है।

स्मरत्यपि च प्राग्वत्—'साक्षात् पश्यत्यसंदिग्धमाकृष्टं रुद्रशक्तिभिर्'—इति सम्बन्धः, तावद्धि तदपि दर्शनमेव-इत्युक्तम्।

एवं तु अपरात्मक-विकल्प-शक्तियुक्त इत्युच्यते, त्रयेणेति—पश्यन्, स्मरंश्च व्योमस्थो यदा पुनरपि पश्यति, तदनेन प्रहरोपलक्षितदर्शनत्रयेण, मातरः अन्तः प्रमातृमय्यः परमेशशक्तयः, ताश्च प्रमातृत्वादेव सिद्धाः प्रमात्र्यन्तर-विषय-सिद्धि-अनपेक्षाः, (योगीश्वर्यः—) तद्रूपैकात्म्यलक्षणेन योगेन ऐश्वर्यं

को आपस में जुड़ानेवाले स्मृतिमय प्रमातृभाव को धारण करता हुआ साधक, जब 'प्र + हर = प्रकृष्ट हर' इसी उल्लिखित परिपूर्ण लयीभाव से बोध में आने वाले दर्शननामी रूप का बार बार परामर्श एवं स्मरण करने लगता है, तो उस अवस्था की भी संगति—'रुद्रशक्तियों के द्वारा आकर्षित देवता के रूप का निःसंशय साक्षात् दर्शन करता है'—इसी पूर्वोक्त सूत्र-खण्ड के साथ बिठाने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि तब तक (जब तक दर्शन का परामर्श एवं स्मरण करता है) वह अवस्था भी 'दर्शन' अर्थात् अनुभव की ही अवस्था है, यही (भगवान् का) कथन है।

'त्रयेण·······यद्वा समीहितम्' की व्याख्या।

यही साधक अपराभाव को द्योतित करनेवाली विकल्पशक्ति से भी भरपूर भैरव है, इस अभिप्राय से 'त्रयेण' इत्यादि शब्दों का उल्लेख कर रहे हैं—

अनुभव, स्मरण और अपोहन इन तीनों को आपस में जुड़ानेवाले प्रमातृभाव में स्थिर रहकर जब फिर भी 'देखने'[1] अर्थात् अनुभव करने लगता है, तब उसी 'प्र + हर' शब्द से बोध में आनेवाली तीनों ज्ञानों की एकाकारता के रूपवाला दर्शन करने के फलस्वरूप, सब सिद्धियों से पूर्ण और बलशालिनी मातायें, योगीश्वरियाँ, वीर, वीरेश्वर और शाकिनी-शक्तियाँ उसको प्रमाण-फल या विशुद्ध प्रमिति-फल पर आधारित सिद्धियाँ प्रदान कर देती हैं—इन माताओं इत्यादि के और सिद्धियों के स्वरूप निम्नलिखित प्रकार के हैं—

१. मातायें—

साधक के अन्तस् में जागरूक रहनेवाले पतिप्रमातृ-भाव का परिचय देने-

---

१. इस दर्शन से बहिरङ्ग प्रमेयता को उद्बुद्ध प्रमातृभाव की दृष्टि से एकाकारता में देखने का तात्पर्य है। इससे पूर्ववर्ती दर्शन से अन्तरङ्ग अनुत्तरभाव के अनुभव का तात्पर्य है। बहिरङ्ग प्रमेयता को आम लोगों के द्वारा और योगिजनों के द्वारा देखे जाने में आकाश-पाताल का अन्तर है। आम लोग सारे पदार्थों को स्वरूप से इतर भेदरूप में और योगी लोग स्वरूपमयी एकाकारता के रूप में देखते रहते हैं।

तथागृहीतस्वातन्त्र्यांशाः, (महाबलाः) महद्, बाह्येन्द्रियवृत्त्यपेक्षया सर्वत्र अप्रतिहतप्रसरत्वं बलं यासां ताः-अन्तःकरणदीधितयः, ता अपि सिद्धा एव- विश्वत्र पाशवशासन-निरपेक्षतयैव सरभस-प्रवृत्तिरूपत्वात्, वीराबुद्धीन्द्रिय- क्रियेन्द्रियाख्याः, तेऽपि सिद्धा एव, तेषामपि चेश्वराः-कादिवर्णात्मानः, तेऽपि

वाली पारमेश्वरी शक्तियाँ, अर्थात् उसकी निजी बाहरी इन्द्रिय-शक्तियाँ मातायें हैं। ये स्वयं (शक्तिरूप में) पतिप्रमातृमयी होने के कारण 'सिद्ध हैं', अर्थात् स्वयं स्वतंत्रतापूर्वक सारे प्रमेय पदार्थों को अपने-अपने रूप में सिद्ध करने की क्षमता से भरपूर हैं और किसी दूसरे प्रमाता के द्वारा उनको सिद्ध करवाने की अपेक्षा नहीं रखती।

२. महाबलशालिनी योगीश्वरियाँ—

मन, बुद्धि और अहंकार इन तीन अन्तःकरणों की शक्तियाँ ही योगीश्वरियाँ हैं। इनके योगीश्वरी होने की सार्थकता इस बात में है कि पतिप्रमातृभाव के साथ अधिक और सीधी एकाकारता के रूपवाला योग होने के कारण, इनको अंशतः स्वातन्त्र्य पर अधिकारिता होती है। भाव यह है कि इनमें इतनी पर्याप्त मात्रा में बलशालिता भरी रहती है कि ये बाहरी इन्द्रिगवृत्तियों की अपेक्षा प्रत्येक दिशा में बेरोक-टोक प्रसार करती रहती हैं। ये भी स्वरूपतः सिद्ध ही हैं, क्योंकि 'पाशव-शासन' अर्थात् त्रिकशास्त्र से इतर शास्त्रों में निर्धारित की गई यन्त्रणाओं (आँखों को बन्द करना, जीभ या और किसी अंग को विकल बनाना, किसी को न छूना इत्यादि) की परवाह किये बिना प्रत्येक दिशा में, स्वातंत्र्य के तीव्र आवेग में अपनी-अपनो क्रियाशीलता की ओर प्रवृत्त होते रहना ही इनका वास्तविक रूप है।

३. वीर—

(ऐसे साधक की) ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों को वीरों की संज्ञा दी जातो है। ये भी अपनी जगह सिद्ध ही हैं।

४. वीरेश्वर—

'क' इत्यादि व्यञ्जन वर्णों की आत्मा बने हुए शक्तिसमुदाय को वीरेश्वर

---

१. इन्द्रियवृत्तियों और इन्द्रियशक्तियों में आकाश-पाताल का अन्तर है। मूल में इन दोनों ही शब्दों से इन्द्रियों के प्रत्येक व्यापार का ही अभिप्राय है, परन्तु यदि वह बहिरङ्ग भेदरूपता की ओर प्रवहमान हो, तो इन्द्रियवृत्ति और यदि अन्तरङ्ग प्रमातृभाव की ओर एकाग्रधारा के रूप में प्रवहमान हो तो इन्द्रिय-शक्ति कहलाता है। आम लोगों में या सारे प्राणियों में इन्द्रिय-वृत्तियाँ और तीव्र अवधान वाले व्यक्तियों में इन्द्रिय-शक्तियाँ स्पन्दायमान होती हैं।

सिद्धाः, तत्कादिवर्ण-उद्धार-उदितश्च ब्राह्म्यादिदेवतात्मा-तत्तद्-द्वेष-रागादि-चित्तवृत्ति-रसमयः शक्ति-समूहः, सोऽपि सिद्ध एव, अत एव बलवान्। एते सर्वे संभूय (१)—'पराज्ञया परस्य मां-मानमयीम्,'–असौ परः'-इति विकल्पात्मिकां, यद्वा (२)–समीहितं फलमेव–'अहं' ददति–प्रयच्छन्ति। अज्ञात-अर्थक्रिये, ज्ञात-अर्थक्रिये च एष क्रमेण विकल्प-योगः।

किं बहुना, ये मन्त्रिणोऽपरकुलान्तमन्त्रसिद्धा अपि, साधयन्त्यपि च, तेऽपि अनेन हृदयेन सेत्स्यन्ति–जीवन्मुक्ता भवन्ति। एतेन विना पारमार्थिकी

कहते हैं। इनको वीरेश्वर इसलिए कहते हैं कि ये सारी इन्द्रियों को अपने-अपने विषय की ओर प्रवृत्त होने की प्रेरणा देते रहते हैं। ये भी सिद्ध ही हैं।

५. शाकिनियों का बलशाली समुदाय—

इन ककार इत्यादि व्यञ्जन वर्णों के अनेक प्रकार के पारम्परिक सम्मिश्रण से उत्पन्न होने वाला शक्ति-समुदाय—जिसको शास्त्रीय शब्दों में ब्राह्मी इत्यादि देवियाँ कहा जाता है और जो भिन्न भिन्न प्रकारवाली राग, द्वेष इत्यादि चित्तवृत्तियों का ही रस लेता रहता है—शाकिनियों का गण कहलाता है। यह भी अपने स्थान पर सिद्ध ही है और स्वयं सिद्ध होने के कारण परम बलशाली भी है।

६. सिद्धियाँ—

१—ये सारे सिद्ध भगवान् भूतनाथ की आज्ञा से साधक के अन्तःविमर्श में एकत्रित होकर उसको 'पर + मा' सिद्धि प्रदान कर देते हैं, अर्थात् उसमें पर-प्रमातृभाव की ऐसी विकल्पमयी चेतना जाग्रत् कर देते हैं कि वह केवल बहिरङ्ग प्रमाणों के द्वारा—'परप्रमातृभाव का रूप वैसा है' इस रूप में सिद्ध हो जाती है, अथवा—

२—उसको अतीव मनोनीत 'सिद्धि' अर्थात् विशुद्ध 'अहंभाव' के ही रूप-वाली अन्तरङ्ग परप्रमातृभाव की अनुभूतिमयी सिद्धि प्रदान कर देते हैं।

यहाँ पर प्रस्तुत किये गये विकल्प के दो रूपों का सम्बन्ध क्रमशः 'अर्थक्रिया को न जानने वाले' अर्थात् केवल बाहरी प्रमाणों के बल पर ही अध्यात्म की दिशा में आगे बढ़ने वाले और 'अर्थक्रिया के जानकार' अर्थात् पूर्ण रूप में आत्मिक-अनुभूति के बल पर आगे बढ़ने वाले योगियों के साथ जोड़ना चाहिये।

'अनेन····प्रसिद्ध्यति' की व्याख्या।

अधिक क्या कहा जाये, जो लोग (पूर्वोक्त) कुलाचार तक के अपर-शास्त्रों में वर्णित मन्त्रों का अभ्यास करने से कथित सिद्ध बन गये हैं, और जो इस समय

सिद्धिर्न भवति–इति भावः। 'यत्किञ्चिद् भैरवेत्यादि'—तथा ये सिद्धाः, साधयन्ति च, ये च सेत्स्यन्ति-अणिमादियोगात्, तेऽपि अनेनैव। नहि एतद् हृदयानुप्रवेशं विना व्यावहारिकी अपि सिद्धिर्, यतो भैरवे-विश्वात्मनि, तन्त्रे–क्रियाकलापे यत्किञ्चित् सिद्धिजातं तद् अत एव। एवम् एष परमेश्वर एव हृदयात्मा एवंरूपया शक्तित्रितय-बृंहित सततोदयमान-संह्रियमाण-अनन्त-संविद्-ऐक्यशाली।

१—एवम् अदृष्टम्–अख्यातिरूपम्, अण्डं-मायामलम्, अण्डं च भावानां

भी उन मन्त्रों का अभ्यास कर रहे हैं, वे भी, अन्त में, इसी अमृतबीज का विधिवत् साक्षात्कार करने से जीवन्मुक्त बन जाते हैं। असल में तो इसका साक्षात्कार किये बिना यथार्थ मोक्ष-सिद्धि मिल सकना असम्भव ही है।

दूसरे पक्ष में जो लोग अणिमा इत्यादि अवर सिद्धियों को पाने की कामना से ही, स्वतःसिद्ध ज्ञान के द्वारा पूर्वकाल में सिद्धियाँ प्राप्त कर चुके हैं, इस समय योगसाधना कर रहे हैं, अथवा इसी क्रम से आगे भविष्य में सिद्धियाँ प्राप्त करते रहेंगे, वह भी इसी का चमत्कार है।

'यत्किञ्चिद्भैरवे तन्त्रे' इत्यादि पद्य से यह ध्वनि निकलती है कि इस हृदय-बीज (अमृत-बीज) में प्रवेश पाने के बिना कोई व्यावहारिक सिद्धि भी मिल नहीं पाती, क्योंकि 'भैरव' अर्थात् विश्वात्मभाव से व्याप्त रहनेवाले ज्ञान मार्ग और 'तन्त्र' अर्थात् क्रियाप्रधान योग मार्ग के साथ सम्बन्धित सिद्धियाँ भी केवल इसी का साक्षात्कार करने से मिल सकती हैं। निष्कर्ष यह है कि वास्तव में पर-मेश्वर स्वयं हृदयात्मा हैं और ऐसा होने के कारण परा, परापरा और अपरा इन तीन शक्तिरूपों के द्वारा परिपुष्ट बनाई हुई, शाश्वतिक रूप में उदय[1]-संहार-मयी और अनगिनत आकार-प्रकारों वाली संवित् के साथ बिल्कुल एकाकारता के 'रूप', अर्थात् शास्त्रीय परिभाषा के अनुसार पिण्डनाथ[2] के रूप में रममाण हैं।

'अदृष्टमण्डलोऽप्येवम्' की व्याख्या।

१. पतिप्रमातृभाव की दृष्टि से—(अदृष्टम् अण्डं लुम्पति अपि।)

इस प्रकार से यह हृदयबीज ही 'अदृष्ट', अर्थात् स्वरूप-बोध की अपूर्णता का रूप धारण करनेवाले, 'अण्ड' अर्थात् मायीय मल या [3]भेददृष्टि को भी इसी

१. अनुभव के क्षण में उदीयमान, स्मृति के क्षणों में उदय-संहारमय और अपोहन के क्षण में केवल संहारमत–इन तीन रूपों को उदय-संहारमय कहते हैं।

२. प्रसारहृदय—'अ→ह→म्' को हृदयबीज और संहार-हृदय—'म्→ह→अ' को पिण्डनाथ कहते हैं। दोनों रूप वास्तव में अहंभावमय अमृतबीज ही हैं।

३. यहाँ 'अण्ड' शब्द में प्रमेय-पदार्थों के स्वरूपतः एवं पारस्परिक अलगाव का तात्पर्य निहित है।

भेदाख्यं सारं, लुम्पति एतद् हृदयम् ।

२—एतद् हृदयमण्डलोऽपि–चत्वारि अण्डान्येव लोपः–सङ्कोचः, तद् योगि। एवमेष विद्या-मायोभयात्मा परमेश्वर एक एव चिद्घनः ।

यथोक्तम्—

'दर्शनं तु परा देवी स्मरणञ्च परापरा ।
विकल्पस्त्वपरा देवी त्रिकशक्तिमयः प्रभुः ॥
माया-विद्ये उभे तस्य माया तु चतुरण्डिका ।
विद्या स्वरूप-संवित्तिरनुग्रहमयी शिवा ॥'

इति ।

यदि तु योगप्राधान्यं तदा श्रीपूर्वादिशास्त्रनिरूपितं पूर्वमेव व्रतादि कृत्वा 'अस्योच्चारे कृते'—इत्यादि स्पष्टमेव व्याख्येयम्, यतो दृष्टकार्येषु नियतिपर-

---

प्रकार साक्षात्कार किये जाने के द्वारा मिटा देता है ।

२. पशुप्रमातृभाव की दृष्टि से—(अदृष्टम्, अण्डानि एव लोपः, तद्योगी ।)

साथ ही यह हृदयमण्डल (अमृतबीज) शक्ति इत्यादि चार अण्डों के रूपों में व्याप्त रहने वाले, 'लोप' अर्थात् संकोच या भेदभाव का, स्वतन्त्रता से, अङ्गीकार करके संकोच के रूप में भी स्वयं वर्तमान है ।

जैसा कहा गया है—

'अनुभव ही परा भगवती, स्मरण ही परापरा भगवती और 'विकल्प' अर्थात् अपोहन ही अपरा भगवती है। शक्तिघन भगवान् इस त्रिक-शक्ति से ओतप्रोत हैं ।

(भेदरूपिणी) माया और (अभेदरूपिणी) विद्या ये दोनों उसी की शक्तियाँ हैं। इनमें से माया चार अण्डों के रूप में व्याप्त है। विद्या स्वरूप-संवेदन को विकसित करने वाली अनुग्रहमयी शक्ति के रूप में निरन्तर कल्याण कर रही है।'

अगर योगप्रक्रिया की ही प्रधानता से—'अस्योच्चारे कृते' इत्यादि मूल सूत्रों का अर्थ लगाने की इच्छा हो तो उस परिप्रेक्ष्य में श्रीपूर्व इत्यादि आगम-ग्रन्थों में वर्णित व्रत इत्यादि का अनुष्ठान करके, इनका स्पष्ट शाब्दिक अर्थ ही लगाना चाहिये। इसका कारण यह कि 'दृष्ट कार्यों'[1] अर्थात् योगिक इतिकर्तव्यताओं में,

---

१. योगमार्ग पर चलनेवाले साधक को 'दृष्टकारी' और ज्ञानमार्ग का अनुसरण करनेवाले साधक को 'अदृष्टकारी' कहते हैं। दृष्टकारी को शास्त्र-निर्धारित नियमों का अक्षरशः पालन करने की परवशता होती है, परन्तु अदृष्टकारी किसी भी पूर्वनिर्धारित नियम का पाबन्द नहीं होता ।

तन्त्री क्रियाकलापं नियतम् एव आक्षिपति। योगिनाम् अपि हि नाडीचक्र-करण-भावना-संवेदन-युक्त्या नियम एव ॥१८॥

अस्येदानीं त्रिकार्थस्य युक्तं—'कुलात्परतरं त्रिकम्—इति, तत् सर्वोत्तर-त्वम् अनुत्तरत्वं निरूपयति—

अदृष्टमण्डलोऽप्येवं यः कश्चिद्वेत्ति तत्त्वतः।
स सिद्धिभाग्भवेन्नित्यं स योगी स च दीक्षितः॥'१९॥

१—मण्डलं-देवताचक्रम्, अपश्यन्नपि-अप्राप्तमेलकोऽपि चर्या-निशाटन-हठादिना,—

२—मण्डलानि-शरीर-नाडीचक्र-अनुचक्ररूपाणि, योगाभ्यासेन असाक्षा-त्कुर्वन्नपि,—

नियति-शक्ति की परतन्त्रता निश्चित विधि-विधानों का पालन किये जाने की ही अपेक्षा रखती है। योगियों के लिए भी, नाडीचक्रों का अनुसन्धानो, करणों-पासना, ध्यान-धारणा और संवेदन को उजागर करने की युक्तियाँ तो दूसरे शब्दों में पूर्वनिर्धारित नियम ही हैं।

त्रिकमान्यता के सन्दर्भ में पहले कहा जा चुका है कि त्रिकाचार कुलाचार से भी बढ़कर है। अब उसी कथन के अनुसार अनुत्तरभाव की सर्वोत्कृष्टता सिद्ध करने के अभिप्राय से अगला सूत्र अवतरित कर रहे हैं—

मूल-सूत्र

जो व्यक्ति अमृतबीज के यथार्थ स्वरूप का जानकर हो, उसने यदि (चूने इत्यादि से बनाये गये) गोलाकार मण्डल का दर्शन न भी किया हुआ हो, तो भी उसको पूर्वोक्त सिद्धियाँ मिल जाती हैं। वही, निश्चय से, योगी और (देवियों = निजी इन्द्रिय-शक्तियों के द्वारा) स्वयं ही दीक्षित साधक है॥१९॥

तत्त्व-विवेक

१—(तान्त्रिक योगक्रम के साथ सम्बन्धित) चर्या[1]-क्रम (शाक्त-उपाय), निशाटन (अँधेरी रातों में श्मशान इत्यादि स्थानों पर भ्रमण—आणव-उपाय) और हठप्रक्रिया (शांभव-उपाय) इत्यादि क्रमों के अनुसार अभ्यास करने से 'मण्डल' अर्थात् देवियों के समुदाय के साथ मिलाप न हो जाने पर भी,—

२—'मण्डल' अर्थात् अपनी ही काया में वर्तमान मुख्य नाडीचक्रों या अवा-न्तर चक्रों का, योगप्रक्रिया के द्वारा, साक्षात्कार न करने पर भी,—

---

१. चर्या-क्रम से पूर्वोक्त वीर-योगिनी सम्प्रदाय का तात्पर्य है।

३—त्रिशूलाब्जादिमण्डलम् अदृष्ट्वा अपि, नात्र मण्डलादिदीक्षोपयोगः—

एवमेव कश्चित्-परशक्तिपातानुगृहीतो, वेत्ति यः—एतज्ज्ञानमेव हि दीक्षा, कान्यात्र दीक्षा? अत एव एवं जानन् विभुना भैरवभट्टारकेण दीक्षितः। अत एव—

'स्वयं गृहीतमन्त्राश्च............।'

३—(बाह्याचार के साथ सम्बन्धित दीक्षा इत्यादि विधिविधानों के अवसरों पर यज्ञमण्डप में) चूने इत्यादि से बनाये गये गोलाकार मण्डलों—जिनमें त्रिशूल के तीन सिरों पर तीन और उनके ऊपर एक श्वेतकमल इत्यादि का अंकन[1] किया हो—का दर्शन करने के बिना भी—

जो कोई विरला वीर परमेश्वर के ही शक्तिपात के द्वारा इस अमृतबीज के रहस्य को जान पाया हो, उसको तो सर्वव्यापक भगवान् भैरव-भट्टारक ने स्वयं ही दीक्षित किया होता है। इसमें (निरपेक्ष शक्तिपात के आकस्मिक चमत्कार में) मण्डलों के दर्शन करवाने या दीक्षायें दिये जाने की कोई उपयोगिता नहीं है, और इसका स्वरूप-परिचय पाने में ही सच्ची दीक्षा चरितार्थ हो जाने के कारण ओर कौन सी दीक्षा बाकी रह जाती है? यही कारण है कि—

'[2]जिन्होंने स्वयं ही मन्त्र लिया हो............।' इत्यादि श्लोक में कही हुई

---

१. इसका उल्लेख पहले किया गया है कि ज्ञानशक्तिरूपी सदाशिव के नाभिमण्डल पर स्थित त्रिशूल के तीन सिरों पर श्वेतकमल हैं। उन पर परा, परापरा और अपरा ये तीन देवियाँ विराजमान हैं। यह सारा परा भगवती का आसनपक्ष है। इसके ऊपर चौथे श्वेतकमल पर स्वयं माता परा-भट्टारिका लोकोत्तर रूप में आसीन है। दीक्षा के अवसरों पर यज्ञमण्डपों में चूने इत्यादि से ऐसे ही रेखा चित्रों का अंकन भूमि पर करके शिष्यों को दीक्षा देने से पहले दिखाये जाते थे। यहाँ कश्मीर में आज कल भी बच्चे का यज्ञोपवीत संस्कार करने के अवसर पर ऐसे ही मण्डल का दर्शन कराया जाता है।

१. पूरा उद्धरण-वाक्य इस प्रकार है—

'स्वयं गृहीतमन्त्राश्च क्लिश्यन्ते पापबुद्धयः'।

तात्पर्य यह है कि जो व्यक्ति गुरुचरणों का शरण लेने की उपेक्षा करके स्वयं ही कहीं से कोई मन्त्र लाकर उसका अभ्यास करने बैठते हैं वे पापबुद्धि वाले दुःखों में पड़ जाते हैं। यह बात तो अमृतबीज के विषय में लागू नहीं हो सकती, क्योंकि यह बाजार में बिकनेवाला मन्त्र नहीं है। यह तो भैरवीय हृदय है, अतः यदि भैरव-भट्टारक स्वयं ही किसी के लिए इसके पट खोलते हैं, तो और किस गुरु के पथप्रदर्शन की आवश्यकता बाकी रह जाती है?

इत्येतद् हृदय-अतिरिक्त-मन्त्रविषयम्। नहि अयं मन्त्रो–हृदयमयत्वात्, मन्त्र-महेश-तन्महेश-रूप-उत्तीर्णत्वाद् अस्य। पुस्तकेषु अल्लेख्यमेव इदं हृदयम् इति, परशक्तिपातानुग्रहादेव एतल्लाभस्तत्त्वतः—इति निर्णीतम्।

तथा, यः कश्चिदिति–जाति-व्रत-चर्यादिनैरपेक्ष्यम्, अत्र वेदनम् एव हि प्रधानम्। स सिद्धिभाग् योगी–'योगमेकत्वमिच्छन्ति' इति–यतो ज्ञानदान-मायाक्षपण-लक्षणा च तस्यैव दीक्षा। चकारोऽवधारणे, तच्च सर्वतो मन्तव्यः। तदाह–स एव सिद्धिभाग् योगी, स एव च दीक्षितो नित्यम्–इति ॥१९॥

अनेन ज्ञातमात्रेण ज्ञायते सर्वशक्तिभिः।

बात प्रस्तुत अमृतबीज के अतिरिक्त दूसरे (अवरकोटिक) मन्त्रों के सन्दर्भ में ही लागू हो सकती है। निःसन्देह यह उस रूप में मन्त्र नहीं है, क्योंकि यह तो साक्षात् (अनुत्तरीय) हृदय ही है और मन्त्र, मन्त्रेश्वर, मन्त्रमहेश्वर इन स्तरों से पूर्णतया अतिवर्ती है। इसके बारे में तो भगवान् का अपना ही यह निर्णय है कि यह मन्त्र कागज के पन्नों में लिखे जाने का विषय नहीं, प्रत्युत अनुत्तरीय शक्तिपात के अनुग्रह से ही यदि इसका लाभ हो जाय तो वही इसका वास्तविक लाभ है।

इसके अतिरिक्त—'यः कश्चित्' इन दो शब्दों से यह ध्वनि निकलती है कि जातिवाद, व्रत इत्यादि शास्त्रीय नियमों और चर्या-क्रम इत्यादि की कल्पित परिपाटियों की अपेक्षा के बिना इसका संवेदनात्मक साक्षात्कार हो जाना ही मुख्य बात है। ऐसा व्यक्ति ही हरेक सिद्धि का भागी योगी है। प्रस्तुत सन्दर्भ में 'योग' शब्द से संवेदनात्मक एकाकारता का ही अभिप्राय लिया जाता है, क्योंकि दूसरों को भी ज्ञान का दान देकर माया का क्षपण (नाश) करने के रूपवाली वास्तविक दीक्षा तो उस एकाकार बने हुए व्यक्ति को ही मिली होती है। सूत्र में 'चकार' निश्चय के अर्थ का द्योतक है। यहाँ पर इसका सम्बन्ध हरेक बात के साथ जोड़ना चाहिये। इसी अभिप्राय को अभिव्यक्त करने के हेतु भगवान् ने कहा है—'निश्चित रूप में वही सब सिद्धियों को धारण करनेवाला योगी, और निश्चित रूप में (अदृश्य शक्तियों के द्वारा) नित्य-दीक्षित साधक है ॥१९॥

मूल-सूत्र

इसका मात्र 'ज्ञान' अर्थात् साक्षात्कार हो जाने पर तत्काल ही, साधक को, अपनी सारी इन्द्रिय-शक्तियों के द्वारा इसके विषय में विस्तृत जानकारी सुलभ बनाई जाती है।

सर्वाभिर् देवताभिः, सर्वशक्तिभिश्च, सर्वज्ञैर् असौ ज्ञायते। एतज् जानन्नेव तैरपि यत्किञ्चिज् ज्ञायते तदनेन ज्ञातमात्रेण ज्ञायते–इति प्राग्वत्। सर्वाभिः शक्तिभिर्–इति करणे तृतीया। तथा—

शाकिनीकुलसामान्यो भवेद्योगं विनापि हि ॥२०॥

अनेन ज्ञातमात्रेण योगम्–आभ्यासिकं, मायीय-देहपात-अवाप्त-तदैक्यरूपं च विनापि शाकिनीकुलस्य–विशेषस्पन्दात्मनः, सामान्यस्पन्दरूपोऽकुलरूपः शक्तिचक्रेश्वरो भवेद्–इति ॥२०॥

तत्त्व-विवेक

सर्वज्ञ पुरुष अपनी सारी इन्द्रियवृत्तियों और इन्द्रियशक्तियों के द्वारा भी उस हृदयबीज की जानकारी प्राप्त करते हैं, परन्तु इसकी पूरी जानकारी पाने की प्रक्रिया में इनके द्वारा उनको जो कोई भी जानकारी प्राप्त होती है, वह तो इसकी (अमृतवीज की) पूर्वज्ञातृता से ही सम्भव हो सकती है। यह अर्थ भी पहले की तरह ही लगाया जाता है। सूत्र में 'सर्वाभिः शक्तिभिः' इन शब्दों में करण (साधन) के अर्थवाली तृतीया विभक्ति का प्रयोग हुआ है।

मूल-सूत्र

निश्चित रूप से ऐसा साधक, योगाभ्यास करने और (परब्रह्म के साथ) एकारूपी योग हो जाने के बिना भी, विशेष स्पन्दमयी शाकिनी-शक्तियों के समुदाय को मौलिक सामान्य स्पन्दमयी अवस्था में लीन हो जाता है ॥२०॥

तत्त्व-विवेक

साधक, योगाभ्यास करने और मायीय काया को छोड़ने के उपरान्त परब्रह्म में ही लीन हो जाने के रूपवाला एका हो जाने के बिना भी, इस हृदयबीज का आकस्मिक साक्षात्कार पा लेने से ही सामान्यस्पन्दमय अकुलरूप को धारण करके, अर्थात् अभेद स्थिति में लीन होकर, विशेषस्पन्दमयी शाकिनीनामी शक्तियों[1] के समुदाय, अर्थात् सारी भेदस्थिति का स्वतंत्र शासक बन जाता[2] है ॥२०॥

---

१. बहिर्मुखीन इन्द्रियवृत्तियाँ।

२. मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण ने परब्रह्म में लीन हो जाने का उल्लेख श्रीगीता में किया है—

'ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन् देहं स याति परमां गतिम् ॥

परन्तु भगवान् अभिनव का दावा है कि मरने तक क्यों ठहरा जाये? जीते जी ही अमृतबीज का साक्षात्कार पाने से मनुष्य परभैरव बन सकता है।

किञ्च—

अविधिज्ञो विधानज्ञो जायते यजनं प्रति ॥२१॥

विधिः—क्रिया ज्ञानं च, तद् यस्य द्वयं नास्ति स पशुः। यथोक्तं किरणायाम्—

'पशुर्नित्यो ह्यमूर्तोऽज्ञो निष्क्रियो निर्गुणोऽप्रभुः।
व्यापी मायोदरान्तःस्थो भोगोपायविचिन्तकः॥'

इति। स पशुरपि अनेन ज्ञातमात्रेण, विधानं ज्ञा च यस्य स—कर्ता ज्ञाता च विषयसङ्गतकरणं प्रति जायते। यजनं च अस्य अपूर्णमपि पूर्णं भवति—सर्वमयत्वाद् हृदयस्य, इति ॥२१॥

तथाहि—

कालाग्निमादितः कृत्वा मायान्तं ब्रह्मदेहगम्।
शिवो विश्वाद्यनन्तान्तः परं शक्तित्रयं मतम् ॥२२॥

इतना भी है कि—

मूल-सूत्र

शास्त्रीय विधि-विधानों का जानकार न होने पर भी यज्ञीय इतिकर्तव्यताओं के सम्बन्ध में हरेक विधि का ज्ञान स्वयं ही प्राप्त कर लेता है ॥२१॥

तत्त्व-विवेक

प्रस्तुत प्रसंग में 'विधि' शब्द क्रिया और ज्ञान दोनों का वाचक है। जिस व्यक्ति को ये दोनों न हों, वही पशु होता है। जैसा कि किरण-शास्त्र में कहा गया है—

'पशु (जीवात्मा) नित्य, आकारहीन, अज्ञानी, निष्क्रिय, गुणों से रहित, सामर्थ्य से वञ्चित, व्यापक, माया के ही उदर का कैदी और विषय सुख पाने के उपायों का चिन्तन करनेवाला होता है।'

वह पशु भी इसका मात्र साक्षात्कार पाने से ही यज्ञीय विधानों को व्यवस्था देने के विषय में पूरा कर्ता और ज्ञाता बन जाता है। जानकारी न होने के कारण यदि उसके यज्ञीय विधि-विधानों में कोई कमी भी हो, वह तो स्वयं ही पूरी हो जाती है, क्योंकि हृदय स्वरूपतः सर्वसर्वात्मक है ॥२१॥

इस सर्वमयता को स्पष्ट करते हुए कहते हैं—

मूल-सूत्र

[नोट—सूत्र अत्यधिक कूट है, अतः सुगमता के लिए पहले इसका अन्वय दिया जा रहा है—]

१—कालाग्निम् आदितः कृत्वा मायान्तं ब्रह्मदेहगम् (अस्ति), २—शिवः अनन्तस्य अन्तः (स्थितः), ३—परं विश्वादि शक्तित्रयम् (अस्ति), तच्च परं मतम्।

कालाग्नेः–धरातत्त्वादिभुवनात् मायातत्त्वं यावत्, ब्रह्मणः–सकारस्य देहे; विश्वभुवनात्–विद्यातत्त्वादेर् आरम्भ, शिवः–अनाश्रितशक्तिरूपश्च, अनन्तस्य अकारस्य, अन्तः, परं–विसर्गात्मकं, शक्तित्रयम्, तच्च परं मतम् ।

'कालाग्नि' अर्थात् पृथिवी-तत्त्व से आरम्भ करके माया-तत्त्व तक के ३१ तत्त्व, 'ब्रह्मदेह' अर्थात् 'सकार'[1] में समाये हुए हैं। 'शिव' अर्थात् अनाश्रित शक्ति सहित शिव (शिव-शक्ति-संघट्ट अथवा इन दो तत्त्वों का समरसीभाव), 'अन्[2] + अन्त + अन्तः' अर्थात् 'अकार के अन्त पर जुड़े हुए विसर्ग में समाया हुआ है। 'पर' अर्थात् शेष बचे हुए 'औकार' में, 'विश्वादि' अर्थात् विद्या-तत्त्व से आरम्भ करके 'शक्तित्रय' अर्थात् सदाशिव-तत्त्व तक के तीन तत्त्वों के रूप वाला इच्छात्मक, ज्ञानात्मक और क्रियात्मक [3]शक्तित्रिशूल समाया हुआ है और वह शक्तित्रिशूल ही 'पर' अर्थात् विसर्गमय या सर्जनात्मक माना गया[4] है ॥२२॥

तत्त्व-विवेक

सबसे पहले भुवन पृथिवी-तत्त्व से लेकर माया-तत्त्व तक के ३१ तत्त्व 'सकार' के स्वरूप में समाये हुए हैं। 'शिव' अर्थात् शिव और उसकी अनाश्रित शक्ति (शिव और शक्ति इन दो तत्त्वों का समरसीभाव) अकार[5] के अन्त पर जुड़े हुए विसर्ग में अवस्थित है। शेष[6] बचे हुए 'औकार' में 'विश्वभुवन' अर्थात् विद्या-तत्त्व से लेकर सदाशिव-तत्त्व तक के तीन तत्त्वों के रूपवाला, 'शक्तित्रय' अर्थात् इच्छात्मक सदाशिव, ज्ञानात्मक ईश्वर और क्रियात्मिका शुद्धविद्या यह

---

१. 'ओं तत् सत्' इस अखण्ड वाक्य में तीन ब्रह्म हैं और तीसरा सकारात्मक ब्रह्म है। त्रिक दृष्टिकोण के अनुसार श, ष, स, ह, क्ष इस ब्रह्मपञ्चक में से तीसरा ब्रह्म 'सकार' है।

२. अ–कला ही विसर्गात्मकता का अङ्गीकार करने पर विसर्ग बन जाती है— अ + : = अः

३. 'औ' त्रिशूलबीज अर्थात् इच्छा, ज्ञान और क्रिया की समष्टि होने के कारण स्फुटतम क्रिया स्थान है।

४. कुल तत्त्व—३१ + २ + ३ = ३६, अतः अमृतबीज सर्वमय है।

५. त्रिक प्रक्रिया में 'अ-कला' को भी अनन्त की संज्ञा दी जाती है, क्योंकि इसी में सारा प्रसार-संहारमय रहस्य निहित होने के कारण यह स्वरूपतः असीम है।

६. यहाँ पर मूल 'पर' शब्द की दो बार आवृत्ति करके उल्लिखित दो अभिप्राय निकाले जाते हैं।

उक्तञ्च—

'सार्णेन ....।'

इत्यादि ॥२२॥

तदन्तर्वर्ति यत्किञ्चिच्छुद्धमार्गे व्यवस्थितम् ।
अणुर्विशुद्धमचिरादैश्वरं ज्ञानमश्नुते ॥२३॥

यत्किञ्चिद्वस्तु व्यवस्थितं-विचित्रावस्थं, तत् हृदयबीजान्तर्वर्ति शुद्धं भवेत् । तदेव चैश्वरं ज्ञानम् । अणुः—अण्यते प्राणिति, अणति-नदति परिमितोच्चारान्, मूर्धन्यो भवंस्तत्प्रभावाद् ऐश्वरं ज्ञानम् अचिरादेव प्राप्नोति ॥२३॥

शक्तित्रिशूल व्याप्त होकर अवस्थित है। इस शक्तित्रिशूल को ही विसर्गमय अर्थात् सृष्टिप्रसार के स्वभाव से युक्त माना गया है। कहा भी है—

"सं' इस वर्ण में...............।'

इत्यादि ॥२२॥

मूल-सूत्र

(बहिरङ्ग विश्व में) जो कुछ है, वह सारा उस हृदयबीज में अनादिकाल से निहित ही है, परन्तु उसमें वह केवल 'शुद्धमार्ग' अर्थात् मलातीत ईश्वरीय ज्ञान के ही रूप में व्यवस्थित है। अणुभाव में पड़ा हुआ साधक 'अतिशीघ्र' अर्थात् हृदयबीज का साक्षात्कार हो जाने पर तत्काल, इसी निर्मल ईश्वरीय ज्ञान को प्राप्त कर लेता है ॥२३॥

तत्त्व-विवेक

(बहिरङ्ग विश्व में) जो कुछ भी 'विचित्र' अर्थात् भेदाभेद और भेद की अति अद्भुत प्रतिबिम्बरूपिणी अवस्था में है, वह सारा हृदयबीज में निहित है और वहाँ वह अन्तर्वर्ती रूप 'शुद्ध' अर्थात् केवल बिम्बरूपिणी अभेद-अवस्था में, अथवा सकाररूपिणी सत्-अवस्था में वर्तमान है। वही ईश्वरीय ज्ञान है। जीव को अणु यह नाम दो कारणों से पड़ा है—१. प्रति समय श्वास-प्रश्वास लेता रहता है, २. इयत्ताओं से सीमित बातें करता रहता है। वह भी उस हृदयबीज का साक्षात्कार पाने की प्रभावशालिता से वरिष्ठता को पाता हुआ, अतिशीघ्र उस ईश्वरीय बोध को प्राप्त कर लेता है ॥२३॥

---

१. पूरा पद्य इस प्रकार है—

सार्णेन त्रितयं व्याप्तं त्रिशूलेन चतुर्थकम् ।
सर्वातीतं विसर्गेण पराव्याप्तिरुदाहृता ॥

इसका अर्थ पहले समझाया गया है।

कथम् ?

तच्चोदकः शिवो ज्ञेयः/शिवोऽज्ञेयः सर्वज्ञः परमेश्वरः ।
सर्वगो निर्मलः स्वच्छस्तृप्तः स्वायतनः शुचिः ॥२४॥

यः तच्चोदको गुरुः स शिव एव ज्ञेयः। शिव एव तच्चोदकः। स च अज्ञेयः, ज्ञातैव। स्वायतनः—स्वान् अयान् विज्ञानरूपान् भगवान् तनोति—इति। सर्वं चैतद् विस्तरतो निर्णीतमेव ॥२४॥

एवं विस्तरतोऽभिधाय तात्पर्येण निगमयति—

यथा न्यग्रोधबीजस्थः शक्तिरूपो महाद्रुमः ।
तथा हृदयबीजस्थं जगदेतच्चराचरम् ॥२५॥

शंका—कैसे ?

समाधान—

मूल-सूत्र

(पहला चरण—)

१—उस अमृतबीज के रहस्य की प्रेरणा देने वाला गुरु साक्षात् शिव ही समझना चाहिये ।

२—भगवान् शिव स्वयं ही उस अमृतबीज के रहस्य को समझ लेने की प्रेरणा देते हैं। वे दूसरों के लिए अज्ञेय और स्वयं सर्वज्ञ हैं।

(शेष तीन चरण—) दोनों रूपों में स्वयं ही क्रियाशील भगवान् शिव सर्वज्ञ, दूर, स्वच्छ, नित्यतृप्त (निराकाङ्क्ष), स्वरूप में संवित् के रूप में ही वर्तमान रहनेवाले प्रमेय-जगत् का प्रसार करनेवाले और पवित्र हैं ॥२४॥

(तत्त्व-विवेक)

जो व्यक्ति उस अमृतबीज के साक्षात्कार की प्रेरणा देने वाला हो, उसको साक्षात् शिव ही समझना चाहिये। दूसरे पक्ष में भगवान् शिव स्वयं ही उसके प्रेरक हैं। वे दूसरों के लिए अज्ञेय और स्वयं ज्ञाता हैं। 'स्वायतन' शब्द का अभिप्राय यह कि वे भगवान् शिवस्वरूप में ही वर्तमान रहनेवाले प्रमेय-पदार्थों को बहिर्मुखीन विस्तार देते हैं। इन सारी बातों की मीमांसा पहले ही विस्तार-पूर्वक की जा चुकी है ॥२४॥

इस प्रकार विस्तारपूर्वक वर्णन करने के उपरान्त अब तात्पर्य समझाते हुए उपसंहार कर रहे हैं—

मूल-सूत्र

जिस प्रकार बरगद के छोटे से बीज में बड़े शक्तिरूपी वृक्ष का समूचा आकार बीज रूप में ही वर्तमान रहता है, उसी प्रकार हृदयबीज में जड़ एवं चेतन पदार्थों

एवं यो वेत्ति तत्त्वेन तस्य निर्वाणगामिनी ।
दीक्षा भवत्यसंदिग्धा तिलाज्याहुतिवर्जिता ॥२६॥

इह असन्न तावत् किञ्चिद् अस्ति—इत्युक्तम् । विश्वं च विश्वात्मकम्—इति । ततश्च यथा वटबीजे, तत्समुचितेनैव वपुषा, अङ्कुर-विटप-पत्र-फलानि तिष्ठन्ति, एवं विश्वमिदं हृदयान्तः । एवं परिज्ञानम् एव असंन्दिग्धा निर्वाण-दीक्षा । यथोक्तम्—

'इयमेवामृतप्राप्तिरयमेवात्मनो ग्रहः ।
इयं निर्वाणदीक्षा च शिवसद्भावदायिनी ॥'

इति । अन्या अपि दीक्षा भोगान् वितरेयुरपि, एतत्परिज्ञानमेव तु तत्त्वतो दीक्षा—इति । तत एवात्र सर्वोत्तरत्वं—कुलशास्त्रेभ्योऽपि आधिक्यात् । यथाहि

से भरा हुआ समूचा विश्व—जो कि पारमेश्वरी शक्ति का ही साकार रूप है—हृदय के रूप में ही (ज्ञानरूप में) अवस्थित है ॥२५॥

इस प्रकार से जो व्यक्ति इस अमृतबीजरूपी हृदय का तत्त्व जाननेवाला हो, उसको निर्वाण की अवस्था पर पहुँचानेवाली दीक्षा, अग्नि में तिल और घी की आहुतियाँ डालने के बिना, निःसन्देह दैवी अनुग्रह से सम्पन्न हुई ही होती है ॥२६॥

तत्त्व-विवेक

यह तो कहा गया है कि इस संसार में 'असत्' कही जानेवाली कोई वस्तु है ही नहीं । समूचा विश्व ही विश्वात्मक है, अर्थात् विश्व के प्रत्येक पदार्थ में ३६ तत्त्वों का समावेश होने के कारण प्रत्येक पदार्थ अपने स्थान पर समूचा विश्व ही है । फलतः जिस प्रकार बरगद के बीज में, उस वृक्ष के सारे अंकुर, शाखायें, पत्ते और फल, उस बीज के रूप में ही वर्तमान होते हैं, उसी प्रकार यह सारा विश्व भी हृदयबीज में हृदय के ही रूप में वर्तमान है । इस यथार्थ की पहचानना (प्रत्यभिज्ञा) ही निःसन्देह निर्वाणदीक्षा है । जैसा कहा गया है—

'यही तो अमरत्व को पाना होता है, इसी को स्वरूप-विकास अथवा आत्म-भाव की पकड़ कहा जाता है और साधक को अनुत्तर भाव के साथ तादात्म्य करवाने वाली निर्वाण-दीक्षा भी यही होती है ।'

दूसरे प्रकार की दीक्षायें भी भले ही सांसारिक सुखोपभोग की सिद्धियों का वितरण करती हों, परन्तु अमृतबीजरूपी हृदय की पहचान ही तात्त्विक दीक्षा है । यही कारण है कि इस त्रिक-शास्त्र का महत्त्व सब शास्त्रों से बढ़कर है, यहाँ तक कि यह कुलशास्त्रों से भी अधिक महत्त्वपूर्ण है, अथवा इन्हीं बात

तुलाङ्केषु ऊर्ध्वमूर्ध्वं परिमितेऽपि उन्नति-अवनति-योगे अनन्तम् अन्तरं परिमाणस्य भवति, एवम् ऊर्ध्वोर्ध्व-तत्त्वेषु देश-काल-भोग-संवेदनानाम् अनन्तम् एव अन्तरम्—इति । एवम् एव अधिकीभवन् षट्त्रिंशतोऽपि अधिकं भवेद्—इति । यतश्च संवेदनमेव दीक्षा, तत एवोक्तम्—'एतत्संविद् अनुप्रविष्टो वीरो वा योगिनी वा निज-परसत्ता-सततोदित-अमायीय-बाह्य-अन्तःकरण-रश्मिदेवता-द्वादशक-चक्रेश्वर-परभैरवभट्टारकात्मक-निर्णीत-तत्त्व-अहंरूप-अनुग्रहेण कृतदीक्षो—इति ॥२५–२६॥

एवम् अनुत्तरपदम् उत्तररूपापरित्यागेनेव यथा भवति, तथा व्याससमासाभ्यां भूयसा निर्णीतम् । अधुना तु इदं वक्तव्यम्—'उच्यते तावत् सर्वशास्त्रेषु—

से अमृतबीज में अन्य सारे मन्त्रों से उत्कृष्टता पाई जाती है, क्योंकि त्रिक-शास्त्र तो कुलशास्त्रों से भी बढ़कर है। जिस प्रकार ऊपर-ऊपर के वजनों में तराजू की डंडी में भारी अन्तर पड़ जाता है, उसी प्रकार ऊपर-ऊपर के तत्त्वों में भी, उनके अपने अपने स्तरों के अनुसार देश, समय, उपभोग और संवेदनों में भी अनन्त अन्तर पड़ जाता है। यह संभावना भी कहीं दूर नहीं है कि इसी तार पर संवेदन का दायरा आगे बढ़ते बढ़ते कहीं छत्तीस तत्त्वों से भी अधिक हो जाये। यहाँ पर चूँकि हृदयबीज के संवेदन को ही दीक्षा का नाम दिया जाता है, इसलिए कहा गया है—

'इस संवेदन की भूमिका में तन-मन से समाविष्ट होने वाला वीर अथवा योगिनी, निजी 'उत्कृष्ट सत्ता' अर्थात् हृदयसत्ता में हमेशा उदीयमान अवस्था में ही वर्तमान रहनेवाली और माया के बस में न पड़ सकनेवाली बाहरी और आन्तरिक बारह[1] इन्द्रियशक्तियों के चक्रवर्ती शासक परभैरवात्मक तत्त्व के रूप में वर्णन किये गये परिपूर्ण अहंभाव के अनुग्रह से ही दीक्षित होते हैं ॥२५-२६॥

इस प्रकार अपने 'उत्तर' अर्थात् प्रसारात्मक रूप को स्वरूप से न विलाते हुए ही अनुत्तरपद का जैसा स्वरूप है, उसका व्यास एवं समास दोनों शैलियों में निरूपण किया गया है। अब यह कहने की आवश्यकता है कि जब सारे शास्त्रों में यह उद्घोषणा की गई है कि—

---

१. बाहरी इन्द्रिय शक्तियों में पांच ज्ञानेन्द्रियों और पाँच कर्मेन्द्रियों की और आन्तरिक शक्तियों में मन और बुद्धि की दो, कुल मिलाकर बारह इन्द्रिय शक्तियाँ। अहङ्कारमयी शक्ति तो स्वयं परभैरवीय शक्ति है और वही इन उल्लिखित बारह शक्तियों पर शासन चलाती है। इसी कारण से यहाँ पर तीन अन्तःकरणों में से मन और बुद्धि इन्हीं दो का ग्रहण किया जाता है।

'मनुष्यदेहमास्थाय छन्नास्ते परमेश्वराः।
निर्वीर्यमपि ये हार्दं त्रिकार्थं समुपासते ॥'

इति'—तत्कथमस्य उपासा ? तथापि अनुत्तरसत्तया अत्रापि भाव्यम्—अनुत्तरत्वादेव । सा च कथम् ? इत्याकाङ्क्षां निर्णिणीषुर्ग्रन्थान्तरम् अवतारयति—

"मूर्ध्नि वक्त्रे च हृदये गुह्ये मूर्तौ तथैव च ।
न्यासं कृत्वा, शिखां बद्ध्वा सप्तविंशतिमन्त्रिताम् ॥२७॥

'जो लोग 'वीर्य से रहित' अर्थात् पूर्णरूप से आत्मभाव में समाविष्ट होने के बिना भी, त्रिक-प्रक्रिया के सारसर्वस्व हृदयबीज की उपासना करते रहते हैं, वे तो मानव शरीरों में छिप कर ठहरे हुए परमेश्वर ही हैं।'

तो उपासना करने का प्रकार ही कौन सा है ? यद्यपि यह बाह्य-उपासना निर्वीर्य ही है, तो भी इसमें अनुत्तर-सत्ता की व्यापकता अवश्य रहती ही होगी, क्योंकि अनुत्तर तो अनुत्तर ही है। अतः उस बाह्य-उपासना को विधि क्या है ? इन सारी बातों का निरूपण करने के अभिप्राय से अगले सूत्रों की अवतारणा कर रहे हैं—

बाह्य-उपासना का प्रकार

मूल-सूत्र

"[1]मूर्धा, मुख, हृदय, गुह्याङ्ग[2] और सर्वाङ्ग इन पाँच स्थानों पर (एक एक स्थान पर पाँच पाँच[3] आवर्तनों के हिसाब से पच्चीस) न्यास करने के उपरान्त

---

१. यह बाह्य-उपासना वीर और योगिनी दोनों को इकट्ठे करने का विधान है।

२. यहाँ दोनों के गुह्याङ्गों का अभिप्राय है।

३. ईशान, तत्पुरुष, अघोर, वामदेव और सद्योजात इनमें से प्रत्येक देवता के लिए प्रत्येक स्थान पर पाँच पाँच आवर्तनों में, मातृका और मालिनी के मन्त्रों से न्यास करना है। मन्त्र इस प्रकार हैं—१ मातृका मन्त्र—अक्षह्लीं और २ मालिनी मन्त्र—नफह्लीं। आवर्तनों का क्रम निम्नलिखित प्रकार से है—

पचीस मन्त्र

१. अक्षह्लीं ईशानमूर्ध्ने नमः
२. नफह्लीं तत्पुरुषवक्त्राय नमः
३. अक्षह्लीं अघोरहृदयाय नमः — पहला आवर्तन
४. नफह्लीं वामदेवगुह्याय नमः
५. अक्षह्लीं सद्योजातमूर्तये नमः

सँत्ताईस मन्त्रों के द्वारा शिखा को बाँध कर—॥२७॥

१. अक्षह्लीं तत्पुरुषमूर्ध्ने नमः	
२. नफह्लीं अघोरवक्त्राय नमः	दूसरा आवर्तन
३. अक्षह्लीं वामदेवहृदयाय नमः	
४. नफह्लीं सद्योजातगुह्याय नमः	
५. अक्षह्लीं ईशानमूर्तये नमः	
१. अक्षह्लीं अघोरमूर्ध्ने नमः	
२. नफह्लीं वामदेववक्त्राय नमः	तीसरा आवर्तन
३. अक्षह्लीं सद्योजातहृदयाय नमः	
४. नफह्लीं ईशानगुह्याय नमः	
५. अक्षह्लीं तत्पुरुषमूर्तये नमः	
१. अक्षह्ल वामदेवमूर्ध्ने नमः	
२. नफह्लीं सद्योजातवक्त्राय नमः	चौथा आवर्तन
३. अक्षह्लीं ईशानहृदयाय नमः	
४. नफह्लीं तत्पुरुषगुह्याय नमः	
५. अक्षह्लीं अघोरमूर्तये नमः	
१. अक्षह्लीं सद्योजातमूर्ध्ने नमः	
२. नफह्लीं ईशानवक्त्राय नमः	पाँचवाँ आवर्तन
३. अक्षह्लीं तत्पुरुषहृदयाय नमः	
४. नफह्लीं अघोरगुह्याय नमः	
५. अक्षह्लीं वामदेवमूर्तये नमः	

४. शिखा बांधने के सत्ताईस मन्त्र निम्नलिखित हैं—

सत्ताईस मन्त्र

१. सृष्टिरूपेच्छात्मिकया	परारूपया	शिखाया बन्धनं	करोमि नमः।
२. ,, ,,	परापरारूपया	,,	,,
३. ,, ,,	अपरारूपया	,,	,,
४. सृष्टिरूपज्ञानात्मिकया	परारूपया	,,	,,
५. ,, ,,	परापरारूपया	,,	,,
६. ,, ,,	अपरारूपया	,,	,,
७. सृष्टिरूपक्रियात्मिकया	परारूपया	,,	,,
८. ,, ,,	परापरारूपया	,,	,,
९. ,, ,,	अपरारूपया	,,	,,
१०. स्थितिरूपेच्छात्मिकया	परारूपया	,,	,,

एकैकं तु दिशां बन्धं दशानामपि योजयेत् ।
तालत्रयं पुरा दत्त्वा सशब्दं विघ्नशान्तये ॥२८॥

[1]एक ही मन्त्र के द्वारा दशों दिशाओं पर अलग अलग बन्धन[2] लगाये, परन्तु

११.	,, ,,	परापराख्पया	,,	,,
१२.	,, ,,	अपराख्पया	,,	,,
१३.	स्थितिरूपज्ञानात्मिकया	पराख्पया	,,	,,
१४.	,, ,,	परापराख्पया	,,	,,
१५.	,, ,,	अपराख्पया	,,	,,
१६.	स्थितिरूपक्रियात्मिकया	पराख्पया	,,	,,
१७.	,, ,,	परापराख्पया	,,	,,
१८.	,, ,,	अपराख्पया	,,	,,
१९.	संहाररूपेच्छात्मिकया	पराख्पया	,,	,,
२०.	,, ,,	परापराख्पया	,,	,,
२१.	,, ,,	अपराख्पया	,,	,,
२२.	संहाररूपज्ञानात्मिकया	पराख्पया	,,	,,
२३.	,, ,,	परापराख्पया	,,	,,
२४.	,, ,,	अपराख्पया	,,	,,
२४.	संहाररूपक्रियात्मिकया	पराख्पया	,,	,,
२६.	,, ,,	परापराख्पया	,,	,,
२७.	,, ,,	अपराख्पया	,,	,,

१. इसके लिए एक ही मन्त्र 'सौः' है ।

२. दिग्बन्धन का प्रकार निम्नलिखित है—

१ सौः इन्द्रदिशाबन्धनं करोमि नमः ।
२ सौः अग्निदिशाबन्धनं करोमि नमः ।
३ सौः यमदिशाबन्धनं करोमि नमः ।
४ सौः नैर्ऋत्यदिशाबन्धनं करोमि नमः ।
५ सौः वरुणदिशाबन्धनं करोमि नमः ।
६ सौः वायुदिशाबन्धनं करोमि नमः ।
७ सौः कुबेरदिशाबन्धनं करोमि नमः ।
८ सौः ईशानदिशाबन्धनं करोमि नमः ।
९ सौः ऊर्ध्वदिशाबन्धनं करोमि नमः ।
१० सौः अधोदिशाबन्धनं करोमि नमः ।

शिखासंख्याभिजप्तेन तोयेनाभ्युक्षयेत् ततः ।
पुष्पादिकं क्रमात् सर्वं लिङ्गे वा स्थण्डिलेऽथवा ॥२९॥

ऐसा करने से पहले विघ्नों का शमन करने के लिए, केवल [1]मध्यम-वाणी के द्वारा क्रमशः 'स्, औ, अः' इन तीन मन्त्रों का उच्चारण करते करते तीन [2]बार ताली बजाये ॥२८॥

इसके उपरान्त [3]सत्ताईस मन्त्रों के द्वारा संस्कार किये गये जल से क्रमशः फूल [4]इत्यादि सारे पूजा के द्रव्यों का [5]अभ्युक्षण करे। यह सारी क्रिया वीर स्थण्डिल[6] पर और योगिनी लिङ्ग पर करे ॥२९॥

---

१. यहाँ पर मूल 'सशब्दं' शब्द से वैखरी-वाणी के द्वारा कोई भी ध्वनि बाहर न निकालते हुए केवल मध्यमा-वाणी के द्वारा अन्दर अन्दर ही 'सौः' बीज का उच्चारण करते रहने का अभिप्राय है।

२. 'स्' से पहली ताली, 'औ' से दूसरी और 'अः' से तीसरी।

३. ये सत्ताईस मन्त्र भी वे ही हैं, जिनसे अभी पहले शिखा बाँधने का विधान बताया गया।

४. अभिषेक, गन्ध (सुगन्धित इत्र आदि), तिलक, पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य इत्यादि पूजा के उपकरण।

५. अभ्युक्षण करना कुशा के विष्टर से पानी के छींटे देना है। अभिषेक पात्र में पानी डालकर पहले सत्ताईस मन्त्रों से उस पात्र का अभिषेक करे। फिर उस संस्कृत जल से दूसरे फूल इत्यादि द्रव्यों का भी अलग अलग इन्हीं सत्ताईस मन्त्रों से अभ्युक्षण करे। क्रम इस प्रकार है—

१. पूर्वोक्त सत्ताईस मन्त्रों से→अभिषेकं करोमि नमः।
२. ,, ,, ,, →गन्धं समर्पयामि नमः।
३. ,, ,, ,, →तिलकं समर्पयामि नमः।
४. ,, ,, ,, →पुष्पं समर्पयामि नमः।
५. ,, ,, ,, →धूपं समर्पयामि नमः।
६. ,, ,, ,, →दीपं समर्पयामि नमः।
७. ,, ,, ,, →नैवेद्यं समर्पयामि नमः।

इसी क्रम से जितने भी पूजा के द्रव्य उपलब्ध हों, उन सब का सत्ताईस मन्त्रों से अभ्युक्षण करे।

६. स्थण्डिल शब्द का अर्थ प्रणाली और स्त्री-गुह्याङ्ग है।

चतुर्दशाभिजप्तेन पुष्पेणासनकल्पना ।
तत्र सृष्टिं यजेद्वीरः पुनरेवासनं ततः ।।३०।।

ऊपर [1]बिन्दियाँ लगाये हुए चौदह स्वर-मन्त्रों के द्वारा मन्त्रित किये गये फूलों से आसन अर्पण करे। इस आसन[2] पर वीर सृष्टिबीज[3] (हृदयबीज) की पूजा करें और तदुपरान्त फिर एक बार उपरोक्त विधि से नया आसन अर्पण करे ।।३०।।

---

१. 'अ' से 'औ' तक के चौदह स्वर बिन्दियों सहित। मन्त्रित करने का प्रकार निम्नलिखित है—

चौदह स्वर-मन्त्र

१.	अं	आसनपक्षं	शोधयामि	नमः ।
२.	आं	,,	,,	,,
३.	इं	,,	,,	,,
४.	ईं	,,	,,	,,
५.	उं	,,	,,	,,
६.	ऊं	,,	,,	,,
७.	ऋं	,,	,,	,,
८.	ॠं	,,	,,	,,
९.	ऌं	,,	,,	,,
१०.	ॡं	,,	,,	,,
११.	एं	,,	,,	,,
१२.	ऐं	,,	,	,,
१३.	ओं	,,	,,	,,
१४.	औं	,,	,,	,,

ये मन्त्र 'अ' से लेकर 'औ' तक ही हैं, उससे आगे नहीं, क्योंकि क्रिया-शक्ति का प्रसार 'औ' पर ही समाप्त हो जाता है।

२. लिङ्ग एवं स्थण्डिल पर ही आसन अर्पण करने का विधान है।

३. यहाँ पर भी इस बाह्य-उपासना के सन्दर्भ में मूल 'सृष्टि' शब्द से वीर और योगिनी के गुह्याङ्गों का अभिप्राय है। साथ सृष्टि-यजन करने का तात्पर्य यद्यपि गुरु लोग स्पष्ट रूप में बतलाने से कतराते हैं, तो भी वीर-योगिनी सम्प्रदाय की इतिकर्तव्यताओं का जैसा रूप यहाँ तक प्रस्तुत किया गया है, उसके आधार पर स्पष्ट ही इससे वीर और योगिनी के पारस्परिक संघट्ट का अभिप्राय लिया जा सकता है। दोनों के गुह्याङ्गों के

सृष्टिं तु संपुटीकृत्य पश्चाद्यजनमारभेत्" ।
"सर्वतत्त्वसुसम्पूर्णां सर्वाभरणभूषिताम् ॥३१॥
यजेद् देवीं महेशानीं सप्तविंशतिमन्त्रिताम् ।
ततः सुगन्धिपुष्पैस्तु यथाशक्त्या समर्चयेत् ॥३२॥

फिर उस सृष्टि का [1]संपुटीकरण करने के उपरान्त 'यजन' = ([2]आन्तरिक परापूजा) का आरम्भ करे ।

आन्तरिक परापूजा

सब तत्त्वों से परिपूर्ण स्वरूप वाली, सारे आभरणों से अलंकृत और पूर्वोक्त [3]सत्ताईस मन्त्रों से अभिमन्त्रित की गई देवी 'महेशानी' अर्थात् पराबीज को धारण करने वाली पराशक्ति का [4]यजन करे । इसके उपरान्त सुगन्धित फूलों से 'यथाशक्ति'[5] अर्थात् १—योगिनी को साथ रखकर ही, २—अपनी शक्ति के अनुसार अर्चना करे ॥३१-३२॥

लिए सृष्टि शब्द का प्रयोग किये जाने का आधार यह है कि वास्तव में ये दोनों इन्द्रिय (लिङ्ग एवं स्थण्डिल) स्वरूपतः सृष्टि ही हैं ।

अभी आगे बताई जाने वाली आन्तरिक परापूजा के सन्दर्भ में 'सृष्टि' शब्द उस हृदयबीज का द्योतक है, जिसमें 'अ' से लेकर 'क्ष' तक का सारा वर्णब्रह्म तादात्म्यभाव में हृदय रूप में ही वर्तमान है । सारा विश्व अमृतबीज का ही बहिरङ्ग विस्तार है, अतः वास्तव में वह स्वयं ही सृष्टि है ।

१. वर्णसृष्टि के सन्दर्भ में सम्पुटीकरण शब्द से 'अ' से लेकर 'क्ष' तक के वर्ण-समुदाय को अहंप्रत्याहार का रूप देने का अभिप्राय है ।

प्रस्तुत बाह्य-उपासना के सन्दर्भ में इस शब्द से वीर और योगिनी के संघट्टकालीन संपुटीकरण का अभिप्राय है ।

२. आन्तरिक परापूजा भी वीर और योगिनी को मिलकर ही करने का विधान है ।

३. यहाँ पर भी पूर्वोक्त सूत्राङ्क २७ की टिप्पणी में दिखाये गये सत्ताईस मन्त्रों का प्रयोग करना है ।

४. 'यजन' शब्द यज् धातु से बना हुआ है । इस धातु के तीन अर्थ हैं—(१) देव-पूजा, (२) संगतिकरण और (३) दान । प्रस्तुत पूजाविधान में ये तीनों अर्थ सुसङ्गत ही समझे जाते हैं ।

५. 'यथाशक्ति' यह अव्ययीभाव समास है । इसका अर्थ—'शक्तिमनतिक्रम्य' इस विग्रह के अनुसार 'शक्ति का अतिक्रमण करने के बिना' है । त्रिक परिपाटी में शक्ति

पूजयेत् परया भक्त्या आत्मानं च निवेदयेत् ।
एवं यजनमाख्यातमग्निकार्येऽप्ययं विधिः ॥३३॥

मूर्धादीनि बाह्यतया उचितरूपाणि । वस्तुतः परब्रह्मरूपाभिहित पञ्च-पञ्चात्मक-व्योमादि-धरण्यन्त-सतत्त्व,-ईशानादिसार, - चिदुन्मेषेच्छाज्ञानक्रिया-रूपाण्येव, मन्त्रलिङ्गात् । यथा मन्त्राः—

इस क्रम से (दोनों मिलकर) परादेवी की अर्चना परम भक्ति से करें और अपने आपको भी सर्वाङ्गीण भाव से उसी को अर्पण करे ।

इस प्रकार आन्तरिक परापूजा की इतिकर्तव्यता समझाई गई । इसके साथ सम्बन्धित अग्निहोत्र इत्यादि कृत्यों में भी इसी विधि का पालन करना चाहिए ॥३३॥

तत्त्व-विवेक

न्यास के अङ्गों का पारमार्थिक रूप—

जहाँ तक इस पूजा के बाहरी रूप का सम्बन्ध है, उसमें मूर्धा इत्यादि न्यास के अङ्गों के बाहरी रूप ही सङ्गत हैं । परन्तु वास्तविक स्थिति तो यह कि ये मूलतः मन्त्रों के प्रतीक होने के कारण—

१—परब्रह्म के ही साकार रूप कहे जाने वाले आकाश से लेकर पृथिवी तक के पाँच[1] पञ्चपञ्चात्मक महाभूतों के प्रतीक,—

२—ईशान, तत्पुरुष, अघोर, वामदेव और सद्योजात इन पाँच भैरवीय मुखों के ही सार वाले, और—

३—चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रिया इन पाँच शक्तिमुखों के साकार रूप ही हैं ।

इनके मन्त्रात्मक रूप ये हैं—

शब्द से परा-शक्ति के अतिरिक्त योगिनी (पत्नी) का अर्थ लिया जाता है । कहना न होगा कि प्रस्तुत सन्दर्भ में इसका दूसरा अर्थ ही अभिप्रेत है । शक्ति का अतिक्रमण न करके । अर्थात् योगिनी को अपने साथ रखकर ही सारी इतिकर्तव्यता पूरी करनी है ।

१. प्रत्येक महाभूत अपनी अपनी जगह पर पाँचों महाभूतों का पिण्ड है अतः इनको पञ्चपञ्चात्मक कहते हैं ।

'(१) ईशानमूर्ध्ने, (२) तत्पुरुषवक्त्राय, (३) अघोरहृदयाय, (४) वामदेव-गुह्याय, (५) सद्योजातमूर्तये ।'

इति । तत्र एतत् पञ्चक-अविभागात्मकत्वे पञ्चानाम् एकैकशः पञ्चात्मकता—इति पञ्चविंशतिः । अत्रैव मालिन्यादिमन्त्राणाम् अनुप्रवेशः ।

तिस्रश्च देव्यः प्रत्येकम् इच्छादित्रययोगात् नवात्मतां प्राप्ताः, पुनरपि सृष्टि-स्थिति-संहृति-वशात् त्रैधमापन्नाः—इति सप्तविंशतिसंभृतहृद्बीजेन । शिखायाः—एवंरूप-धरण्यन्त-परिकल्पनस्वातन्त्र्यरूपायाः, बन्धनं-सर्वाविभाग-सारं तादात्म्यम् ।

"१ ईशानमूर्ध्ने१, २ तत्पुरुषवक्त्राय, ३ अघोरहृदयाय,
४ वामदेवगुह्याय, ५ सद्योजातमूर्तये ।"

वास्तव में इन पाँचों अंगों में कोई स्वरूपगत भेद नहीं है । हरेक अपनी अपनी जगह पर पञ्चात्मक है । इसलिए मन्त्रों की संख्या पचीस बन गई है । मालिनी-मन्त्र (नफह्रीं) और मातृका-मन्त्र (अक्षह्रीं) दोनों इसी पचीसी के अन्तर्गत हैं ।

शिखाबन्धन—

परा, परापरा और अपरा इन देवियों में से प्रत्येक का सम्पर्क इच्छा, ज्ञान और क्रिया के साथ होने के कारण पहले इनके नौ रूप बन गये हैं । अनन्तर इनमें से भी प्रत्येक रूप के सृष्टि, स्थिति और संहारात्मक होने के कारण फिर त्रिप्रकारक होने के कारण इनकी कुल संख्या सत्ताईस बन गई है और इन सारे रूपों को हृदयबीज से ही पुष्टि प्राप्त होती है । प्रस्तुत प्रसंग में शिखा–शिव से लेकर पृथिवी तक फैले हुए स्वातन्त्र्य के विकास की परिचायिका है और उसके बाँधने में चतुर्दिक् अभेदभाव के ही सारवाले तन्मयीभाव का अभिप्राय गर्भित है ।

न्यास के अङ्ग

१. संख्या	अङ्ग	तत्त्व	मुख	शक्तियाँ
१	मूर्धा	आकाश	ईशान	चित्
२	वक्त्र	वायु	तत्पुरुष	आनन्द
३	हृदय	अग्नि	अघोर	इच्छा
४	गुह्य	जल	वामदेव	ज्ञान
५	सर्वाङ्ग(मूर्ति)	पृथिवी	सद्योजात	क्रिया

मूर्धादिषु केवलेष्वपि प्रत्येकं सर्वाणि वक्त्रादीनि परस्परं विशेषणानि। तच्च निर्णीतमेव सर्वसर्वात्मकत्वनिर्णयेनैव।

दिश्यमाना घटाद्या एव दिशः, ताश्च स्वापेक्षया दशैव भवन्ति। तत्रापि एतदेव बन्धनम्—आत्मसाक्षात्कारात्मकम्।

एतच्च तालत्रयेण। ताला—प्रतिष्ठाविश्रान्तिः। तत्र सकारादि हृदयमेव। तच्च सशब्दं—मध्यमान्तम्। शब्दनं हि शब्दः, तच्च मध्यमैव—वैखर्यास्तच्छेषात्मकत्वाद्—इत्युक्तं बहुशः। एषा च विघ्नानाम्—अभेदात्मनि, अखण्डिते परमात्मनि खण्डनात्मक-सङ्कोचसार-भेदकल्लोल-कलङ्कानां, शान्ति-अभेद-भैरवार्णव-तादात्म्यमेव। यदाहुः श्रीसोमानन्दपादाः—

सूत्र में यद्यपि मस्तक इत्यादि अंगों का अलग अलग ही निर्देश किया गया है, तो भी इनमें से हरेक के, अपने से इतर, सारे मुख इत्यादि अंग आपस में विशेषण बनकर अवस्थित हैं। इस तथ्य का निरूपण तो पूर्वोक्त सर्वसर्वात्मकभाव के सिद्धान्त की स्थापना से स्वयं ही हो चुका है।

दिशाबन्धन—

(कथित रूप में) किसी दिशा के साथ सम्बन्धित करके दिखाये जाने वाले घट इत्यादि पदार्थों की अपेक्षा-बुद्धि ही, वास्तव में, दिशायें हैं। वे 'स्वापेक्षा से' अर्थात् दिखाये जानेवाले पदार्थ के स्वत्व की अपेक्षा से दस ही हो सकती हैं। इनके सन्दर्भ में भी बाँधने का असली स्वरूप आत्मसाक्षात्कार ही है, अर्थात्[1] सारे भाव तात्त्विक दृष्टि में क्या हैं, इसका आत्मिक रूप में साक्षात्कार करना।

तीन तालियाँ—

दिशाबन्धन में पहले तीन बार ताली बजाने का विधान है। ताली बजाने में 'प्रतिष्ठा की पदवी' अर्थात् परिपूर्ण आत्मभाव पर स्थिर हो जाने का रहस्य भरा रहता है। ताली बजाते समय 'सकार' से आरम्भ होने वाला (अर्थात् स्+औ+अः इस प्रकार अलग अलग मात्राओं में उचारा जाता हुआ) हृदय-बीज ही मात्र मन्त्र है। उसका उच्चारण सशब्द होना चाहिए अर्थात् वह मध्यमा-वाणी तक ही सीमित रहना चाहिए। 'शब्दन' अर्थात् आन्तरिक विमर्श ही शब्द का वास्तविक स्वरूप है। वह विमर्श तो मध्यमा-वाणी से ही सम्पन्न हो जाता है, क्योंकि यह बात बार बार दोहराई जा चुकी है कि वैखरी-वाणी मध्यमा-वाणी को ही पूंछ है—अर्थात् मध्यमामय विमर्श की ही वैखरीमयी अभिव्यक्ति है।

---

१. यहाँ पर गुरुसम्प्रदाय के अनुसार इस आत्मसाक्षात्कार का यही अर्थ लगाया जाता है।

'अस्मद्रूपसमाविष्टः स्वात्मनात्मनिवारणे ।
शिवः करोतु परया नमः शक्त्या ततात्मने ॥'

इति ।

एवमेव सप्तविंशतिजप्तं तोयम्-इति अर्घ्यपात्रविधिः । तोयमत्र सर्वमेव हृदयद्रवात्म-अनियन्त्रितत्वाद् असङ्कोचदानाच्च ।

पुष्पं व्याख्यातम् ।

लिङ्गं च—

'........यत्र लीनं चराचरम् ।'

इत्येतदपि निर्णीतमेव ।

विघ्नों की शान्ति—

प्रस्तुत सन्दर्भ में भेदभाव और इयत्ताओं से रहित परमात्म-स्वरूप में ही उदित होने वाले इयत्तात्मक संकोचों के सार वाले भेदभाव के तरंगों के कलंक ही विघ्न हैं । उनको फिर उसी अभेदरूपी भैरवीय समुद्र के साथ तादात्म्य कर देना ही उनका शान्त किया जाना है । जैसा कि श्रीसोमानन्द पाद ने कहा है—

'परिमित 'अहं-भाव' में स्वयं ही घुसा हुआ शिव, स्वरूपमयी पराशक्ति के द्वारा विश्वरूप में फैलाये हुए स्वरूप को, स्वरूपमय विघ्नों का निवारण करने के लिए, स्वरूप के द्वारा ही प्रणाम करे ।'

अर्घ्य का जल और अर्घ्यपात्र—

अर्घ्यपात्र को बनाने की विधि यह है कि जल और बर्तन दोनों को पूर्वोक्त सत्ताईस मन्त्रों से अभिमन्त्रित किया जाये । यहाँ पर जल में वे सारे पदार्थ अन्तर्भूत समझने चाहिये जो 'हृदयद्रवात्मक' हों, अर्थात् (१) पूजन के निजी हृदय की तरलता, और (२) पुरानी सुरा इत्यादि, क्योंकि पहली स्वभाव से ही कथित नियन्त्रणों की वशवर्तिता से दूर होती है और दूसरी, सेवन के द्वारा, दिल में असंकोच को उत्पन्न करने वाली होती है ।

पुष्प—

पुष्प शब्द की व्याख्या (पूर्वोक्त कुसुम के रूप में) पहले ही की गई है ।

लिङ्ग—

लिंग के विषय में भी—

'........जिसमें सारा चराचर विश्व लीन होकर अवस्थित[1] है'

इन बातों का निरूपण पहले ही किया गया है ।

---

१. पूरा मूल उद्धरण-पद्य इस प्रकार है—

'मृच्छैलधातुरत्नादिभवं लिङ्गं न पूजयेत् ।
यजेदाध्यात्मिकं लिङ्गं यत्र लीनं चराचरम् ॥'

विश्वात्मनि तत्त्वे, असिक्रियायां कर्तुश्च आसनस्य स्वातन्त्र्यात् कल्प्यमानस्य, स्वातन्त्र्येण कल्प्यमानत्वम् ।

चतुर्दशेन–औकारेण, तस्यैव त्रिशूलरूपत्वाद्–इत्युक्तमेव ।

सृष्टिः—आदिक्षान्त-तादात्म्यमयं हृदयम् । अत एव आसनमपि सर्वं तत्रैव, आधाराधेययोः परस्परैकरूपत्वात् । यथोक्तम्—

'सर्वभूतस्थमात्मानं…………।'

इत्यादि ।

सम्पुटीकरणं सृष्टेर्–आदि-क्षान्तायाः प्रत्येकं, सर्वशश्च हृदयबीजेन परतत्त्व एवोल्लासात्, संहाराच्च । न च अनवस्था–इत्युक्तमेव । सृष्टेश्च

आसन—

आसन वही है, जिसकी कल्पना स्वतन्त्र कर्ता निजी स्वातन्त्र्य से ही करता है, क्योंकि जब विश्वात्मभाव ही सारभूत वस्तु है, तो बैठने की क्रिया में अधिकरण और आसन जैसी बातें स्वातन्त्र्य के द्वारा ही कल्पित होती हैं ।

चौदह मन्त्र—

इनमें चौदहवें का अभिप्राय 'औकार' है, अर्थात् 'अ' से लेकर 'औ' तक, क्योंकि 'औ' वर्ण ही 'त्रिशूलबीज' अर्थात् इच्छा, ज्ञान और क्रिया की समन्विति है । यह भी पहले ही कहा गया है ।

सृष्टि—

'अ' से लेकर 'क्ष' तक की वर्णसृष्टि का अपने साथ तादात्म्य द्योतित करनेवाला हृदयबीज तो सृष्टि है । यही कारण है कि सारा आसनपक्ष भी उसी में वर्तमान है, क्योंकि आधार[1] और आधेय आपस में अविनाभाविता से एक ही हुआ करते हैं । जैसा कि—

'सब भूतों में अपनी आत्मा की व्यापकता को (अर्थात् शक्तिभाव में शिवभाव की व्यापकता को………।' इत्यादि बातों का उल्लेख किया गया है ।

सृष्टि का संपुटीकरण

१ आन्तरिक परापूजा के दृष्टिकोण से—

परतत्त्व की सर्वतोमुखी व्यापकता में ही वर्णसृष्टि के बहिरङ्ग विकास का उदय और उसी में पुनः संहार भी होता है । इस कारण से सृष्टि के संपुटीकरण

---

१. प्रस्तुत सन्दर्भ में इसका तात्पर्य यह है कि शिवत्रिकोण और शक्तित्रिकोण में कोई स्वरूपगत भेद नहीं है, क्योंकि शक्तित्रिकोण आधार और शिवत्रिकोण आधेय है । आधार एवं आधेय होने के कारण इनमें परिपूर्ण अविनाभाविता है ।

संपुटीकरणम् उभयसंघट्ट-प्रक्षोभानन्दरूपम्, तदुत्थद्रव्योपयोगोऽपि । क्त्वा अत्र शब्दप्रतीतिपौर्वापर्यमात्रे ।

सर्वतत्त्वैः, सुष्ठु-अभेदेन, सं-सम्यग् अनपायितया, पूर्णत्वम् ।

१—सर्वत्र च परमाणावपि यद् आ-समन्तात्, भरणं-सर्वात्मीकरणम् ।

का अभिप्राय यह है कि अमृतबीज के द्वारा पहले 'अ' से लेकर 'क्ष' तक की वर्णसृष्टि के प्रत्येक अक्षर का अलग अलग और उसके उपरान्त सारे स्वर-व्यञ्जन समुदाय का इकट्ठे ही संपुट[1] किया जाये । यह बात तो पहले कही ही जा चुकी है कि इसमें अनवस्था हो ही नहीं सकती ।

२ वीर-योगिनी सम्प्रदाय के दृष्टिकोण से—

सृष्टि के सम्पुटीकरण से, (आदियाग की वेला पर) वीर एवं योगिनी दोनों के पारस्परिक संघट्ट से जनित उत्तेजनामय आनन्द और उसके पूर्ण विकास के लिए अपेक्षित द्रव्यों (सुरा इत्यादि) के सेवन किये जाने का अभिप्राय है । (मूल-सूत्र में 'सम्पुटीकृत्य' शब्द के साथ लगे हुए) क्त्वा प्रत्यय से केवल शब्दों की ही पूर्वापरता का अभिप्राय द्योतित होता है ।

'सर्वतत्त्व.......भरणभूषिताम्' की व्याख्या ।

परा-भगवती सारे तत्त्वों से परिपूर्ण है, क्योंकि इसके स्वरूप में सारे तत्त्व ऐसे समीचीन अभेदभाव में अवस्थित हैं कि वह कभी टूटता ही नहीं ।

यह सारे आभरणों से सजी हुई है । इसका तात्पर्य यह है कि—

१—(सर्वाभरण = सर्वत्र-आ-भरणम्)

परा-भगवती हर दिशा में यहाँ तक कि परमाणु में भी, धारण किये जाने के रूपवाली पुष्टि को अनुस्यूत करने के द्वारा हरेक पदार्थ का आत्मीकरण कर रही है ।

---

१. किसी भी मन्त्र इत्यादि को प्रणव इत्यादि से सम्पुट करके जप करने की विधि तो प्रायः भारतीय जनगण को विदित ही है, तो भी इतना कहना आवश्यक है कि किसी मन्त्र इत्यादि का जप या पाठ करते समय उसके हरेक उच्चारण के पहले और पीछे अन्य किसी दूसरे मन्त्र या प्रणव इत्यादि के उच्चारण करते रहने को सम्पुट करना कहते हैं । प्रस्तुत प्रसङ्ग में 'अहं' मन्त्र से सम्पुट किये जाने का अभिप्राय है ।

२—सर्वैर्वा घट-सुख-तिर्यङ्-नर-विरिञ्चि-विष्णु-रुद्र-मन्त्र-सदाशिवादि-प्रमातृरूपैर् अवयवमानैर् अहमेकरस-अवयवित्वं निर्णीतमेव। अत एव विशिष्ट-आकृति-आयुधादिध्यानम् अत्र न उक्तं—तस्य निर्मेयत्वात्।

आरुरुक्षुर् एतावत्-त्रिकार्थ-अभिलाषुकश्च कथम् आरोहतु ? इति चेत् कस्य अयम् अर्थिभावो ? मा तर्हि आरुरुक्षत्। सिद्धातन्त्रादिविधिमेव, तदाशयेनैव निरूपित-तद्ध्यानादिसङ्कोचम् आलम्बताम्। असङ्कोचितानुत्तरपदे हि अनधिकृत एव।

एष एव सदोदितो यागः। गन्ध-पुष्पादि निर्णीतम्। यथाशब्दः सहार्थे, तृतीया च तत्रैवोक्ता।

२—(सर्वाभरण = सर्वैर्-आ-भरणम्)

इस तथ्य का निरूपण पहले ही किया जा चुका है कि सारे घट इत्यादि साकार प्रमेय-पदार्थ, सुख इत्यादि भावनात्मक प्रमेय-पदार्थ, पशु, मनुष्य, ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, मन्त्र और सदाशिव इत्यादि रूपोंवाले प्रमाता परा-भगवती के निजी अवयव हैं और इनसे ही उसके एकरस अहंभावमय अवयवी होने की बात चरितार्थ हो जाती है। यही कारण है कि प्रस्तुत आन्तरिक पूजाविधि में भगवती की किसी विशेष प्रकार की आकृति या उसके किसी विशेष शस्त्र इत्यादि का ध्यान करने का उल्लेख नहीं किया गया है, क्योंकि ये सारी बातें तो कृत्रिम हैं।

शंका—

(यदि ये विशेष आकृति या आयुध इत्यादि के ध्यान करने की बातें कोरी गप मानी जाएँ तो) परम पद पर चढ़ने की और इन्हीं त्रिकसम्मत मान्यताओं का अनुसरण करने की इच्छावाला व्यक्ति किस बल-बूते पर आगे बढ़ सकेगा ?

समाधान—

भला, यह चढ़ने की परवशता ही किसको है ? यदि किसी को हो, तो वह न चढ़े। उस सूरत में वह सिद्धातन्त्र इत्यादि शास्त्रों की विधियों या उन्हीं के आशय पर वर्णन किये गये ध्यान इत्यादि करने के सङ्कोचों में ही पड़ा रहे। वैसा व्यक्ति तो इस सङ्कोचहीन अनुत्तर मार्ग में आगे बढ़ने का अधिकारी ही नहीं है।

'यजेत्……विधिः' की व्याख्या।

हमेशा उदीयमान अवस्था में रहनेवाला याग (अर्चना) तो यही है। गन्ध, पुष्प इत्यादि का निरूपण हो चुका है। (यथाशक्त्या शब्द में) 'यथा' शब्द साथ में होने के अर्थ का द्योतक है और तृतीया विभक्ति का प्रयोग भी उसी अर्थ पर किया गया है।

परयेव हृदयरूपया पूजयेत् । कथम् ?

१—भक्त्या-तादात्म्य-अनुप्रवेश-प्रह्वतात्मना,—

२—भक्त्या-स्वयं-क्लृप्तेन पूज्य-पूजक-विभागेन । पूज्यो हि स्वयं सृज्यते ; स परं स्वतन्त्र-चिन्मयता-परमार्थ एव, अनुत्तर-स्वातन्त्र्य-बलात् । न घटादिरिव जड़ इति विशेषोऽत्र । तदुक्तं श्रीप्रत्यभिज्ञायाम्—

'स्वातन्त्र्यामुक्तमात्मानं स्वातन्त्र्यादद्वयात्मनः ।
प्रभुरीशादिसङ्कल्पैर्निर्माय व्यवहारयेत् ॥'

इति,—

३—भक्त्या च लक्षणया पूजनेन, परं तत्त्वं लक्ष्यते-सर्वक्रियासु-एवंरूपता-

---

भक्ति—

'परया' शब्द हृदयरूपिणी भक्ति की ओर संकेत कर रहा है ।

शंका—कैसे ?

समाधान— (भक्ति के तीन प्रकार)

१— (सेवार्थक भज् धातु से)

हृदय बीज के साथ तादात्म्य प्राप्त करके उस स्वरूप में ही सर्वतोभाव से प्रवेश करने के रूप वाली 'प्रह्वता' अर्थात् नम्रता या सेवाभाव के द्वारा—

२— (विभागार्थक भज् धातु से)

अपनी ही कल्पना के द्वारा निर्धारित किये जाने वाले पूजनीय एवं पूजक के विभाग के अनुसार,—

पूजनीय देवता की सृष्टि तो निजी कल्पना से ही की जाती है । परन्तु इतना तो अवश्य है कि चाहे जिस किसी भी पूजनीय देवता की कल्पना की जाये, उसमें तो स्वतन्त्र चिन्मात्रता की ही वास्तविकता भरी रहती है, क्योंकि अनुत्तरीय स्वातन्त्र्य ऐसा ही बलशाली है । प्रस्तुत त्रिक-परिपाटी में यही विशेषता है कि यहाँ का पूजनीय देवता घड़े इत्यादि की तरह जड़ नहीं होता । इस सन्दर्भ में श्री प्रत्यभिज्ञा-शास्त्र का यह कथन है—

'प्रभु, निजी द्वैतहीन स्वातन्त्र्य के द्वारा, अपने स्वतन्त्र स्वरूप को ही ईश्वर ब्रह्मा, विष्णु इत्यादि सङ्कल्पों के अनुसार आकार प्रदान करके, उनके द्वारा अपने आपको ही पुजवाते हैं ।'

३—(समावेशरूपिणी भक्ति)

(हमारी मान्यता के अनुसार) पूर्ण समावेश के रूपवाली भक्ति के द्वारा—जिसको औपचारिक रूप में पूजा कहते हैं—परम तत्त्व का स्पष्ट साक्षात्कार हो जाता है । हरेक क्रियाकलाप में इसी समावेशमय रूप को पहचान लेना (प्रत्य-

प्रत्यभिज्ञानम् उपायत्वात् (१) लिप्यक्षरस्येव मायीयवर्णव्युत्पत्तौ, (२) तस्यापि च वर्णवीर्यानुप्रवेशे।

आत्मानं निवेदयेत्-अन्यस्य निवेद्यस्य अभावात्। एवं च आत्मानम् एव निःशेषेण निरुत्तरपदं वेदयेद्-अनुत्तरसत्तानुसारेण। अत्र संभावनायां लिङ्-सततम् एवम्मयत्वेनैव अवस्थितेर्, इति हि उक्तम्।

एवम् आ-समन्तात् सर्वत्र सदा यत् ख्यातं-पारमार्थिक-शुद्ध-शिवस्वरूप-प्रथात्मिका ख्यातिः, तदेव यजनं परसंविद्देवतायाः—(१) पूजनात्, (२) तया च तादात्म्य-सम्यग्गमनरूपता-करणात्, (३) सर्वत्र च परिमितात्मीय-

---

भिज्ञा ही सब से बढ़कर उपाय है, ठीक उसीप्रकार जिसप्रकार मायीय वर्णों की व्युत्पत्ति का ज्ञान होने के लिए लिखे हुए अक्षर और वर्ण के वीर्य में प्रवेश पाने के लिए स्वयं वे मायीय वर्ण ही उपाय बन जाते हैं।

आत्म-निवेदन—

अपनी आत्मा को ही अर्पण करे, क्योंकि इससे इतर और कोई अर्पण करने के योग्य वस्तु है ही नहीं। तात्पर्य यह है कि (निः—पूर्णरूप में, वेदयेत्—अनुभव करे—इस विग्रह के अनुसार) अनुत्तर-सत्ता का अनुसरण करने के द्वारा, अपनी आत्मा का ही अनुत्तर-धाम के रूप में, सर्वाङ्गीण अनुभव करे। यहाँ पर (निवेद-येत् इस शब्द में) लिङ् लकार का प्रयोग सम्भावना के अर्थ पर किया गया है, क्योंकि पहले ही कहा गया है कि आत्मा के साथ सम्बन्ध रखनेवाली कोई भी स्थिति सम्भावनामयी ही होती है।

यजन—

इस प्रकार अपने आपको ही, चारों ओर और हमेशा, पारमार्थिक एवं निर्मल शिव-स्वरूप जान लेने के रूपवाली 'ख्याति' अर्थात् आत्मबोध (परि-पूर्ण ज्ञानमयी प्रत्यभिज्ञा) की उपलब्धि ही, भगवती परा-संवित् का 'यजन' अर्थात् अर्चन है, क्योंकि—

१—(देवपूजार्थक यज् धातु)

यही उसकी सच्ची पूजा है।

२—(सङ्गतिकरणार्थक यज् धातु)

यही पूजा साधक को पराभाव के साथ तादात्म्य करवाने के रूपवाली समीचीन गति (सङ्गति) प्रदान कर देती है।

३—(दानार्थक यज् धातु)

यह पूजा जीवभावसुलभ और सङ्कोचों से भरे हुए अहंकार और ममकार-

आत्मरूप-स्वत्वनिवृत्त्या परिपूर्ण-चिद्घन-शिवशक्त्यात्मक-आत्मरूप-स्वत्वापादनात्मकाद् दानाच्च ।

एतदेव अग्निकार्यं—सर्ववासनाबीजानां, सर्वपदार्थ-इन्धन-ग्रास-लाम्पट्य-जाज्वल्यमाने, शिव-संघट्ट-क्षोभ-क्षुभित-परशक्त्यरणि-सततसमुदित-परभैरव-महामहसि, सर्व-अभिष्वङ्ग-रूप-महास्नेहाज्य-प्राज्य-प्रतापे हवनात्–अन्तर्दाहात्। अयमेव अग्निकार्ये विधिर्दीक्षान्तपर्यन्तोऽपि, नान्यः पृथक् कश्चिद्—इति तात्पर्यम् ।

'स्व-स्वरूपपरिज्ञानं मन्त्रोऽयं पारमार्थिकः ।
दीक्षेयमेष यागश्च क्रियायामप्यनुत्तरः ॥'

अत एव प्रागेव उक्तम्—यथा अन्यत्र मन्त्रोपासनादिक्रिया उत्तरेण ज्ञान-ग्रन्थेन उत्तीर्यते, नैवम् इह–इति। यदुक्तम्—'उत्तरस्याप्यनुत्तरम्' इति सूत्रे

रूपी जीव-अहंभाव को हटाने के द्वारा परिपूर्ण चिद्घन और शिव-शक्ति-समरसता के आत्मिक अहंभाव को उजागर करने के रूप में दान भी देती है ।

अग्निकृत्य—

सारे पदार्थरूपी इन्धन का ग्रास करने की लोलुपता से दहकते हुए शिवभाव के संघट्ट से जनित उत्तेजना के द्वारा संघर्ष में पड़ी हुई पराशक्तिरूपिणी 'अरणि' अर्थात् मथने से जल उठनेवाली लकड़ी के द्वारा भड़कायी जाती हुई और सारे सांसारिक लगावों के घी की भर भर आहुतियाँ डालने से प्रचण्ड रूप में उत्तेजित की हुई महान् अग्निराशि में, सारे वासनाबीजों का 'होम', अर्थात् अन्दर से ही भस्म करते रहना ही, प्रस्तुत सन्दर्भ में, अग्निकार्य है। तात्पर्य यह है कि दीक्षा तक के सारे अग्निकार्यों का सच्चा विधिविधान केवल यही है, इससे इतर और कोई नहीं ।

'अपने वास्तविक स्वरूप को पहचान लेना ही पारमार्थिक मन्त्र, दीक्षा और याग है, क्योंकि ऐसी अवस्था में बाहरी इतिकर्तव्यताओं में भी अनुत्तरभाव का साथ छूटने नहीं पाता और ऐसा पारमार्थिक याग क्रियारूप में भी अनुत्तर ही है।'

अतः पहले ही कहा गया है कि दूसरे शास्त्रों में मन्त्रोपासना इत्यादि प्रकार के (पूर्ववर्णित) क्रियाभाग का, ग्रन्थ के उत्तरभाग में, आवश्यक रूप से, ज्ञान भाग का वर्णन करने से ही उपसंहार करने की जो परम्परा चली आ रही है, प्रस्तुत शास्त्र में उसी लीक पर चलना अनिवार्य नहीं है। प्रस्तुत शास्त्र में तो—'उत्तरस्याप्यनुत्तरम्' इत्यादि सूत्र में जिन बातों का निर्देश हुआ है, उन्हीं को

तदेव एतदन्तेन ग्रन्थेन निर्व्यूढं—हृदयस्यैव याग-दीक्षा-क्रियारूपत्वात्, तस्य च अनुत्तरत्वात् ।

श्रीसोमानन्दपादैस्तु स्रुक्-स्रुव-संस्कारादि सर्वसहत्वप्रतिपादनेन, अखण्डितत्वाभिप्रायेण निरूपितम् । एवमादौ अङ्ग-हृद्भेद-धूलिभेदाद्यपि तद्रूपं युज्यते, न किञ्चिदत्र; नाप्युपपद्यते; नाप्यस्ति; नाप्यपरशास्त्रपातित्वेन तदुपजीवकत्वम्-इति निर्णीतप्रायमेव ॥२७-३३॥

यहाँ तक के ग्रन्थभाग में अक्षरशः निभाया गया है, क्योंकि यज्ञ, दीक्षा और कर्मकाण्डीय इतिकर्तव्यता ये तीनों वास्तव में अमृतबीज के ही रूप हैं और वह स्वयं स्वरूपतः अनुत्तर ही है ।

श्रीसोमानन्द पाद ने तो हृदयबीज की सर्वसहता को सिद्ध करके, (ज्ञानचर्या और क्रियाचर्या दोनों में समानरूप से) इसकी अखण्डता को सिद्ध करने के अभिप्राय से स्रुक् और स्रुवा का संस्कार इत्यादि किये जाने का विधान भी प्रस्तुत किया है। ऐसे ऐसे व्याख्यानों में अङ्गों, हृदय और न्यास इत्यादि के भेदों का भी तदनुसार ही वर्णन किया जाना युक्तियुक्त[1] ही है । इसमें कोई विसङ्गत नहीं है; न इसका विसङ्गत होना युक्तियुक्त है; न कहीं कोई दोष दिखाई देता है और न ऐसी त्रिक धारणायें दूसरे निकृष्ट शास्त्रों की कोटि में पड़ने के द्वारा उन पर निर्भर रहने की अपेक्षा ही रखती हैं । इन सारी बातों का स्पष्टीकरण तो प्रायः हो चुका है ॥२७-३३॥

---

१. यहाँ पर कई लोग मूलग्रन्थ में 'तद्रूपं' तक एक वाक्य को समाप्त करके 'युज्यते' शब्द को आगे के 'न किञ्चिदत्र' इस वाक्य के साथ मिलाकर यह अर्थ लगाते हैं कि सोमानन्दपाद के इस कथन में कोई सङ्गति दिखाई नहीं देती है, इत्यादि। प्रस्तुत लेखक ऐसा अर्थ लगाने के पक्ष में नहीं है क्योंकि ऐसा अर्थ लगाने से स्पष्टरूप में भगवान् अभिनव अपने ही परमेष्ठी गुरु के विरोधी बन जाते हैं । परन्तु भगवान् अभिनव सोमानन्द पाद को हरेक स्थान पर महान् आदरभाव की दृष्टि से देखते रहे हैं, अतः वे उनके विरोधी कैसे ठहराये जा सकते है ? उदाहरणार्थ इसी 'उत्तरस्याप्यनुत्तरम्' की टीका में भगवान् अभिनव ने सोमानन्द के प्रति ये उद्‌गार प्रकट किये हैं—'तस्मात् श्रीसोमानन्दपादनिरूपितव्याख्यानुसारेणैव यद्‌गुरवः समादिक्षन्, तदेव सर्वस्य करोति शिवम्', तो ऐसी परिस्थिति में यहाँ पर उनको सोमानन्द का विरोधी ठहराना कहाँ तक ठीक है, विद्वान् लोग इसका विचार स्वयं करें ।

किम् एवम् उपासनायां भवति ? इत्यवतरति—

'कृतपूजाविधिः सम्यक् स्मरन् बीजं प्रसिद्ध्यति ।।३४।।

एवमनवरतं व्यवहारेष्वपि, बीजं स्मरन्नेव–स्मरणादेव कृतपूजाविधिः—

१—प्रकर्षेण—अन्य-कुलशास्त्रादि-शैव-वैष्णवान्त-शास्त्र-अतिरेकेण एव भगवद्-भैरवभट्टारकरूप-समाविष्टः, निज-परसंविच्-चमत्कारवश-निर्मित-भाव-क्रीडाडम्बरो जीवन्मुक्त एव भवति, इत्यनुभव एव अयमावर्तते न त्वन्यत् किञ्चिद्—इति स्मरणम् उक्तम्—श्रीमतशास्त्रेषु अपि एवमेव,—

२—उपासकस्तु अननुप्रविष्ट-वीर्यसत्तासार-हृदयोऽपि क्रमपूजा-माहात्म्यात् बीजं सम्यक् स्मरन्, प्राप्त-हृदयाख्य-तत्त्व-मन्त्रवीर्यः प्रकर्षेण सिद्ध्यति—क्रम-

---

इस विधि से (हृदयबीज) की उपासना करने से कौन सी अर्थसिद्धि हो जाती है ? इस अभिप्राय से अगला सूत्र-भाग अवतरित कर रहे हैं—

मूल-सूत्र

शास्त्रविधि के अनुसार हृदयबीज का स्मरण करते करते इस पूजाविधि को अविकल रूप में सम्पन्न करनेवाला साधक जीवन्मुक्ति की सिद्धि पा लेता है ।।३४।।

तत्त्व-विवेक

इस रीति से 'प्रतिसमय' अर्थात् सांसारिक व्यवहार करने के अवसरों पर भी मन में हृदयबीज का अखण्डित अनुसन्धान करने से ही पूजाविधि को सम्पन्न करनेवाला साधक—

१–त्रिकशास्त्र से इतर कुलाचार सम्बन्धी शास्त्रों से लेकर शैव और वैष्णव शास्त्रों तक के सारे अवान्तर शास्त्रों को एकदम पीछे छोड़कर और केवल भैरव भट्टारक के 'रूप' अर्थात् हृदयबीज में समाविष्ट होकर, अपनी ही परा-संविन्मयी आनन्दमयता के आवेग के द्वारा, स्वेच्छा से ही, प्रमेय-जगत् की सृष्टि, स्थिति इत्यादि करने के खिलवाड़ का आडम्बर रचाता हुआ भी स्वयं जीवन्मुक्त अवस्था में ही स्थिर रहता है। इस अवस्था को यहाँ पर 'स्मरण' का नाम इसलिये दिया गया है कि इसमें, सब कुछ छोड़कर, निजी अनुभव की ही आवृत्ति होती रहती है। श्रीमत शास्त्र में भी ऐसे ही अभिप्राय को अभिव्यक्त किया गया है,—

२—जो उपासक इस मन्त्रवीर्यमयी सत्ता के सारवाली हृदयभूमिका में समाविष्ट न हुआ हो, वह भी (बाहरी) क्रमपूजा (बाह्योपासना) के ही बल से भली-भाँति इस बीजमन्त्र का स्मरण करता हुआ, धीरे धीरे हृदय-तत्त्व में निहित रहनेवाले

पूजामाहात्म्यादेव तारतम्यातिशयात्, स्वयं वा, प्रसन्न-गुरुभट्टारक-वदन-कमलाद्वा मन्त्रवीर्यं हृदयात्मकम् आसादयति, जीवन्मुक्तश्च भवति, इति यावत् । अत्र द्वारपरिवार-गुरुपूजनं गुणं वा खण्डनां वा न वहति । तत एव भट्टपादैर्न्यरूपि—

'अत्र तु कुलपर्वणि पवित्रं च—इति सम्यक्त्वं पूजाविधेः' ॥३४॥

(अयमत्र सङ्क्षेपार्थः)

"यत्रान्तरखिलं भाति यत्र सर्वत्र भासते ।
स्फुरत्तैव हि सा ह्येका हृदयं परमं बुधाः ॥
रासभी वड़वा वापि स्वं जगज्जन्मधाम यत् ।
समकालं विकास्यैव सङ्कोच्य हृदि तुष्यति ॥

मन्त्रवीर्य का साक्षात्कार करके अति उत्कृष्ट सिद्धि को प्राप्त कर लेता है। तात्पर्य यह है कि ऐसा व्यक्ति भी या तो अनुभूति के क्षेत्र में क्रमपूजा की महिमा से ही उत्तरोत्तर अतिशय प्राप्त करने से, या 'स्वयं' अर्थात् किसी अलक्ष्य अनुग्रह से, या प्रसन्न गुरु महाराज के मुखकमल से निकले हुए उपदेश से हृदय बीजरूपी मन्त्रवीर्य का साक्षात्कार कर पाता है और जीवन्मुक्त हो जाता है। इस पूजाविधि में 'द्वारपरिवार' अर्थात् गणेश एवं बटुक और गुरु के पूजन की परम्परा का पालन करने से न कोई लाभ और न कोई हानि ही हो सकती है। इसी आधार पर श्रीसोमानन्दपाद ने निरूपण किया है कि—

'कुल शास्त्रों में निर्धारित किये गये पर्वदिनों को मनाने और पवित्र एवं उपयाम धारण करने से केवल पूजा के विधिविधान की सुचारुता में वृद्धि हो जाती हैं ॥३४॥

इस प्रकरण का संक्षिप्त तात्पर्य ।

"हे प्रबुद्ध भूमिका पर पहुँचे हुए साधकों ! जिसके गर्भ में यह सारा प्रपञ्च प्रकाशमान है और जो स्वयं ही प्रत्येक स्थान पर प्रकाशमान है, वह (प्रकाशविमर्शमयी) स्फुरणा ही सर्वोत्कृष्ट हृदयभूमिका है।

'जिस प्रकार गधी या घोड़ी 'अपने जगत् के उत्पत्तिस्थान' अर्थात् योनि का [1]समकालीन सङ्कोच-विकास करती रहने से अपने हृदय में परम सन्तोष का अनुभव कर लेती है—

---

१. यहाँ पर मूल 'समकालं' शब्द से गुरु-जन 'स्वाभाविक रूप में' ऐसा तात्पर्य भी लेते हैं।

तथोभयमहानन्दसौषुम्णहृदयान्तरे ।
स्पन्दमानमुपासीत हृदयं सृष्टिलक्षणम् ॥
ध्यायन्स्मरन्प्रविमृशन्कुर्वन्वा यत्रकुत्रचित् ।
विश्रान्तिमेति यस्माच्च प्रोल्लसेद्धृदयं तु तत् ॥
'तदेकमेव यत्रैतज्ज्ञानं वैकल्पिकं परम् ।
तत्त्वानि भुवनाभोगाः शिवादिपशुमातरः ॥
स्वं स्वं विचित्रं विन्दन्तः स्वरूपं पारमार्थिकम् ।
चित्रीकुर्वन्त्येव भान्ति तां भिन्नां संविदं पराम् ॥'
देश-द्रव्य-क्रिया-स्थान-ज्ञानादिष्वपि सर्वशः ।
अशङ्कयैव सङ्क्रामः पूजास्य सततोदिता ॥

वीर और योगिनी के संघट्ट की वेला पर, महान् आनन्द से परिपूर्ण सुषुम्णा-रूपी हृदय के मध्य में, उसी प्रकार के सङ्कोच-विकास के रूप में स्पन्दायमान रहनेवाले 'सृष्टिरूपी' अर्थात् अमृतबीज के रूप वाले [1]हृदय की उपासना करे ॥'

(साधक) जिस किसी अवस्था में या स्थान पर ध्यान, स्मरण और विमर्श करते करते अथवा कोई भी आदान-प्रदानात्मक व्यवहार करते करते ही जिस किसी (अनिर्वचनीय) स्थान में सहसा विश्रान्त हो जाता है और जहाँ से फिर (बहिर्मुखता की ओर) उल्लसित हो जाता है, उस स्थान को हृदय कहते हैं ॥

'वह हृदय मूलतः केवल निर्विकल्पक भाव में ही प्रकाशमान है, परन्तु उसके गर्भ में दूसरा सविकल्प-ज्ञान, छत्तीस तत्त्व, १०८ भुवनों का विस्तार, ब्राह्मी इत्यादि पशुमातायें—ये सारे भी, अपने अपने विचित्र परन्तु परमार्थ से अभिन्न स्वरूपों को प्राप्त करते हुए और उस विस्मयावह परा-संवित् को भी चित्रित बनाते हुए, प्रकाशमान हैं ।'

इस हृदय की हमेशा उदीयमान अवस्था में रहनेवाली पूजा (पारिभाषिक शब्दों में सततपूजा) का रूप यह है कि साधक को, देश, द्रव्य, क्रिया, स्थान, विकल्पज्ञान इनके साथ सम्बन्धित रहने की हरेक अवस्था में भी, (अंदर से) बिल्कुल अशङ्कित रूप में ही हृदयबीज में (स्वाभाविक) सङ्क्रमण होता रहता है ॥

---

१. इस श्लोक में दो हृदयों का उल्लेख किया गया है । इसका अभिप्राय यह है कि सुषुम्णा नाडी के मध्य में 'हृत्पद्म' नामवाला एक कमल और इस कमल के मध्य में इसी की 'कर्णिका' के रूपवाला दूसरा कमल ही नित्य स्पन्दायमान रहनेवाले दो हृदय हैं । इन आभ्यन्तर स्थानों का स्पष्टीकरण अभी आगे चलकर किया जायेगा ।

क्रमपूजनमात्रं च, कुलपर्वपवित्रकैः ।
सहात्र पूजने प्रोक्तं सम्यक्त्वं त्रिकशासने ॥"

यथोक्तम्—

"द्रवाणामिव शारीरं वर्णानां सृष्टिबीजकम् ।
शासनानां त्रिकं शास्त्रं मोक्षाणां भैरवी स्थितिः ॥

जहाँ तक क्रमपूजा (पूर्वोक्त बाह्योपासना) का सम्बन्ध है, उसके विषय में त्रिकशासन की मान्यता यह है कि कुलाचार में स्वीकृतिप्राप्त पर्वदिनों को मानने और पवित्रक इत्यादि के धारण करने की सहकारिता से इस पूजा की सर्वाङ्गीणता में वृद्धि हो जाती है ॥"

जैसा कि (इस बाह्योपासना के सन्दर्भ में) कहा गया है—

"जिस प्रकार तरल पदार्थों में शुक्र, वर्णों में अमृतबीज, शास्त्रों में त्रिकशास्त्र, मोक्षों में भैरवभाव की अवस्था, उपासना में समावेशमयी समाधि, व्रतों में वीरव्रत अति उत्कृष्ट हैं, उसी प्रकार त्रिकशास्त्रीय मान्यता के अनुसार सारे पर्वों में से कुलपर्व ही अति उत्तम है ॥

---

१. प्रत्येक धर्म या मत के साथ सम्बन्धित समाजों के अपने-अपने पर्वदिन हुआ करते हैं । इन दिनों में अपनी-अपनी मान्यताओं और विश्वासों के अनुसार घरों में या बाहर भी उत्सवों के आयोजन किये जाते हैं । यह क्रम आज भी जारी है । तान्त्रिक युग में अलग अलग तन्त्रों के अनुयायियों के भी अपने अपने तन्त्रग्रन्थों में मान्यता प्राप्त पर्वदिन निश्चित किये होते थे । वे उनको अपनी अपनी प्रथाओं के अनुसार अनिवार्य रूप में मनाते थे । इनके पर्वदिन सर्वसाधारण जनसमाज के पर्वदिनों से बिल्कुल अलग होते थे और उनके मनाने का तरीका भी अलग ही होता था । यहाँ पर प्रस्तुत की गई बाह्योपासना के क्रम पर चलनेवाले व्यक्तियों के लिए उन पर्वदिनों को मनाने का आदेश था जिनको कुलाचार में स्वीकृति प्राप्त थी । इन्हीं पर्वदिनों को कुलपर्व कहते थे । भगवान् अभिनव एवं सोमानन्द जैसे व्यक्तियों ने बाह्योपासना को गौण मानकर आन्तरिक परापूजा को ही प्राथमिकता दी है । उसमें इन पर्वों के मनाने की कोई आवश्यकता नहीं, क्योंकि आचार्य जी के अपने ही कथनानुसार इनसे साक्षात्कार की दिशा में न कोई लाभ और न कोई हानि ही होने की सम्भावना है । बाह्योपासना में भी इनका इससे बढ़कर और कोई महत्त्व नहीं है कि पूजा की रौनक बढ़ जाती है । आत्मिक अनुभूति के प्राप्त करने में इनसे कोई सहायता प्राप्त नहीं हो सकती ।

उपासायाः समापत्तिर्व्रतानां वीरवृत्तिता।
तथैव पर्वमध्ये तु कुलपर्वाणि शासने॥
सर्वेषां चापि यागानां पूरणाय पवित्रकम्।
पवित्रकं न कुर्वन्ति चतुस्त्रिद्विः सकृत्तु ये।
कुलपर्वं न जानन्ति तेषां वीर्यं न रोहति॥"

"फुरइ फुरणम अलह का अव्वह परदेउ सोहि अउस मगाह सव्व काल नौसंकसरू सहजा जाणु पूजस पञ्ज इ इ उ उ ह॥"

एवम् अनुत्तरस्वरूपं विस्तरतो निर्णीतं—यत्र भावनादि अनवकाशः, प्रसङ्ख्यानमात्रमेव दृढ़चमत्कारलक्षण-हृदयंगमतात्मक-प्रतिपत्तिदार्ढ्यपर्यन्तं यत्र उपाय-धौरेय-धराधराणि धत्ते। सिद्धिप्रेप्सुषु तु योगो वक्तव्यः—स्वातन्त्र्यानी-

---

(बाह्य उपासना में) सारे 'यागों' अर्थात् उपासना के साथ सम्बन्धित क्रिया-पद्धतियों की पूर्णता के लिए पवित्रक[1] की विधि का पालन करना नितान्त आवश्यक है॥

जो उपासक पर्वदिनों में चार, तीन, दो या एक ही बार पवित्रक की विधि का पालन नहीं करते, वे असल में कुलपर्वों के महत्त्व से परिचित ही नहीं हैं, और फलतः वैसे व्यक्तियों के मन्त्रवीर्य का विकास नहीं होने पाता॥"

इस प्रकार अनुत्तर-स्वरूप का विस्तारपूर्वक निरूपण किया गया। इसमें भावना इत्यादि के लिए तनिक भी अवकाश नहीं है। इसमें तो, प्रबल शक्तिपात के चमत्कार के लक्षण वाली और हृदयबीज के साथ ऐक्य हो जाने के रूपवाली आत्मिक अनुभूति की दृढ़ता प्राप्त करने तक, केवल ज्ञान ही, उपायरूपी बोझ को वहन करनेवाला मुख्य साधन बन कर न जाने कितने पहाड़ों को वहन करता रहता है। (केवल प्रदर्शन मात्र के लिए) सिद्धियाँ पाने के इच्छुक व्यक्तियों के लिए योग-क्रम को समझाना अभी शेष है। ऐसा करना इसलिये ज़रूरी है कि

---

१. कोई भी देवक्रिया या पितृक्रिया करते समय पवित्रक और उपयाम इत्यादि धारण करने की प्रथा आजकल भी भारत में प्रचलित है। ये प्रायः कुशा के बनाये जाते हैं, परन्तु कई कई सम्पन्न व्यक्ति या बड़े-बड़े मठधारी महन्त इत्यादि सोने-चाँदी के भी बनवाकर अंगुली में पहनकर रखते हैं। तान्त्रिक युग में भी सम्पन्न व्यक्तियों के लिए सोना, चाँदी अथवा रत्न इत्यादि और गरीब जनता के लिए सूती धागा या कुशा इत्यादि के पवित्रक बनाने की प्रथा प्रचलित थी। एक वर्ष में चार बार पवित्रक को नया बनाने का विधान था। तीन बार, दो बार और कम से कम एक बार भी बनाने की प्रथा थी। इसमें छत्तीस तत्त्वों की प्रतीकभूत ३६ गांठे डाली थी और कुलपर्व के अवसर पर अनिवार्य रूप से अंगुली में डाला जाता था।

यमानास्वपि दृष्टयोगसिद्धिषु, लौकिकप्रसिद्धि-नियति-उत्तरत्वेऽपि परमेशव्यव-स्थारूपनियति-अनतिक्रमात्। यदुक्तं शिवदृष्टौ—

'तथापि चित्रकर्मार्थमुपायो वाच्य आदरात्।'

इति। तत्रापि च अनुत्तररूपस्य नास्ति खण्डना काचित्—दृष्टसिद्धीप्सा-यत्नस्येव तदाप्ति-तत्फलविश्रान्त्यादेरपि परैकमयत्वात्। किन्तु जीवन्मुक्तापेक्षया मन्दशक्तिपातोऽसावुच्येत—अपूर्णप्रायत्वात्। तं योगमार्गं निरूपयितुं ग्रन्थशेषोऽवतरति—

यद्यपि दृष्टयोगसिद्धियों का अधिगम मूलतः परमेश्वर के स्वातन्त्र्य से ही होता है और ये लौकिक प्रसिद्धियों एवं निश्चित मानों की परिधि से बाहर ही होती हैं, तो भी प्रत्येक क्षेत्र में व्यवस्था देने के रूपवाली परमेश्वर की ही नियतिशक्ति का उल्लङ्घन भी यहीं कर सकती। जैसा कि शिवदृष्टि में कहा गया है—

[२]'तो भी विचित्र प्रकार की सिद्धियों का प्रदर्शन कर सकने के लिए, श्रद्धा-पूर्वक, उपाय का वर्णन करना ही होगा।'

जो भी हो, उस सिद्धिप्रदर्शन में भी अनुत्तरभाव किसी भी प्रकार से खण्डित नहीं हो जाता है, क्योंकि दृष्ट सिद्धियों को पाने के प्रयत्न की ही भाँति उनको पाना और पाकर उनसे मनोनीत फलों को निकाल सकने की भूमिका पर पहुँच पाना भी केवल पर-तत्त्वमय ही है। हाँ इतना तो है कि जीवन्मुक्ति की अपेक्षा इसको मन्द शक्तिपात ही कहा जा सकता है, क्योंकि इसमें (आत्म-विकास की दृष्टि से) कमी बनी ही रहती है। अब उसी (मन्दशक्तिपातमय) योग मार्ग का निरूपण करने के अभिप्राय से अवशिष्ट सूत्र अवतरित कर रहे हैं—

---

१. जिन सिद्धियों का लोगों के सामने प्रदर्शन करने से उनके मनों में आश्चर्य एवं कुतूहल उत्पन्न किया जा सके, उनको दृष्टयोगसिद्धियाँ कहते हैं।

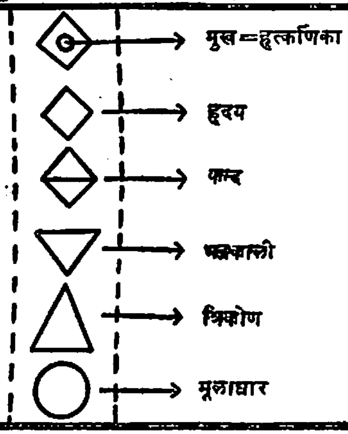
२. सोमानन्दपाद की मान्यता यह है कि शिव को कोई जाने या न जाने उसके शिव होने में कोई अन्तर नहीं पड़ता है। संसार के सारे पदार्थ—सारी बातें—शिव ही हैं, इसलिये उसके सन्दर्भ में उपायों की कल्पना करना केवल मतिभ्रम ही है। हाँ इतना तो है कि विचित्र कार्यों को सम्पन्न कर सकने के लिए यदि उपाय का वर्णन किया भी जाये तो भी कोई हर्ज नहीं—

'तस्माच्छिवेऽप्यविज्ञाते ज्ञाते वा शिव एव ते।
सर्वं एवात एवैतद्भावनाकरणाच्च्युतम्॥
विज्ञातं जायते पुंसां यद्यप्येवमवस्थितम्।
तथापि चित्रकर्मार्थमुपायो वाच्य आदरात्॥'

(शि० दृ० ७।८-९)

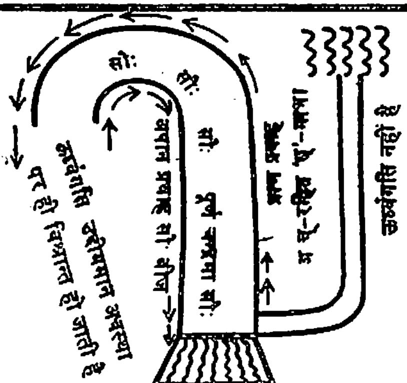
सुषुम्णा के मध्य में हृदय (छे मुद्रायें)

"सौजन्य श्री सद्-गुरु महाराज"



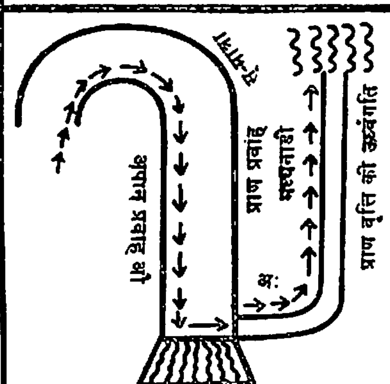
यह सारा एक ही हृत्-पद्म है। इसका केन्द्र हृत्कर्णिका है। वही वास्तविक अमृतबीजमय हृदय है।

शाक्त उपायक्रम



गुह्यया कंद (हृत्कर्णिका)

शाम्भव उपायक्रम

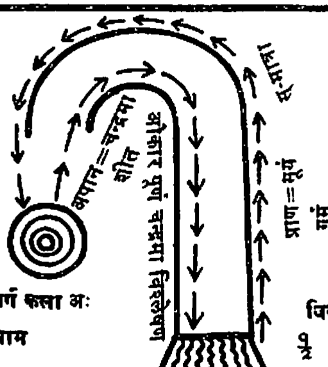


गुह्य या कंद (छे मुद्रायें)

आणव उपायक्रम

१ प्राणचार की त्रुटियां = ½ + १५ + ½ = १६

२ अपानचार की त्रुटियां = ½ + १५ + ½ = १६



बाह्य द्वादशान्त विसर्ग कला अः
½ त्रुटि विश्राम

विसर्ग कला
½ त्रुटि विश्राम

आद्यन्तरहितं बीजं विकसत्तिथिमध्यगम् ।
हृत्पद्मान्तर्गतं ध्यायेत् सोमांशं नित्यमभ्यसेत् ॥३५॥

I "एतदेव हृदयबीजं दीपकाभावात्, गमागम-शून्यत्वात्, सततोदितत्वाच्च अनाद्यन्तम् ।

तदेव विकसत्–परिपूर्णत्वं यातं, तिथीनां मध्यगम्–हृदयत्वात् ।

तदेव सङ्कोच-विकास-धर्म-उपचरित-पद्मभावे, कन्दे, गुह्ये, हृदीव ध्यायेत् ।

I शाक्त उपायक्रम के अनुसार व्याख्या

मूल-सूत्र

यह हृदयबीज किसी दूसरे के द्वारा प्रकाशनीय और प्राणापानगति का वशवर्ती न होने के कारण अनादि और अनन्त है । जहाँ एक ओर यह बहिरङ्ग रूप में विकासमान है, वहाँ दूसरी ओर सोलह तिथियों के अन्तरतम में भी व्याप्त है । कन्द-स्थान या गुह्यस्थान के रूपवाले हृत्-कमल में इसका ध्यान करे । सोलह तुटियों के आयामवाले अपान-प्रवाह का, चारों ओर से, इन्हीं दो स्थानों की ओर क्षेपण करने का अभ्यास, हमेशा करता रहे ॥३५॥

तत्त्व-विवेक

अनाद्यन्तं बीजम्—

मात्र यह हृदयबीज, स्वरूप से इतर किसी दूसरे प्रकाशक तत्त्व के वर्तमान न होने, स्वरूप में कोई उतार-चढ़ाव न होने और शाश्वतिक रूप में उदीयमान अवस्था में ही वर्तमान होने के कारण, अनादि और अनन्त है ।

१ विकसत्, २ तिथिमध्यगम्—

यह हृदयबीज जहाँ एक ओर बहिर्मुखता में, स्थूल प्रमेय-जगत् के रूप में विकसमान होने के कारण परिपूर्णता पर पहुँचा हुआ है, वहाँ दूसरी ओर हरेक पदार्थ का हृदय होने के कारण सोलह 'तिथियों' अर्थात् अपानचार की सोलहों तुटियों अथवा सोलहों स्वरों के अन्तरतम में भी व्याप्त है ।

हृत्पद्मान्तर्गतं ध्यायेत्—

इस हृदयबीज का अखण्ड अनुसन्धान, ठीक हृदयकमल ही समझे जाने वाले [1]कन्द-स्थान या गुह्य-स्थान पर करे । इन दोनों स्थानों को केवल औपचारिक

---

१. यहाँ पर सद्-गुरु महाराज यह उपदेश देते हैं कि वीर के लिए गुह्य-स्थान और योगिनी के लिए कन्द-स्थान पर अनुसन्धान करने का विधान है, परन्तु दोनों एक दूसरे से नितान्त अलग-अलग होने चाहियें ।

किञ्चास्य ध्यानमाह—

'सोमांशं-षोडशकलात्मकं सोमरूपम्, अभितः–समन्ताद्, अस्येत्–क्षिपेत्। परिपूर्णचन्द्रस्य अस्य हृत्कर्णिकानिवेशिकया स्व-स्व-द्वादशान्तग-पुष्पाद्युदय-स्थानाद्, आहृत-अमृत-स्पर्शः, प्रोद्यन्-नादानुसार-चुम्बिकालक्षण-काकचञ्चु-पुटमुद्रा-मुद्रितः, पुनस्तदपसृत-शिशिरामृत-रसास्वाद-विकस्वर-हार्दसोम-प्रसरन्-

---

रूप में ही कमल की संज्ञा दी गई है, क्योंकि साधारण कमल की तरह ही इनका भी सङ्कोच और [1]विकास, स्वाभाविक एवं धारावाहिक रूप में, होता रहता है।

साथ ही इसके ध्यान करने का प्रकार इस तरह बता देते हैं—

सोमांशं, नित्यम्, अभ्यसेत् = अभि + अस्येत्—

सोलह 'कलाओं' अर्थात् तुटियों के आयामवाले, 'सोमांश' अर्थात् अपान-प्रवाह का, चारों ओर से (कन्द या गुह्य की ओर) [2]क्षेपण करता रहे।

तात्पर्य यह है कि (शास्त्रीय परिभाषा में) पूर्ण चन्द्रमा की संज्ञावाले इस अपान-प्रवाह को (प्रवेश के अन्तिम बिन्दु) हृत्-कर्णिका में प्रवेश कराने के तार को पकड़ कर, अपने-अपने अन्तर्द्वादशान्त में वर्तमान 'पुष्प'–अर्थात् वीर्य के उद्गमस्थान कन्द या गुह्य तक, इसका (अपान का) क्षेपण करे। वहाँ पर 'अमृत' अर्थात् विसर्ग-शक्ति या दूसरे शब्दों में कुण्डलिनी-शक्ति का स्पर्श होजाने के उपरान्त विकसित होनेवाले परामर्श के अनुसार, विद्युद्गति में शाक्त-स्पर्श हो जाने के रूपवाली काकच[3]ञ्चुपुट नामवाली मुद्रा से मुद्रित हो जाये। फिर [4]बाहर

---

१. कन्द-पद्म और गुह्य-पद्म दोनों का धारावाहिक एवं स्वाभाविक सङ्कोच-प्रसार ठीक उसी रूप में होता रहता है, जिसको आचार्य जी ने गधी या घोड़ी के गुह्याङ्ग में, स्वाभाविक रूप में, होने वाले सङ्कोच-विकास का उदाहरण देकर समझाया है।

२. अपान-प्रवाह को धीरे-धीरे या कन्द या गुह्य की ओर धकेलते रहना है।

३. अनुभवी लोगों का कथन है कि अपान-वायु के द्वारा हृत्कर्णिका का भेदन किये जाने पर तत्काल ही साधक को अतीव तीव्रगति में शाक्त-स्पर्श हो जाता है। इस अवसर पर उसमें वही पूर्वोक्त सिसकार (स्-मात्रा) की अवस्था स्वयं ही उदित हो जाती है। उसी को शास्त्रीय शब्दों में काकचञ्चुपुट-मुद्रा कहते हैं।

४. यहाँ पर अन्दर की ओर खींचे हुए अपान-वायु को नाक या मुँह से बाहर छोड़ने का अभिप्राय नहीं है, बल्कि अन्दर-अन्दर ही हृत्कर्णिका से बाहर निकालने और फिर प्रवेश कराने के तार का अभिप्राय है। यह सारा अभ्यास अपान-वायु को अन्दर रखकर ही करना है।

नाद-निर्मथित-सुधा-पान-पूरित-चन्द्रमा, पुनः सूर्यकला-उदयमय-अनच्क-सकार-मात्र-विश्रान्तो, रोमाञ्च-स्तोभ-उत्पतन-बाष्प-कम्पादि-अनुगृहीतदेहोऽभ्यासं कुर्यात्–इति भट्टधनेश्वरशर्मा।"

II आद्यन्तरहितं सकारमात्रं, षोडश अकारादितिथिसहितं कलाग्रासक्रमेण हृदयेऽन्तर्निक्षिपेत्। नालिकाजलाकर्षणवत् चलन-कम्पन-स्पन्दन-समाविष्ट-

---

की ओर खींचे जाते हुए और शान्तिदायक[1] अथवा अतिशीतल अमृत रस का आस्वाद लेने से विकसित, उस हृत्कर्णिका के मध्यवर्ती अपान-वायु के ही द्वारा उत्तेजित किये हुए आन्तरिक परामर्श के द्वारा, भीतर से ही प्रबल मंथन करने से टपकाये हुए अमृत का पान करके उस अपान-प्रवाह को भली-भाँति परिपूर्ण बनाये। इसके उपरान्त 'सूर्यकला' अर्थात् प्राणवृत्ति की ऊर्ध्वगति की प्रारम्भिक दशा का उदय होने के क्षण पर, अच् से रहित खाली 'स्-मात्रा' पर विश्रान्त होकर रोमाञ्च, स्तंभन, उच्छलन, अश्रुपात और कम्पन इन अवस्थाओं के द्वारा सारे शरीर में नवचेतना के संचार को प्राप्त करते-करते, इस अभ्यास-क्रम को तब तक दोहराता रहे, जब तक यह स्वभाव बन जाये। यह भट्ट धनेश्वरशर्मा का उपदेश है।

II शाम्भव उपायक्रम के अनुसार व्याख्या

मूल–सूत्र

हृदयबीज आदि और अन्त से रहित है—अर्थात् प्राणरूपिणी 'स्-कला' और अपान-रूपिणी 'औ-कला' का ग्रास हो जाने पर अवशिष्ट 'विसर्ग-कला' है। इसका (हृदयबीजरूपिणी विसर्गकला का) वास्तविक स्वरूप प्राण-संचार एवं अपान-संचार की पन्द्रह-पन्द्रह तिथियों (कलाओं) की अन्तरालरूपिणी सोलहवीं कला से भी अतिवर्तिनी सत्रहवीं बिन्दु[2]-कला है। हृत्कमल के अन्तर्गत ही इसका

---

१. अपान-वायु अतीव शीतल होता है। इसका स्पर्श अमृतरस के प्रवाह जैसा शान्तिदायक होता है। यही कारण है कि इसको शास्त्रीय परिभाषा में पूर्णचन्द्रमा कहते हैं। इस शाक्त योगक्रम को शास्त्रीय शब्दों में 'आदिकोटिनिभालन' कहते हैं।

२. बिन्दु-कला और विसर्ग-कला में कोई स्वरूपगत अन्तर नहीं है। सोलहवीं विसर्गकला ही अपने आपमें बंट कर सत्रहवीं बिन्दुकला का रूप धारण कर लेती है। फलतः अन्तर्मुखीन प्रसार में विसर्ग ही बिन्दु और बहिर्मुखीन प्रसार में बिन्दु ही विसर्ग है। शेष विस्तृत विवेचन ग्रन्थकार ने पहले ही करके रखा है।

साक्षात्कार किया जाये। निरन्तर रूप में 'सोमांश' अर्थात् नील, सुख इत्यादि रूपों वाले प्रमेय-समुदाय के आवर्तन का अभ्यास करता रहे ॥३५॥

तत्त्व-विवेक

आद्यन्तरहितं बीजं कृत्वा, विकसत्तिथिमध्यगं, हृत्पद्मान्तर्गतं (कुर्यादिति शेषः)—

हृदयबीज को आदि और अन्त से रहित बनाकर, अर्थात् 'औ' और 'अः' को काटकर शेष बची हुई केवल 'स्-मात्रा' को, दूसरी विकास में आई हुई 'अ' से 'अः' तक की सोलह तिथियों के समेत, अर्थात् सोलह कलाओं वाले परिपूर्ण अपान-प्रवाह को, कलाओं को [1]ग्रास करने की युक्ति से 'हृदय' अर्थात् कन्द या गुह्य में प्रवेश कराये।

आदि और अन्त से रहित बनाने का अभिप्राय यह है कि (प्राणवृत्ति की ऊर्ध्व गति में) नली के बीच में से जल को खट् से ऊपर की ओर खींचे जाने की तरह, 'चलन' अर्थात् मन्दगति के अभ्यास, 'कम्पन' अर्थात् मध्यगति के अभ्यास,

---

१. श्री सद्-गुरु महाराज इस सारे अवतरण में कूटरूप में ही समझाये गये योगक्रम को क्रम-मुद्रा का नाम देते हैं। प्रस्तुत लेखक ने स्पन्दकारिका भाषानुवाद में इस मुद्रा के स्वरूप पर थोड़ा-बहुत प्रकाश डाला है, परन्तु यहाँ पर इस सम्बन्ध में श्री गुरु-महाराज के मुखारविन्द से निकती हुई दो एक बातों का उल्लेख करना अतीव आवश्यक है। जिस बिन्दु पर आकर पूर्वोक्त शाक्त-उपायक्रम विरत हो जाता है, वहाँ से प्रस्तुत शांभव उपायक्रम का आरम्भ हो जाता है। इस क्रम में हृत्कर्णिका में प्रविष्ट हुआ अपान-प्रवाह अभ्यास की तीव्रता से सहसा नली के बीच में से खींचे जाने वाले जलप्रवाह की तरह ऊर्ध्वगति के मार्ग पर अग्रसर हो जाता है। ग्रसनयुक्ति (इसका उल्लेख पहले हो चुका है) से कलाओं का ग्रास हो जाने से एक ऐसी अवस्था का उदय हो जाता है, जिससे कि प्राणापानवृत्ति सहसा विरत हो जाती है। इस अवस्था का वर्णन स्पन्दसूत्रों में—'तदा तस्मिन् महाव्योम्नि प्रलीनशशिभास्करे' इत्यादि स्थलों पर किया गया है। इस पद पर पहुँचा हुआ साधक, निरन्तर रूप में, दो ही क्षणों में स्वरूप का आवर्तन करता हुआ, पहले क्षण की समाधि में बाहरी नील, सुख आदि प्रमेय-जगत् का आन्तरिक चित्ता के रूप में और दूसरे क्षण के व्युत्थान में आन्तरिक चित्ता का बाहरी नील, सुख आदि प्रमे[illegible] वर्ग के रूप में साक्षात्कार करता रहता है। इसी को प्रमेय-समुदाय का आवर्तन [illegible] हैं, जिसको सूत्र में 'सोमांशं नित्यमभ्यसेत्' इन शब्दों में समझाया गया है। [illegible], स्वभाव बन जाने पर 'सततोदित हृदयजप' कहा जाता है और यही [illegible] है।

तदतिशयादि-धाराप्राप्तिवश-गलित-सोमसूर्य-कलाजाल-ग्रासे, आद्यन्तरहितं कृत्सा—

"आद्यन्ताभ्याम् एतद्बीज-मातृकापेक्षया औकार-सकाराभ्यां रहितं, विश्लेषणयुक्ति-लब्ध-वीर्यपरिचयं, ध्रुवं, विसर्गात्मकं, विकसतां पञ्चदशानां तिथीनां यन्मध्यं–तिथिरहितमेव ग्रस्तकलं षोडशं, ततोऽपि गच्छति यत्–'सप्तदशी कला' –इत्युक्तम्"—

और 'स्पन्दन' अर्थात् तीव्रगति के अभ्यास के द्वारा मूलाधार, त्रिकोण, भद्रकाली, कन्द, हृदय और मुख (हृत्कर्णिका) इन मुद्राओं का भेदन करने के उपरान्त, एक साथ ही मन्द, मध्य और तीव्रगति वाले अभ्यास की चरमकोटि पर पहुँच जाने के आवेग से, प्राण एवं अपान की कलाओं के समुदाय का ग्रास करके, सहसा, प्राणापान गति ही लय की जाये।

आद्यन्तरहितं बीजं, विकसत्, तिथिमध्य, गम्—

'बीजमातृका' अर्थात् अमृतबीज के वर्णक्रम की अपेक्षा से—'आद्यन्त········ तिथिमध्य' इतने सूत्रखण्ड से उस विसर्गरूपिणी सोलहवीं कला का तात्पर्य है, जो कि—

१—अपान रूपी 'औकार' और प्राणरूपो 'सकार' से रहित विशुद्ध विसर्ग रूपिणी है,

२—जिसके विसर्गात्मक वोर्य का परिचय केवल (पूर्वोक्त) विश्लेषण[1] की युक्ति से ही उपलब्ध हो पाता है,

३—अविचल अनुत्तरमयी है,

४—विसर्गमयी अर्थात् साक्षात् शिवरूपिणी ही है और—

५—विकास में आनेवाली पन्द्रह तिथियों के ठीक ऐसे मध्यवर्ती अन्तराल की परिचायिका है जिसमें किसी भी तिथि का अस्तित्व ही नहीं होता। भाव यह है कि (ऊर्ध्वकुण्डलिनी के नामवाली अन्तकोटि पर पाई जानेवाली) प्राणापान की वह विरतिदशा, जिसमें यह ·(विसर्ग कला) सारी अवशिष्ट कलाओं का ग्रास कर लेती है।

'गम्' यह शब्द अतिक्रमण के अर्थ का द्योतक है। फलतः इस शब्द को मिलाकर सारे सूत्रखण्ड से सत्रहवीं बिन्दुकला का बोध ही जाता है, जिसने इस सोलहवीं कला का अतिक्रमण किया है।

---

१. विसर्ग-विश्लेषण की युक्ति के सन्दर्भ में भगवान् अभिनव ने पहले ही पर्याप्त मीमांसा प्रस्तुत कर रखी है, तो भी इसका क्रियात्मक रूप और उसका विवेचन सिद्ध गुरुओं के मुखारविन्द से ही उपलब्ध हो सकता है।

सोमस्य षोडशात्मकं आमृतमंशं हृत्कमले ध्यायेत्, तदेव नित्यम् अभ्यस्येद्–इति अस्मद्गुरवः । तथाहि—

'सह उमया भगवत्या'–संघट्टात्मक-समापत्ति-क्षोभेण तत्त्वनिर्मथनात्मना वर्तत इति सोमो भट्टारकः, तस्य समग्र-भाव-अवयविनः परिपूर्ण-अहमात्मनो, अंशः–नील-सुखादि, तदेवम् अभ्यस्यति—स्वस्वरूपावर्तन-सृष्टिसंहारावर्त-चक्राक्ष-मालिकया पुनः पुनरावर्तयति–इतीयत्सम्भाव्यते ।' स एव एष सततोदितो हृदयजपः । सम्भावनायां लिङ् ।

अन्ये तु—

सोमांशं हृत्पद्मान्तर्गतं ध्यायेत्, नित्यमभ्यस्येत्—

हमारे परम पूजनीय गुरुवर्यों का यह मत है कि 'हृत्पद्म' अर्थात् कन्द या गुह्य में सोम के सोलहवें 'अमृतमय अंश' अर्थात् विसर्गकला का अखण्ड अनुसन्धान करे और इस प्रक्रिया का निरन्तर अभ्यास करता रहे। तात्पर्य इस प्रकार है—

सोमभट्टारक साक्षात् स्वयं शिवभट्टारक ही हैं, क्योंकि वे—'सह उमया वर्तत इति सोमः = भगवती उमा के साथ शाश्वतिक संघट्ट में वर्तमान रहनेवाले ही सोम हैं' इस विग्रह के अनुसार हमेशा भगवती पराशक्ति के साथ शाश्वतिक संघट्ट में ही वर्तमान रहने के रूपवाली तादात्म्य समाधि के 'क्षोभ' अर्थात् स्वाभाविक स्पन्दमयी अवस्था में—जिसका रूप (तुर्य एवं व्युत्थान दोनों में समानरूप से) शिवभाव एवं शक्तिभाव का पारस्परिक निर्मथन है—ही वर्तमान हैं। इस प्रकार से वे सोमभट्टारक स्वरूपतः सारे पदार्थ समुदाय के एकमात्र अवयवी और परिपूर्ण अहमात्मक ही हैं और सारे नील, सुख इत्यादि रूपोंवाले प्रमेय पदार्थ उसी के अंश हैं। इसी नील-सुख रूपी शिव अंश का अभ्यास करने की सम्भावना इस प्रकार है कि साधक बाहर और भीतर की ओर स्वरूप का आवर्तन करते करते, इन्द्रियचक्ररूपी जपमाला का अन्तःबहिसंचार करने के रूपवाले आवर्तनों के द्वारा बहिरङ्ग सृष्टि और अन्तरङ्ग संहार के चक्र को जपमाला के मनकों की तरह बार-बार घुमाता[1] रहे। इसी को सततोदित हृदयजप कहते हैं। (ऐसा परमयोगियों ने अनुभव किया है और इसी आधार पर) सूत्र में संभावना के अर्थ पर लिङ्लकार का प्रयोग किया गया है।

दूसरे व्याख्याकारों का दृष्टिकोण।

(आणव उपाय-क्रम पर चलनेवाले) दूसरे व्याख्याकारों की मान्यता इस प्रकार है—

१. इस योगक्रम को शास्त्रीय शब्दों में 'अन्तकोटिनिभालन' कहते हैं।

"हृत्स्थानात् द्वादशान्तं यश्चारः षट्त्रिंशदङ्गुलः, तत्र सूर्यरूपतया उल्लास्य, बहिरर्धतुटिमात्रं विश्रम्य, अविनाशि-अमृताख्य-विसर्गरूप-सोमकला-उदये सपादाङ्गुलद्वितयमात्रायां तुटौ तुटौ चन्द्रकलापरिपूरणे, पञ्चदश्यां तुटौ पूर्णायां, हृत्पद्मे पूर्णश्च भवति, अर्धतुटिमात्रं च तत्रापि विश्रान्तिः। एवं षोडशतुटयात्मा षट्त्रिंशदङ्गुलश्चारो भवति। इत्यवस्थायाम् 'आद्यन्तरहितम्'–अनस्तमितत्वात्। विकसत्सु द्वितीयादिषु अन्तर्गतं सोमांशं विसर्गरूपं विश्लिष्य सप्तदशात्मकं, परिशीलनेन ध्यायन् कलाग्रासाभ्यासं कुर्यात्–इत्यादि समादिशन्।

"हृदय से लेकर बाह्य द्वादशान्त तक के प्राणसंचार का आयाम छत्तीस अङ्गुल है। उस हृदयस्थान से 'सूर्य' अर्थात् प्राणचार का आरम्भ करके बाह्य द्वादशान्त के स्थान पर (अपानचार आरम्भ करने से पहले) आधी तुटि[1] तक रुकना चाहिये। फिर अविनाशी अमृत नामवाली विसर्गरूपिणी 'सोमकला' अर्थात् अपानचार का उदय करके, सवा दो-दो अङ्गुल के आयामवाली हरेक तुटि पर एक-एक 'चन्द्रकला' अर्थात् अपान कला के बढ़ाने के क्रम से पन्द्रह तुटियाँ पूरी हो जाने पर यह अपान प्रवाह 'हृत्पद्म' अर्थात् अन्तः–द्वादशान्त के स्थान पर पूरी सोलह कलाओं वाला 'सोम' अर्थात् चन्द्रमा बन जाता है। क्योंकि वहाँ पर भी आधी तुटि विश्राम करना है। इस प्रकार ($\frac{1}{2}$ = बाह्य द्वादशान्त पर विश्रान्ति + १५ अपानचार + $\frac{1}{2}$अन्तःद्वादशान्त पर विश्रान्ति, कुल मिलाकर) सोलह तुटियों में (हरेक तुटि का आयाम सवा दो अङ्गुल होने के कारण) छतीस अङ्गुलों के आयामवाला अपानचार पूरा हो जाता है।

ऐसी परिस्थिति में—'आद्यन्तरहितम्' इन शब्दों का यह तात्पर्य है कि—

पहली आधी तुटि (बाह्य द्वादशान्त की विश्राम तुटि) और अन्तिम आधी तुटि (अन्तः द्वादशान्त पर विश्राम तुटि) में पराबीज सदा उदीयमान[2] अवस्था में ही रहने के कारण यह (पराबीज अथवा अमृतबीज) आदि और अन्त से रहित है। अतः इन दोनों आधी-आधी तुटियों को छोड़कर शेष विकास में आती हुई

---

१. पहले भी कहा गया है कि एक स्वस्थ व्यक्ति के श्वास-प्रश्वास में जितने समय में वायु सवा दो अङ्गुल का चार करता है, उसको एक तुटि कहते हैं।

२. इस योगक्रम का अभ्यास अन्तः द्वादशान्त (हृदय) और बाह्य द्वादशान्त पर करना होता है, क्योंकि इन्हीं दो क्षणों में अमृतमय हृदयबीज का स्पष्ट साक्षात्कार हो सकता है। इन दो क्षणों से उन्हीं दो आधी-आधी तुटि वाले विश्रान्तिकालों का अभिप्राय है।

सर्वं चैतत् युक्तमेव मन्तव्यम् । अत्र च आवृत्त्या अनन्तं व्याख्यानं सूत्रत्वाद् उपपन्नमेव, यत उक्तम्–'अनन्तार्थसूत्रणात् सूत्रम्'–इति । 'त्रिंशिका' च अनुत्तरसूत्रम्—इति गुरवः । एवं पूर्वेष्वपि श्लोक-सूत्रेषु ॥३५॥

दूसरी इत्यादि त्रुटियों के अन्तर्गत 'सोमांश' अर्थात् सकार और औकार से रहित विसर्गकला का, अपने हृदय में ही विश्लेषण[1] करके [2]सत्रहवीं बिन्दुकला के रूप में ध्यान करते-करते ही कलाओं[3] का ग्रास करने का अभ्यास करता रहे[4]। उन्होंने ऐसी-ऐसी बहुत प्रकार की व्याख्यायें प्रस्तुत कर रखी हैं।

ये तीनों प्रकार की व्याख्यायें [5]युक्तियुक्त ही समझनी चाहियें। कारण यह है कि यह श्लोक वास्तव में सूत्र है, अतः इसके शब्दों में इधर-उधर की आवृत्तियाँ करके उनसे अनेक प्रकार के अर्थ निकाल लेना भी युक्तियुक्त ही है। सूत्र होता भी वही है, जिसमें अनन्त प्रकार के अर्थों को सूत्ररूप में गर्भित रखा हो। गुरुवर्यों की मान्यता यह रही है कि समूची त्रिंशिका (परात्रिंशिका) तो अनुत्तर-सूत्र ही है। इससे पूर्ववर्ती श्लोकों के बारे में भी उनकी यही धारणा रही है ॥३५॥

---

१. तात्पर्य यह है कि प्राणचार में 'स्' और अपानचार में 'औ' का अन्तर्भाव किये जाने पर, हृत्कमल और बाह्य द्वादशान्त पर विसर्गकला = बिन्दुकला का स्पष्ट साक्षात्कार करने से। अभी ऊपर कहा गया था कि इन दोनों स्थानों पर अर्थात् आधी त्रुटि के विश्रान्तिकाल में विसर्गकला सदा उदीयमान ही होती है। इसका कारण यह है कि इन दोनों कालों पर न तो प्राणगति ही होती है और न अपानगति ही।

२. सत्रहवीं कला वही है, जहाँ प्राणापान गति विरत होती है।

३. यह योगक्रम किस प्रकार क्रियात्मक रूप में परिणत किया जा सकता है और प्राणापान चार में कलाओं का ग्रास करने की विधि कौन सी है? इन बातों की जानकारी गुरुमुख से ही होती है।

४. प्रस्तुत योगक्रम के सन्दर्भ में बाह्य-द्वादशान्त को आदिकोटि और अन्तः-द्वादशान्त को अन्तकोटि कहते हैं। ये दोनों अभ्यास के स्थान हैं। अतः इस क्रम को शास्त्रीय शब्दों में 'आद्यन्तकोटिनिभालन' कहते हैं।

५. आचार्य जी के कथन का तात्पर्य यह है कि इन तीनों प्रकार के उपायों में फल-भेद की कल्पना करने का कोई अवकाश ही नहीं, क्योंकि जब अमृतबीज के स्वरूप में और साक्षात्कार में कहीं कोई भेद नहीं, तो फल में ही भेद कहाँ से उत्पन्न हो सकता है। प्रत्येक व्यक्ति को अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार उपायक्रम अपनाना चाहिये। सारे उपायों की दिशा एक ही है और वह है अनुत्तर भाव।

किम् इत्थम् अभ्यासे सति भवति ? इत्याह—

यान्यान्कामयते कामांस्तांस्ताञ्छीघ्रमवाप्नुयात् ।
अस्मात् प्रत्यक्षतामेति सर्वज्ञत्वं न संशयः ॥३६॥

एवम् अभ्यासात् यद् यत्कामयते तत् तद् अचिरादेव तथाविध-सर्वमय-हृदयवीर्य-समुच्छलित-इच्छाप्रसर-अवष्टम्भ-विशेष-बल-उद्योग-संरम्भ--सोत्साहः, पुनः पुनः तत्स्थितिरूढिरूपाभ्यासात् प्राप्नोति । किं बहुना, सर्वज्ञत्वं–परभैरवात्मकत्वम्, अनेनैव देहेन—इति ॥३६॥

सर्वम् उक्त्वा उपसंह्रियते । पर्यन्ते हि प्रसरस्य उपसंहारे-विश्रान्तिरूप-अकुलसत्ता-आसादने, भैरवता–इत्युक्तमसकृत् । सोऽयमुपसंहारग्रन्थः—

ग्रन्थ का निगमन

इस विधि से अभ्यास करने पर क्या फल मिलता है ? इसका स्पष्टीकरण करने के लिए अगला सूत्र अवतरित कर रहे हैं—

मूल-सूत्र

उपरोक्त योगक्रम के अनुसार हृदयबीज का अनुसन्धान करने से वे सारे काम्यफल प्राप्त हो जाते हैं, जिनकी कामना साधक को हो । इस अभ्यास से इन्द्रिय शक्तियों में सर्वज्ञता प्रकट हो जाती है, इसमें रंचमात्र भी संशय नहीं ॥३६॥

तत्त्व-विवेक ।

इस प्रकार के योगक्रम का अभ्यास करने से साधक जिन जिन काम्य फलों को पाने की कामना करता हो, उन उन को, वैसे अवर्णनीय और सर्व-सर्वात्मक हृदय का साक्षात्कार हो जाने के बल से सहसा उदय में आई हुई इच्छा-शक्ति के सर्वतोमुखी स्फार का आश्रय पाकर विशेष प्रकार के बल, उद्योग, संरम्भ और उत्साह से युक्त बन कर बार बार ऐसी हृदयमयी स्थिति पर, स्वाभाविक रूप में, अविचल बने रहने के कारण, अतीव अल्प समय में पा लेता है । अधिक क्या कहा जाये, उसको इसी शरीर में रहते ही परभैरवीय समावेश हो जाने के रूपवाली सर्वज्ञता अर्थात् जीवन्मुक्ति प्राप्त हो जाती है ॥३६॥

ग्रन्थ का उपसंहार

हरेक पक्ष की मीमांसा करने के उपरान्त अब ग्रन्थ का उपसंहार किया जाता है । यह बात बार बार दोहराई जा चुकी है कि आखिर में हरेक प्रसार का 'उपसंहार' अर्थात् स्वरूपविश्रान्तिमयी अकुलसत्ता की अवस्था पर आरूढ़ होने में ही, भैरवभाव की जागृति का रहस्य भरा हुआ है । अब आगे उसी उप-संहार-सूत्र को अवतरित कर रहे हैं—

एवं मन्त्रफलावाप्तिरित्येतद् रुद्रयामलम् ।
एतदभ्यासतः सिद्धिः सर्वज्ञत्वमवाप्यते ॥३७॥

मन्त्राणां, शास्त्रान्तरीयाणां वर्णानाञ्च फलम् एवम् अवाप्यते, नान्यथा । इति समाप्तौ । रुद्रस्य रुद्रायाश्च यद् यामलं–संघट्टः-निर्विभागप्रश्नोत्तररूप-स्वरूपामर्शनप्रसराद् आरभ्य यावद्बहिर् अनन्तापरिगणनीय–सृष्टिसंहारशतभासनं–यत्रान्तः, तदेतद् अकुलोपसंहृतमेव—इति प्रसङ्गव्याननिगमनम् ।

मूल-सूत्र

यही वह प्रकार है, जिससे मन्त्रों का फल मिल जाता है। यह प्रस्तुत ग्रन्थ का उपसंहार-सूत्र है।

१—**ज्ञानक्रम**—मात्र हृदयबीज ही वास्तविक 'रुद्रयामल' अर्थात् भगवान् रुद्र और भगवती रुद्रा का संघट्टमय स्वरूप है।

२—**योगक्रम**—यहाँ पर दिखाये गये योगक्रम का अभ्यास करने से हरेक सिद्धि और सर्वज्ञता प्राप्त हो जाती है ॥३७॥

तत्त्व-विवेक

यहाँ पर 'मन्त्र' शब्द से त्रिकशास्त्रीय मन्त्रों और त्रिकेतर शास्त्रों के वर्णों का अभिप्राय है। दोनों का फल इस त्रिक परिपाटी पर चलने से ही प्राप्त हो सकता है, अन्यथा नहीं। 'इति' शब्द ग्रन्थ की समाप्ति (उपसंहार) के अर्थ का द्योतक है। 'रुद्र' शब्द साक्षात् भगवान् रुद्र और उसकी शक्ति भगवती रुद्रा का वाचक है। इन दोनों का 'यामल' अर्थात् संघट्ट अथवा दूसरे शब्दों में सामरस्यमयी एकाकारता—यह संघट्ट ऐसा है कि इसके गर्भ में ही, (समाधिकालीन) विभागहीन प्रश्नोत्तर के रूप में चलते रहनेवाले स्वरूप-विमर्श के प्रसार से लेकर, (व्युत्थानकालीन) बाहरी प्रमेय विश्व में चलते रहनेवाले अनन्त एवं अनगिनत सृष्टि-संहारों के सैकड़ों शाश्वतिक रूप भासमान ही हैं। सूत्र में पहला 'एतत्' शब्द ज्ञान-प्रक्रिया के निगमन का वाचक है। इससे यह तथ्य द्योतित होता है कि ज्ञानदृष्टि से देखे जाने पर यह सारा बहिरङ्ग प्रसार अकुलसत्ता में हमेशा संहारमयी (उपसंहारमयी) अवस्था में ही वर्तमान है।[1]

---

१. रुद्रयामल ही अकुलसंहारमयी अवस्था है। फलतः विश्वोत्तीर्ण और विश्वरूप में जो कुछ भी है, वह मात्र प्रसार-संहार है।

'एतदभ्यासात् सर्वज्ञत्वम्'—इति योगफलनिगमनम्। सततोदितं हि एतत् सर्वस्य—इति शिवम् ॥३७॥

समाप्तमिदं परात्रिशिकातत्त्वविवरणम्।

॥शुभमस्तु॥

'एतदभ्यासतः'—इत्यादि दो अन्तिम सूत्र-चरण योगाभ्यास के फल का सङ्केत देनेवाले निगमन हैं। तात्पर्य यह है कि इस योगक्रम का अभ्यास करने से प्रत्येक प्रकार की सिद्धि, और 'सर्वज्ञता' अर्थात् अकुल भावमयी जीवन्मुक्ति प्राप्त हो जाती है। यह रुद्रयामलमयी[1] अवस्था हरेक प्रमाता[2] के हृदय के अभ्यन्तर एवं बाहर सतत उदीयमान[3] अवस्था में ही वर्तमान है। अन्त पर भगवान् अनुत्तर भट्टारक विश्व का कल्याण करें ॥३७॥

परात्रिशिका का तत्त्वविवरण समाप्त हुआ।

विश्व का कल्याण हो।

१. शिव-शक्ति-संघट्टमयी, प्रसार-संहारमयी अथवा प्रश्नोत्तरमयी स्वरूपविमर्शात्मिका अवस्था।

२. ज्ञानी, मूर्ख, मानव, देवता, मानवेतर, ब्राह्मण, स्त्री शूद्र—चाहे जो कोई भी देहधारी हो।

३. किसी को इसकी चेतना हो या न हो, इसकी उदीयमानता में कोई अन्तर नहीं पड़ पाता है।

परात्रिशिका का यह टिप्पणीभाग अनुत्तर को ही अर्पित है।

पुष्पिका

इत्थं प्रपन्नजनतोद्धरणप्रवृत्त-
श्रीमन्महेश्वरपदाम्बुजचञ्चरीकः ।
वृत्तिं व्यधात्त्रिकरहस्यविमर्शगर्भां
कश्मीरिकाच्चुखुलकादधिगम्य जन्म ॥१॥
एतावदेतदिति कस्तुलयेत् प्रसह्य
श्रीशाम्भवं मतमनर्गलितात्र वाचः ।
एतत्तु तावदखिलात्मनि भाति, यन्मे
भातं, ततोऽत्र सुधियो न पराङ्मुखाः स्युः ॥२॥
अज्ञस्य संशय-विपर्ययभागिनो वा
ज्ञानं प्रकम्परहितं प्रकरोति सम्यक् ।
रूढस्य निश्चयवतो हृदयप्रतिष्ठां
संवादिनीं प्रकुरुते कृतिरीदृशीयम् ॥३॥

इस प्रकार शरणागत जनता का उद्धार करने में निरत और प्रत्येक प्रकार के ऐश्वर्य से परिपूर्ण भगवान् शिव के चरण कमलों का रसिक भौंरा बने हुए मैंने (अभिनव गुप्त ने) चुखुलक कश्मीरी से जन्म पाकर, त्रिक रहस्यों की विवेचना से भरी हुई इस वृत्ति की रचना की ॥१॥

'श्री शाम्भवमत त्रिक सम्प्रदाय) इतना है'—इस बात पर बल देकर कौन व्यक्ति इसको तोल सकता है ? इसकी विवेचना करते करते जितना भी कहा जाये, उस पर कहीं अङ्कुश नहीं लग सकता । इस वृत्ति में मात्र उतना ही मिलने की सम्भावना है, जितना कि उस सर्वसर्वात्मिका प्रकाशमानता में मेरे आभास में आ गया है । अतः बुद्धिमान् व्यक्ति इसके प्रति विमुख बनकर इसकी अवहेलना न करें ॥२॥

इस रचना में अवश्य ऐसी कोई बात है कि यह अज्ञानी अथवा संशय-ज्ञान एवं विपरीत-ज्ञान का भागी बने हुए व्यक्ति के बोध को अवश्य भली-भाँति निश्चल बना लेती है । इसके अतिरिक्त जिस व्यक्ति के अन्तस् में पहले ही निश्चय-ज्ञान का विकास हो चुका हो और स्वयं इस ज्ञान की धारा पर आरूढ़ भी हो, उसको भी हृदयभूमिका में इस तरह प्रतिष्ठित कर लेती है कि वह संविन्मय बोल ही बोलने लगता है ॥३॥

'एतावदर्थरससङ्कलनाधिरूढ-
धाराधिरूढहृदयो विमृशेदतोऽपि ।
यद्युत्तरं तदपि नैव सहेत नेदं
सोपानमेतदमलं पदमारुरुक्षोः ॥[1]

कश्मीरेषु यशस्करस्य नृपतेरासीदमात्याग्रणीः
श्रीमान् वल्लभ इत्युदाहृततनुर्यः प्राग्र्यजन्मा द्विजः ।
तस्य स्वाङ्गभवः प्रसिद्धिपदवीपात्रं समग्रैर्गुणैः
श्रीशौरिः शिशुचन्द्रचूडचरणध्यानैकरत्नाकरः ॥४॥
शीलस्यायतनं परस्य यशसो जृम्भास्पदं नर्मभू-
र्वात्सल्यस्य समग्रलोककरुणाधर्मस्य जन्मस्थितिः ।
श्रीमद्वत्सलिकाभिधा सहचरी तस्यैव भक्त्युल्लसत्-
प्रोद्रिक्तान्तरवृत्ति शंकरनुतौ यस्या मनो जृम्भते ॥५॥

---

[1]जो व्यक्ति इतने विस्तृत अर्थ से टपकते हुए रस को एकत्रित करने पर दत्तचित्त और इस ज्ञान (त्रिकज्ञान) की धारा पर पूर्णतया आरूढ हो, वह भी अवश्य इस वृत्ति का अनुशीलन करे । यदि उसको इसमें भी उत्तरता का आभास हो जाये, तो अवश्य इसको सहन न करे, अर्थात् छोड़ दे, क्योंकि निर्मल पद पर चढ़ने की इच्छावाले व्यक्ति के लिए यह कोई सीढ़ी भी नहीं है ॥

सारस्वत कुल में जन्मा हुआ श्रीमान् वल्लभाचार्य नामी श्रेष्ठ ब्राह्मण कश्मीर के यशस्कर नामी राजा का मुख्यमंत्री था । श्रीमान् शौरि—जोकि सारे सद्गुणों से ख्याति के शिखर पर पहुँचा हुआ, चन्द्रकलाधारी भगवान् शंकर के चरणों का ध्यान करने में रत्नाकर (समुद्र) जैसा, शील का आवास, महान् यश के विकास का पात्र, स्नेह की केलि का मञ्च जैसा और सारे लोगों के प्रति करुणा करने के गुण को जन्म से ही मन में धारण करनेवाला व्यक्ति है—उसीका स्वपुत्र है । इसकी स्त्री का नाम श्रीमती वत्सलिका है । वह एक ऐसी महिला है, जो कि अपने पति की एकाग्र भक्ति करने से ही मन में विकसित एवं पुष्ट होती हुई अन्तर्मुखीन वृत्ति के द्वारा भगवान् शंकर को प्रणाम करने से उसका मन प्रफुल्लित हो जाता है ॥४-५॥

---

१. श्री सद्-गुरु महाराज इस पद्य को प्रक्षिप्त मानते हैं, अतः इसको अलग टाइप में रखा गया है और इसकी श्लोकसंख्या भी नहीं दी गई है ।

तस्यैवात्मभवो विभावितजगत्सर्गस्थितिः शंकर-
ध्यानार्चापरिचिन्तनैकरसिकः कर्णाभिधानो द्विजः ।
यो बालेऽप्यथ यौवनेऽपि विषयासक्तिं विहाय स्थिरा-
मेनामाश्रयते विमर्शपदवीं संसारनिर्मूलिनीम् ॥६॥
भ्राता ममैव शिवशासनरूढचित्तः
प्रेप्सुः परात्मनि मनोरथगुप्तनामा ।
यः शास्त्रतन्त्रमखिलं प्रविवेक्तुकामः
प्राप्तुं परं शिवपदं भवभेदनाय ॥७॥
शिवशास्त्रैकरसिकः पद-वाक्य-प्रमाणवित् ।
रामदेवाभिधानश्च भूषितोत्तमजन्मकः ॥८॥
एतत्प्रियहितकरणप्ररूढहृदयेन यन्मया रचितम् ।
मार्गप्रदर्शनं तत् सर्वस्य शिवाप्तये भूयात् ॥९॥

जगत् की सृष्टि और स्थिति के वास्तविक मर्म को जाननेवाला और केवल भगवान् शंकर का ध्यान, पूजन और स्मरण करने का रसिक कर्ण नामवाला ब्राह्मण उसका स्वपुत्र है। इसने बचपन और जवानी के रंगीले दिनों में भी विषयासक्ति को तिलाञ्जलि देकर, संसारभाव को मूल से ही उखाड़ फैंकनेवाले आत्मविमर्श के ही पथ का आश्रय ले रखा है ॥६॥

एकाग्र मन से शैवशास्त्रों का अध्ययन करने में तत्पर और अनुत्तरीय आत्मभाव में प्रवेश पाने का इच्छुक एक और व्यक्ति मेरा अपना ही भाई मनोरथ गुप्त है। इसके मन में, संसार भाव का खण्डन करने और सर्वोत्कृष्ट शिवपद को पाने के लिए सारे शास्त्रों और तंत्र ग्रंथों की विवेचना करने की तीव्र अभिलाषा जागरूक है ॥७॥

एक और रामदेव नामवाला व्यक्ति है। यह भी केवल शैवशास्त्रों का अध्ययन करने का रसिक और व्याकरण, मीमांसा और तर्क-शास्त्र में पारङ्गत है। इसने अपने ब्राह्मण जन्म को यथार्थ रूप में अलंकृत किया है ॥८॥

मैंने, अपने हृदय में इन तीन व्यक्तियों का प्रेय एवं श्रेय करने की उत्कट अभिलाषा होने के कारण जिस ग्रन्थ की रचना की, वह सर्वसाधारण जनसमाज को शिवभाव प्राप्त करवाने के लिए मार्गदर्शक बन जाये[1] ॥९॥

---

१. ग्रन्थ की पुष्पिका समाप्त ।

अन्तर्वेद्यामत्रिगुप्ताभिधानः
प्राप्योत्पत्तिं प्राविशत् प्राग्र्यजन्मा ।
श्रीकश्मीरांश्चन्द्रचूडावतारै-
र्निःसङ्ख्याकैः पावितोपान्तभागान् ॥१०॥

तस्यान्ववाये महति प्रसूता-
द्वराहगुप्तात् प्रतिलब्धजन्मा ।
संसारवृत्तान्तपराङ्मुखो यः
शिवैकचित्तश्चुखुलाभिधानः ॥११॥

तस्माद्विवेचितसमस्तपदार्थजाता-
ल्लब्ध्वापि देहपदवीं परमेशपूताम् ।
प्राप्ताभयोऽभिनवगुप्तपदाभिधानः
प्रावेशयत्त्रिकसतत्त्वमिदं निगूढम् ॥१२॥

ये तावत्प्रविवेकवन्ध्यहृदयास्तेभ्यः प्रणामो वरः
केऽप्यन्ये प्रविविञ्चते न च गताः पारं धिगेतान् जडान् ।

वंश-परिचय ।

अत्रिगुप्त नामवाले एक ब्राह्मणश्रेष्ठ ने अन्तर्वेदी में जन्म पाया था । आगे चलकर वही व्यक्ति चन्द्रकलाधारी भगवान् शंकर के अनगिनत अवतारों से पवित्र बनाए हुए अंचलों से युक्त कश्मीर देश में (स्थायी निवास की इच्छा से) चला आया ॥१०॥

उसके महान् वंश में जन्मे हुए वराहगुप्त नामी व्यक्ति से, संसार की हलचल से मुँह मोड़कर एकतान मन से केवल भगवान शंकर का ही चिन्तन करने वाले जो चुखुल नामी पुत्र उत्पन्न हुए—॥११॥

उसी, सारे पदार्थों के मर्म की विवेचना करने में पारङ्गत व्यक्ति से, परमेश्वर के द्वारा पवित्र बनाई हुई मानवकाया को प्राप्त करने पर भी अभयपदवी पर पहुँचे हुए मुझ अभिनवगुप्तपाद नामक व्यक्ति ने इस त्रिकशास्त्र के रहस्यपूर्ण तत्त्वों को शिष्यों के हृदयों में भर दिया ॥१२॥

जिन लोकों के हृदय सत्-विमर्श से रहित हैं, उनको नमस्कार करना ही अच्छा है । कई दूसरे विवेचन करने पर भी पार न जा सकें, उन जड़ों को सौ बार धिक्कार हो । फलतः जो ही कोई लाखों में से एक गहरा अनुसन्धान करने

यस्त्वन्यः प्रविमर्शसारपदवीसंभावनासुस्थितो
लक्षैकोऽपि स कश्चिदेव सफलीकुर्वीत यत्नं मम ॥१३॥

स्वात्मानं प्रविवेक्तुमप्यलसतां ये बिभ्रति प्रार्थना
तान् प्रत्यात्मकदर्थनान्न परतः किञ्चित्फलं सोष्यते ।
विश्वस्यास्य विविक्तयेऽस्थिरधिया ये संरभन्ते पुन-
स्तानभ्यर्थयितुं मयैष विहितो मूर्ध्ना प्रणामादरः ॥१४॥

भ्राम्यन्तो भ्रमयन्ति मन्दधिषणास्ते जन्तुचक्रं जडं
स्वात्मीकृत्य गुणाभिधानवशतो बद्ध्वा दृढं बन्धनैः ।
दृष्ट्वेत्थं गुरुभारवाहविधये यातानुयातान् पशून्
तत्पाशप्रविकर्तनाय घटितं ज्ञानत्रिशूलं मया ॥१५॥

बहुभिरपि सोऽहमेवभ्र मितस्तत्त्वोपदेशकंमन्यैः ।
तत्त्वमिति वर्णयुगमपि येषां रसना न पस्पर्श ॥१६॥

से बोध में आनेवाली सारभूत पदवी पर आरूढ होकर स्थिरचित्त बना हुआ व्यक्ति हो, वही मेरे इस प्रयत्न को सफल बनाये ॥१३॥

जो लोग अपनी आत्मा का विवेचन करने में भी निठल्ले हैं, उनको प्रार्थना करने से अपने ही आप को तिरस्कार का पात्र बनाने के अतिरिक्त और कोई फल निकलने का नहीं। अब जो लोग इस विश्व का विवेचन करने के लिए निश्चल बुद्धि से काम न लेकर केवल उसको दिखा रहे हैं, तो लीजिये, उनसे क्षमा माँगने के लिए मैं सिर को झुकाकर और आदरपूर्वक उनको प्रणाम ही कर रहा हूँ ! ॥१४॥

वे अक्ल के अन्धे अपने गुणों का बखान करने की अजीब तरकीब से, जड़ता में पड़े हुए मानव पशुओं के रेवड़ों को अपने चंगुल में फँसा कर और दृढता से उनकी नकेल धर कर स्वयं नाचते हुए उनको भी साथ साथ नचाते रहते हैं। इस प्रकार इस गुरुआई की दम-पट्टी पिलाने का बोझ ढोने में अगाड़ी-पिछाड़ी बनते हुए पशुओं को देखकर, मैंने उनकी बेड़ियां काटने के हेतु यह 'ज्ञान-त्रिशूल' अर्थात् शिव, शक्ति और नररूपी त्रिकज्ञान प्रस्तुत किया ॥१४॥

मात्र 'सोऽहम्' की रट लगाकर तत्त्व के उपदेशक होने का दम भरनेवाले बहुत से लोग मुझे भी उसी प्रकार का नाच नचाते रहे। सच पूछो तो, वे ऐसे लोग थे कि उनकी जीभ को 'तत्त्व' इस वर्ण-युग्म का स्पर्श भी कभी होने नहीं पाया था ॥१६॥

परमेश्वरः प्रपन्नप्रोद्धरणकृपाप्रयुक्तगुरुहृदयः ।
श्रीमान् देवः शंभुर्मामियति नियुक्तवांस्तत्त्वे ॥१७॥

तत्तत्त्वनिर्मलस्थितिविभागिहृदये स्वयं प्रविष्टमिव ।
श्रीसोमानन्दमतं विमृश्य मया निबद्धमिदम् ॥१८॥

हंहो हृच्चक्रचारप्रविरचनलसन्निर्भरानन्दधारा
देव्योऽस्मत्पाशकोटिप्रविघटनपटुज्ञानशूलोर्ध्वधाराः ।
चेतोवाक्कायमेतद्विगतभवभयोत्पत्ति युष्मासु सम्यक्
प्रोतं यत्तेन मह्यं व्रजत किल हृदि द्राक्प्रसादं प्रसह्य ॥१९॥

व्याख्या दिक्कर्मपरिपाटिपदे नियुक्तो
युष्माभिरस्मि गुरुभावमनुप्रविश्य ।

परमज्ञान के ऐश्वर्य से परिपूर्ण, शरणागत लोगों का उद्धार करने के लिए अतीव दयालुता से अपने गौरवशाली गुरुहृदय का प्रयोग करनेवाले और साक्षात् भगवान् शंभु जैसे श्रीमान् शंभुनाथ नामवाले सद्-गुरु महाराज ने ही मुझे इस परमार्थं तत्त्व के मार्ग पर लगा लिया ॥१७॥

मैंने श्रीसोमानन्दपाद के मत का—जो कि उन्हीं गुरु महाराज शंभुनाथ के द्वारा समझाये गये तत्त्वज्ञान से निर्मल स्थिति का भागी बने हुए मेरे हृदय में स्वयं ही जैसे प्रविष्ट हुआ है—भली-भाँति विमर्श करने के उपरान्त ही प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना की ॥१८॥

आहा, हृदयरूपी अमृतबीज की भूमिका से स्वच्छन्द विहार करने से परम सुन्दररूप में उच्छलित होती हुई और तृप्तिदायक आनन्दधारा का रूप धारण करने वाली, मेरे कोटि-कोटि पाशों को चूर चूर करने पर पटु ज्ञानत्रिशूल की तेज़ धार को ऊपर उठाये हुई और केवल ऊर्ध्वगति में ही प्रवहमान रहनेवाली संवित्-देवियों ! आवागमन का त्रास फिर से उत्पन्न होने की आशङ्का से रहित मेरे तन, मन और वाणी तो आपमें भली-भाँति पिरोये जा चुके हैं, अतः आप अवश्य निजी शक्तिपात के बल से शीघ्रातिशीघ्र मेरे हृदय में पूर्ण अनुग्रहमयरूप में उदित हो जाइये ॥१९॥

उस हृत्-चक्र में अति मनोमोहक और प्रवीण स्थिति में वर्तमान रहनेवाली देवियों ! आप ही ने तो मुझे गुरुभाव में प्रवेश करा कर (शैवग्रन्थों की) व्याख्या

वाक्चित्तचापलमिदं मम तेन देव्य-
स्तच्चक्रचारुचतुरस्थितयः क्षमध्वम् ॥२०॥

इत्यादि करने के कार्यक्रम पर लगा रखा है, अतः आप अवश्य मेरी 'इस' अर्थात् इस ग्रन्थ की व्याख्या करने के रूपवाली मानसिक और वाचिक चचलता की क्षमा करें ॥२०॥

ग्रन्थकार का वंश परिचय समाप्त ॥

परिशिष्ट—१

मूल सूत्रों की अनुक्रमणिका

●

परिशिष्ट—२

शब्दानुक्रमणिका

श्री श्री परात्रिंशिका

प्रो० नीलकंठ गुरटू

'परात्रिंशिका' काश्मीर शैवदर्शन से सम्बन्धित त्रिकाचार का एक प्रामाणिक एवं अतिप्राचीन ग्रन्थ है। इसका मूल उद्गम 'रुद्रयामल' तन्त्र है। इस महान् तन्त्रग्रन्थ की अवतारणा किसी प्राचीन युग में अनुत्तरीय विमर्श में ही हुई थी। परात्रिंशिका का दूसरा नाम 'अनुत्तरीय-सूत्र' भी है। इन सूत्रों में भगवान् त्रिशूलपाणि ने अनुत्तरीय हृदय का अति अद्भुत विश्लेषण प्रस्तुत किया है। सर्वव्यापी चेतन तत्त्व की सौन्दर्यच्छटा का जितना और जैसा साक्षात्कार विश्वोत्तीर्णभाव के कल्पनालोक में विचरण करने से मिल सकता है उतना ही उसके बहिर्मुखीन विश्वमय रूप-विस्तार में भी। अतः सर्वथा धरती के ही आधार पर खड़े रहकर, अपने ज्ञानचक्षु के द्वारा, विश्वमयी हलचल में ही उस शाश्वत एवं आदिसिद्ध आत्मचेतना का स्पष्ट साक्षात्कार पा लेना ही वीरपुङ्गव का काम होता है। हाँ, इस दुर्घट काम को पूरा करने के लिए पहले अपने ही अन्तस् में छिपी हुई शक्ति को उजागर कर लेना आवश्यक है। यह कैसे हो सकता है? यही प्रस्तुत ग्रन्थ का अमर सन्देश है।

मूल्य : रु० १०० (सजिल्द)
७० (अजिल्द)